Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श Vol. 22 2000-1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड २२, अंक १
दिसम्बर - जनवरी - फरवरी २००१
भारतीय सौर पौष/माघ/फाल्गुन शके १९२२

LIBRARY
Gurukul Kangri Vishwavidyalaya
HARDWAR

संस्थापक संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे
प्रधान संपादक : सुभाषचन्द्र भेलके

130728

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका (नूतनमालिका)
(भूतपूर्व तत्त्वज्ञान मन्दिर हिंदी, अमलनेर)

संपादक मण्डल
बलीराम शुक्ल
राजेन्द्र प्रसाद
चंद्रकांत बांदिवडेकर
रामजी तिवारी

सलाहकार संपादक मण्डल :
विजयकुमार भारद्वाज
भुवन चण्डेल
आर्. बालसुब्रमणिअन
छाया राय
अशोक वोहरा
अशोक केळकर

प्रकाशनार्थ लेखनसामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए :
प्रधान संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७

सदस्यता शुल्क :

आजीवन	संस्थाओं के लिए	रु. २०००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ८००/-
वार्षिक	संस्थाओं के लिए	रु. १००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ८०/-
एक प्रति का मूल्य		२५/-

सदस्यता शुल्क मनीऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा ही रजिस्ट्रार, पुणे विश्वविद्यालय के नाम पत्रिका के पते पर भेजा जाए। (धनादेश से भुगतान में रु.२०/- अधिक जोड दें)

आजीवन सदस्यता शुल्क एक या दो समान किश्तों में भेजा जा सकता है।

अंक न मिलने की सूचना अंक प्रकाशित होने बाद एक महीने के भीतर मिलने पर, अंक बचे हों तो, पुनः भेजा जाएगा ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २२ अंक १ दि.-ज.-फ.२०००

		संपादकीय	१
डा.दुर्गादत्त पाण्डेय	:	अद्वैत वेदान्त में पारमार्थिक प्रमा	३
डा.विभा चतुर्वेदी डा. विजयकुमार भारद्वाज	:	अपूर्णता, संरचनावाद एवं सत्यता	१३
डा.सुश्री रञ्जन गुप्ता	:	विसंगति का दर्शन : अलवेयर कामू	२९
डा.शैलेन्द्र कुमार शर्मा	:	ध्वनि-सिद्धान्त के पुनराख्याता : आचार्य बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'	३९
डा.गौरीदत्त झा	:	संत तुलसी का विशिष्ट दर्शन : एक अध्ययन	५५
डा.रञ्जन कुमार	:	सम्यग्दर्शन का समाजदर्शन	६३
प्रो. राजेन्द्र प्रसाद	:	सामाजिक न्याय : स्वरूप, सीमा और सफल संचालन की शर्तें	७१
डा.आलोक टण्डन	:	मित्रता : एक दार्शनिक विवेचन	८१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें । लेख प्रायः २००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी ।

- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।

- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं । यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।

- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा ।

- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचन्द्र भेलके ने यह त्रैमासिक 'विमर्श', सोमवार पेठ, पुणे ४११ ०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २२ अंक २ मा.-अ.-म.२००१

		संपादकीय	१
काली चरण पाण्डेय	:	विटगेन्स्टाइन : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	३
डा. इन्दु पाण्डेय	:	सांख्य दर्शन में ज्ञान-सिद्धान्त एवं प्रमाता-विमर्श	१५
डा. सुधा चौधरी	:	धर्म की मार्क्सवादी अवधारणा	२३
डा. मंगलराम विश्नोई	:	शब्द-विज्ञान-विमर्श	३३
ग. वा. कवीश्वर	:	गीतारंभसमय का अर्जुन	४७
रश्मि जैन	:	तीर्थंकर महावीर : एक जीवन शैली	६३
डा. डी. आर. भण्डारी	:	सर्वज्ञवाद : एक विवेचन	६९
डा. एस. आर. व्यास	:	आय-वितरण के नैतिक सिद्धान्तों का मूल्यांकन	७५
संतोष चौहान	:	परिचर्चा में	८५
संतोष चौहान	:	परिचर्चा में	९०
डा. आलोक टण्डन	:	परिचर्चा में	९४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें । लेख प्रायः २००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी ।

- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।

- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं । यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।

- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा ।

- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचन्द्र भेलके ने यह त्रैमासिक 'विमर्श', सोमवार पेठ, पुणे ४११ ०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २२ अंक ३ जू.-जु.-अ.२००१

संपादकीय १

डा. अंजनीकुमार सिंह : माया के तार्किक निहितार्थों का दार्शनिक अवलोकन ३

काली चरण पाण्डेय : ट्रैक्टेटस-लॉजिको-फिलॉसोफिकस १५

अर्चना श्रीवास्तवा : नासदीय सूक्त : ऋग्वेद का नवनीत २९

कु. दिव्या भारद्वाज : मीमांसा दर्शन में प्रमाण-सम्प्लव एवं प्रमाण-व्यवस्था ३९

डा. श्रीमती रमा शर्मा : मनुस्मृति की मूल्य संकल्पना ४५

डा. महेश्वर प्रसाद चौरासिया : देख कबीरा रोया ५३

डा. आनंद मिश्र : अद्वैत वेदान्त में साक्षी ६५

डा. मंगलराम : पाणिनीय अनुनासिक तथा सवर्ण सञ्ज्ञा विचार ८३

देवेन्द्र नाथ तिवारी : परिचर्चा में ८९

डा. प्रमोद कुमार : परिचर्चा में ९२

डा. सुभाषचंद्र भेलके : ग्रंथसमीक्षा ९४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें । लेख प्रायः २००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी ।

- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।

- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं । यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।

- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा ।

- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचन्द्र भेलके ने यह त्रैमासिक 'विमर्श', सोमवार पेठ, पुणे ४११ ०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २२ अंक ४ सि.-अ.-न.२००१

संपादकीय १

डा. गोपाल कृष्ण : परम्परागत तर्कशास्त्र और आधुनिक तर्कशास्त्र ३

डा. सुस्मिता भट्टाचार्य : निरुपाधिक तर्कवाक्यों की आधुनिक बूलीय व्याख्या पर पुनर्विचार २१

डा. श्रीमती अजन्ता गहलोत : धार्मिक कथनों की अर्थवत्ता एवं ह्यूम ३१

डा. दुर्गादत्त पाण्डेय : काण्ट का ज्ञानमीमांसीय पलायनवाद ३७

डा. ललित किशोर गुप्त : अस्तित्ववाद, सार्त्र और मानव-व्यक्ति ४७

काली चरण पाण्डेय : उत्तर-आधुनिकतावाद : एक सम्प्रत्ययात्मक विवेचन ६३

डा. सुधा चौधरी : विज्ञान, अध्यात्म का निषेध अथवा पूरक ७३

डा. हरनामसिंह अलेरजा : सामान्य मानव के व्यावहारिक स्वरूप की दार्शनिक विवेचना ८१

डा. सुरेश कुमार थोरात : परिचर्चा में ८७

डा. धर्मेन्द्र गोयल : परिचर्चा में ९३

डा.सुभाषचन्द्र भेलके : ग्रंथसमीक्षा ९४

डा.सुभाषचन्द्र भेलके : ग्रंथसमीक्षा ९५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें । लेख प्रायः २००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी ।

- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।

- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं । यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।

- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा ।

- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचन्द्र भेलके ने यह त्रैमासिक 'विमर्श', सोमवार पेठ, पुणे ४११ ०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

हर बार नया साल आता है, नये साल की बधाइयाँ दी जाती हैं, सालभर में जो कुछ भला-बुरा होता है वह बधाइयों के बावजूद होता ही रहता है । शायद साल की शुरुआत के हप्तेभर में बधाइयाँ भूल भी जाती हैं । यही सिलसिला जारी रहता है । इस में क्या और कितना अर्थ है इस पर गंभीरता से सोचा भी नहीं जाता है ।

इस साल की शुरुआत की दो विशेषताएँ हैं । इस साल के आरंभ से नयी शती का आरंभ हुआ है, और इतना ही नहीं, उस के साथ नये सहस्रक का भी आरंभ हुआ है । मानवी संस्कृति के इतिहास के चरण नापने के लिए महीनों-सालों का नहीं, शतियों-सहस्रकों का कालखण्ड लिया जाता है । बीती शती एवं सहस्रक की विशेषताओं को शायद हम उतनी स्पष्टता से समझ भी न पाएँ, क्योंकि हम इन दो शतियों-सहस्रकों के संक्रमण-बिंदु पर खडे हैं । बीते काल की विशेषताओं को देखने-परखने के लिए उस से कुछ दूरी की जरुरत है जो हमारे पास नहीं है ।

नयी शती तथा नये सहस्रक की विशेषताओं का अंदाजा लगाना भी हमारे लिए दूभर है । नयी शती और सहस्रक की विशेषताओं के बीज बोनेवाले तो हम ही हम हैं । क्या हमें पता है कि हम ऐसे कौन से बीज बो रहे हैं जिनकी फसल खाकर हमारे वारिसों की पीढियाँ अपना जीवन बनाएँगी ? क्या हमने अगली शती और सहस्रक की दिशा के बारे में सोचा है कि वह किस मोड पर करवट लेगी और किस करवट से अग्रसर होगी ? क्या हमें पता है कि हमारी मुठ्ठियाँ बंद हैं और उस में वे बीज हैं जो आगे चलकर हमारी पीढियों को पुष्ट या नष्ट करनेवाले हैं ?

जब हम सोचते हैं तब वर्तमान में सोचते हैं । हमारी सोच में हमारे भूतकाल एवं पुरखों की धरोहर हमारी पूँजी है । कुछ हद तक शायद हम इस पूँजी को नकार भी सकते हैं, लेकिन पूर्णरूप से हम उसें टाल नहीं सकते । हम अपने जीवाणु-कोषों के (genes) दायरों से बाहर नहीं जा सकते । हम खुद पर संस्कार करके अपने को किसी ढाँचे में ढाल सकते हैं और अपने वारिसों के लिए अपने जीवाणु-कोषों को कोई अन्य आकार दे सकते हैं । हमारे हाथ में हमारी सारी कोशिशें तो अवश्य ही हैं ।

हमारी सोच से हम जो विचार करेंगे, उस के जो तत्त्व तथा मूल्य होंगे वे आगे चलकर हमारे वंशजों की सोच के जीवाणु-कोषों का काम करेंगे । हम अपने पुरखों के दिए जीवाणु-कोषों के परिणामों की जिम्मेदारी उन पर न धकेल दें । लेकिन अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वंशजों को देनेवाले जीवाणु-कोषों की जिम्मेदारी तो हम जरूर ले सकते हैं । जो विचार हम करेंगे उसी की धरोहर को पाकर हमारे वंशज आगे अपना जीवन चलाएँगे ।

वस्तुतः जीवाणु-कोषों का संक्रमण तो निरंतर रूप से चलनेवाली क्रिया है, जो आदमी के लिए अनियंत्रित है । लेकिन आदमी का उस में कुछ तो योगदान होता ही है । इस निरंतर प्रक्रिया को किसी क्षण से बद्ध करके जोडना सहज एक औपचारिकता है । लेकिन मनुष्य का जीवन इन औपचारिकताओं के बिंदुओं को प्रस्थापित कर के उन की परिधि में अपने जीवन की अलकावली रंगीन करता जाता है । न कोई बिंदु आरंभ का होता है न कोई अंत का । फिर भी मनुष्य मुहूर्त्त की सोचता है । जब हम अपनी संस्कृति के इतिहास की ओर देखते हैं तब किसी ऐसे ही बिंदु को लेकर नाप-जाँच आरंभ करते हैं । अतः मुहूर्त्त है नयी सदी तथा सहस्रक के आरंभ का । यह आरंभ बिंदु ही हमारे संकल्प का मुहूर्त्त-काल है । शायद इस पूरे सालभर को संकल्प-काल के रूप में लेकर हम अपने वारिसों के भविष्य के बारे में सोच सकते हैं । आप के इस संकल्प-काल में हमारा आप के साथ होना हमारी शुभकामनाओं का द्योतक है ।

– सुभाषचन्द्र भेलके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अद्वैत वेदान्त में पारमार्थिक प्रमा

सत्यता को अद्वैत वेदान्त में ''प्रमा'' कहा गया है । अद्वैत वेदान्तियों के विचार में सत्य स्वभावतः त्रिकालाबाधित है : ''त्रिकालाबाध्यत्वं सत्यत्वं''। इस दृष्टि से केवल ब्रह्म या आत्मा ही सत्य है और आत्मबोध ही सत्य ज्ञान है । इसके विपरीत जो ज्ञान से बाधित है वह मिथ्या है - ''ज्ञानबाध्यत्वं मिथ्यात्वं'' । अतः स्वप्न की तरह सारा जगत्-व्यवहार अन्ततः आत्मज्ञान से बाधित हो जाता है । यह आत्मबोध ही पारमार्थिक प्रमा है और त्रिकालाबाधित होने से सभी प्रमाओं में व्याप्त है, तभी उनकी व्यावहारिक प्रतीति होती है । अद्वैत वेदान्त में प्रमा के दो रूप विवेचित हैं - व्यावहारिक प्रमा और पारमार्थिक प्रमा । चैतन्य से प्रकाशित वृत्ति या वृत्ति में प्रकाशित चैतन्य व्यावहारिक प्रमा है । यहाँ चैतन्य और वृत्ति में भेद स्वीकार्य है । अन्तःकरण इन्द्रियों से बाहर निकलकर विषयाकर होता है, जिससे ''वृत्ति''बनती है । अन्तःकरण की इस वृत्ति पर चैतन्य का प्रकाश पडने से वृत्ति रूप में विषय का ज्ञान होता है । इसीलिए व्यावहारिक प्रमा को सविषयक ज्ञान कहते हैं, जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान में त्रिपुटी-भेद बना रहता है । यह ''भेद-ज्ञान'' है - ''खण्ड-ज्ञान'' है । ईश्वराश्रया प्रमा माया-वृत्ति में प्रकाशित चैतन्य है और जीवाश्रया प्रमा अन्तःकरण-वृत्ति में प्रकाशित चैतन्य है । जीवाश्रया प्रमा के दो भेद हैं - पारमार्थिक प्रमा और व्यावहारिक प्रमा । प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों से उत्पन्न होने वाली प्रमा व्यावाहारिक प्रमा है और ''तत्त्वमसि'' आदि महावाक्यों से अन्तःज्ञात अपरोक्षानुभूत प्रमा पारमार्थिक प्रमा है । शाब्दी प्रमा श्रुति प्रमाणजन्य होने के कारण परोक्ष प्रमा है और व्यावहारिक ज्ञान है । इससे सावरण ज्ञान की निवृत्ति होती है, किन्तु अज्ञान के विक्षेप की निवृत्ति नहीं होती है । विक्षेप की निवृत्ति ''स्वस्वरूप-बोध'' से ही सम्भव है । स्वानुभूति ही अपरोक्ष प्रमा है । जब तक आत्म-बोध नहीं होता तब तक ''तत्त्वमसि'' वाक्य से उत्पन्न ज्ञान शाब्दिक ज्ञान या परोक्ष प्रमा है ।

पारमार्थिक प्रमा अन्तर्दृष्टि के जगने से सम्भव है । यह अन्तर्दृष्टि कोई मानसिक या बौद्धिक क्रिया नहीं है । आत्म-बोध के लिए तार्किक प्रक्रिया या भाषा-विश्लेषण द्वारा ''तत्त्वमसि'' वाक्य का अर्थ करना पर्याप्त नहीं है, अपितु उस अर्थ की अन्तर्दृष्टि रखना अपेक्षित है । यही अन्तर्दृष्टि ही स्वानुभूति है । स्वानुभूति से शून्य ''तत्त्वमसि''

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अर्थ हमें प्रसंख्यान-मार्ग की ओर ले जाता है और ''विचार-दर्शन'' के घेरे में बन्द कर देता है । अन्तःअनुभूति के बिना ''वाक्यार्थ-विज्ञान'' बुद्धि-विलास है । ''जानने'' और ''होने'' में अन्तर है । ज्ञान के आगे विज्ञान है । ज्ञान का अर्थ है जानना और विज्ञान का अर्थ है हो जाना । साधारण विज्ञान विषय का ज्ञान है - आवरण का ज्ञान है - खण्डित ज्ञान है । परम विज्ञान तत्त्वबोध है और आवरण के भीतर छिपे सत्य का साक्षात्कार है । ज्ञान को पाने के लिए विज्ञानों को पढना होता है - प्रयोगशालाओं में सीखना होता है- शास्त्रों का अध्ययन अनुशीलन करना होता है । ''स्वयं होने'' में इन सब की जरूरत नहीं है । आत्मा का साक्षात्कार होते की सारे शास्त्र नीरस हो जाते हैं । सारी क्रियाएँ ठहर जाती हैं । यानी मञ्जिल मिल जाने के बाद रास्ते अपने आप भूल जाते हैं । ''अ-मन'' हो जाना, ''अ-बुद्धि हो जाना'' और ''चित्त का निर्वृत्ति'' हो जाना ही विस्मरण का स्मरण हो जाना है या स्वयं से मिल जाना है । तत्त्वज्ञान या पारमार्थिक प्रमा कोई नया ज्ञान नहीं है, अपितु अपने ही विस्मृत चिरन्तन स्वरूप का स्मरण है । आत्मा की अपरोक्षानुभूति ही ''विज्ञान'' है, जो ज्ञान से आगे उच्च कोटि की पारमार्थिक प्रमा है । जब तक बौद्धिक कोलाहल शान्त न होगा तब तक बोधि की वाणी श्रुतिगोचर न होगी । बुद्धि के स्तर पर जो भी ज्ञेय है, वह ज्ञान की अन्तिमता नहीं है । बौद्धिक स्तर पर आत्मा भले ही एक विशेष अर्थ में ''अज्ञेय'' हो, किन्तु उसकी हमें सद्यः अनुभूति होती है । कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य की मान्यता है : ''सत्ता की अचिन्त्यता इस बात की चुनौती है कि हम उस आयाम का पत्ता लगायें, जहाँ उसका साक्षात्कार किया जा सके ।''[१] बौद्धिक अनुभूति सम्बन्धात्मक चेतना है- ''तद्-किम्'' के सम्बन्ध की चेतना है । सम्बोधिक अनुभूति समग्र अनुभूति है - अखण्ड आत्मा की चेतना है, जहाँ ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की त्रिपुटी का अपूर्व तादात्म्य हो जाता है । अतः आत्मा स्वयं प्रकाशित है और सब के प्रकाशन का अधिष्ठान है ।

प्रत्यक्ष प्रमा के सन्दर्भ में पारमार्थिक प्रमा को समझा जा सकता है । प्रत्यक्ष प्रमा के दो विभाग हैं - बाह्य प्रमा और आन्तर प्रमा । शब्द, स्पर्श, रस और गंध बाह्य प्रमा हैं । आन्तर प्रमा आत्मगोचरा प्रमा और सुखादि-गोचरा प्रमा के रूप में विचारणीय है । आत्मगोचरा प्रमा के अन्तर्गत विशिष्ट आत्म विषया प्रमा और शुद्धात्मविषया प्रमा या पारमार्थिक प्रमा आते हैं । पूर्व मीमांसा और न्याय-मत में प्रमाण के द्वारा प्रमेय की सिद्धि होती है, क्योंकि वहाँ प्रमेय जड है । वेदान्त में प्रमेय अद्वितीय ब्रह्म है, जो प्रत्यगात्मा है ।

वह सभी प्रमाणों का साधक है । अतः वेदान्त में प्रमेय द्वारा प्रमाण की सिद्धि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है । साक्षी चैतन्य से ही समस्त लौकिक प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार सिद्ध हैं । केवल व्यावहारिक प्रमेयों की सिद्धि लक्षण से होती है । वेदान्त का प्रमेय पारमार्थिक है और सकल व्यवहार का प्रकाशक है । सर्वज्ञाता मुनि का मत है-''जहाँ प्रमेय जड है, वहीं प्रमेय की सिद्धि प्रमाणाधीन या मानाधीन है और जहाँ प्रमेय अद्वितीय चिन्मय आत्मा है तथा सभी प्रमाणों के व्यवहार की प्रागपेक्षा है वहाँ प्रमाणों की सिद्धि प्रमेयाधीन या मेयाधीन है''-

मानेन मेयाधिगतिस्तु युक्ता
प्रमेय जाड्याद्विधिनिष्ठ काण्डे ।
मेयेन मानाधिगतिस्तुयुक्ता
वेदान्त वाक्यादजडं हि मेयं ॥[३]

इस प्रकार वेदान्त में प्रमेय आत्मा है और आत्मा से ही सारे प्रमाण सार्थक बनते हैं । ऐसी परिस्थिति में प्रमाण का महत्त्व वेदान्त में लक्षण के महत्त्व से कम है । अर्थात् लक्षण को छोडकर ब्रह्म या आत्मा को जानने का और कोई उपाय नहीं है, क्योंकि आत्मा सारे प्रमाणों की प्रागपेक्षा है । अतएव किसी प्रमाण से आत्मा का ज्ञान सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रमाण से उसकी जानने में ''सिद्धि-साधन-दोष'' है । अतः आत्मा प्रमाणों के पहले स्वतः सिद्ध है । व्यवहारिक जगत् के विषयों को सिद्ध करने में अद्वैत वेदान्त में लक्षण और प्रमाण दोनों को उपादेय माना गया है- ''लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः ।'' जहाँ लक्षण और प्रमाण का अभाव है वहाँ वस्तु के अभाव की भी सिद्धि है: ''तदभावात् तदसिद्धिः ।'' ब्रह्म से भिन्न जितने पदार्थ और उनके प्रमाण हैं वे सब तत्त्वज्ञान से निवृत्त हो जाते हैं । प्रमाणों और शास्त्रों के विषय अविद्याकृत हैं । प्रमाणों की गति वहीं तक है, जहाँ प्रमाता एवं प्रमेयों की सत्ता है । प्रमाता-प्रमेय-भेद अविद्याजन्य है । साधारण ज्ञान भेद सहित है और पारमार्थिक ज्ञान भेदरहित है । यह सही है कि प्रमाणजन्य ज्ञान हमें ब्रह्म ज्ञान की ओर अग्रसर करता किन्तु दोनों के स्वभाव में अन्तर है । शंकर की दृष्टि में अन्य प्रमाणों की तुलना में श्रुति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि श्रुति द्वारा आत्मसाक्षात्कार में पर्याप्त सहायता मिलती है । इस दृष्टि से प्रमाणों का केवल साधन-मूल्य है, न कि साध्य-मूल्य ।

ज्ञान के विशेषत्व और विषयत्व का मुख्य विवाद अद्वैत वेदान्त और विशिष्टद्वैत वेदान्त के मध्य रहा है । इसका कारण उनकी निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म सम्बन्धी परस्पर विरोधी तत्त्वमीमांसा है । शंकर मत के विरुद्ध रामानुज ने समस्त ज्ञान को अनिवार्य रूप से सविषयक और सविशेष माना है । उनके अनुसार प्रत्येक ज्ञान का कोई-न कोई विषय होता है, जिसकी सत्ता को वह प्रकाशित करता है- ''न च निर्विषया काचित्संविदस्ति अनुपलब्धेः ।''[३]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय न केवल सत् है, अपितु उसका स्वरूप भी वैसा ही है जैसा कि ज्ञान में प्रकट होता है । ज्ञान का सार उसके अपने विषय को प्रकाशित करने के साधनात्मक रूप में निहित है- ''स्वसत्तयैव स्वविषयसाधनत्वम् ।''[४]

अद्वैतवेदान्तियों ने ज्ञान के स्वयंप्रकाशत्व के लिए भी उसके निर्विषयत्व को अनिवार्य माना है । उनके अनुसार ज्ञान न तो ''विषय रखता है'' और न ही ''विषय बनता है'' । वह स्वयंप्रकाश व स्वतन्त्र है, जिसकी अपरोक्ष अनुभूति होती है । जानने के लिए विषय की अपेक्षा रखने पर ज्ञान का अस्तित्व विषय पर निर्भर व परतन्त्र हो जाता है । वास्तव में ''ज्ञान'' और ''अस्तित्व'' पर्यायवाची हैं, क्योंकि यदि ये दोनों अलग होते तो सत् की ज्ञान से स्वतन्त्र रूप से जानना अपने आप में विरोधाभास है । अद्वैत मत के विरुद्ध रामानुज ने ज्ञान के स्वयंप्रकाशत्व को अर्थप्रकाशत्व के साथ ग्रहण किया है । यानी ज्ञान के स्वयंप्रकाशत्व में उसका विषयत्व ही प्रकट होता है- ''विषय प्रकाशन्तयैवोपलब्धेरेवहि संविदस्स्वयंप्रकाशत समर्थिता ।''[५] ज्ञान के स्वयंप्रकाश होने का तात्पर्य है कि ज्ञान बिना किसी अन्य की सहायता के स्वयं को प्रकाशित करने के साथ विषय को भी प्रकाशित करता है । रामानुज की दृष्टि में ज्ञाता और ज्ञान में भेद है, ज्ञाता और ज्ञेय में भेद है, ज्ञान और ज्ञेय में भेद है, एक ज्ञान और दूसरे ज्ञान में भेद है और एक ज्ञेय तथा दूसरे ज्ञेय में भेद है । इन भेदों की स्वीकारोक्ति ही ज्ञान के सविषयत्व को आधार प्रदान करती है । यदि ज्ञाता का ज्ञान व ज्ञेय से भेद न हो तो विषय का ज्ञान असम्भव हो जाय । इन भेदों की अस्वीकारोक्ति ज्ञान की अस्वीकारोक्ति है । परन्तु यदि ज्ञान को स्वतःप्रमाण मान लिया जाय तो यह प्रश्न उठता है कि यह प्रमाण किसका है ? यदि ज्ञान निर्विषयक है तो यह प्रमाण भी नहीं है । ''मैंने यह देखा''- यह कथन विषय का ही निर्देश करता है । अतः स्पष्ट है कि ज्ञान का आकार और उसकी प्रकृति उसके विषय के आकार और प्रकृति द्वारा निर्धारित होती है । इस प्रकार ज्ञान और विषय की तद्धपता खण्डित हो जाती है । रामानुज के विचार में ज्ञान-प्रक्रिया में विषय की ''अनेकता'' और ''परिवर्तनशीलता'' उसके सविषयत्व को सिद्ध करती है । अद्वैतवेदान्ती ''अनुवर्तमानत्व'' तथा ''अननुवर्तमानत्व'' में भेद कर पाने में असमर्थ हैं । जहाँ जो वस्तु है, वहीं पर उसका अनस्तित्व देखना परस्पर विरोधी है। अतः अद्वैतवेदान्तियों द्वारा अनुवर्तमानत्व (निरन्तर स्थित) को सत् की कसोटी मानकर ज्ञान के विषय का खण्डन नहीं किया जा सकता । बिना विषय के आत्मा का साक्षीभाव भी असिद्ध है । जाग्रत और स्वप्न के अलावा भी सुषुप्ति में आत्मा ''अज्ञान'' का साक्षी है । चेतना की तुरीय अवस्था में ''अहमर्थ'' शेष रहता है । रामानुज ज्ञानस्वरूपता को निर्विशेष नहीं मानते क्योंकि ज्ञाता भी ज्ञानस्वरूप है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञानवान् भी है, जैसे दीप प्रकाशस्वरूप है और प्रकाश रश्मिवान् भी है । ''सारभूत ज्ञान'' निर्विशेष नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान कभी भी निराश्रय नहीं होता है । वह अपने आश्रय से उसके गुण के रूप में संयुक्त होता है । अतः ज्ञानमय सत्ता निर्विशेष नहीं है ।'' धर्मभूत ज्ञान का विषय समस्त अचित् पदार्थ है, जिससे आत्मा को विषयों के सम्बन्ध में कर्तृत्व-भोक्तृत्व की उपलब्धि होती है, जबकि सारभूत विषय का ज्ञान स्वयं आत्मा है । दोनों ज्ञान सविशेष हैं । सारभूत ज्ञान संकोच-विकास की क्रिया से रहित नित्य निर्विकार आत्मा का स्वयं का ज्ञान है । अतः सविषयक होते हुए भी इससे नित्य आत्मा का अपरिणामी स्वरूप विकृत नहीं होता है ।

रामानुज की ज्ञान-मीमांसा के सन्दर्भ में यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या धर्मभूत ज्ञान की भाँति स्वरूपभूत ज्ञान (आत्मबोध) भी सविषयक तथा सविशेष है ? रामानुज ने सारभूत ज्ञान के सन्दर्भ में इस तथ्य को स्पष्ट नहीं किया है । उन्होंने ज्ञान को गुण और स्वरूप दोनों मानकर एक विरोधाभास को जन्म दिया है और यह विरोधाभास तभी समाप्त किया जा सकता है जब धर्मभूत ज्ञान को आत्मा का विवर्ताभास और सारभूत ज्ञान को निर्विषयक शुद्ध चैतन्य स्वरूपता की पारमार्थिक प्रमा के अर्थ में स्वीकार कर लिया जाय । परन्तु ऐसे स्वीकरण से विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन ही ध्वस्त हो जायेगा । एक कठिनाई यह भी है कि स्वयंप्रकाश आत्मा के प्रकाश का विषय क्या हो सकता है ? इसका उपयुक्त उत्तर यही है कि स्वयंबोध के रूप में अद्वय आत्मा ही ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान सभी है । जितने भी दृश्य पदार्थ हैं, वे सब अनित्य एवं विकारी हैं । रूप दृश्य है और नेत्र द्रष्टा, नेत्र दृश्य है और मन द्रष्टा, मन दृश्य है और बुद्धि द्रष्टा, बुद्धि दृश्य है और आत्मा द्रष्टा । यह आत्मा किसी का दृश्य नहीं है । यह शुद्ध द्रष्टा होने के नाते अव्यक्त, अविकारी, निरपेक्ष और सभी सापेक्ष सत्ताओं का अधिष्ठान है ।

पारमार्थिक प्रमा के सन्दर्भ में सभी प्रमाण और लक्षण साधन-मूल्य हैं । शंकर के विचार में अपरोक्षानुभूति ही आत्मज्ञान है । अन्य प्रमाण इस अपरोक्षानुभूति के साधन मात्र कहे जा सकते हैं । शंकर की दृष्टि में ''प्रमाणों का कार्य ब्रह्म साक्षात्कार कराना नहीं है, अपितु अविद्या कल्पित भेदों की निवृत्ति करना है ।'' ''प्रत्यक्षादि प्रमाणों का कार्य केवल इतना है कि वे प्रदर्शित करें कि आत्मा अनात्म वस्तुओं से सर्वथा पृथक् है ।

नैसर्गिक अध्यास को दूर करना ही श्रुति प्रमाणों का कार्य है- ''तस्माद् ज्ञान यत्नो न कर्त्तव्यः, किन्त्वनात्म बुद्धि निवृत्तौ एव ।''[८] अनात्म बुद्धि के निरास होते ही हम ''स्वस्वरूप'' में प्रतिष्ठित हो जाते हैं । यही अपरोक्षानुभूति या पारामर्थिक प्रमा है । पंचदशी में कहा गया है : ''स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यताम् मा कुतर्क्यताम्''। अर्थात्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वानुभूति के अनुसार ही तर्क करना चाहिए, व्यर्थ में कुतर्क नहीं करना चाहिए । शंकर सारे दर्शन को अनुभव पर आधारित मानते हैं । प्रश्न है कि क्या यह अनुभव लौकिक है या अलौकिक ? क्या ये दोनों अनुभव परस्पर विरोधी हैं ? शंकर के मत में अनुभव परस्पर विरुद्ध धर्मक नहीं हैं । दोनों के क्षेत्र अलग-अलग हैं । शंकर का उद्घोष है कि "सैकडों श्रुतियाँ अग्नि को शीतल या प्रकाशरहित मानने के लिए विवश नहीं कर सकती हैं और न ही उन्हें कभी प्रामाणिक ही माना जा सकता है ।"[९] रूपादि के अभाव में ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं है और लिंगादि के अभाव में वह अनुमान का भी विषय नहीं है-" रूपाद्यभावद्धि नायमर्थः प्रत्यक्ष गोचरः लिंगाद्यभावाच्च नानुमानादीनाम् ।"[१०] ब्रह्म को तर्क द्वारा भी नहीं जाना जा सकता, क्योंकि पुरुषमति की विरूपता के कारण तर्क को प्रतिष्ठित नहीं माना जा सकता "न प्रतिष्ठित्वं तर्कणां शक्यमाश्रयितुं पुरुषमतिवैरूप्यात् ।"[११] पुनश्च, तर्क अनवस्थित होता है और भ्रान्ति को उत्पन्न करता है- "तर्कस्तु अनवस्थिती भ्रान्तोऽपिभवति ।"[१२] इन सब कारणों से शंकर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रह्म श्रुति द्वारा ही वेद्य है ।

शंकर लौकिक ज्ञान को एक प्रकार का कर्म ही मानते हैं, क्योंकि वहाँ "विदिक्रिया" होती है । साधारण ज्ञान मानसिक क्रिया होने के कारण पुरुषतन्त्र है । "आत्मज्ञान" विदिक्रिया का कर्म इसलिए भी नहीं है, क्योंकि आत्मा सभी प्रकार के ज्ञानों का अधिष्ठान है । उसे ज्ञान द्वारा नहीं जाना जा सकता - विदिक्रियाकर्मत्व प्रतिषेधात् । येनेदं सर्वविजानाति तं केन विजानीयात् ।"[१३] वाणी और मन का विषय न होने पर आत्मा "उपस्ति-क्रिया" का भी कार्य नहीं है । इसका कारण है कि आत्मा न घट की तरह उत्पाद्य है, न ओदन की तरह विकार्य है, न वस्तु की तरह प्राप्य है और न शरीर की तरह संस्कार्य है । वह नित्य, निर्विकार, शुद्ध और नित्य प्राप्त है । तात्त्विक ज्ञान और काम्यकर्म में विरोध है । धर्म-जिज्ञासा और ब्रह्म-जिज्ञासा के फल व विषय में अन्तर है । "धर्म-ज्ञान" का फल अभ्युदय है, जिसके लिए यज्ञ आदि अनुष्ठानों की अपेक्षा है । उसका विषय "भव्य" है और पुरुषतन्त्र के अधीन है । यानी कर्म के सन्दर्भ में "कर्तु-अकर्तु-अन्यथाकर्तु" की स्वतन्त्रता है । ब्रह्म-जिज्ञासा का विषय नित्य प्राप्त है और वस्तुतन्त्र है । आत्मबोध के लिए ब्रह्म-जिज्ञासा के पूर्व धर्म-जिज्ञासा (कर्म, भक्ति आदि) का क्रम विवक्षित नहीं है । यहाँ विस्मरण का स्मरण होना ही आत्मबोध है । यानी ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है- "ब्रह्मवेद ब्रह्ममेव भवति ।" जब प्रमाणचैतन्य प्रमेय चैतन्य और प्रमातृचैतन्य में तादात्म्य स्थापित हो जाता है तभी पारमार्थिक प्रमा होती है । व्यावहारिक दृष्टि से ज्ञान एक प्रक्रिया है, जिसे जीव सम्पन्न करता है । निष्क्रिय साक्षी और सक्रिय अन्तःकरण के योग को जीव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं, तात्त्विक दृष्टि से ज्ञान परमतत्त्व का स्वरूप है । पारमार्थिक प्रमा की अवस्था में साक्षी ब्रह्म में और अन्तःकरण माया में लीन हो जाता है । साक्षीज्ञान विषयी का ज्ञान है और वृत्ति-ज्ञान विषय का ज्ञान है । आत्मबोध निर्विषक, निर्वृत्त और सद्यः है । यह नित्य प्राप्त की प्राप्ति है ।

जीव और ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन करना वेदान्त का प्रमुख प्रतिपाद्य है । ''तत्त्वमसि'' महावाक्य का यही प्रयोजन है । इस महावाक्य का अर्थ लक्षणा से ग्रहण करना चाहिए । कभी-कभी वाक्य में वाच्यार्थ का अन्वय ठीक नहीं बैठता है और अभिधा के बजाय लक्षणा का सहारा लेना पडता है । शब्द की तीन शक्तियाँ हैं - अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना । इनसे क्रमशः वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ का बोध होता है । व्यञ्जना का प्रयोग काव्य में स्वीकृत है और शास्त्र में वर्जित है । शास्त्र में अभिधा और लक्षणा का प्रयोग किया जाता है । ''तत्त्वमसि'' का प्रयोजन वाच्यार्थ से सिद्ध न होकर लक्ष्यार्थ से ही सिद्ध होता है । ''तत्'' और ''त्वम्'' पदों का सामानाधिकरण्य भागत्याग लक्षणा की प्रक्रिया से सर्वज्ञत्व तथा अल्पज्ञत्व का त्याग करके अविरुद्ध चैतन्य के अखण्ड बोध से सिद्ध है । अभेद-ज्ञान ही सत्यता है । सभी भेद (सजातीय-विजातीय-स्वगत) कल्पित मिथ्या हैं । प्रमाता-प्रमेय-प्रमाण-भेद परमार्थतः भ्रामक हैं । सभी ज्ञेय पदार्थों का व्यभिचार हो जाता है, किन्तु चैतन्य नित्य अव्यभिचारी है । अतः चैतन्य ही एक मात्र तत्त्व है । ''ज्ञाता के ज्ञान का या द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप कथमपि नहीं हो सकता ।''[१४]

सकल ब्रह्माण्ड में अन्वित सत्ता ब्रह्म है, अन्यथा प्रतीति भी न होती । यदि असत् अन्वित होता तो जगत् शून्य होता । अतः प्रत्यक्षमूलक युक्ति से ''तत्पदार्थ'' का शोधन होता है । जगत् का अधिष्ठान होने के कारण ब्रह्म ही सृष्टि का उपादान और निमित्त कारण दोनों है । यदि ये दो कारण अलग-अलग होते तो अनवस्था प्रसंग का दोष होता । अतः सृष्टि मूलक युक्ति से भी ''तत्पदार्थ-शोधन'' होता है । सृष्टि का प्रयोजन और व्यवस्था दोनों विलक्षण हैं, जिससे एक अपरिमित प्रतिमा की ओर संकेत होता है । अतः प्रयोजन मूलक एवं नीतिमूलक तर्क से भी ''तत्पदार्थ'' का शोधन होता है । ''तत्पदार्थ'' के शोधन के पश्चात् ''त्वंपदार्थ'' का शोधन किया जाता है । शरीरात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, आत्ममनोवाद, प्राणात्मवाद, प्रदेशात्मवाद, अनात्मवाद और अचेतनात्मवाद से भिन्न शंकर का विशुद्ध आत्मवाद है । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन आगन्तुक अवस्थाओं का जो वास्तविक अधिष्ठान है, वह आत्मा तुरीय है । ''ओम्'' में तीन अक्षर हैं- ''अ'', ''उ'' और ''म्'' । जाग्रत, विश्व और विराट का बोधक ''अ'' है । स्वप्न, तेजस और हिरण्यगर्भ का प्रतीक ''उ''

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। सुषुप्ति, प्राज्ञ और ईश्वर का वाचक ''म्'' है । ज्ञाता के रूप में आत्मा इन तीन मात्रिक अवस्था में निर्विकार रूप में विद्यमान है । ''अ'', ''उ'', ''म्'' का अन्तर्भाव अन्त में अमात्रा में हो जाता है । यह आमात्रिक शुद्ध चैतन्य तुरीय, आत्मा या ब्रह्म है, जो नित्य, निर्विकार अखण्ड और विशुद्ध चैतन्य स्वरूप है । ज्ञान इसका स्वभाव है । यानी यह निर्विषयक ज्ञानस्वरूप है । मनोवैज्ञानिक युक्ति से ''त्वंपदार्थ'' का शोधन इस प्रकार होता है कि ''मैं हूँ'' । इस रूप में ज्ञाता आत्मा सभी ज्ञानों में व्याप्त है । ज्ञेय का व्यभिचार होता है, न कि ज्ञान का । यदि ज्ञान का व्यभिचार असम्भव है तो ज्ञाता का निषेध भी असम्भव है । अतः ज्ञाता शुद्धज्ञानस्वरूप है । इस प्रकार तार्किक युक्ति से भी ''त्वंपदार्थ'' का शोधन हो जाता है ।

तर्क सत्य की स्थापना तो नहीं कर सकता, किन्तु उसकी पुष्टि में सहायक है। तर्क प्रमाणों का अनुग्राहक मात्र है और श्रुत्यर्थ में सहायक है । आत्मबोध या अपरोक्षानुभूति में श्रुति सर्वाधिक उपयोगी है, किन्तु अन्ततः वह तर्क द्वारा गम्य नहीं है-''नेषा तर्केण मतिरापनेया ।'' तत्त्वसाक्षत्कारी के लिए तर्क सहित सभी प्रमाण एवं श्रुतियाँ निरर्थक हैं । तर्क की महती आवश्यकता जिज्ञासु तत्त्वान्वेषी को है । स्वयं शंकर कहते हैं कि दृष्टान्तों को उपस्थित करके केवल श्रुतिवाक्यों को ही बोधगम्य बनाया जा सकता है- ''दृष्टान्तेन हि प्रत्यक्षीभवति विविक्षितोऽर्थः ।[१५] ''नैष्कर्म्य-सिद्धि'' में सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि तर्क बुद्धि के सदुपयोग से श्रुतिवाक्यों के सही तात्पर्य को समझा जा सकता है । तत्त्व के मनन-निदिध्यासन में ही तर्क सहायक है, न कि तत्त्वबोध में । आनन्दगिरिने श्रुति को कारण और तर्क को उपकरण माना है- ''अज्ञान-निवृत्ति-रूप-फल साधनत्वेन फलीभूतामित्यर्थः ।''[१६] न्याय भाष्य में तर्क को स्वतंत्र प्रमाण न मानकर प्रमाणों का उपकारक माना गया है । तर्क की अप्रतिष्ठा में शंकर ने कहा है- ''कुतर्क दूषितान्तःकरणा अनुकम्पनीयाः'' ।[१७] अर्थात् जिनका मस्तिष्क कुतर्क से संदूषित है, वे कृपा के पात्र हैं । पुनश्च, ''अहो । अनुमानकौशलं दर्शितं श्रृंगेस्तार्किक बलिवर्दो।''[१८] अर्थात् केवल तर्ककौशल प्रदर्शित करनेवाले तार्किक बिना पूंछ-सींग के बैल के समान है । श्रुति पर आधारित तर्क ही पारमार्थिक प्रमा में सहायक है ।

''आत्मा-अनात्मा-विवेक'' वेदान्त की भाषा में शोधन-विधि है । शंकर ने पारमार्थिक प्रमा का प्रतिपादन ''तत्पदार्थ'' एवं ''त्वंपदार्थ'' के शोधन से आरम्भ किया है, क्योंकि आत्मबोध का अनात्म वस्तुओं के ज्ञान से भेद करना अपरिहार्य है । सम्पूर्ण बाह्यजगत् एक आभास है, क्योंकि शुक्ति-रजत के समान यह अनात्मवस्तु है- ''ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्य ब्रह्मभिन्नत्वात् शुक्तिरजतवत् ।''[१९] स्वयंप्रकाश आत्मा में अनादि अनिर्वचनीय कल्पित अज्ञान-निवृत्ति के सिवा आत्मबोध हेतु तर्कसहित सभी प्रमाणादिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापार अन्ततः निस्तेज हैं । मात्र अज्ञान-निवृत्ति ही प्रमाण का फल है । ''तत्त्वमसि'' के तात्पर्य-बोध में दो विधियों का उपयोग किया जाता है- अध्यारोप-अपवाद-विधि और अन्वय-व्यतिरेक-विधि । अन्वय-व्यतिरेक ''तत्-पदार्थ-शोधन'' का उपाय है । इस विधि के अनुसार तत् और त्वं पदों का तात्पर्य वाच्यतः ब्रह्म है । जो ब्रह्म से भिन्न या व्यतिरिक्त है वह आभास या विवर्त है । इस प्रकार अन्वय-व्यतिरिक के द्वारा ''तत्-पदार्थ'' और ''त्वं-पदार्थ'' अर्थ-शोधन किया जाता है । इस शोध-प्रक्रिया में अध्यारोप और अपवाद की प्रणाली का प्रयोग किया जाता है । इसको समझने के लिए पंचकोश का विवेचन जरूरी है । सर्वप्रथम ब्रह्म अन्नमय प्रतीत होता है, किन्तु गहन विचार के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म अन्नमय नहीं हो सकता, क्योंकि जो कुछ अन्नमय है वह विकारी, परिवर्तनशील तथा अनित्य है । इस अवधारणा में असंगति देखने के बाद ब्रह्म को क्रमशः प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय से आरोपित किया जाता है और फिर मनन के द्वारा उनका अपवाद या निराकरण कर दिया जाता है । अर्थात् अध्यारोप-अपवाद-विधि द्वारा यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म अन्नमय आदि में व्याप्त होते हुए उनसे व्यतिरिक्त है । इन दोनों विधियों का उपयोग करके जिज्ञासु, तत्त्व का अनुसंधान करता है । एक सीमा के भीतर अभ्यास, ध्यान, कर्म, भक्ति और मनन तत्त्व के अनुसंधान में सार्थक हो सकते हैं। परन्तु अद्वैत वेदान्त की यह मान्यता है कि इन विधियों से सावरण ज्ञान की निवृत्ति होती है न कि अज्ञान के विक्षेप की निवृत्ति । जब तक स्वानुभूति या अखण्ड प्रमा नहीं होती तब तक तत्त्वमसि का विधिपरक ज्ञान शाब्दिक ज्ञान या परोक्ष प्रमा है । परोक्ष प्रमा से अपरोक्ष प्रमा तक सात सोपान हैं । प्रथम अवस्था अज्ञान की है । अर्थात् मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ । द्वितीय अवस्था आवरण की है । यानी ब्रह्म अप्रकाशित है । तृतीय अवस्था विक्षेप की है । यानी मैं ही ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता हूँ । चौथी अवस्था परोक्ष ज्ञान की है । अर्थात् ''तत्त्वमसि'' आदि महावाक्यों द्वारा ब्रह्म का बोध होता है । पाँचवी अवस्था अपरोक्ष ज्ञान की है । यानी में ही ब्रह्म हूँ । छठी अवस्था शोक की निवृत्ति की अवस्था है और सातवीं अवस्था पूर्ण तृप्ति या निरतिशय आनन्द की अवस्था है । ''तत्त्वमसि'' के अर्थज्ञान की इन सात अवस्थाओं को ''दशमस्त्वमसि'' (नौ के बाद दसवाँ तुम हो) के विचारसाम्य से समझा जा सकता है । ये दोनों वाक्य तादात्म्य प्रतिपादक हैं । अतः औपनिषदिक वाक्यों से जीव-ब्रह्म-ऐक्य की पारमार्थिक प्रमा होती है ।

रीडर, दर्शन-विभाग, **डा. दुर्गादत्त पाण्डेय**
गनपत सहाय पी. जी. कॉलेज,
सुलतानपुर (उ. प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

१. "To be ignorant is not the special prerogative of man, to know that he is as subject as freedom, ignorant is his special previlege" - **'Subject as Freedom'**, K. C. Bhattacharya, p. 46.

२. महादेवानन्द सरस्वती कृत **''तत्त्वानुसंधान''**, पृ. १२६ तथा संक्षेप शारीरक, १/४८७

३. **श्री भाष्य** - १, १, १

४. **वही**, १, १, १

५. **वही**, १, १, १

६. **भारतीय दर्शन**, सम्पादक-नन्द किशोर देवराज, पृ. ५५६

७. ''अविद्या कल्पित भेद निवृत्ति परत्वात् शास्त्रस्य नहि शास्त्रमिदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति, **शारीरक भाष्य** - १, १, ४

८. **गीता भाष्य** - १८/५०

९. ''नहि श्रुति शतमपि शीतोऽग्निप्रकाशो वेति बुवत्प्रामाण्यमुपैति,'' **गीता भाष्य**, १८/६६

१०. **शारीरक भाष्य** - २, १, ११

११. **वही** - २, १, ११

१२. **केनवाक्य भाष्य** - १, ३

१३. **शारीरक भाष्य** - १, १, १४

१४. ''नहि द्रष्टर्दृष्टे विपरिलोपो विद्येते । य एव हि निराकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम् ।'' **शारीरक भाष्य** - २, ३, ७

१५. **बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य** - ४, ३, २१

१६. रत्नप्रभा के ऊपर पूर्णानन्द का भाष्य, पृ. १२

१७. **बृह. उप. भाष्य** - ४, ३, २१

१८. **वही** - ४, ३, २१

१९. **वेदान्त परिभाषा**, अध्याय-२.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपूर्णता, संरचनावाद एवं सत्यता

[Fabrice Pataut लिखित *Incompleteness, Constructivism and Truth* का अनुवाद]

गोडेल के प्रथम अपूर्णता प्रमेय से क्या इस प्रश्न के विषय में निष्कर्ष निकलते हैं कि अन्तःप्रज्ञावादी शब्दार्थशास्त्र को शास्त्रीय शब्दार्थशास्त्र पर वरीयता देनी चाहिए तथा इस प्रश्न के लिये कि यह मान लेने पर कि शब्दार्थशास्त्रीय सिद्धान्तों की स्वीकृति से तदनुरूपी तार्किक नियमों की स्वीकृति आपादित होती है, क्या अन्तःप्रज्ञावादी तर्कशास्त्र को शास्त्रीय तर्कशास्त्र पर वरीयता देनी चाहिये ?

यद्यपि गोडेल के १९३१ के परिणामों के प्रकाशन के पश्चात् बूल्स द्वारा (१९८९) इस प्रमेय के कुछ असंरचनावादी प्रमाण प्रस्तावित किये गये हैं, ऐसा स्पष्ट प्रतीत हो सकता है कि गोडेल के मूल प्रमाण का तर्कशास्त्र के चयन के प्रश्न पर कोई प्रभाव नहीं पडता, क्योंकि वह शास्त्रीय एवं अन्तःप्रज्ञावादी दृष्टिकोणों के प्रति सुस्पष्ट रूप से तटस्थ है । गोडेल ने अपने पाठकों को यह याद दिलाना महत्त्वपूर्ण समझा कि उनका प्रमाण वास्तव में संरचनावादी था । उन्होंने इस तथ्य की ओर इशारा किया कि प्रथम अपूर्णता परिणाम को "अन्तःप्रज्ञावादी दृष्टि से एक आपत्तिरहित विधि से" प्राप्त किया गया था (गोडेल [१९३१ : १८९], १९८६ ए : १७७) तथा अपने इस दावे की संपुष्टि के लिये यह तर्क दिया था कि "प्रमाण में प्रयुक्त समस्त अस्तित्वमूलक कथन (एक्जिस्टेंशयल वेटाउपट्टुंगेन) प्रमेय V पर आधारित थे (अर्थात् अपूर्णता प्रमेय से ठीक पूर्ववर्ती प्रमेय पर), जो जैसा कि सहज ही देखा जा सकता है, अन्तःप्रज्ञावादी दृष्टिकोण से आपत्ति रहित है" (गोडेल लाक. सिट. नोट ४५ ए)

क्लीन की भाषा में प्रमेय V का कथन है कि प्रत्येक पूर्वग परिकलनात्मक सम्बन्ध P में संख्यापदों के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है, जहाँ P, प्रकारों के प्रशासन से रहित, प्राकृतिक संख्याओं को निम्नतम प्रकार मानते हुये तथा उनके सामान्य पीनो एक्जिआम्स को जोडते हुये (क्लीन १९८६ : १३२) रसेल तथा व्हाइटहेड की *प्रिंसीपिया मैथेमेटिका* से प्राप्त तंत्र है । P के सूत्रों की किसी व्याख्या विशेष के संदर्भ से जोडे बिना तथा गोडेल की अपनी पारिभाषिक शब्दावली में, जो गोडेल संख्याओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं उन पर प्रयुक्त होने वाले संप्रत्ययों के परोक्ष उल्लेख को आकारिक वस्तुओं का अपरोक्ष उल्लेख की बजाय वरीयता देती है, इसे जब विधिवत अभिव्यक्त किया जाता है तो प्रमेय V का दावा यह है ।

गोडेल का [१९३१], १९८६ प्रमेय V

प्रत्येक परिकलनात्मक सम्बन्ध $R\ (x_1, ..., x_n)$ के लिये एक n-स्थान सम्बन्ध का चिन्ह होता r है ($u_1, u_2, ..., u_3$ मुक्तचरों के साथ) इस प्रकार कि संख्याओं के प्रत्येक n-गुण $(x_{10} ..., x_w)$ के लिये हमारे पास होता है ।

$$R\ (x_1, ..., x_n) \rightarrow \text{Bew}\ [\text{Sb}\ (r\ \begin{matrix} u1...un \\ z(x1)\ ...\ z(xn) \end{matrix})],$$

$$\text{R}\ (x_1, ..., x_n) \rightarrow \text{Bew}\ [\text{Neg}\ (r\ \begin{matrix} u1...un \\ z(x1)\ ...\ z(xn) \end{matrix})].$$

गोडेल अपने प्रमाण की रूपरेखा देते हैं और इस अवसर पर बताते हैं कि प्रमेय V स्वयं "निःसंदेह [...] इस तथ्य का निष्कर्ष है कि एक परिकलनात्मक सम्बन्ध R के केस में संख्याओं के प्रत्येक n-गुण के लिये,यह *P तंत्र के अभिगृहीत सिद्धान्तों के आधार पर* निर्धारित किया जा सकता है कि R सम्बन्ध प्राप्त है कि नहीं" (गोडेल पूर्व उद्ध [186 n. 39], 171 n. 39)। यह अवश्य ही ध्यान में रहे कि इसे भी ऐसी कार्यावधियों के द्वारा निर्धारित किया जा सकता है जो अन्तःप्रज्ञावादी दृष्टिकोण से आपत्तिरहित है ।

कोई आपत्ति कर सकता है कि, जहाँ तक किसी प्रदत्त शब्दार्थशास्त्र के पक्ष में चयन का प्रश्न है, चाहे शास्त्रीय हो चाहे कोई और, इसका शायद ही कोई प्रभाव पडता है कि गोडेल का प्रमाण, *तर्कशास्त्रीय रूप से* अन्तःप्रज्ञावादी दृष्टि से सुरक्षित है अथवा नहीं, क्योंकि यद्यपि शब्दार्थशास्त्रीय सिद्धान्तों की स्वीकृति से साधारणतया तदनुरूपी तर्कशास्त्रीय निमयों की स्वीकृति आपादित होती है, इसका विपर्याय सत्य नहीं है ।[१] यदि शब्दार्थशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं तर्कशास्त्रीय नियमों के सम्बन्ध के विषय में यह अवधारणा सही है तो गोडेल अपने प्रमाण की रचना में आसानी से उदाहरण के लिये मध्य व्यावृत्ति के नियम का बिना द्विमूल्यात्मकता के सिद्धान्त (प्रत्येक कथन या तो सत्य है अथवा असत्य) को माने हुये प्रयोग कर सकते थे अथवा वे दोहरे निषेध के विलोपन के नियम का प्रयोग बिना स्थिरता के सिद्धान्त (प्रत्येक कथन जो असत्य नहीं है वह सत्य है) को स्वीकार करे हुये कर सकते थे । यदि यह बात मूलभूत तर्कशास्त्रीय नियमों एवं मूलभूत शब्दार्थशास्त्रीय नियमों पर साधारण रूप में लागू होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, न कि केवल मध्य व्यावृत्ति व दोहरे निषेध के विलोपन पर तो प्रमेय के असंरचनावादी प्रमाणों से कोई ऐसा शब्दार्थशास्त्रीय दावा आपादित नहीं होना चाहिये जिसे एक संरचनावादी अथवा अन्तःप्रज्ञावादी को अस्वीकार करना पडे । समस्या यह है कि वे (प्रमाण) निश्चय ही ऐसे दावों को निगमित करते हैं । विशेषकर, बूलोस का प्रमाण, गोडेल के कथन के बिल्कुल समान ही एक अनिर्गणीय अंकगणितीय कथन के अस्तित्व को सिद्ध करता है, लेकिन गोडेल के विपरीत, वह उसको प्राप्त करने की कोई कारगर क्रियाविधि प्रदान नहीं करता । मान लें कि एक *सही* कलन विधी M एक ऐसी कलन विधि के जो एक असत्य अंकगणितीय कथन को सूचीबद्ध नहीं करती । M द्वारा छोडा गया कोई सत्य अंकगणित का एक ऐसा सत्य कथन मात्र है जिसे M में सूचीबद्ध नहीं किया गया है । बूलोस का प्रमाण ऐसे एक सत्य कथन के अस्तित्व को सिद्ध करता है, परन्तु इस कथन को केवल शास्त्रीय दृष्टि से सत्य माना गया है संरचनावादी दृष्टि से नहीं।

समस्या अब यह है कि क्या किसी प्रदत्त तर्कशास्त्रीय नियम के खंडन से तदनुरूपी शब्दार्थशास्त्रीय सिद्धान्त का खंडन आपादित होता है । निःसंदेह *यदि* उदाहरण के लिए द्विमूल्यात्मकता की पूर्णरूपेण स्वीकृति मध्य व्यावृत्ति की स्वीकृति को आपादित करती है, तो, परिप्रतिवर्तन द्वारा, मध्य व्यावृत्ति की अस्वीकृति द्विमूल्यात्मकता की अस्वीकृति को आपादित करती है । यदि स्वीकृति एक दिशा में जाती है, शब्दार्थशास्त्रीय से तर्कशास्त्रीय की ओर, तो अस्वीकृति अवश्य ही दूसरी दिशा में जायेगी, तर्कशास्त्रीय से शब्दार्थशास्त्रीय की ओर । कदाचित् हम तार्किक नियमों एवं शब्दार्थशास्त्रीय सिद्धान्तों को निम्न अर्थ में सममूल्य पर मानना चाहेंगे : जिस प्रकार एक प्रदत्त शब्दार्थशास्त्रीय सिद्धान्त की स्वीकृति तदनुरूपी तर्कशास्त्रीय नियम की स्वीकृति को आपादित करती है उसी शब्दार्थशास्त्रीय सिद्धान्त की अस्वीकृति से उसी तदनुरूपी तर्कशास्त्रीय नियम की अस्वीकृति आपादित होनी चाहिये । परन्तु स्पष्ट है कि ऐसा हो सकता है कि समर्थन के क्रम तथा अस्वीकृति के क्रम में एकरूपता न हो ।

इस स्थिति में कहीं कुछ बहुत ही असंतोषजनक है क्योंकि यदि हम ऐसा दृष्टिकोण अपनाते हैं जिसके अनुसार, मोटे तौर पर हमें शब्दार्थशास्त्र से तर्कशास्त्र की और तर्क करना चाहिये और निश्चय ही विपरीत दिशा में नहीं तो हम अपने आप को ऐसी स्थिति में पायेंगे जहाँ हम गोडेल के पहले अपूर्णता प्रमेय के प्रमाण में शास्त्रीय तर्क का प्रयोग करने से बचें भी तो हमें फिर भी उन शास्त्रीय शब्दार्थशास्त्रीय सिद्धान्तों का समर्थन करना पडेगा जिन्हें एक अन्तःप्रज्ञावादी अस्वीकार करेगा । *दार्शनिक दृष्टि से* हम निश्चित ही एक बडी असुविधाजनक स्थिति में होंगे यदि गोडेल, अथवा कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और, जो पहले अपूर्णता प्रमेय का अन्तःप्रज्ञावादी दृष्टि से स्वीकार्य प्रमाण का प्रस्ताव करता है, फिर भी उस, मूलभूत अन्तःप्रज्ञावादी, संरचनावादी, अथवा यथार्थविरोधीवादी *शब्दार्थशास्त्रीय* दावे का उल्लंघन करता है जिसके अनुसार सत्यता जब वास्तव में उपलब्ध है तो, उसकी उपलब्धि कम से सैद्धान्तिक रूप से अवश्य ही किसी न किसी रूप में स्वीकार्य, अभिज्ञेय होनी ही चाहिये ।

गोडेल का सत्य परन्तु अनिर्णनीय सूत्र, जिसका अस्तित्व पहले अपूर्णता प्रमेय द्वारा संरचनात्मक रूप से सिद्ध होता है, वह कम से कम प्रथम दृष्टि में उस संरचनावादी तथा यथार्थविरोधीवादी शब्दार्थशास्त्रीय दावे का विरोधी उदाहरण प्रदान करता है, जिसके अनुसार सत्यता अभिज्ञेयता के, कम से कम सैद्धान्तिक रूप से अभिज्ञेयता के, परे नहीं हो सकती, क्योंकि प्रमेय का प्रमाण एक ऐसे सूत्र के अस्तित्व को सिद्ध करता है जिसमें दोनों ही गुण सत्यता एवं अनिर्णनीयता, वास्तव में हैं । गोडेल का विकर्णी तर्क वास्तव में एक ऐसा सत्य कथन प्रदान करता है जिसे फिर भी तत्सम्बन्धी कलन विधि में शामिल नहीं किया गया है । गोडेल के प्रमाण तथा परिणाम से प्रदत्त स्थिति के दो पहलू मामले को कुछ जटिल बना देते हैं । प्रथम विट्गेन्सटीन के *रिमार्कर्स आन द फाऊन्डेशन्स ऑफ मेथेमेटिक्स* के ऐसे अनुयायी हैं, उदाहरण के लिये शंकर (१९८९) जो ऐसा मानते हैं कि यह दावा करना स्पष्ट रूप से असंगत यहाँ तक कि निरर्थक है कि कोई कथन अथवा सूत्र सत्य तथा अनिर्णनीय दोनों है अथवा ऐसा हो सकता है । शंकर इस ओर ध्यान दिलाते हैं कि जब गोडेल के सूत्र की सत्यता की हमारी पहचान की पूर्ण अभिव्यक्ति संभव हो जाती है तो प्रमेय के शब्दार्थशास्त्रीय निरूपण की मुख्य त्रुटि यह है कि वह किसी गणितीय कथन एवं उसके प्रमाण के मध्य संबंध को पूर्णरूपेण बाह्य (परतः) विषय मात्र बना देता है (शंकर पूर्व उद्ध : २२१ एवं आगे)। इससे सबल रूप से यह सुझाव मिलता है कि प्रथम अपूर्णता प्रमेय का निरूपेण सत्यता के निदर्शन अथवा उसके प्रति प्रतिबद्धता के बना विशुद्ध वाक्यविन्यासी रूप में होना चाहिये । जब जो निश्चित रूप से यह कहे कि प्रत्येक आकारिक तंत्र S जब प्रारम्भिक संख्या सिद्धान्त को इसके क्षेत्र के रूप में लिया जाता है, तो यदि वह संगत है तो उसमें एक सूत्र $\mathcal{A}$ शामिल है जो प्रारम्भिक सिद्धान्त की एक प्रतिज्ञाप्ति A को इस प्रकार अभिव्यक्त करता है, कि न तो $\mathcal{A}$ न उसका निषेध $\neg A$ जो $\neg A$को अभिव्यक्त करता है, इनमें से किसी भी तंत्र में प्रमेय होगा ।

द्वितीय, गोडेल की यह आश्चर्यजनक अवधारणा है, आश्चर्यजनक इस तथ्य के प्रकाश में कि शास्त्रीय तर्कशास्त्र एवं अन्तःप्रज्ञावादी तर्कशास्त्र में तार्किक अचरों के अर्थ के प्रश्न पर गहरा मतभेद है — कि "[...] अन्तःप्रज्ञावादी तर्कशास्त्र जहाँ तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिज्ञप्तियों एवं परिमाणन के कलन का सम्बन्ध है वहाँ शास्त्रीय तर्कशास्त्र में अमूल परिवर्तन की अपेक्षा उसका पुनर्नामकरण एवं पुनर्व्याख्या बन जाता है । (गोडेल [1941: 3],·1995 : 190)। विशेष रूप से यह अवधारणा आश्चर्यजनक है जिसके अनुसार मध्य व्यावृत्ति का नियम अन्तःप्रज्ञावादी दृष्टिकोण से स्वीकार्य बन जाता है।

शास्त्रीय प्रतिज्ञाप्त — तर्कशास्त्र में '~' को शास्त्रीय निषेध चिन्ह मान लेने पर, सूत्र 'p v ~p' एक पुनरुक्ति है । गोडेल के अनुसार (पूर्व. उद्ध. : (२), १९०) वियोजन के संप्रत्यय को परिभाषित करने के लिये इतना पर्याप्त है कि '¬' को अन्तःप्रज्ञावादी निषेध का चिन्ह मान लेने पर, 'p v ¬p' भी एक पुनरुक्ति है । गोडेल 'pvq' को '¬ (p v ¬p)' के रूप में परिभाषित करने का प्रस्ताव देते हैं - दोनों सूत्रो की समतुल्यता को चौथे डी मार्गन के नियम के रूप में जाना जाता है —, 'p v ¬p' इस प्रकार '¬ (¬ p & ¬ ¬p)' बन जाता है, और मध्य व्यावृत्ति नियम संगति के नियम के एक विशिष्ट केस के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता, जो कि, निश्चय ही, अन्तःप्रज्ञावादी दृष्टि से वैध है ।

गोडेल ने ([1933], 1986 बी) ग्लिवेन्को (1929) के परिणामों में अभिवृद्धि करते हुये दर्शाया हैं कि शास्त्रीय प्रतिज्ञप्ति-कलन अन्तःप्रज्ञावादी प्रतिज्ञाप्त कलन का एक उपतंत्र है तथा प्रत्येक वैध शास्त्रीय सूत्र हेलिंग के प्रतिज्ञाप्ति-कलन में भी वैध है, बशर्ते हम निम्नलिखित शास्त्रीय अवधारणाओं

शास्त्रीय तार्किक अचर

1	2	3	4
~p	p→ q	pvq	p . q

का इन निम्नलिखित अन्तःप्रज्ञावादी अवधारणाओं में अनुवाद करें :

अन्तःप्रज्ञावादी तार्किक अचर

1	2	3	4
¬ p	¬ (p&¬ q)	¬ (¬ p&¬ q)	(p&q)

निश्चय ही इस प्रकार का अनुवाद इस बात को अनदेखा करता है कि कुछ अन्तःप्रज्ञावादी, जिन्हें हम जिस तर्कशास्त्र का वे समर्थन करते हैं उसके विषय में अलगाववादी कह सकते हैं, शास्त्रीय तर्कशास्त्र को सुनिश्चित रूप से इसी कारण से नहीं मानते हैं क्योंकि उनके मत में शास्त्रीय निगमन नियम *अवैध* अनुमानों की अनुमति देते हैं ।

ये अन्तःप्रज्ञावादी, संगति-नियम को स्वीकार करते हुये भी जिस बात को नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानते वह यह धारणा है कि या तो p या उसका निषेध सत्य हो सकता है चाहे हम कभी भी उसको जानने में समर्थ हो पायें अथवा नहीं । वे इस विचार के प्रति आपत्ति करेंगे कि हम p के निषेध को इस उपकल्पना कि p एक प्रमाण से स्वतंत्र रूप से सत्य हो सकता है, की विसंगति से अनुमानित कर सकते हैं । विशिष्ट रूप से वे p के निषेध का दृढकथन नहीं करेंगे जब तक कि हम इस उपकल्पना का *अनिष्ट प्रदर्शन* नहीं पा लेते की हम p का *प्रमाण* प्राप्त कर सकते हैं । अतः एक अनिष्ट प्रदर्शन का क्या तार्किक रूप होना चाहिये इस संबंध में काफी मूलभूत स्तर पर असमति है । *शास्त्रीय अनिष्ट प्रदर्शन* अन्ततःप्रज्ञावादी *अनिष्ट प्रदर्शन* के तर्कतः समतुल्य नहीं है । दोनों निषेध का एक विशेष रूप प्रदान करते हैं जिसका एक दूसरे में अवकरण नहीं ;केया जा सकता । इससे लगता है कि अनुवाद नियम पुस्तिका के प्रथम कालम के निर्देश के विपरीत '~' तथा '¬ ' समानार्थक नहीं हैं। जिस तर्कशास्त्र का वह समर्थन करता है उसके प्रति अलगाववादी रुख अपनाने पर कोई भी अन्तःप्रज्ञावादी शास्त्रीय मध्य व्यावृत्ति के नियम, 'pv~p' तथा प्रस्तावित अनुवाद दोनों को अस्वीकार करेगा। इस अस्वीकृति के पीछे उसका तर्क यह होगा कि वियोजन एवं निषेध चिन्हों पर अनुवाद नियम पुस्तिका द्वारा आरोपित अर्थ ऐसा है कि इस तथ्य के बावजूद कि आयोजना में अन्तःप्रज्ञावादी निषेध चिन्ह का प्रयोग शामिल है, 'pv¬p' समर्थक दावा इस दावे के समान *नहीं* हैं कि हमने या तो p को या उसके निषेध को सिद्ध कर दिया है, या हम कम से कम ऐसा कर सकने की स्थिति में हो सकते थे ।

इस संदर्भ में हम ब्राउअर के इस दावे पर भी दृष्टि डालें कि कोई मध्य व्यावृत्ति के तार्किक नियम का समर्थन उसके माध्यम से द्विमूल्यात्मकता के शब्दार्थशास्त्रीय नियम के प्रति प्रतिबद्ध हुये बिना कर सकता है । (ब्राउअर [१९४८], १९८३)। ब्राउअर का कहना है कि अन्तःप्रज्ञावादी दृष्टि से 'p सत्य है' का अर्थ मात्र यह है कि 'p प्रमाणित है' अथवा 'p को प्रमाणित किया जात सकता है' । उसका अन्तःप्रज्ञावादी विरोधी 'p असत्य है' नहीं है बल्कि 'p सत्य नहीं है' है, जिससे किसी अन्तःप्रज्ञावादी का निश्चय ही अर्थ है कि 'p को सत्य प्रमाणित नहीं किया गया है' न कि यह कि 'p को असत्य प्रमाणित किया गया है'। परन्तु यह दर्शाता है कि मध्य व्यावृत्ति का नियम द्विमूल्यात्मकता को आपादित नहीं करता, *बशत* हमने शास्त्रीय सत्यता को सिद्धान्ततः प्रमाणीयता अथवा प्राधिकृत अभिकथनीयता से प्रतिस्थापित कर दिया हो । इस प्रकार का प्रतिस्थापन निश्चय ही निषेध, वियोजन एवं सत्यता की एक ऐसी अवधारणा से संबद्ध है जो उस अवधारणा से दुर्बल है जिसका शब्दार्थशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं तर्कशास्त्रीय नियमों के संबंध में कोई शास्त्री समर्थन करना चाहेगा । वह एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धान्त प्रदान करता है जिसके अनुसार या तो हमारे पास p सत्य है इसका प्रमाण है या ऐसा प्रमाण है कि p को अनिष्टता में अवकरित कर दिया गया है न कि ऐसा सिद्धान्त जिसके अनुसार या तो p सत्य है या p असत्य है ।

मैं जिस बात पर यहाँ बल देना चाहता हूँ वह शब्दार्थशास्त्रीय स्वभाव की है । वह शब्दार्थशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं तर्कशास्त्रीय नियमों के मध्य सम्बन्ध की किसी विशेष अवधारणा पर आधारित नहीं है तथा वह द्विमूल्यात्मकता से संबद्ध भी नहीं है, कम से कम अपरोक्ष रूप से । मेरा उद्देश्य यह दिखाना है कि यद्यपि ऐसा दावा करना वैध है कि गोडेल का फार्मूली सत्य है, प्रथम अपूर्णता परिणाम निश्चयमात्रक (मोडल) सूत्र ◊ (p सत्य है एवं p अनिर्णनीय है) तथा उसके अनेकों उदाहरणों की वैधता के ऊपर बहस को निरापद छोड देता है । हम गोडेल के परिणाम के आधार पर यह तर्क नहीं दे सकते कि हो सकता है कि अंकगणितीय सत्य सभी संभव पहचान से परे हो ।

प्रथम तो क्या यह दावा करना सही है कि गोडेल का अनिर्णनीय सूत्र सरलतः सत्य है ? अपने 1931 के लेख के प्रथम खंड में प्रमाण की अनौपचारिक रूपरेखा देते हुये, गोडेल ([1931 : 175]. 1896 ए : 149) कहते हैं कि यदि प्रतिज्ञाप्ति $[R(q); q]$ प्रमाणीय होती, तो यह सही अथवा ठीक [रिखटिंग] होगी तथा यदि उसका निषेध प्रमाणीय होगा त' Bew $[R(q); q]$ सही होगा (वुडगेन्टेन) ।[2] वे तब इस खंड को यह कह कर समाप्त करते हैं कि $[R(q); q]$ अपने विषय में जो यह कहता है कि वह प्रमाणीय नहीं है इस कथन से तुरन्त यह निष्कर्ष निकलता है कि $[R(q); q]$ सत्य है । [रिखटिंग इस्ट] क्योंकि $R(q); q]$ वास्तव में अप्रमाणीय है (अनिर्णनीय होने के कारण) (गोडेल पूर्व उदा.[176, 151][3] प्रमेय VI के निरूपण में भी सत्य का कहीं उल्लेख नहीं है । प्रमेय VI निम्नलिखित दावा करता है :

गोडेल का [1931. 1986 ए] प्रमेय VI

सूत्रों के प्रत्येक w-संगत परिकलनात्मक वर्ग k के लिये परिकलनात्मक *वर्ग-चिन्ह* r की सत्ता है ताकि न तो v Gen r न ही Neg (v Gen r) सदस्य है Flg (k) के(जहाँ v मुक्त चर है r का)

परन्तु यद्यपि गोडेल के स्वयं के निरूपणों में इस प्रकार का अपरोक्ष एवं सुस्पष्ट दावा निहित नहीं है कि अनिर्णनीय सूत्र सत्य है, यह नहीं कहा जा सकता कि वह सूत्र जो P की संगति एवं w-संगति के *रूप स* अनिर्णनीय है तथा जो यह कथन करता है कि वह तंत्र में न तो प्रमाणीय है नही निरसनीय, वहाँ हो सकता है सत्यता का वाहक न हो । जहाँ तक अनौपचारिक प्रस्तुतीकरण का संबंध है, अनिर्णनीय सूत्र अपने विषय में *सत्यतापूर्वक* कहता है कि वह प्रमाणीय नहीं है क्योंकि वह वास्तव में प्रमाणीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है। क्या मामला भिन्न होता है जब अनिर्णनीय सूत्र का उसके अधिगणितीय वर्णन $[R(q); q]$ द्वारा निदर्शन करने की बजाय हम उसका निदर्शन उसकी तथाकथित 'गोडेल संख्या' से करते हैं जब हमने संख्या q का निधारण कर लिया है अर्थात् इस अभिव्यक्ति के द्वारा कि '17 Gen r' ('x Gen y' से निदर्शित होता है १५ वाँ संख्या सैद्धान्तिक फलनिक, जो *परिकलनात्मक* प्रमाणित हो चुका है)? यह सच है कि गोडेल ([1931 : 189]), 1986 ए : 177) प्रथम अपूर्णता प्रमेय के अपने प्रमाण का निष्कर्ष यह कह कर देते हैं कि "17 Gen r अतः k के आधार पर अनिर्णनीय है, जो कि प्रमेय VI को सिद्ध करता है", और यह कह कर नहीं कि " 17 Gen r अतः k के आधार पर सत्य एवं अनिर्णनीय है, जो प्रमेय VI को सिद्ध करता है"। परन्तु अनिर्णनीय सूत्र फिर भी *सत्यतापूर्वक* कहता है कि 17 Gen r k-प्रमाणीय नहीं है तथा Neg (17 Gen r k-प्रमाणीय नहीं है। '$[R(q); q]$' तथा '17 Gen r' दोनों के केस में जैसे कि टार्स्की ने किया था हम सूत्र के एक विशेष उद्धरण-चिन्ह नाम की रचना कर सकते हैं जिस मे टार्स्की के सूत्र "'p' सत्य है तब और तभी जब p", का एक निदिष्ट दृष्टान्त पा सकें, जहा "p सत्य है" P का अधिभाषाई भिन्न रूप मात्र है तथा सूत्र की सत्यता शर्तें अनावश्यक सत्याता-शर्तें मात्र हैं। यहाँ पर ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है कि सत्यता उद्धत चिन्ह रहित सत्यता से अधिक एक तात्त्विक गुण हो और फलस्वरूप सत्यता का हमारा विधेयन पाल हारविच (1990) द्वारा समर्थित न्यूनतमवादी मत के अनुरूप है, जिसके अनुसार विधेय 'सत्य है' का प्रयोग एक वास्तविक गुण को आरोपित करने के लिये नहीं किया जाता। गोडेल के सूत्र '17 Gen r' पर सत्यता का विधेय न एक अभिव्यक्ति प्रदान करता है, विशेषकर " '17 Gen r' सत्य है" जो कि एक ऐसी अभिव्यक्ति के बिल्कुल समतुल्य है जिसमें सत्यता का कोई उल्लेख नहीं होता, यानि कि '17 Gen r' स्वयं।

इसको ध्यान में रखते हुए, चलिये मैं गोडेल के प्रमाण के एक शब्दार्थशास्त्रीय निरूपण की रूपरेखा प्रस्तुत करता हूँ।

गोडेल का प्रथत अपूर्णता प्रमेय हिलबर्ट के अर्थ में परिमितिक एक प्रारम्भिक सूत्र को दर्शाता है, जो कि P में निम्नलिखित तरीके से अप्रमाणीय एवं अखण्डनीय दोनों सिद्ध किया जाता है निम्नलिखित चरणों से :

(१) विकर्णीकरण के द्वारा एक सूत्र $\mathcal{G}$ की रचना की जाती है जो P में स्वयं की अप्रमाणीयता का कथन करता है।

(२) P की संगति को प्राक्कल्पना के रूप में लेते हुये यह सिद्ध किया जाता है कि $\mathcal{G}$ अप्रमाणीय है P में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२बी) तब हम यह निष्कर्ष दे सकते हैं कि $\mathscr{A}$ सत्य हैं क्योंकि वह P में अपनी प्रमाणीयता का कथन करता है ।

(३) P की w-संगति को प्राक्कल्पना के रूप में लेते हुये यह सिद्ध किया जाता है कि $\mathscr{A}$ अखण्डनीय है P में ।

(४) हम तब इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि $\mathscr{A}$ अनिर्णनीय है P में।

(५) हम तब यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि $\mathscr{A}$ सत्य है तथा $\mathscr{A}$ निर्णनीय है P में ।

इस अन्तिम निष्कर्ष के समर्थन के लिये हमारा आधार यह है कि गोडेल के सूत्र को सत्य (चरण (२बी)) और अनिर्णनीय सिद्ध किये गये (चरण (४)) दोनों रूपों में पहचाना जाता है, क्योंकि इसको अप्रमाणीय (चरण (२ए)) एवं अखण्डनीय दोनों (चरण (३)) सिद्ध किया गया है । अब मैं गोडेल के सूत्र के संबध में तीन सिद्धान्तों के विषय में प्रश्न उठाना चाहता हूँ जो डमेट[४] द्वारा वर्णित यथार्थवाद का हिस्सा हैं । पहला सिद्धान्त यह है कि किसी कथन के अर्थ को हमारा समझना उसकी "सत्यता-शर्तों" को समझने में निहित है । क्या $\mathscr{A}$ के अर्थ को हमारा समझना इस प्रकार का ज्ञान कहा जा सकता है ? दूसरा, यदि कोई कथन सत्य है तो कुछ ऐसा अवश्य होना चाहिये जिसके कारण वह सत्य है । मैंने दावा किया है कि $\mathscr{A}$ सत्य है परन्तु वह किस की वजह से सत्य है ? तीसरे, और महत्त्वपूर्ण रूप से, क्योंकि वह यथार्थवाद का परिभाषिक दावा है, यह विचार है कि कुछ सत्य सभी सत्यापन से इतर हो सकते हैं ? क्या $\mathscr{A}$ ऐसा सत्य है ?

सबसे पहले क्या हम $\mathscr{A}$ की सत्यता-शर्तों को जानते हैं एवं क्या हम इस ज्ञान को व्यक्त कर सकते हैं ? हमें अवश्य ही इस प्रश्न का उत्तर हाँ में देना होगा क्योंकि (चरण (२ बी)) पर $\mathscr{A}$ की सत्यता *पहचानी* जाती है।[५] हमारे पास वास्तव में, सत्यता-शर्तें पूरी हुई हैं इसका पता लगाने का साधन है एवं हम इस ज्ञान को $\mathscr{A}$ की अप्रमाणीयता को सिद्ध करके व्यक्त करते हैं, इस प्राक्कल्पना के अन्तर्गत कि P संगत है (चरण (२ए)) तथा यह निष्कर्ष देकर कि $\mathscr{A}$ सत्य है (चरण (२बी)) हमारा उत्तर सकारात्मक है क्योंकि जैसे कि गोडेल ने ([१९३४ : २१], १९८६ सीः ३६२-३६३) बताया है :

> "हम ऐसी प्रतिज्ञाप्तियों की रचना कर सकते हैं जो अपने स्वयं के विषय में कथन करती है [...]। किसी अधिगणितीय गुण f जिसे तंत्र में अभिव्यक्त किया जा सकता है, के लिये एक ऐसी प्रतिज्ञप्ति की रचना भी संभव है जो अपने विषय में कहती है कि उसमें वह गुण है ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः P की भाषा Lp के किसी विधेय F जो P में एक प्रदत्त अधिगणितीय गुण को अभिव्यक्त करता है, के लिये विकर्णीकरण द्वारा Lp के एक सूत्र $\mathscr{A}$ की रचना करना संभव है जो अपने विषय में कहता है कि उसमें वह गुण है । यदि हम उस सूत्र की गोडेल संख्या को प्रतीक '$(\mathscr{A})$' के साथ निदिष्ट करें, तो Lp के प्रत्येक विधेय F के लिये एक ऐसे सूत्र की सत्ता है कि $\mathscr{A} \Leftrightarrow F(\langle \mathscr{A} \rangle)$ ।

चलिये हम P में अप्रमाणीयता के गुण को एक अधिगणितीय गुण के रूप में मान ले, जो P में विधेय non-Prp के द्वारा अभिव्यक्त होता है । हम तज्ञ एक सूत्र A की रचना करत सकते हैं जो अपनी स्वयं की अप्रमाणीयता का दृढकथन करता है कि : $\mathscr{A} \Leftrightarrow$ non-Prp $(\langle \mathscr{A} \rangle)$

एक बार जब चरण (१) पूरा कर दिया जाता है हम चरण (२ए) की ओर जा सकते हैं और चरण (२बी) की ओर ले जानेवाले निम्नलिखित उपचरणों में भेद कर सकते हैं ।

यदि P में $\mathscr{A}$ प्रमाणीय होता तो :

(२ए१) Pr$p(\langle \mathscr{A} \rangle)$ सत्य होगा P में और इसलिये प्रमाणीय होगा P में तथा

(२ए२) non-Pr$p(\langle \mathscr{A} \rangle)$ प्रमाणीय होगा P में, चूँकि $\mathscr{A}$ तथा non-Pr$p(\langle \mathscr{A} \rangle)$ समतुल्य हैं ।

(२ए३) अतः P असंगत होगा ।

(२ए४) P संगत है इस प्राक्कल्पना के अन्तर्गत इसलिये $\mathscr{A}$ अप्रमाणीय है P में ।

जैसे कि गोडेल ने स्वयं लिखा है ([1931 : 176 एन 15], 1986 एः 15-1 एन 15) :

> "प्रतीती के विपरीत, ऐसी प्रतिज्ञाप्ति [जो अपने विषय में कहती है कि वह प्रमाणीय नहीं है] में कोई दोषपूर्ण चक्रकता निहित नहीं है, क्योंकि आरम्भ में वह (केवल) यह दृढकथन करती है कि एक विशेष सु-परिभाषित सूत्र (विशेषकर, वह जो शब्दकोशिक क्रम से q वें सूत्र से एक निश्चित प्रतिस्थापन द्वारा प्राप्त किया गया है) अप्रमाणीय है । केवल बाद में (और एक तरह से संयोग से) ऐसा पता चलता है कि यह सूत्र ठीक वही है जिसके द्वारा स्वयं प्रतिज्ञाप्ति को अभिव्यक्त किया गया था ।"

हम सब सीधे चरण (२बी) पर जा सकते हैं :

चूँकि $\mathscr{A} \Leftrightarrow$ non-Pr$p(\langle \mathscr{A} \rangle)$, $\mathscr{A}$ सत्य है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम $\mathscr{A}$ की सत्यता-शर्तों को जानते हैं अथवा नहीं इस प्रश्न का जिस समय तक हम चरण (२बी) पर पहुँचते हैं, सकारात्मक उत्तर दिया जा सकता है, क्योंकि हम चरण (२ए१) से चरण (२बी) तक जाने में यह स्पष्ट कर देते हैं कि हम जानते हैं कि यह सत्यता शर्तें पूरी हुई हैं । अतः हमारे लिये एक ऐसे सूत्र जो किसी आकारिक तंत्र में अप्रमाणीय सिद्ध कर दिया गया है, की सत्यता शर्तों के ज्ञान का प्रकटीकरण करना पूर्णतया संभव है ।

हम इससे निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हम यहाँ ऐसी परिस्थिति में नहीं हैं कि हमारे पास कोई कारण हो सकता है - इस अभिव्यक्ति के डमेट द्वारा किये गये अर्थ में एक यथार्थविरोधीवादी प्रकार का सत्यता एवं सत्यता-शर्तों की अवधारणाओं से पूर्ण रूप से दूर रहाने का, या सत्यता को प्रमाणीकरण की शर्तों से (प्रतिस्थापित करने का), इस आधार पर कि हम यह पहचान नहीं पायेंगे कि पहले प्रकार की दशायें प्राप्त हैं अथवा नहीं,[६] क्योंकि हम यहाँ निश्चय ही इस प्रकार ही पहचान कर पाने में समर्थ हैं ।

इसके अलावा चूँकि गोडेल ([1934:21], 1986:सी362) ने दावा किया था कि, अंकगणितीय प्रतिज्ञाप्तियों जो अपने विषय में कथन करती हैं एवं केवल परिकलनात्मक रूप से परिभाषित फलनों से संबद्ध होती है वे "निःसंदेह सार्थक कथन" हैं, ऐसा विश्वास करने का कोई आधार नहीं है कि हो सकता है कि सत्यता शर्त मूलक नियम $\mathscr{A}$ पर लागू न हो । उसका अर्थ उसकी सत्यता-शर्तों में निहित *है एवं* तदनुसार उसके अर्थ का हमारा ज्ञान उसकी सत्यता-शर्तों का ज्ञान ही है । इससे दूसरे सिद्धान्त से संबधित प्रश्न का उत्तर मिल जाता है,: वास्तव में ऐसा कुछ है जिसकी वजह से $\mathscr{A}$ सत्य है, विशेषकर वह प्रमाण जो चरण (१) से चरण (२बी) तक जाता है ।

तीसरे मत अर्थात् यर्थाथवाद के परिभाषिक दावे के बारे में क्या कहा जा सकता है ? क्या हम इस प्रमाण से कि कोई आरम्भिक सूत्र अप्रमाणीय एवं अखंडनीय दोनों है कोई समारात्मक निष्कर्ष निकाल सकते हैं ? गोडेल का प्रमाण इस निम्नलिखित बिन्दु पर सुस्पष्ट है : कि आरम्भिक सूत्र $\mathscr{A}$ जो P की संगति एवं w-संगति प्रदत्त होने पर अनिर्णनीय सिद्ध हो जाता है, इस के माध्यम से 'सत्य' के एक ऐसे अर्थ में सत्य है जो डमेट द्वारा लिये गये अर्थ में एक संचरनावादी या यथार्थ विरोधीवादी को आपत्तिजनक नहीं लगेगा, क्योंकि सूत्र को सत्य के रूप में *पहचाना* गया है ।

अपूर्णता का पहले प्रमेय का प्रमाणयह नहीं दिखाता कि A की सत्यता-शर्ते उसके प्रमाणीकरण की दशाओं से परे हैं । वह कुछ बहुत भिन्न दर्शाता है, विशेषतया जैसा कि ड्यूबुक्स (1991:57) ने कहा है कि :

"हमारी प्रमाणीकरण की क्षमतायें किसी आकारिक तंत्र में जो पक्के तौर पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाणीय है उसके परे जाती हैं : किसी भी आकारिक तंत्र, जो पर्याप्त समृद्ध है, (अर्थात् इस प्रकार से कि 'तंत्र में प्रमाणीय' इस गुण को तंत्र में अभिव्यक्त किया जात सकता है) उसके लिये ऐसे अनिर्णनीय आरम्भिक कथनों की सत्ता है जिनको सत्य मानने के लिये हमारे पास सुसंगत तर्क हैं ।''

दूसरे शब्दों में, गोडेल का प्रथम अपूर्णता प्रमेय यह नहीं दिखाता कि विधेय 'सत्य' की व्याप्ति विधेय 'सत्य के रूप में अभिज्ञेय' की व्याप्ति से अधिक विस्तृत है । सत्य एवं उसकी अभिज्ञेयता के बीच का ऐसा अन्तराल वास्तव में संरचनावादी अथवा यथार्थविरोधीवादी दृष्टिकोण से अस्वीकार्य होगा । प्रमेय जो दिखाता है वह यह है कि विधेय 'सत्य के रूप में अभिज्ञेय' की व्याप्ति विधेय 'P में प्रमाणीय' की व्याप्ति से अधिक है, जो एक भिन्न बात है । वह दिखाता है कि इन दोनों विधेयों की व्याप्ति एक समान नहीं है । हमने अब तक जो स्वीकार किया है वह यह है कि $\mathscr{A}$ की सत्यता-शर्तें उसकी P में प्रमाणीयता से परे हैं । परन्तु यह ऐसा कम ही दिखाता है कि हम ऐसी स्थिति में हैं जहाँ सत्यता-शर्त मूलक नियम की हमारी स्वीकृति को कोई यथार्थविरोधीवादी इस आधार पर समस्याजनक माने कि यह हमें अभिज्ञेयता से परे कुछ सत्यों की सम्भावना को मानने की ओर ले जायेगी । इसके विपरीत निश्चित रूप से क्योंकि $\mathscr{A}$ प्रमाणीय नहीं है P में इसी कारण, एवं प्रबलतर युक्ति से क्योंकि उसको P में अप्रमाणीय सिद्ध किया गया है, सत्यता-शर्त मूलक नियम का समर्थन इस दृष्टान्त में पूर्णरूपेण वैध है । चरण (२ए) से चरण (२बी) तक जाने से हम स्पष्ट कर देते हैं कि हम $\mathscr{A}$ की सत्यता-शर्तों को जानते हैं एवं ये इस सन्दर्भ के स्वरूप से अभिज्ञेयता से परे नहीं हैं ।

हम अब दो निष्कर्ष निकाल सकते हैं ।[७] प्रथम, ऐसा कोई आरम्भिक सूत्र नहीं है जिसकी सत्यता को किसी प्रदत्त आकारिक तंत्र में जानना असंभव हो, यदि हम तंत्र को संगत मान ले तो । हम अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि ऐसे आरम्भिक सूत्र हैं जिनकी सत्यता कलन विधि से पहचानी नहीं जा सकती, यदि तंत्र की संगति प्रदत्त हो तो, जो कि एक बहुत भिन्न चीज है । $\mathscr{A}$ के साथ वस्तुतः बिल्कुल यही बात है । कोई भी कलन विधि हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता नहीं कर सकती कि वह सत्य है, परन्तु उसकी सत्यता, यद्यपि कलन विधि द्वारा P में नहीं जानी जा सकती, फिर भी यदि प्रदत्त हो कि P संगत है तो वह P में प्रमाणीय है इस कल्पना के असंगति प्रदर्शन द्वारा जानी जा सकती है । अतः जब तक हम यह निश्चय न कर लें कि किसी सूत्र के सत्यता-मूल्य को जानने के लिये कलन विधि की अनुपब्धि उसकी सत्यता की अनभिज्ञेयता का मानक है, किसी आकारिक तंत्र में, यदि वह संगत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तो, कोई अनभिज्ञय सत्य नहीं होते ।

क्या इस प्रकार की अनुपलब्धि मानक होनी चाहिये ? चरण (२बी) इसके विपरीत संकेत करता है । दूंसरी बात जो हम सीख सकते हैं वह यह है कि हमें कलन विधि से अनिर्णनीयता और सत्यता-मूल्य की सरलतः अनभिज्ञेयता में अवश्य ही भेद करना होगा जब हम यह जानने के प्रश्न की विवेचना कर रहें हैं कि क्या निश्चयमात्रक सूत्र '◊ (p सत्य है · pअनिर्णनीय है)' तथा इसके विभिन्न दृष्टान्त वैध है । सत्यता की अनअभिज्ञेयता एवं पहचान की अक्षमता (अथवा बेहतर रूप में, उसके अभिज्ञान एवं पहचान की अक्षमता की सम्भावना) तथा उसके P में कलनविधी द्वारा प्रमाणीयता में विरोध करना मात्र पर्याप्त नहीं है । हमें एक सूक्ष्मतर विभेद पर विचार करने की आवश्यकता है । हमें विभेद करना होगा इन के बीच :

(१) अंकगणित के मानक माडेल में जो सत्य है व जिसे संगत तर्क के आधार पर सत्य के रूप में पहचाना जा सकता है उसके मध्य अन्तराल ।

(२) तथा जो संगत तर्क के आधार पर अभिज्ञेय है तथा जो अंकगणित के मानक माडेल में कलन विधि द्वारा सत्य के रूप में अभिज्ञेय है उसके मध्य अन्तराल।

मैं इस प्रश्न पर विचार करना चाहता था कि क्या गोडेल का प्रथम अपूर्णता प्रमेय हमें अन्तःप्रज्ञावादी एवं शास्त्रीय शब्दार्थशास्त्र में चयन करने में सहायता कर सकता है अथवा नहीं, यह दिखा कर कि ऐसे अंकगणितीय सत्य हो सकते हैं जो अनअभिज्ञेय हो । उत्तर स्पष्ट रूप से 'ना' है क्योंकि प्रथम अन्तराल $\mathcal{A}$ की अप्रमाणीयता के प्रमाण से भर जाता है, तथा अधिक निश्चायक रूप से उसकी अनिर्णनीयता के पूर्ण प्रमाण से। दूसरा अन्तराल जो शायद भरा नहीं जा सकता, इसी प्रमाण के कारण निश्चय-मात्रक सूत्र की वैधता के बारे में बहस को पूरी तरह अनिर्णीत छोड देता है ।

आभार : मैं विलप्रिड हाजेस एवं जेन वोलेन्स्की की आलोचनाओं एवं टिप्पणियों से लाभान्वित हुआ हूँ जब मैंने इस लेख का एक लघुतर रूप जागन में अप्रैल १९९८ में लाजिक एवं लाजिकल फिलासफी पर द्वितीय जर्मन-पोलिश वर्कशाप में प्रस्तुत किया था । कुछ अन्य टिप्पणियाँ एवं आलोचनायें कार्ल ज्यार्ज नीबरगाल तथा मैथियास शिर्न द्वारा दी गई जब मैंने कुछ अधिक लम्बा रूप जून १९९८ में म्यूनिस यूनिवर्सिटि के इन्स्टिट्यूट फुंअर फिलोसोफी लाजिक उन्ड विसेनशाफ्थ्योरी में प्रस्तुत किया । जो बहस इस पर हुई मैं उससे भी लाभान्वित हुआ हूँ ।

दर्शन विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली

अनुवादक : डा. विभा चतुर्वेदी
और
डा. विजयकुमार भारद्वाज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

१. यह तर्क उदा. स्व. माइकेल डमेट ने दिया है । डमेट (१९७८ : xix) में।

२. वुर्ड गेल्टेन का अर्थ ''वैध होगा'' अथवा ''प्रमाणिक होगा'' भी लिया जा सकता है ।

३. देखिए 'रिखटिंग' का अनुवाद 'सत्य' की बजाय 'ठीक' के रूप में भी किया जा सकता है एवं गोडेल इस दृष्टान्त में जर्मन 'व्हार' का इस्तेमाल नहीं करते । जान वैन हांइनूर्ट वे हैं जो उस जर्मन शब्द के अंग्रेजी समतुल्य का अपने अनुवाद में प्रयोग करते हैं । क्लीन भी अपने प्रस्तुतिकरण में यह दावा करते हैं कि $\mathscr{A}$ अप्रमाण्य अतः सत्य है ।'' (क्लीन १९८६ : १२८)

४. देखिये, विशेषकर लेख ''ट्रूथ'' तथा ''द फिलासाफिकल बेसिस ऑफ इन्ट्यूशनिस्टिक लाजिक''

५. इस दावे को प्रतिबन्धित करना होगा । चरण (२ए)–(२बी) पर हम अपना यह ज्ञान अभिव्यक्त करते हैं *यदि* P संगत है तो $\mathscr{A}$ अप्रमाण्य है P में अतः सत्य है । एक अन्य समस्या शेष रहती है, यह जानने की कि हम कैसे जान सके कि P संगत है और उस ज्ञान को कैसे अभिव्यक्त करें । मैंने यहाँ सोपाधिक कथन के उत्तरवर्ती की ओर ध्यान केन्द्रित किया है परन्तु यह स्पष्ट है, गोडेल के द्वितीय अपूर्णता प्रमेय के आधार पर – प्रमेय XI गोडेल (1931) में, – कि P कि संगतता का प्रमाण P में नहीं प्राप्त किया जा सकता अतः यहाँ हमारे पास जो है वह है $\mathscr{A}$ की सत्यता-शर्तों के हमारे ज्ञान का आंशिक प्रकटीकरण ।

६. प्रतिस्थापन के पक्ष में तर्क उदा. स्व. डमेट (1978:225-227) में मिलता है ।

७. सुनिश्चित रूप से निष्कर्ष गोडेल के प्रमाण के पहले भाग से प्राप्त होते हैं और उसके चरण (२ बी) तक शब्दार्थशास्त्रीय सूत्रीकरण पर आधारित होते हैं । मैंने $\mathscr{A}$ की प्रमाणीयता के प्रमाण को शामिल नहीं किया है (P की w-संगति प्रदत्त होनेपर) यही निष्कर्ष स्पष्टतर रूप से प्रमाणित होंगे यदि पूरे प्रमाण को ध्यान में लिया जाता ।

सन्दर्भ

बूलोस जी. १९८९ ''ए न्यू प्रूफ आफ द गोडेल इनकम्प्लिट थ्योरम,''

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नोटिसेच आफ द अमेरिकन मैथेमेटिकल सोसायटी, वौलूप ३६ नं. ४, पृ. ३८८-३९०

ब्राउअर, एल. ई. जे. (१९४८) १९८३, ''कान्शसनेस, फिलासोफी एन्ड मैथेमेटिक्स'' *फिलासोफि आफ मैथेमेटिक्स - सिलेक्टेड रीडिंग्स* में, पी. बैनासेरफ एवं एच. पटनम (संपा.) कैमिकप्रज यू. प्रे., द्वितीय संस्करण, पृ.९०-९६

ड्यूबुक्स, जे., १९९१, ''ला फिलोसोफि द कुर्त गोडेल(काम्स रेन्दु द लेक्चर *द रिफ्लेक्सिआन्स आन कुर्त गोडेल द हाओ वैन्ग*)'' *फिलोसोफि द ला लॉजिक एत फिलोसोफिच दयु लैंगुएज I* , लएज द ला साइन्स-लेक्चरस फिलोसोफिक्स, वौल्युम४, सम्पा. जे. बूवरेस, ओडिल जहकब, पेरिस, पृ. ५३-६८

डमेट, एम. ए.ई., १९७८, ट्रूथ एन्ड अदर एनिग्मास, हावर्ड यू. प्रे. कैम्प्रिज; मास

ग्लिवेन्को, बी. आई., १९२९, ''सुर केल्कस् पोइन्ट्स द ला लॉजिक द एमः ब्राउअर'' एकेदेमी रायल द बेल्जीक, बुलेटिन द ला क्लास द साईन्सेस (५), १५, पृ. १८३-१८८.

गोडेल, के., (१९३१) १९८६ए, '' यूबर फार्मल अनएन्टाशाइडबेयर साट्ज डेर प्रिंकीपिया मेथेमेटिका उन्ड फरवान्डटर सिस्टर ''—'' आन फोर्मली अनडिसाइडेबल प्रोपोसीशन्स आफ प्रिंकीपिया मैथेमेटिका एन्ड रिलेटेड सिस्टमस'' *क्लेक्टेड वक्स* वौ. I : पब्लिकेशन्स १९२९-१९३६, एस फीफरमैन, मुख्य सम्पा. आक्सफोर्ड, अनु. जे. वैन हाईजेनूर्ट, पृ. (१७३-१९८) १४४-१९५

— (१९३३) १९८६बी ''सुर इन्टयूशिनिस्टिशेन अरिथमाटिक उन्ड जाहलेनथ्योरी'' ''आन इन्टयूशनिस्टिक अरिथमैटिक एन्ड नम्बर थ्योरी'' *क्लेक्टेड वर्क्स* वौ. I, पब्लिकेशन्स १९२९-१९३६, एस. फीफरमैन, मुख्य सम्पा., आक्सफोर्ड यू. प्रे. आक्सफोर्ड, अनु. एस. ब्राउअर मेंगेलबर्ग एवं जे. वेन. हाइजेनूर्ट पृ. (३४-३८) २८७-२९५.

— (१९३४) १९८६सी ''आन अनडिसाइडेबल प्रोपोसीशन्स आफ फार्मल मैथेमेटिक्सल सिस्टम्स,'' *कलेक्टेड वक्स* वौ. I,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पब्लिकेशन्स १९२९-१९३६, एस. फीफरमैन मुख्य सम्पा. आक्सफोर्ड यू. प्रे. आक्सफोर्ड, पृ. (१-२७) ३४६-३७१

— (१९४१) " १९९५ इन व्हाट सेन्स इज इन्टयूशीनिस्टिक लाजिक केन्स्ट्क्टिव ?" *क्लक्टेड वर्क्स,* वौ. III, अनपब्लिशड एसेज एन्ड लेक्चरस, एस फीफरमैन, मुख्य सम्पा, आक्सफोर्ड, यू. प्रे. आक्सफोर्ड, पृ., (१-३०) १८९-२००

हारविच, पी., १९९०, ट्रथ, बेसिल ब्लैकवेल, आक्सफोर्ड

क्लीन, एस. सी., १९८६, "इन्ट्रोडक्ट्री नोट टु १९३० बी, १९३१ एन्ड १९३२ बी", कुर्ट गोडेल :

कलेक्टेड वर्क्स, वौ । : पब्लिकेशन्स १९२९-१९३६, एस. फीफरमैन, मुख्य सम्पा. आक्सफोर्ड यू. प्रे. आक्सफोर्ड, पृ. १२६-१४१

शंकर, एस, जी.१९८९: "विट्गेन्सटीन्स रिमार्कस आन द सिग्निफिकेन्स ऑफ गोडेल्स थ्योरम" गोडेल्स थ्योरम इन फोकस में, एस. जी. शंकर (सम्पा.) स्टलेज एन्ड : केगन पाल, लंडन एन्ड न्यूयार्क, पृ. १५५-२५६

फब्रिस पातो

इन्स्तीत्यू द हिस्तोयर एत फिलोसोफी द साइन्सेज एत द तैकनीक्स सी. एन. आर. एस. यूनीवसिते द पारी । पेरिस, फ्रान्स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विसंगति का दर्शन : अलवेयर कामू

''सिसिफस हमें दिखाता है एक ऊँचे आत्मविश्वास की ऐसी दुनिया जहाँ देवता उपेक्षित है और पत्थर को ढोते रहना लाजिमी होता है । पर यह भी क्या बुरा है... बिना किसी नियम के बने इस विश्व में यदि कुछ बंझा नहीं है तो कुछ भी सार्थक भी नहीं है ।''

इन संतुलित शब्दों में ''कामू'' की अपनी जिन्दगी भी अनुगूंजित है । वह जीवन भर विलासिताओं और मिथ्या आरोपों से लडता रहा, लहु-लुहान होते हुये भी उसके मासूम चेहरे से मुसकराहट कभी मिटी नहीं और एक दिन वह अपने दर्शन का ही जिसका शीर्षक था ''ऐब्सर्ड'' अर्थात् असंगति, स्वयं शिकार हो गया । नोबेल पुरस्कार का विजेता मोटर दुर्घटना में मारा गया । तो क्या ? सब चलता है... इस संसार में, सब चलता है । यही तो जीवन है । ''पहली चीज तो हमें निराश नहीं होना चाहिए । उन लोगों की बातें ध्यान से कभी न सुने, जो गला फाड कर चिल्ला रहे हैं कि यह दुनिया का अन्त है । सभ्यताएँ इतनी जल्दी नहीं मरती, और फिर यदि यह दुनिया समाप्त होने को ही है तो क्या हुआ, इसके बाद दूसरे होंगे । जब मैं अलजियर्स में रहता था, हमेशा कुहरीले जाडों में धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करता रहता था, क्योंकि मैं जानता था कि फरवरी की किसी सर्द कुँवारी एकाकी रात में कांसुल घाटी के बादामवृक्ष सफेद-सुफेद फूलों से ढँक जायेंगे ।''[२]

यह अंश कामू के द्वारा १९४० ई. में लिखे गये निबन्ध ''ले अमादे'' का है । अपने इस निबन्ध तथा ऐसे ही अनेकों दूसरे निबन्धों के माध्यम से उसने द्वितीय विश्व युद्ध के समय पराजित फ्रांस की निराश, अपमानित, दिशाहारी जनता को एक नया संदेश देते हुये एक नया मार्ग दिखाया । किन्तु कामू मिथ्या आशावादी या मार्ग दिखानेवाले कोई आदर्शवादी नेता नहीं थे । उनकी आशा एक अजीब तरह की आशा है और उनका मार्गदर्शन एक प्रकार की सह-मुक्ति है । यही सह-मुक्ति उन्हें अस्तित्ववादी चिंतक बना देती है । वस्तुतः अस्तित्ववादी दार्शनिकों के लिए ''अस्तित्व'' का अर्थ है जीवन जिस रूप में जहाँ है, वहीं उस रूप में प्रतिष्ठित, न उससे किंचित् ऊपर-नीचे, न दायें-बायें । विचार, आशय, गति, दिशा आदि चीजें अस्तित्ववाद के अनुसार निरर्थक होती हैं, क्योंकि ये बाहरी और ऊपरी होती है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्हें व्यक्ति अपने उपयोग के लिये या यों कहें कि अपने भुलावे व छल के लिये गढता है । कामू अस्तित्ववाद की इसी परिभाषा को अपनी रचनाओं में ख्यायित करते हैं। वैसे अस्तित्ववाद कई प्रकार का है, धर्म, प्रतिष्ठापक भी और तर्क-विरोधी तथा धर्मविहीन भी । कामू अस्तित्ववाद के इन प्रकारों के चक्कर में न तो पडते हैं और न ही इसे परिभाषित ही करते हैं । यदि कभी ऐसा उन्होंने किया भी है तो वहाँ भी वे किसी वाद की स्थापना न करके गहन वैचारिक संघर्ष एवं खुद को वक्त के सन्दर्भ में समझने की कोशिश करते हुये अपनी आस्था, समझ एवं प्रतिबद्धता को सृजन में ढालते रहे। यही कारण है कि कामू को पढने पर पाठक गरिमा महसूस करता है- मनुष्य होने की और मनुष्य के अस्तित्व की । कामू का कथा-पात्र विचारशील है और रोजमर्रा के जीवन क्रम से मुक्त होकर अनुभव के बिलकुल नए और अज्ञात रास्ते पर बढता दिखाई देता है क्योंकि उसके पात्रों में एक विशिष्ट अन्तर्मुखता होती है और इसका संचार वे पाठक में भी करते हैं ।

इस ''अन्तर्मुखता'' का एक अर्थ यह है कि व्यक्ति अपने अस्तित्व के साथ बँधकर, अपनी वास्तविक स्थिति से जुडकर पूर्णतया अकेला हो जाता है । यह वास्तविक स्थिति पूरी तरह उसकी है, किसी अन्य की नहीं और और न ही अन्य के द्वारा निर्मित कामू के कथा-पात्रों की अंन्तमुर्खता ठीक इसी प्रकार की है । उनकी रचना केन्द्र सदा बीसवीं सदी का संवेदनशील व्यक्ति रहा है - एक ऐसा व्यक्ति जो अपनी मानसिक और ''आध्यात्मिक'' संभावनाओं के साथ, अपने परिवेश के हिंसक चरित्र को समझ सकता था । यह सच है कि कामू धार्मिक प्रवृत्ति के न होकर धर्म विरोधी थे । इस लिये उनके सन्दर्भ में ''आध्यात्मिक'' शब्द विचित्र लग सकता है । किन्तु ऐसी प्रवृत्ति के लिये जो परिवेश के दोनों और विकारों को जानकर आत्म ''निज'' की और मुडती है और निज में अनेक सुन्दर एवं उत्पीडक भावनाओं को एक साथ जीती है, हमारे पास ''आध्यात्मिक'' के अतिरिक्त कोई दूसरा शब्द नहीं है ।''[१] इसे एक प्रकार की विसंगति कह सकते हैं और कामू इसी विसंगति के लेखक दार्शनिक हैं क्योंकि वे मानते हैं कि विसंगति से ही आनन्द का जन्म होता है । उनकी सम्पूर्ण रचनायें इसी विसंगति की व्याख्या है एवं उनके सभी पात्र जीवन की विसंगतियों को स्वीकार करते हैं। इनकी रचना के सार्थक मुहावरे भी अजनबी, पराया, बाहरी, अपरिचित आदि हैं । इन मुहावरों में समाज की विसंगति की तीखी आलोचना है यानी कोई व्यक्ति किसी एक शहर में एक विशेष सांस्कृतिक वातावरण में जी रहा है किन्तु किसी को नहीं जानता और न ही कोई उसे जानता है । दूसरे शब्दों में, समाज अपने ढाँचे में,अपनी संरचना के स्तर पर तो उपस्थित है किन्तु उसमें समुदाय जैसी चीज नहीं है जिसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीतर एक व्यक्ति दूसरे के साथ साझेदारी कर सके ।

कामू मानते हैं कि साझेदारी न होने पर समाज पर उत्पादन एवं वितरण का ढाँचा हावी हो जाता है और यदि संरचना गलत एवं दोषपूर्ण हो तो वह निस्सन्देह अमानवीय होता है । यहाँ संवेदनशीलता का बहुत महत्त्व है क्योंकि उसी के कारण व्यक्ति अपने वातावरण के प्रभाव से बच सकता है - संवेदनशीलता न हो तो व्यक्ति ढाँचे का एक भाग-बन कर कालान्तर में अपनी मानवीयता खो सकता है । व्यक्ति के भीतर ढाँचे के प्रति होने वाला विरोध उसे हमेशा एक किनारे ढकेल देता है, जिसका लाभ यह होता है कि समाज के मध्य विद्यमान सम्बन्ध की परिभाषा बदल जाती है । एक किनारे होना अस्तित्व-रक्षा की अनिवार्य शर्त बन जाती है । जबकि कामू की रचना में केन्द्र मानव विरोध तथा मानव-अस्वीकार का पर्याय है । इस प्रकार कामू मनुष्य और समाज के बीच के सम्बन्ध की नई परिभाषा देते हैं जो है कि व्यक्ति सहानुभूतिविहिन और बियाबान जैसे समाज से अलग रहे और अपनी अर्थवत्ता कहीं और खोजे ! किन्तु कहाँ ? यही तो एक प्रकार की विसंगति है ।[४]

कामू ईश्वर में विश्वास नहीं करते । उनके लिये ले देकर बस निजता है । मान ले कोई व्यक्ति एक सामान्य व्यवहार की सीमा से बँधकर कुछ करता है जिसमें उसका अर्थात् निज का मन नहीं लगता। यह विरक्ति की स्थिति नहीं है । यह गीता के ज्ञान वाले असंपृक्त कर्तव्य से भी भिन्न है । ''विराग'' में कहीं दूसरे स्थान पर 'राग है', का बोध है, और ''कर्त्तव्य'' में विना आत्मिक लगाव के किसी विशेष मूल्य को प्रतिष्ठित करने पर जोर है । कामू में किसी भी अन्य स्थान पर न तो राग है और न कहीं कोई सामाजिक मूल्य, यहाँ तक कि वे ''निजता'' के प्रश्न पर भी सन्देहपूर्ण हैं। हो सकता है कि जिसे व्यक्ति अपना निज मान रहा है, समाज से बाहर और परे, वह निज ही न हो । बहुत दिनों तक एक व्यक्ति एक स्थान से दूर रहे तो न केवल उसे भूल जाता है वरन् उस स्थान का चरित्र भी बदल जाता है । यह है दुहरा अजनबीपन । एक तरह से यह आध्यात्मिकता (आत्मा) का नकार और ईश्वर की अस्वीकृति है । कामू के लिये यह भी विसंगति है ।

ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि क्या कामू दार्शनिक है ? निश्चित रूप से कामू एक दार्शनिक है क्योंकि उनकी रचनायें उनकी उस गहन चिन्तन का परिणाम है जो उन्होंने अपने जीवन में भोगा और अपने समय में उपजी उन मनःस्थितियों को अन्य व्यक्तियों के साथ जीया जो दो-दो विश्वयुद्ध के पश्चात् समाज में भय, निराशा, त्रास आदि के रूप में व्याप्त हो गयी थी ।

कामू इस अर्थ में भी दार्शनिक हैं कि वे आस्था का प्रभावी तर्क प्रस्तुत करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं । दूसरे शब्दों में आलोचना उनके लिये सब कुछ की अस्वीकृति नहीं है । आधुनिकतावाद की अस्वीकृति से, उसकी हताशा और पराजय से वे कोसो दूर हैं । कामू के पात्र जो करते हैं, उसकी सीमा अवश्य पहचानते हैं, किन्तु वे इतने सजग एवं तर्कशील भी रहते हैं कि चुनौती देखकर एक विशेष प्रकार की संघर्ष-भावना से भर उठते हैं । कारण, कि वे हर क्षण सोचते हैं और सोच में अपने निज को, वक्त के भीतर अपनी स्थिति को कायम रखते हैं । वक्त के बीच निज की स्थिति, निज की पहचान और चुनौती के विरुद्ध निज का संघर्ष -यही कामू के पात्र का सच है । इस स्थिति, पहचान और चुनौती से कामू के पात्र इतने बँधे हैं इनसे इतना आबद्ध एवं प्रतिबद्ध है कि जरूरत पडे तो उनके लिये अपनी जान भी दे दें । बल्कि कहे कि जान देने, आत्महत्या करने का सच कामू के लिये भीरूता और कायरता का प्रश्न नहीं, साहस का प्रश्न है । इससे भी आगे कामू के पात्र आत्महत्या को अपने अस्तित्व की प्रतिष्ठा का माध्यम भी मानते हैं ।[५]

"जीवन विसंगति का पर्याय है । इसलिये इस जगत् में सिर्फ एक ही गंभीर दार्शनिक समस्या है - वह है आत्महत्या । यह समस्या उनके लिए तो और भी अधिक गंभीर और महत्त्वपूर्ण हो जाती है जो जीवन के अर्थ को समझने के लिये संकल्पित है । आत्महत्या के विषय में सोचनेवाला यह जानता है कि जीवन उसके लिए बहुत अनबूझा और भारी है । ऐसा हर जागरूक व्यक्ति सोचता है, फिर भी लोग जीवन-जीते रहते हैं । क्योंकि यह एक आदत है । हम सोचने की आदत डालने के पहले जीवन जीने की आदत के वशीभूत हो जाते हैं और शरीर के निर्देशों पर चलते हैं । इस विसंगति से बचने के दो रास्ते हैं - आशा और आत्महत्या ।"[६]

निस्सन्देह जीवन विसंगतियों से परिपूर्ण है, किन्तु क्या (आशा को छोड दे) आत्महत्या इस समस्या का सही उत्तर है ? इसके लिये हमें दो-दो विश्वयुद्धों से उत्पन्न उन परिस्थितियों का मूल्यांकन करना पडेगा जिनसे यूरोप त्रस्त था । युद्ध की विभीषिका से जीवन-मूल्यों पर जहाँ एक ओर प्रश्न चिह्न लगा हुआ था वही समाज अनास्था के भावों से भी आन्दोलित था ठीक हमारे वर्तमान कालीन समाज की भाँति जबकि जीवन-मूल्यों का विघटन एवं अनास्था का स्वर प्रमुख रूप से गूंजित है । कामू स्वयं ऐसी परिस्थितियों के साक्षी थे । इसलिये वे मानते थे कि सिर्फ उन्हें छोड कर जो प्रभु-कृपा के प्रति आश्वस्त हैं, यह जीवन तर्कहीन और विसंगत है । जागृत मस्तिष्क की सम्पूर्ण चेष्टायें सुख और आनन्द की भाव को निरंतर अस्वीकार करती हैं । आशा और निराशा के दो अतिवादी छोरों में बंधा जीवन सिर्फ एक ही बोध उत्पन्न कर सकता है-वह है विसंगति का बोध । तर्क सम्मत विचारणा और तथात्मक जगत के बीच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कही कोई सम्बन्ध नहीं है । यही अलगाव हमें आत्महत्या करने के लिये प्रेरित कर सकता है । चाहे यह आत्महत्या मानसिक हो या शारीरिक । अस्तित्व एक बनी-बनायी आदत का अनजाने निर्वाह मात्र है, आत्महत्या इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति इस आदत के वशीभूत रहना नहीं चाहता । कामू आत्महत्या के पीछे निहित भावना की, जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्रमाण है, प्रशंसा करते हैं, किन्तु आत्महत्या को वे निष्प्रयोजन मानते हैं क्योंकि इससे विसंगति का कहीं कोई समाधान नहीं मिलता । किन्तु फिर भी आत्महत्या एक महत्त्वपूर्ण समस्या है जिससे जीवन के विषय में गहराई और गंभीरता से सोचने वाला हर व्यक्ति कभी न कभी टकराता अवश्य है । वह यह भी देखता है कि जिस विसंगति से बचने के लिये आत्महत्या के विचार उसके मन में उत्पन्न होते हैं, वह विसंगति तो विश्व-रचना से ही सम्बद्ध है और इसकी कोई दवा नहीं है ।[७]

कहा जा सकता है विसंगति एक अबूझ प्रक्रिया है । परिणाम है मीरसाल, एक सीधा-सादा इन्सान, ''ला एट्रेजर'' का नायक जिसका जीवन इस बात प्रमाण है कि जीवन की समस्याओं का कोई तर्कपूर्ण अर्थ नहीं होता । वह एक अनैच्छिक हत्या कर बैठता है जिसके लिये समाज उसे दण्ड न देकर इस बात के लिये दण्ड देता है कि वह अपनी सफाई में उन शब्दों को नहीं कहता जिसमें उसका विश्वास नहीं । मीरसाल का सबसे बडा अपराध है कि वह पूर्णतया ईमानदार है- चाहे उसका व्यक्तिगत जीवन हो या माँ की मृत्यु पर उसका दृष्टिकोण अथवा चाहे उसकी प्रेमिका हो या कि उसके परिचित, सभी के प्रति जो वह सोचता है, वैसा ही व्यवहार करता है । अतः जब जज चाहता है कि वह अपने पाप के लिये पाश्चात्ताप करे तो वह उसकी सजा कम कर सके तब भी वह कुछ कहने से इन्कार कर देता है । ऐसी स्थिति में सरकारी वकील निष्कर्षात्मक स्वर में कहता है -

''न्याय परिषद के भद्र लोगों, यह है सामने वह व्यक्ति जो अपनी माँ की मृत्यु के दिन, स्वीमिंग पुल गया, एक लडकी से प्रेम किया,एक कामुक फिल्म देखने जा रहा था । मैं इतना ही कहना चाहता हूँ । अलम्''[८]

मीरसाल की जिन्दगी का यह 'अलम' अन्त तक उसे निरर्थक लगता रहा, इतना निरर्थक कि अन्तिम धर्म-उपदेश के समय उसने क्रोध से पादरी के कालर को खींचते हुये कहा ''सभी इसी तरह अन्त में मरने के लिये अभिशप्त है । उसकी भी बारी ऐसे ही आयेगी । और इससे क्या फर्क पडता है कि चाहे हत्या का अभियोग लगाकर मारो, कि यह कि वह माँ के अन्तिम संस्कार के समय रोया नहीं ?''

इतना ही नहीं ठीक मृत्यु के पहले वह सोचता है कि - ''यद्यपि वह एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवास्तविक जीवन जी रहा था, पर उसी में संसक्त और खुश था, खुश वह अब भी है क्योंकि अब वह जो कुछ हो रहा है उससे उसे कम अकेलेपन का अनुभव होगा ।[९]

जीवन की अवास्तविकता में एक अजीब तरह की ''संसक्ति एवं मृत्यु की दुर्निवारता में भी विशिष्ट खुशी'' यही कामू की विसंगति कुंजी है । इसी बात को कुछ और विशिष्ट स्पष्ट ढंग से वे ''सिसिफसोपाख्यान'' में व्यक्त करते हैं । सिसिफस विसंगति दर्शन का प्रतिनिधि नायक है । देवताओं के प्रति नफरत, मृत्यु से घृणा, जीवन के प्रति संसक्ति ने उसे एक भारी चट्टान को पहाडी के नीचे से ऊपर चोटी तक पहुँचाने का दण्ड दिया जिसके पाश में बँधा आज भी व्यर्थ का श्रम'' के पाटों के बीच उसका अस्तित्व विदीर्ण हो रहा है । मृत्यु के पास पहुँच कर उसे एक बार पैरोल पर छोडा जाता है किन्तु धरती पर पहुँच कर वह अपनी मृत्यु की बात भूल जाता है और तभी मर्करी उसका गरेबा पकड कर उसे अन्यघाटी में ला पटकता है । इस कहानी के बीच में कामू ने एक स्थान पर लिखा है- ''विसंगति और खुशी एक ही धरती की जुडवा संततियाँ हैं । वे अविभाज्य हैं । सिर्फ यह सोचना है कि खुशी विसंगति की खोज का परिणाम है क्योंकि खुशी से भी विसंगति की उपलब्धि हो सकती है।''[१०]

चार्ल्सरोलों ने ठीक ही कहा है- विसंगति पर सार्त्र, मालरो आदि ने भी विचार किया है किन्तु कामू की धारण उनसे भिन्न है । कामू के लिये विसंगति निराशा का कारण नहीं वरन् एक ऐसा विरोधात्मक साधन है जो खुशी की प्रेरणा देता है । उसकी दृष्टि में हत्या, मृत्यु और विसंगतियाँ जो उसके लिये महत्त्वपूर्ण समस्यायें थीं, वस्तुतः जीवन के मूल्य को बढाती है और वे मनुष्य को अपनी जीवन और भी अधिक गहराई से जीने के लिये आभंगित करती है ।[११]

कामू विसंगति की अपनी इस धारणा को अपनी कृति ''कालिगुला'' में एक नयी भाव भूमि में प्रस्तुत करते हैं । यह सोचकर कि जीवन निरर्थक है, सम्राट ने सोचा कि वे विसंगति के मसीहा बन कर संसार को पहले से कहीं अधिक अच्छा बना सकते हैं । अत्याचार और जुल्म का एक चक्र चल पडता है । अपराधियों को पुरस्कार मिलता है और निरपराधी को दण्ड । कालीगुला अपने इस निर्मम व्यवहार के द्वारा लोगों में यह बोध जगाना चाहता है कि जिन्दगी विसंगति और अर्थहीनता का पर्याय है । किन्तु जनता क्रान्ति करती है और कालिगुला को समाप्त कर देती है क्योंकि उन्हें लगता है कि उसके कार्य विसंगति की सीमा को पार कर गये हैं ।

अपने इस कृति के माध्यम से कामू ने विसंगति से बचने का समाधान विद्रोह बताया है । वे लिखते हैं - ''विसंगति का सही बोध मेरे अन्दर तीन सत्यों को जन्म देता है - जीवन के प्रति मेरी संसक्ति, मेरी स्वाधीनता और मेरा विद्रोह भाव। अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतना की सक्रियता के बल पर में आत्महत्या के भाव को जीवन की एक पद्धति में डाल लेता हूँ ।''[१२]

यहाँ आदमी की सृष्टि के दो रूपों की अस्वीकृति है- पराभौतिक रूप और राजनैतिक रूप की । इनसे दो प्रकार की विसंगति का जन्म होता है । पराभौतिक अस्वीकृति हमें जगत् से विमुख करके ''ईश्वरीय कृपा'' की याचना का पाठ पढाती है जो अन्ततः एक प्रकार का पलायन है जबकि राजनैतिक अस्वीकृति क्रान्तियों को जन्म देती है, जो नरमेध के पाप से कभी मुक्त नहीं हो सकती । कामू इनके बीच का मार्ग खोजना चाहते हैं जैसा कि पालवेस्ट ने भी लिखा है - ''इन धारणाओं से कामू ने एक ऐसा दृढ मानवतावादी निष्कर्ष निकाला जो एक ओर रोमँटिक रहस्यवादी आत्मवंचना से बचना चाहता है तो दूसरी ओर क्रान्तिकारी अमानवीयता से । न तो आत्मवंचना और न तो नरमेध, जो प्रत्येक क्रान्ति का परिणाम होता है, जीवन को किसी भी रूप में कम विसंगत या अर्थहीन बना सकता है। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति के भीतर कुछ ऐसा जरूर है जो विसंगति से जूझना चाहता है, यद्यापि कामू इसके आधार पर कोई पराभौतिक या आध्यात्मिक निर्णय नहीं लेता और यही जीवन जीते रहने का सबल कारण बन जाता है ।''[१३]

सामान्य-से-सामान्य व्यक्ति जाग्रत होकर विसंगत जीवन जी सकता है, जैसा कि कामू सोचते हैं और इसलिये वे इस विसंगत व्यक्ति की मानवता में बहुत विश्वास करते हैं। किन्तु इसके साथ ही वे ये भी स्वीकार करते हैं कि विसंगत व्यक्ति का भी एक अन्तर्निहित सदाचारशास्त्र होता है । जमा ब्रे ने लिखा है -

''विसंगत व्यक्ति सभी प्रकार के नौस्टेलिजिया (मोह भाव) से मुक्त होता है। वह कैदखानों की दीवारों और कामू के विसंगत दर्शन को स्वीकार कर चुका है । वह पूर्ण संसक्ति के साथ जीवन जीना चाहता है, वह मृत्यु का शत्रु है । क्योंकि इसी में मानवता के प्रति उसकी प्रतिबद्धता का बोध छिपा है, वह जगत् के प्राकृतिक कृत-चक्र का विरोधी है जिसमें जीवन और मृत्यु अपने अर्थ खो चुके हैं । वह दैवी शक्तियों का भी, यदि कोई होती है तो विरोधी है ।[१४] विसंगति व्यक्ति की यह कल्पना कामू को सार्त्र और मालरों से बिल्कुल भिन्न कर देती है । विसंगतियों के प्रति हमारे विरोध का आरंभ उस चेतना के जागरण के साथ होता है जो इसके द्वारा अक्रान्त होना अथवा अवरुद्ध हो जाना नहीं चाहती । यह एक मानसिक स्थिति है । मालरों ने विसंगति के स्पष्टीकरण में मृत्यु को रेखांकित किया है जबकि कामू का सम्पूर्ण जोर जीवन पर है । सार्त्र ने आकस्मिता और घटना-संयोग के भीतर पूर्ण स्वतंत्रता पर जोर दिया है जबकि कामू ने जीवन की पारदर्शिता पर ।''

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कामू मानते हैं कि मनुष्य स्वभावतः आदर्शवान् होता है और जब वह विद्रोह करता है तब अपनी विरोधी परिस्थितियों में इस जगत् को अस्वीकार करके अपने आदर्श को उपलब्ध कर लेता है । अपने इन विचारों का चित्रण वे बडी सुन्दरता से अपने प्रसिद्ध उपन्यास प्लेग में करते हैं । उत्तरी अफ्रीका का प्रसिद्ध शहर ओरान भयानक प्लेग की गिरफ्त में आ जाता है । इस शहर को चारों ओर से इस प्रकार बन्द कर दिया जाता है कि कोई भी इससे बाहर निकल कर दूसरे शहर में न जा पाये । ऐसी विषम स्थिति में कुछ व्यक्ति इससे जूझते हैं तो कुछ इस के सामने अपना समर्पण कर देते हैं । पादरी पेनेलो के लिये प्लेग पाप का परिणाम और ईश्वरीय दण्ड का रूप है । वह वही सोचता रहता है और प्लेग का शिकार हो जाता है । दूसरी और डॉ. रीओ है जो यह समझ नहीं पाता कि प्लेग से मरते अबोध शिशु का पाप क्या है ? तथा जो इससे बच गये हैं क्या सममुच वे पुण्यात्मा हैं ? उसे लगता है कि यह तर्कहीन, बुद्धिहीन प्रकृति की विवेकशील उग्रता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । अतः वह उसकी क्रूरता एवं भयानकता की परवाह किये बिना रोगियों की निरंतर सेवा और सहायता करता रहता है । यही डॉ. रीओ का विद्रोह है क्योंकि वह मानता है कि केवल मानवीय संकट के विरुद्ध संघर्ष करके ही मनुष्य आदर्श को प्राप्त कर सकता है । किन्तु डॉ. रीओ यह विश्वबन्धुत्व किसी रूमानी आदर्श से प्रेरित न होकर केवल उसकी सहज प्रवृत्ति है जो कि प्रकृत्ति की प्रत्येक क्रूरता के प्रति विद्रोह करती है और तब तक संघर्ष करती है जब तक वह उस क्रूरता को समाप्त न कर दे । डॉ. रीओ भी ऐसे ही विद्रोह की अभिव्यक्ति करते हैं । एक रात वे तारों नाम के एक व्यक्ति के साथ जिसके लिये प्लेग जैसा नरमेध प्रकृतिक इच्छा का एक रूप है, के साथ प्लेग-ग्रस्त शहर से दूर समुद्र में नहाते हैं और उस विशिष्ट खुशी को उपलब्ध करते हैं, जिसका स्रोत पिछले संघर्ष के दिनों में उनसे पूर्णतः कट गया था । उनकी यह खुशी किसी प्रकार की पलायनवादी आशा नहीं हैं, जो ईसाई, अस्तित्वादियों जैसे कीर्केगार्द आदि में झलकती है । यह सच है कि कामू को यह पूर्ण विश्वास था कि "व्यवहार, मृदुता, सृजन, कर्म, मानवीय सद्भावना आदि एक न एक दिन अपना स्थान अवश्य लेगी।"[६] इसी कारण बहुत से लोग कामू को शुद्ध अस्तित्ववादी मानने से इन्कार करते हैं । सार्त्र जैसे महान अस्तित्ववादी दार्शनिक भी उन्हें नैतिकवादी मानते हैं । किन्तु स्वयं कामू को कभी इसकी चिन्ता नहीं रही कि लोग उसे क्या कहते हैं क्योंकि वे तो दोस्तोवस्की के इस कथन को पूर्णतः स्वीकार करते थे कि- जिन्दगी के अर्थ के प्यार करने से पहले हमें जिन्दगी से प्यार करना सीखना चाहिए ।"

कामू के ऊपर सार्त्र का एक आरोप यह भी था कि उन्हें मनुष्यता से प्रेम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अविश्वसनीय व्यक्तियों के माध्यम से था । पाल वेस्ट के शब्दों में - "कामू का जिन्दगी के प्रति प्रेम काफी चुनाव ढंग का है । उसने कहानी और उपन्यास के नायकों के रूप में काफी पुराने आदिम कृषक या चरवाहों अथवा आदर्शात्मक रूप के वर्गगत चरित्र चुने । क्या इनके माध्यम से वह विश्वसनीय जीवन चित्रित कर सकता है ?[१७]

किन्तु सार्त्र हो या पालवेस्ट, ऐसा लगता है कि उन्होंने आधुनिक मशीनी जीवन के ऊपरी रूप को कामू के विसंगति दर्शन का आधार मान बैठे हैं । विसंगति का भाव मानव की मानसिक स्थिति से सम्बद्ध है, जिसका सही मनोवैज्ञानिक रूप बहुरूपिये आधुनिकतावादी व्यक्तियों में नहीं, सहज और पारदर्शी रूप से जीवन से संसक्त विद्रोही लोगों में दिखाई पडता है, चाहे वे ऊपर से वर्गगत चरित्रों की तरह और पुराने ढंग के ही क्यों न दिखते हो । वस्तुतः विद्रोह का समर्थन करते हुये भी उसके चरम रूप यानी नरमेध से घृणा करते हैं । उनका विद्रोह बहुत कुछ व्यक्तिगत धरातल का मानसिक विद्रोह है जिसके कारण अन्तः सुप्त मानवीय गुणों की उपलब्धि अपने आप हो जाती है । कामू को प्राचीन ग्रीक देवताओं में सर्वाधिक आकर्षक और प्रेरणादायक नेमिसिस लगती थी, जो प्रतिकार की नहीं सहनशीलता की देवी है ।

अब कामू के ऊपर चाहे सार्त्र आरोप लगायें या पालवेस्ट या फिर आप और हम, किन्तु कामू एक अस्तित्ववादी दार्शनिक है, इससे हम इन्कार नहीं कर सकते । हाँ यह सच है कि वे सीधे अर्थ में दार्शनिक हैं, प्रचलित मुहावरे के अर्थ में नहीं क्योंकि वे मूर्त्त के रचनाकार है, अमूर्त्त के विश्लेषक और व्याख्याकार नहीं । साथ ही यह भी सच है कि कामू भी अन्य अस्तित्ववादी चिंतकों की भाँति संशय, भय, निराशा, घुटन, पीडा को ही जीवन में पाते हैं क्योंकि स्वयं उनका सम्पूर्ण जीवन जन्म से लेकर मृत्यु तक घटना दुर्घटना का ही शिकार रहा । जीवन के हर मोड पर हुई इन अनचाही घटनाओं और दुर्घटनाओं के कारण ही उन्होंने मानवीय जीवन को विसंगतियों से परिपूर्ण माना, इतना परिपूर्ण कि आत्महत्या को भी वे इससे बचने का एक रास्ता माना । क्योंकि विसंगतिया विश्व व्यवस्था के कारण उत्पन्न होती है और इनसे आत्महत्या के माध्यम से ही मुक्ति मिल सकती है । इमाइल दुर्खीन जैसे प्रसिद्ध समाजविद् ने भी अपनी कृति आत्महत्या में आत्महत्या के तीन प्रकारों अहम्वादी, परार्थवादी एवं असामान्य (आदर्शही न) आत्महत्या की चर्चा करते हुए इसे सामाजिक तथ्य माना है जो कि सामाजिक व्यवस्था के विसंगतिपूर्ण ढाँचे के कारण ही प्रायः होती है । अब आत्महत्या के विषय में हम सभी के अलग-अलग विचार हो सकते हैं फिर भी इतना तो सच है कि आत्महत्या से आनन्द प्राप्त नहीं होता केवल वर्तमान जीवन से मुक्ति मिल जाती है । अतः जीवन में विसंगति है- पर विसंगति से आनन्द प्राप्त होता है-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह बात स्वीकृत नहीं हो सकती क्योंकि प्रायः देखा गया है कि एक विसंगति दूसरी विसंगति को जन्म देती है । आनन्द मानवी मन की सहज-वृत्ति है जैसे प्रेम त्याग आदि है । इन सबों का स्त्रोत विसंगति को मान लेना कामू का सच हो सकता है- सबों का नहीं ।

व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग, डा. सुश्री रंजना गुप्ता
राजकीय महिला महाविद्यालय,
गर्दनीबाग, पटना

टिप्पणियाँ

१. दि मिथ ऑफ सिसिफस -- कामू --पृ. ८.
२. ले अमार्दे, कामू पृ. २४
३. धर्मयुग, १८ फरवरी १९६८
४. वही, ११ मार्च १९६८
५. वही, ७ एप्रैल १९६८
६. दि ओम रिवोल्ट,कामू, पृ. १५
७. दि ऑरिस्टॉटेलियन जर्नल ऑफ फिलासफी, नवम्बर १९७०
८. दि आऊटसाइडर, कामू, पृ. ९
९. वही, पृ. २०
१०. दि मिथ ऑफ सिसिफस, कामू,पृ. ३०
११. दि अटलौटिक, मई १९५८ चार्ल्स रोलो, पृ. २७-३३
१२. दि मिथ ऑफ सिसिफस, कामू, पृ. ५५
१३. मॉडर्न नॉवेल, हुग पालवेस्ट, पृ. १७१
१४. कामू, जर्मा ब्रे, पृ.२०४
१५. वही, पृ. २११
१६. दि प्लेग, कामू
१७. मॉर्डन नॉवेल, हुग पालवेस्ट, पृ. १७५
१८. दि स्यूसाइड, इमाइल दुर्खीम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्वनि-सिद्धान्त के पुनराख्याता : आचार्य बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'

हिन्दी के आधुनिक काव्यशास्त्रीय चिन्तको में शास्त्रीयता के प्रति असीम निष्ठा, मूलवर्ती दार्शनिक आयामों की गहरी समझ, अधुनातन ज्ञान-विज्ञान की ओर औत्सुक्य-दृष्टि, समन्वयन के साथ 'आत्मरक्षा' के प्रति सजग चिन्तन तथा सुस्पष्ट मूल्यांकन आदि सभी दृष्टियों से आचार्य बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान' का अप्रतिम स्थान है। शब्द-व्यापार तथा उस पर प्रतिष्ठित ध्वनि-सिद्धान्त के व्यापक पुनराख्यान की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी आलोचना को उनकी देन विविधायामी है । वे निरन्तर 'शब्द-ब्रह्म' की उपासना मे तल्लीन रहे हैं, फलतः लिखित और वाचिक -दोनों परम्पराओं से ग्रहण करने के साथ ही उन्होंने इन माध्यमों से अपनी विरासत का दाय सौंपते हुए शिक्षार्थी समाज को उपकृत किया है/कर रहे हैं। वे उस विराट वाचिक परम्परा के प्रति आग्रहशील रहे हैं, जो वाक् को जगत् का मूल मानती है तथा जिसका उत्स भी अपौरुषेय है । संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं में समान गति के साथ ही वे वेद से लेकर आज की कविता तक के संस्कारों को आत्मसात् करते हुए हिन्दी आलोचना को गतिमयता देते रहे हैं । हिन्दी समीक्षा में उनका आगमन संस्कृत-शास्त्रों एवं साहित्य के गहन अध्ययन के उपरान्त हुआ था । यही कारण है कि वे साहित्य के सम्बन्ध में अपनी धारणाओं का मूल आधार संस्कृत साहित्य के कवियों तथा आचार्यों से पाते रहे हैं । हिन्दी में भी उनके लिए वे ही कवि एवं आलोचक प्रेरणीय रहे हैं, जो संस्कृत काव्य-चिन्तन की परम्परा से जुडे हैं । इस दृष्टि से तुलसी को वे अपना प्रतिमानी रचनाकार मानते हैं, वही आधुनिक हिन्दी कविता में जयशंकर प्रसाद को सर्वोपरि महत्त्व देते है ।

अनेक समीक्षा, कोश एवं काव्य-ग्रन्थों के रचयिता आचार्य अवस्थी के आलोचना ग्रन्थों में जिन दो ग्रन्थों का विशिष्ट महत्त्व है, वे हैं- 'ध्वनि सिद्धान्त तथा तुलनीय साहित्य चिन्तन' (१९७२) तथा 'भारतीय काव्य समीक्षा में ध्वनि सिद्धान्त' (१९७८) । इन दोनों ग्रन्थों के माध्यम से उन्होंने भारतीय काव्यात्मवाद के गौरव 'ध्वनिमत' की सर्वाङ्गीण एवं समावेशी पुनराख्या की है, जिनमें ध्वनि-सिद्धान्त के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरम्भिक बिन्दु से लेकर समकालीन चिन्तन तक ऐसा कोई आयाम नहीं बचा है, जो इन ग्रन्थों में विवेचना का विषय न बना हो । उन्होंने पश्चिम से आगत समीक्षा, वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक धारणाओं के निकष पर ध्वनि-सिद्धान्त का परीक्षण कर उसकी विलक्षणता को साधार प्रमाणित किया है । हिन्दी काव्य के क्षेत्र में ध्वनि के संचार तथा हिन्दी काव्यशास्त्रीय चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में ध्वनि-सिद्धान्त से जुडे विमर्शों के आकलन की दृष्टि से भी ये ग्रन्थ अपूर्व हैं । इनके आधार पर आचार्य अवस्थी ने आनन्दवर्द्धन एवं अभिनवगुप्त की परम्परा को जो नवोन्मेष दिया है, वह भारतीय साहित्यशास्त्र के प्ररिप्रेक्ष्य में सदैव अविस्मरणीय रहेगा।

ध्वनि-सिद्धान्त पर केन्द्रित इन ग्रन्थों में आचार्य अवस्थी जी ने ध्वनिपूर्व काव्य चिन्तन की परम्परा पर सविस्तर प्रकाश डाला है, जिसमें भरत, भामह एवं वामन की विभिन्न मान्यताएँ आकलित हुई हैं । तदनन्तर वे ध्वनि-सिद्धान्त के स्रोत तथा आधारों की तलाश में प्रवृत्त रहे हैं, जहाँ उनके दृष्टिपथ में व्याकरण-दर्शन के साथ ही नाट्यशास्त्र, भामह एवं वामन के व्यञ्जना सम्बन्धी मत के संकेत हैं । साथ ही वे विभिन्न दर्शनों में मौजूद शब्दवृत्ति सम्बन्धी चिन्तन को भी स्रोत के रूप में विवेचित करते हैं । तदुपरान्त उन्होंने विविध शब्दवृत्तियों का भेदोपभेद सहित लक्षण-निरूपण किया है, साथ ही व्यञ्जना विरोधी मतों की समीक्षा करते हुए उनका साधार निवारण किया है।

आचार्य अवस्थी ने ध्वनिमत में काव्य के स्वरूप और वर्ग-विभाजन से जुडी समूची परम्परा को कालक्रमानुसार विवेचित किया है । वे काव्य-परिभाषा के सन्दर्भ की कठिनाई की चर्चा करते हुए लिखते हैं- 'ध्वनि-सिद्धान्त काव्य के अन्तरङ्ग तत्त्व के रूप में व्यङ्ग्य को मानकर चलता है और दोषाभाव, गुण तथा अलंकार को काव्य-परिभाषा में उचित स्थान देता है ।'[१] वे ध्वनि-सिद्धान्त की आधारभूति व्यङ्ग्य की विविधता एवं उसके सौष्ठव के आधार पर दो भेद करते हैं- ध्वनि तथा गुणीभूत-व्यङ्ग्य । तदनन्तर वे ध्वनि-काव्य के भेदों का सोदाहरण लक्षण-निरूपण करते हैं । परम्परा में इन सभी के उदाहरण प्रायः संस्कृत काव्य से दिये जाते रहे हैं, किन्तु आचार्य अवस्थी ने गहन अनुसन्धान के माध्यम से हिन्दी के काव्य-ग्रन्थों से इन उदाहरणों को प्रस्तुत किया है । इन उदाहरणों का प्रस्तुतीकरण आचार्य अवस्थी की महती देन है, क्यों कि इनकी उपस्थिति से हिन्दी की विविधयुगीन काव्यधाराओं की 'शब्दवृत्ति' तथा 'ध्वनि' केन्द्रित समीक्षा को महत्त्वपूर्ण आधार मिला है । यही 'गुणीभूत-व्यङ्ग्य', 'गुण', 'दोष', 'औचित्य', 'अलंकार' आदि के सन्दर्भ में दिए गए उदाहरणों में देखी जा सकती है । वे विभिन्न काव्योपकरणों से जुडे मतों के साथ ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध नहीं देखते हैं- 'ध्वनि-सिद्धान्त प्राचीन अलंकार मत या रीति मत का विरोधी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है, प्रत्युत काव्य के अन्तरङ्ग तत्त्व की खोज करके उन सब का यथायोग्य स्थान एवं महत्त्व निर्धारित करता है । काव्य द्वारा प्रेषणीय तत्त्व को प्रधान रूप से विचारणीय बनाकर अन्य काव्याङ्गों का उसी परिप्रेक्ष्य से विवेचन ध्वनिमत की विशेषता रही है।'[२] आचार्य अवस्थी ध्वनि-सिद्धान्त और उसके प्रवर्तक आनन्दवर्द्धन की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं- 'ध्वनिकार ने सर्वप्रथम सर्वांगपूर्ण काव्य-विवेचन व्यञ्जना शक्ति के आधार पर किया । काव्य का वर्ग-विभाजन करते हुए उन्होंने व्यङ्ग्य-व्यञ्जक आधारों की महत्त्वपूर्ण व्याख्या ही नहीं की, उन्हें सार्थक नाम भी दिये जिन्हें सामने रखकर ही ध्वनि-मत का खण्डन करने वाले महिमभट्ट, कुन्तक और धनिक जैसे आचार्य अपना चिन्तन प्रस्तुत कर सके ।'[३] वे आनन्दवर्द्धन की समावेशी दृष्टि को भी रेखांकित करते हैं-

ध्वनि-सिद्धान्त पर केंद्रित इन ग्रन्थों में आचार्य अवस्थी जी ने ध्वनिपूर्व काव्य चिन्तन की परम्परा पर सविस्तर प्रकाश डाला है, जिसमें भरत, भामह एवं वामन की विभिन्न मान्यताएँ आकलित हुई हैं । तदनन्तर वे ध्वनि-सिद्धान्त के स्रोत तथा आधारों की तलाश में प्रवृत्त रहे हैं, जहाँ उनके दृष्टिपथ में व्याकरण-दर्शन के साथ ही नाट्यशास्त्र, भामह एवं वामन के व्यञ्जना सम्बन्धी मत के संकेत हैं । साथ ही वे विभिन्न दर्शनों में मौजूद शब्दवृत्ति सम्बन्धी चिन्तन को भी स्रोत के रूप में विवेचित करते हैं । तदुपरान्त उन्होंने विविध शब्दवृत्तियों का भेदोपभद सहित लक्षण-निरूपण किया है, साथ ही व्यञ्जना विरोधी मतों की समीक्षा करते हुए उनका साधार निवारण किया है ।

'आचार्य आनन्दवर्द्धन ने स्वयं शास्त्र-रचना करके भी इस बात को मान्य किया कि केवल शास्त्र-मर्यादाओं का पालन करने की महत्त्वाकांक्षा से काव्य निर्जीव हो जाता है अतः वर्ण्य भावतत्त्व की प्रकृति जानकर ही अलंकार, व्यङ्ग्य आदि का विनियोग कवि को गौरव देता है ।'[४]

वे आनन्दवर्द्धन की इस समन्वय-दृष्टि को केन्द्र में रखते हुए विभिन्न काव्य-मान्यताओं के साथ ध्वनिमत के अन्तस्सम्बन्धों का निदर्शन करवाते हैं । वे ध्वनि-सिद्धान्त का गुण-दोष, अलंकार, औचित्य आदि विषयक पारम्परिक चिन्तन का अविरोध दर्शाते हैं, वही उनके बीच की दूरी की ओर भी संकेत करते चलते हैं, जैसे अलंकार के सन्दर्भ में उनकी टिप्पणी है- 'ध्वनिकार प्रयत्न-साध्य अलङ्कार को काव्योपयोगी नहीं मानते, उनका स्पष्ट कथन है कि रसावेश-वश अलंकार को स्वतः, बिना पृथक् प्रयास के, आ जाना चाहिए तभी ध्वनिकाव्य होता है ।' तथा 'गुण और अलंकार का अन्तर ध्वनिमत में स्पष्ट है कि श्रृंगारादि के लिए माधुर्य और रौद्रादि के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए ओजस् गुण अनिवार्य है परन्तु ऐसी अलंकार-व्यवस्था नहीं है- किसी रस के लिए कोई अलंकार विशेष व्यवस्थित नही हैं ।'[५] आचार्य अवस्थी ने न्याय मत के आधार पर विकसित भट्ट शंकुक के रस-निष्पत्ति-विचार तथा आचार्य महिमभट्ट के व्यञ्जना-विरोधी मत की सविस्तार विवेचना करते हुए ध्वनि मत के साथ उनके असमान बिन्दु तलाशे हैं। इसके साथ ही अभिनवगुप्त का साक्ष्य देते हुए उन्होंने इन मान्यताओं का सुतार्किक ढंग से उच्छेद कर दिया है । उन्होंने ध्वनिमत एवं न्यायमत-दोनों के विरोधी आचार्य भट्टनायक के रस-निष्पत्ति-सिद्धान्त की भी सम्यक् आलोचना की है, जिनकी दृष्टि में काव्य व्यापार तीन हैं- 'अभिधा, भावना और भोग (या रसचर्वणा) । तीनों काव्यांशों में से अभिधा लौकिक अर्थ देती है जबकि शेष दो व्यापार शुद्ध काव्य व्यापार है जो काव्यार्थमात्र देते हैं और काव्यबोध के साधन होते हैं ।'[६] आचार्य अवस्थी भट्टनायक की मान्यताओं का रस एवं ध्वनि-विचार के साथ ही विभिन्न दर्शनों एवं मनोविज्ञान के आलोक में अनुशीलन कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं- 'भट्ट नायक का मत ध्वनिमत के सन्दर्भ में पूरक सिद्धान्त का काम करता है । साधारणीकरण और आनन्दभोग की गुण-परक व्याख्या भट्ट नायक की महत्त्वपूर्ण देन है । आधुनिक सन्दर्भ में अनेक प्रकार की व्याख्या पाने की क्षमता साधारणीकरण में है जिसे ध्वनिमत में भी मान्य किया गया है । अन्तर इतना ही है कि वह काव्य-व्यापार के रूप में ध्वनिमत को मान्य नहीं है । रसिक की वासना साधारणीभूत ही रहती है जिसके लिए काव्य का पृथक् व्यापार अपेक्षित नहीं ।'[७]

आचार्य अवस्थी ने ध्वनिविरोधी मतों जैसे वक्रोक्तिमत, तात्पर्यवाद आदि के साथ ध्वनिमत की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए ध्वनि की विशिष्ट स्थिति को रेखांकित किया है । वे वेक्रोक्ति में निहित काव्य के सूक्ष्म विवेचन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य कुन्तक ध्वनिकार की ही कोटि में आते हैं। परन्तु वे वक्रता को वही पुष्ट विवेचन नहीं दे सके जो व्यञ्जना को दिया गया ।' इसी प्रकार तात्पर्यवाद की ध्वनिविरोधी मान्यताओं का परिहार करते हुए लिखते हैं- 'ध्वनिसिद्धान्त में पदार्थ-बोध के लिए अभिधा और लक्षणा, वाक्यार्थ-बोध के लिए लक्षणा और तात्पर्यवृत्ति की सीमाएँ स्पष्ट रखी गयी हैं। उनसे पृथक् व्यञ्जना की स्थिति को पदांश, पद, वाक्य, प्रकाण, प्रबन्ध सभी में सिद्ध किया गया है । तात्पर्य के नाम पर ध्वनि-विरोध केवल विरोध के लिए जान पडता है ।'[८] उन्होंने भक्ति-रस जैसे विवादग्रस्त सिद्धान्त के साथ भी ध्वनिमत की पर्यालोचना की है । उनके अनुसार 'जहाँ तक व्यञ्जना व्यापार का सम्बन्ध है, ध्वनिमत और भक्ति-रस-सिद्धान्त में मतैक्य है । रस-स्वरूप की मूलभूत मान्यता में दोनों मतभेद रखते हैं। ध्वनि-सिद्धान्त आलम्बन-पक्ष में लौकिकता का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समावेश अनिवार्य मानकर भी काव्य-विभाव के रूप में उसे लोकोत्तर बताता है जबकि भक्ति-सिद्धान्त आलम्बन ही लोकोत्तर मानकर चलता है । लोकोत्तर आलम्बन के अभाव में रस मानकर भी भक्ति-सिद्धान्त उसे निम्न कोटि का ही रस मानता है ।'[१०]

आचार्य अवस्थी ने ध्वनि के व्यापक परिदृश्य पर विचार करते हुए काव्य सौन्दर्य की स्थिति पर भी भारतीय दृष्टि से प्रकाश डाला है । उनके समक्ष प्रश्न रहा है- सौन्दर्य कहाँ रहता है- वह काव्यगत है या आत्मगत । वे ध्वनिमत की स्थापना की ओर इशारा करते हुए लिखते हैं- 'वस्तुतः सहृदय (विषयी) में ही सौन्दर्य की सत्ता है- वासनात्मक भाव की अभिव्यक्ति में चमत्कार रहता है और वही सौन्दर्य है जिसे कवि सहृदय के प्रति प्रेषित करता है । ब्रैडले की भी ऐसी ही धारणा है ।' वे ब्रैडले के साथ ही ध्वनिमत के प्रति सहमति व्यक्त करते हुए भारतीय आत्मवादी चिन्तन के अनुरूप सौन्दर्य को पूर्णता का पर्याय कहते हैं- 'हमारी आन्तरिक पूर्णता की अभिव्यक्ति ही काव्य है और वह पूर्णता ही सौन्दर्य है । सौन्दर्य अपने बाह्य रूप में विषयगत कहा जाकर काव्य का वर्ण्य बनता है परन्तु अनुभूति में उतरकर वह विषयिगत ही होता है।'[११]

आचार्य अवस्थी ने ध्वनिमत की सीमाओं की ओर भी संकेत किया है । उनकी दृष्टि में-'काव्य से कोई जीवन दर्शन-भाववादी, अध्यात्मवादी, मार्क्सवादी आदि व्यक्त होता तो उसे वस्तु-व्यङ्ग्य मानकर ध्वनि-सिद्धान्त व्याख्या दे देगा । उसे तो काव्य को केन्द्र बनाकर चलना होता है, अतः शब्दशक्ति (व्यञ्जना) से जो कुछ आता होगा, सब कहा जायगा पर उसके बाहर जाकर किसी दर्शन की व्याख्या करना उसका कार्य नहीं । इसी प्रकार कवि के व्यक्तित्व से भी उसे लेना-देना नहीं है । इधर अरविन्द-दर्शन, मार्क्स-दर्शन मनोविश्लेषण आदि के उदाहरण रूप में बहुत से काव्य लिखे गये । ध्वनि-सिद्धान्त उंसकी व्यञ्जना-परक व्याख्या भर कर सकता है, तत्त्वदर्शन की बात नहीं उठा सकता ।'[१२] स्पष्ट है कि आचार्य अवस्थी ध्वनि-सिद्धान्त के वैशिष्ट्य को व्यापक सन्दर्भों में रेखांकित करने के साथ ही उसकी सीमाओं से भी परिचय करवाते हैं ।

आचार्य अवस्थी ने अपने ध्वनि-केन्द्रित ग्रन्थों में ध्वनि के मात्र भारतीय सरोकारों को ही मूर्त नहीं किया है, वरन् उनका विलक्षण अवदान पश्चिम से आगत नवीनतम ज्ञान-धाराओं के परीप्रेक्ष्य में ध्वनि की सम्भावनाओं के आकलन में भी है । उन्होंने सर्वप्रथम सुव्यवस्थित रूप से पश्चिम से आयातित मनोविज्ञान की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं की मान्यताओं के साथ ध्वनिमत की तुलना का मार्ग-प्रशस्त किया । वे इस बात को गहराई से अनुभव करते हैं कि दर्शन एवं मनोविज्ञान में वैचारिक विविधता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और आधारभूत मान्यताओं में अन्तर है, किन्तु वे इस वैविध्य के बावजूद उन चिन्तनों के आयामों में ध्वनि-सिद्धान्त के समर्थन की दिशा की पडताल करने में सफल रहे हैं । उन्होंने अपने ग्रन्थों में ध्वनि-सिद्धान्त के मनोदार्शनिक, वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक निकषों की अपेक्षित विस्तार के साथ विवेचना की है, जिनके आधार पर उन चिन्तनों में ध्वनि-सिद्धान्त के अनेक सूत्रों का न्यूनाधिक समर्थन या समतुल्यता उपलब्ध होती है ।

वे क्रमशः न्याय-वैशेषिक, साङ्ख्य-योग, मीमांसा, वेदान्त और शैवदर्शन के आलोक में काव्य-बोध का स्वरूप तय करते हैं और उनके परिप्रेक्ष्य में ध्वनिमत का विश्लेषण करते जाते हैं । इनमें से कतिपय मतों को छोडकर प्रायः सभी दर्शनों में आचार्य अवस्थी ने व्यञ्जना एवं रस के समान तथ्यों का अनुसन्धान किया है तथा ध्वनिमत से उनका अविरोध दर्शाया है ।

आचार्य अवस्थी ने काव्य-बोध के वैज्ञानिक स्वरूप तथा विज्ञान में आत्मा का स्वरूप एवं रसात्मक अनुभूति के सन्दर्भों पर भी विचार किया है, जहाँ वैज्ञानिक प्रणाली से काव्य-सामग्री और संवेदन के तत्त्वों की चर्चा सम्भव हुई है । वे यह भी मानते हैं कि विज्ञान के परिवेश में शब्दशक्तियों को विवेचित किया जाय तो व्यञ्जना (Suggestivity) को स्वतः स्थान मिल जाता है ।

इसी प्रकार उन्होंने मनोविज्ञान में व्यञ्जकत्वशक्ति के तत्त्वों के अन्वेषण के साथ ही विभिन्न मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों में काव्य-बोध की पैडताल करते हुए ध्वनि-सिद्धान्त ते साथ तुलनीय बिन्दुओं को रेखाङ्कित किया है । उनके द्वारा विवेचित इन सम्प्रदायों में संरचनावाद, प्रकार्यवाद, व्यवहारवाद, साहचर्यवाद, मनोविश्लेषण, गेस्टाल्टवादी, ऊर्जा या शक्ति-मनोविज्ञान आदि मुख्य हैं । इसी प्रकार अवस्थी जी ने कुछ विशिष्ट मनोवैज्ञानिक मान्यताओं, जैसे मूल-प्रवृत्ति, प्रवृत्ति, संवेग, प्रभाव,स्थिर भाव, अनुभूति, आनन्दानुभूति आदि का भी रस-सामग्री तथा ध्वनि-मत के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण किया है ।

विस्तृत विवेचन के आलोक में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं- 'ध्वनिमत को हम जितना दार्शनिक मानकर चलते हैं, उसे उतना ही वैज्ञानिक अथवा मनोवैज्ञानिक भी कह सकते हैं क्योंकि ध्वनिमत एक काव्य-दर्शन है जो कलात्मक अनुभूति के माध्यम 'काव्य' की व्याख्या करता है। वह किसी दर्शन-विशेष को मूलाधार बनाकर कोई आग्रह नहीं रखता । व्यञ्जना शब्दशक्ति की अवधारणा आज के प्रतीकवाद में, भाषाविज्ञान में और मनोविज्ञान में भी मान्य है ।'[१३]

आचार्य अवस्थी ने पाश्चात्य समीक्षा की सुदीर्घ परम्परा में भी ऐसे ही अनेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्त्वों का अनुसंधान किया है जो ध्वनि एवं रस-सिद्धान्त के मेल में रखे जा सकते हैं तथा जिनसे इन सिद्धान्तों को नूतन परिप्रेक्ष्य मिल सका है । वे प्लेटो से लेकर टी. एस. इलियट तक की काव्य-शक्ति तक को लेकर पश्चिम का मनीषी भी वैसा ही कुछ कहने की खोज कर रहा है जैसा भारतीय शास्त्रों में कहा गया है ।' वे अरस्तू के विरेचन को अभिनवगुप्त की दृष्टि में मान्य ठहराते हैं, यह जरूर है कि अभिनव उसे साध्य न मानकर रसानुभूति का साधन मानते हैं । जबकि अरस्तू उस पर इतना बल देते हैं कि विरेचन ही साध्य बन जाता है । इसी तरह वे शैली-सिद्धान्त में भी अल्प ही सही, ध्वनि-सम्बन्धी विचार अवश्य पाते हैं । उदात्त के साथ औचित्य एवं ध्वनि मत के नैकट्य की चर्चा भी अवस्थी जी ने की है । कॉलरिज, रिचर्डस एवं इलियट के चिन्तन के सन्दर्भ में भी उन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त की विविध मान्यताओं के पुनर्मूल्याङ्कन की सम्भावनापूर्ण दिशा की ओर इशारा किया है । उनके अनुसार 'ब्लैकमूर जैसे अनेक विद्वान् हैं जो भाषा में प्रकारान्तर से व्यञ्जनाशक्ति को आवश्यक मानते हैं । वस्तुतः इंगितशक्ति भाषा की सहजात शक्ति है जिससे उसे वंचित नहीं किया जा सकता ।' तथा 'पूर्व और पश्चिम के चिन्तन में बहुत बडा अन्तर मानना आधुनिक परिवेश में असंगत है । जो विचारक प्राच्य चिन्तन की आत्मा नहीं समझते, वे उसे रूढिवादी मानकर पश्चिम के उन विचारों को ही गौरव देते हैं जिन्हें पचाना कभी-कभी कठिन रहता है । इलियट देशकालव्यापी काव्य-मात्र को एक कविता मानकर चलते हैं तो हम कह सकते हैं कि देशकाल की व्याप्ति में जितनी भी आलोचना-धाराएँ हैं, उनका समवाय एक ही आलोचना है ।'[१४] स्पष्ट है कि आचार्य अवस्थी ने पश्चिम की विविध समीक्षा-धाराओं के आलोडन से ऐसे अनेक तथ्यों को तलाशा है, जिनके साथ तुलना से ध्वनिमत की मान्यताएँ समर्थ तो सिद्ध होती ही हैं, साथ ही उनके सहकार से और अधिक पुष्ट भी हो सकती हैं । फलतः वे निष्कर्ष पर पहुँचते हैं- 'कोई कारण नहीं कि हम अपने सिद्धान्तों के वर्गों में उन मान्यताओं का समुचित संकलन करके अथवा उन मान्यताओं के वर्गों में अपनी अवधारणाओं का विनियोग करके एक अभिनव समीक्षा-पद्धति पुरस्कृत न कर सके । इसके लिए अपने सिद्धान्तों का परिज्ञान पहले आवश्यक है, तभी हममें समन्वयन की क्षमता आ सकती है । यह समन्वयन आज हिन्दी-समीक्षा की अनिवार्यता है ।'[१५]

आचार्य अवस्थी नवता के प्रति अतिशय आग्रहों के हमारे दौर में शास्त्रीयता के विमर्श से जुडे खतरों से निरन्तर सचेत करते रहे हैं, क्योंकि वे आधुनिक हिन्दी आलोचना के कुछ शिखर-पुरुषों की विवेचना करते हुए यह पाते हैं कि एक ओर पश्चिम से आगत चिन्तन के प्रभाव तथा दूसरी ओर शास्त्रों से निकट सम्पर्क के अभाव के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण उनकी मान्यताएँ अविश्वसनीय हो गई हैं। वे इस दिशा में सावधान करते हुए लिखते हैं- 'शास्त्र की चर्चा करते समय हमें सावधान रहना चाहिये कि हम किसी रूढि या पुराणवांद अथवा अतीत-प्रियता के शिकार न हो जाएँ, परन्तु साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शास्त्रीयता के सन्दर्भ कतिपय परिभाषित विधानों के साँचे में ढल कर ही चमकते हैं और अपनी आभा से परम्परानुप्रणित ज्ञानधारा में प्रतिबिम्बन लेकर नव्य ज्योतिःश्रेणी बनाते हैं। रूढिवादी उस चकाचौंध में खो सकता है तो मौलिकता का अतिवादी उसे बहुत दूर से देख कर और अटकल लगा कर विवेचनाभासों में बिखर सकता है।'[१६] आचार्य अवस्थी के ध्वनि विषयक ग्रन्थों की विशिष्ट देन इस प्रकार की चुनौतियों तथा खतरों के प्रति जागरूक करने में भी है, जिनके ठीक-ठीक प्रतिकार के अभाव में कतिपय आधुनिक हिन्दी आलोचक अपनी मान्यताओं के उपस्थापन में शास्त्रीयता के सटीक निर्वाह में कही-कही विभ्रम या गलत समझ के शिकार हुए हैं।

आधुनिक हिन्दी-काव्य-चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में ध्वनि-सिद्धान्त की विवेचना करते हुए आचार्य अवस्थी बीसवीं शताब्दी में भारतीय चेतना में पश्चिम की विचारधारा के प्रवेश के दो परिणामों की चर्चा करते हैं- 'एक तो काव्य का मूल्याङ्कन पाश्चात्य दृष्टि से करने की जागरूक प्रणाली का उदय हुआ और दूसरी ओर अपनी परम्परा के प्रति उपेक्षा का सूत्रपात हुआ।' निश्चय ही उन जैसे सजग परम्पराशील आचार्य की चिन्ता का विषय यह दूसरी प्रवृत्ति हो सकती है। फलतः वे हिन्दी में ध्वनि या इसी प्रकार के काव्य-सिद्धान्तों से जुडे विमर्श की सीमा को सहसा पकड लेते हैं- 'दूसरी प्रवृत्ति के कारण धीरे-धीरे सैद्धान्तिक शब्दावली का अर्थ-वृत्त धूमिल होता गया और उसका मनमाने अर्थ में प्रचलन होगे लगा। कभी-कभी मौलिकता की झोंक में आकर विद्वानों ने भारतीय काव्यशास्त्र को मरोडकर पाश्चात्य चिन्तन के साथ 'फिट्' कर दिया। यह सब उस समय हुआ जब कन्हैयालाल पोद्दार जैसे सजग विद्वान का 'काव्यकल्पद्रुम' ग्रन्थ पर्याप्त प्रभावी था। इसका कारण नवीनता का व्यामोह भी कहा जा सकता है, परन्तु बहुत कुछ शास्त्रीय चेतना की क्षीणता भी कारण रही है।'[१७] यही वजह है कि आचार्य अवस्थी पश्चिम से आगत चिन्तन को उपेक्षा न करते हुए भी 'आत्मरक्षा' को आवश्यक मानते हैं और निरन्तर इस ओर सजग करते रहे हैं।

आचार्य अवस्थी हिन्दी-समीक्षा के प्रवर्तक आचार्य के रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को समादर देते हैं। उनके 'रस मीमांसा' ग्रन्थ के परिशिष्ट में निहित 'साहित्यदर्पण' से सम्बद्ध टिप्पणियों के आधार पर आचार्य अवस्थी अनुमान लगाते हैं कि 'शुक्ल जी ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर कोई हिन्दी-काव्य-शास्त्र लिखना चाहते थे।' ध्वनि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धान्त विषयक अपने ग्रन्थों में आचार्य अवस्थी ने शुक्ल जी की कतिपय मान्यताओं की शास्त्रीय-चिन्तन के आलोक में समीक्षा की है । इस सन्दर्भ में उनके द्वारा शुक्ल जी की 'व्यञ्जना' सम्बन्धी मान्यताओं का परीक्षण यहाँ विचारणीय है । शुक्ल जी शब्दवृत्तियों के सन्दर्भ में नई उद्भावनाओं के लिए चर्चित रहे हैं । उन्होंने अभिधा को ही काव्य का चमत्कारधायक माना है । फलतः डॉ. भोलाशंकर व्यास, डॉ. रामलखन शुक्ल प्रभृति आलोचकों ने उन्हें प्राचीन आचार्यों से भिन्न प्रस्थान के समीक्षक के रूप में मान्य किया है, किन्तु आचार्य अवस्थी इनसे पृथक् विचार रखते हैं । उनका मत है कि 'आचार्य शुक्ल ने शब्दवृत्तियों पर कोई विचार नहीं किया है, फिर भी काव्य की दृष्टि से वे व्यञ्जनावादी जान पडते हैं । इसका प्रमाण उनका विविक्त चिन्तन नहीं है, प्रत्युत व्यञ्जना आदि शब्दों के जाने-अनजाने प्रयोग-प्रचुरता है ।'[१८] आचार्य अवस्थी ने ऐसे अनेक उद्धरणों पर चर्चा की है, जिनमें शुक्ल जी पर व्यञ्जना सम्बन्धी पारम्परिक स्पष्ट मान्यता का प्रभाव दिखाई देता है । आचार्य अवस्थी ने शुक्ल जी की भावकोश, बीजभाव, रस, बिम्बग्रहण आदि सम्बन्धी मान्यताओं का भी सम्यक् मूल्याङ्कन किया है । इनके आधार पर वे शुक्ल जी की शास्त्रीय प्रतिमानों की समझ को भी परखते हैं और अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं- 'आचार्य शुक्ल स्वतन्त्र विचारक के रूप में जितने सामान्य है, शास्त्रीय चिन्तक के नाते उतने ही अविश्वसनीय हो जाते हैं । इसका कारण यह रहा है कि शास्त्रों और शास्त्रज्ञों का घनिष्ठ सम्पर्क साधे बिना ही उन्होंने इस क्षेत्र में प्रयास किये हैं ।'[१९]

अवस्थी जी ने ध्वनि-सिद्धान्त के परिवेश में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की मान्यताओं का भी सविस्तार विश्लेषण-मूल्याङ्कन किया है । वे उन्हें विभिन्न समीक्षा-धाराओं के 'सामञ्जस्य की संगम-धारा' के प्रतिनिधि मानते हैं । आचार्य अवस्थी की दृष्टि में रसविषयक समीक्षा की 'मूल धारा पाण्डित्यपूर्ण चिन्तन के साथ चलती रही, जिसके प्रतिनिधि के रूप में कुछ आगे चलकर आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र को देखा जा सकता है ।'[२०] इसी धारा में हम स्वयं आचार्य अवस्थी, आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी, आचार्य आनन्दप्रकाश दीक्षित, आचार्य रामसागर त्रिपाठी, आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी आदि आचार्यों को रख सकते हैं । अवस्थी जी के अनुसार 'दूसरी धारा पाश्चात्य चिन्तन के प्रसार में होकर बह चली और अपने शास्त्रों में उसके तत्त्व खोजने लगी ।' उन्होंने इस धारा में आचार्य शुक्ल एवं डॉ. नगेन्द्र को रखा है । वे तीसरी धारा को दूसरी धारा की प्रतिक्रिया मानते हैं, जिसमें उन्होंने आचार्य केशवप्रसाद मिश्र तथा डॉ. भगवानदास को स्थान दिया है, क्योंकि वे योगशास्त्र की भूमिकाओं में रस-मनोविज्ञान के संवेदन का अनुसन्धान कर रहे थे । इस धारा पर आचार्य अवस्थी की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणी है- 'राष्ट्रवाद का यह दबा हुआ रूप था जो काव्यशास्त्रीय दर्शन को यथावत् न ले पाकर योग-दर्शन की शरण में अपनी रक्षा पाना चाहता था ।'[२१] आचार्य अवस्थी ने वाजपेयी जी पर इन्हीं तीन धाराओं के सामञ्जस्य की दृष्टि से विचार किया है । उनकी इस विवेचना के केन्द्र में वाजपेयी जी के द्वारा निरूपित काव्य की परिभाषा, रस-निष्पत्ति, ध्वनि-सिद्धान्त,अलंकार-विचार और साधारणीकरण विषयक मान्यताएँ रही हैं । इन पर सविस्तार चर्चा करते हुए आचार्य अवस्थी पाते हैं कि 'आचार्य वाजपेयी 'रस' आदि रूढ शब्दों से हिचकते हैं और स्थानापन्न आधुनिक शब्दों से काम चलाते हैं, जिनकी शास्त्रीय सन्दर्भ में पारिभाषिकता प्रायः सन्दिग्ध हो जाती है ।'[२२] इस नई शब्दावली की समझ के लिए आचार्य अवस्थी पश्चिम के समीक्षा-शास्त्र का अध्ययन आवश्यक मानते हैं । क्योंकि उनके अनुसार आचार्य वाजपेयी ने 'रस' के लिए सम्भवतः 'सौन्दर्य' और 'निष्पत्ति' के लिए 'संवेदन' शब्दों को युक्त माना है, क्योंकि 'एस्थेटिक सेन्सेशन्' के अनुवाद से 'सौन्दर्य संवेदन' ही 'फिट्' बैठ पाता है- 'रसनिष्पत्ति' से शास्त्रीय परम्परा की गन्ध भी आती है । यह गन्ध 'आधुनिक अध्येता' के लिए 'हृदयग्राही' नहीं है । यहाँ आकर आचार्य अवस्थी आधुनिक हिन्दी आलोचना के उन उलझावों को सहसा मूर्त कर देते हैं, जिनके रहते आलोचना सहित चिन्तन के सभी क्षेत्रों में पारिभाषिक शब्दावली को लेकर भ्रम की स्थिति बनी हुई है । कहीं हमारी परम्परा से आते हुए शब्द नई आयातित विचारधारा का संवहन करने लगते हैं, तो कहीं पश्चिम से आगत विचार या तथ्य के लिए दिए गए हिन्दी पर्याय अपने मूलार्थ को व्यक्त करने लगते हैं ।

अवस्थी जी ने शास्त्रीय परम्परा और नवायात शास्त्र के द्वन्द्व से उपजे आचार्य वाजपेयी के अन्तर्विरोधों की भी पडताल की है । उनका विचार है कि वे (वाजपेयी जी) नवायात अपूर्व शास्त्र की रूढियों से प्रतिबद्ध होकर भी अपनी धारा से मुक्त होकर साँस लेना चाहते हैं । जब हम घर को कारागार समझ लेते हैं तब कारावास भी गृहस्थिति का सुख दे चलता है और जब साथियों की विपुल संख्या के साथ रहने को मिले तब अल्पसंख्यक शास्त्रों को अल्पज्ञों की श्रेणी में डालकर मुक्त गति मानी जा सकती है । फिर भी 'समन्वय' का व्यामोह पीछा नहीं छोडता ।'[२३] उन्होंने इस अन्तर्विरोध का वाजपेयी जी के रस-सम्बन्धी विचारों में तलाशा है । वे कहते हैं- 'वाजपेयी जी यहाँ अभिनवगुप्त आदि के मेल में आकर रस को अनुभूति रूप बताते हैं जो भावाभिव्यक्ति का नामान्तर है, परन्तु दूसरी ओर सौन्दर्य-संवेदन को काव्य का प्रायोजक मान चलते हैं जिस से लगता है कि रस संवेदन रूप न होकर पृथक् किसी सौन्दर्य के रूप में उजागर होता और संवेद्य बनता है । वे पुनः आनन्द को रस का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मौलिक लक्षण बताकर उसे संवेदनरूप ही स्वीकार कर लेते हैं क्यों कि आनन्द संवेदन-विशेष का ही नाम है जो वेदान्त, शैवदर्शन आदि के अतिरिक्त आधुनिक मनोविज्ञान को भी अनुमत है ।'[२४] अन्य काव्य-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में वाजपेयी जी के रुझान को देखते हुए अवस्थी जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं- 'वेद भारतीय चिन्तन-सौंदर्य से प्रभावित हैं फिर भी आवश्यक नहीं मानते कि उसी धारा में सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करे ।' तथा 'वाजपेयी जी ध्वनि की महत्ता समझते और मानते थे ।'[२५] इसी प्रकार 'साधारणीकरण' सम्बन्धी वाजपेयी जी के विचारों का उन्होंने डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी द्वारा विवेचित सूत्रों के आधार पर परीक्षण किया है, जिसके आधार पर वाजपेयी जी भट्टनायक अथवा अभिनवगुप्त सम्मत साधारणीकरण के निकट दिखाई देते हैं। अवस्थी जी उनके चिन्तन के अन्तर्विरोधों के बावजूद यह भी स्वीकार करते हैं कि 'आचार्य वाजपेयी परम्परा-विच्छिन्न नहीं रहे हैं, उन्होंने शास्त्रीय चिन्तन से जुडे रहने का प्रयास करके आधुनिक हिन्दी-विचारक को दिशा दी है जिसके ऊपर चिन्तन बढाया जा सकता है ।'[२६]

अवस्थी जी डॉ. नगेन्द्र को अन्तश्चेतनावादी काव्य-मनीषी मानते हैं । उनके चिन्तन में मौजूद मनोवैज्ञानिक आधारों की सविस्तार चर्चा आचार्य अवस्थी ने की है। उन्होंने डॉ. नगेन्द्र की काव्य-स्वरूप सम्बन्धी इस स्थापना पर प्रश्न चिन्ह लगाया है- 'मैं जीवन को अहं का जगत् से या आत्म का अनात्म से संघर्ष मानता हूँ । इस संघर्ष की सफलता जीवन का सुख है और विफलता दुःख । साहित्य इसी संघर्ष के मानस रूप की अभिव्यक्ति है । मानस रूप की अभिव्यक्ति होने के कारण उसमें दुःख का अभाव होता है, क्योंकि संघर्ष की घोरतम विफलता भी मानस रूप धारण करते-करते अपना दंशन खो देती है ।' इस मान्यता को अवस्थी जी तर्क-संगत नहीं मानते हैं, उनका कहना है- 'मानस रूप लेने पर भी वैयक्तिक चेतना में दुःखानुभव होता है। घोरतम विफलता तो बहुत बडी बात है, साधारण हानि भी मानस का नासूर बन सकती है । मानस व्यवस्था न सह पाकर लोग आत्महत्या तक कर लेते हैं । किसी संघर्ष का मानस रूप लेना ही दंशन-हीन होने की शर्त नहीं हो सकता । जब तक अपना दुःख व्यक्तिगत धरातल पर अनुभूत होगा, कभी सुखात्मक नहीं हो सकता, परन्तु डॉ. नगेन्द्र व्यक्ति-चेतना से परे कुछ भी मानने को तैयार नहीं ।' तथा 'डॉ. नगेन्द्र के अनुसार वैयक्तिक संघर्ष से जो काम-वृत्ति-प्रेरित अभिव्यक्ति होती है, वही काव्य है । काव्य न तो निर्वैयक्तिक होता है और न काम-हीन । 'काम' का डॉ. नगेन्द्र जो भी अर्थ लेते हों, वह मनोविज्ञान में जीवनेच्छा का ही नामान्तर है और जीवनेच्छा वैयक्तिक ही न होकर सामूहिक भी होती है, अतः शुद्ध वैयक्तिकतावाद साहित्य का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धान्त नहीं हो सकता ।'[२७]

अवस्थी जी ने इसी व्यक्तिवाद के आलोक में डॉ. नगेन्द्र के साधारणीकरण सम्बन्धी विचारों को समझने पर बल दिया है । वे देखते हैं कि डॉ. नगेन्द्र साधारणीकरण में 'तादात्म्य' की चर्चा करते हैं, किन्तु आचार्य विश्वनाथ से हटकर उसे अपने अनुकूल व्याख्या देना चाहते हैं । अवस्थी जी के अनुसार 'डॉ. नगेन्द्र व्यक्ति का व्यक्ति से तादात्म्य मानकर कवि और सहृदय से अभेद की चर्चा करना चाहते हैं ।' वे भट्टनायक और अभिनवगुप्त की धारणा से भी डॉ. नगेन्द्र की मान्यता का भेद दर्शाते हुए लिखते हैं- 'भट्टनायक विभावादि-चेतना और रसिक-चेतना को साधारणीकृत रूप देना चाहते हैं, जहाँ वैयक्तिक चेतना का सर्वथा परिहार रहता है जबकि डॉ. नगेन्द्र व्यक्तित्व-परिहार के विरोधी हैं । अभिनवगुप्त की धारणा से भी स्पष्ट विरोध है- कहाँ अभिनव वासना को वैयक्तिक सीमा से परे मानकर रस को 'सकल-सहृदय-संवादी' तत्त्व मानते हैं, जिसमें रसात्मक बोध के अतिरिक्त अन्य सबका तिरोभाव हो जाता है (अन्यत् सर्वामिव तिरोदधत्) और कहाँ डॉ. नगेन्द्र का साधारणीकरण व्यक्ति को क्षुद्र परिधि से मुक्त नहीं करता ।'[२८] इसी प्रकार अवस्थी जी भट्टतौत की डॉ. नगेन्द्र द्वारा दी गई व्याख्या को साधारणीकरण के वास्तविक अर्थ की दृष्टि से अमान्य ठहराते हैं । वे यहीं पर डॉ. नगेन्द्र की सीमा दर्शाते हैं- 'डॉ. नगेन्द्र यदि अपने मत को आचार्यों के मत में 'गबड' कर न रखते तो उनकी मान्यता अधिक ग्राही होती और भ्रान्ति को अवकाश न रह जाता ।'

इसी प्रकार डॉ. नगेन्द्र की रसनुभूति-विषयक धारणा की सीमाएँ भी डॉ. अवस्थी के दृष्टिपथ में रही हैं । डॉ. नगेन्द्र भरत और भट्टलोल्लट को भौतिकवादी तथा भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त आदि को आत्मवादी निरूपित करते हैं । अवस्थी जी कहते हैं- 'वस्तुतः भरत को भौतिकवादी कहने का कोई कारण नहीं है जब सभी आचार्य भरत-सूत्रों को ही व्याख्या देते हैं । भरत किसी वाद से धिरे हुए नही हैं । वे तो शुद्ध विचारक मुनि हैं । अपने-अपने दर्शन के अनुसार आचार्यों ने समझने का प्रयास किया है ।' तथा 'भट्टलोल्लट ने आस्वाद-प्रक्रिया पर कोई विचार नहीं किया है अतः उन्हें भी आत्यन्तिक रूप से भौतिकवादी कहने का कोई कारण नहीं है । वासना-सिद्धान्त को अमान्य करके शुद्ध चेतना की विश्रामदशा मानने वाले भट्टनायक भी सत्त्वगुण की परिधि स्वीकार करते हैं जो चित्त की ही दशा-विशेष है अतः उन्हें भी रस-बोध की दृष्टि से पूर्णतः आत्मवादी नहीं कहा जा सकता ।'[२९] स्पष्ट है कि अवस्थी जी डॉ. नगेन्द्र की अनेक मान्यताओं से असहमत दिखाई देते हैं और शास्त्रीय-चिन्तन की दृष्टि से उनकी सीमा-रेखा भी दर्शाते हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवस्थी जी इसी प्रकार की स्थिति डॉ. भगीरथ मिश्र के काव्य-चिन्तन में पाते हैं। वे शास्त्रीयता के दायरे में या उसके बाहर कुछ नया कहने की बढती प्रवृत्ति पर प्रहार करते हुए लिखते हैं- 'आधुनिक साहित्य-मनीषियों में शास्त्रों की सीमाओं में या उसके बाहर-भीतर कुछ नया कह लेने की उजागर प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है । इस प्रवृत्ति के पीछे एक धारणा यह काम करती है कि पूर्व और पश्चिम के चिन्तनों को समेट कर एक ऐसा पुटपाक तैयार किया जाय कि हिन्दी का अपना चिन्तन अंगरेजी के समकक्ष अपना स्थान बना सके और उसके माध्यम से हिन्दी-आलोचना के प्रवर्तक आचार्य होने का आनुषङ्गिक गौरव सुलभ हो सके । इस प्रवृत्ति के मूल में परम्परा और शास्त्रीय चिन्तन के प्रति जाने या अनजाने अपेक्षावृत्ति काम करती रही है ।' वे इस भूमिका के साथ काव्यशास्त्र तथा काव्यमनीषाकार डॉ. भगीरथ मिश्र की शक्ति और सीमाओं का आकलन करते हुए लिखते हैं- 'निश्चय ही हिन्दी की सीमाओं में,यदि शास्त्रीयता का आग्रह न किया जाय तो, उनके ग्रन्थों में तथा फुटकल निबन्धों में किये गये प्रभूत प्रयासों को स्तुत्य कहा जायगा । परन्तु शास्त्रों की समीक्षा यदि शास्त्रीय आयामों में नहीं होती है तो ऐसा दिखाई देने लगता है कि मम्मट जैसे आचार्यों और आनन्दवर्द्धन जैसे शास्त्र-प्रवर्तकों का पल्ला उनके समीक्षकों की अपेक्षा हल्का है । यही अपने आदर को प्रतिष्ठित करने हेतु पुरातन आचार्यों की अधकचरी समीक्षा शास्त्रों के विद्यार्थी को अरुचिकर लगे तो अन्यथा न लेना चाहिए ।'[३०]

डॉ. मिश्र द्वारा 'काव्यशास्त्र' ग्रन्थ में विवेचित काव्य की विभिन्न परिभाषाओं का आचार्य अवस्थी ने सविस्तार मूल्यांकन करते हुए उनकी सीमाओं का निरूपण किया है । डॉ. मिश्र ने अग्निपुराण, भामह, कुन्तक, मम्मट आदि की परिभाषाओं पर आपत्ति दर्ज की है, जिनका साधार खण्डन कर आचार्य अवस्थी उन परिभाषाओं का व्यापक परिदृश्य में वैशिष्ट्य दर्शाते हैं । मम्मट की परिभाषा पर आपत्ति का निवारण करते हुए वे लिखते हैं- 'काव्य-मनीषा' की पूरी विवेचना अकाव्यज्ञ को संवेदनशील नहीं बना सकती जबकि मम्मट की परिभाषा काव्य-संवेदनहीन मनुष्य को काव्य-तत्त्वों के आधार पर उसे समझा देती है ।'[३१] इसी प्रकार डॉ. मिश्र द्वारा चर्चित रसविचार, रसैकत्व-विचार और साधारणीकरण यथावसर उनके वैशिष्ट्य के साथ ही सीमारेखा भी तय की है । वे डॉ. मिश्र को समादर देते हुए लिखते हैं- 'शास्त्रीय सन्दर्भों को लेकर जो कुछ कहा गया वह उनकी मनीषा के प्रति अनादर नहीं है । गुरुओं की अवमानना शास्त्रों के विद्यार्थी का अकर्तव्य ही है । केवल यह इङ्गित अपेक्षित रहा है कि शास्त्रवन में प्रवेश करने से पूर्व उसकी गहनता और विकटता का परिज्ञान आवश्यक होता है। साथ ही वनचरों से पूछ-पूछ कर दुर्गति या निर्गति से बचने का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयास किया जाता है । शास्त्रज्ञों का अल्पमत आज वनचरों में भी स्थान पा जाये तो बहुत है ।'[३२]

स्पष्ट है कि आचार्य अवस्थी ने भारतीय काव्य-शास्त्र की अद्वितीय देन के रूप में सुस्थापित 'ध्वनिमत' का आधुनिक सन्दर्भों में पुनराख्यान कर हिन्दी आलोचना को उपकृत किया है । वे छायावादोत्तर काव्य-चिन्तन की विविध धाराओं-परम्परावादी, प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी में से परम्परावादी धारा से जुडकर अपना विशिष्ट आलोचना-प्रस्थान बनाते हैं, जिसकी सामर्थ्य को प्रायः अनदेखा किया जाता रहा है। आचार्य अवस्थी की एतद् सम्बन्धी परिदृश्य में एक विशिष्ट देन शास्त्रीय मान्यताओं को यथावत् प्रकट करने में रही है, जिसके अभाव में अन्य आधुनिक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न करते रहे हैं । उनकी दूसरी विशिष्ट देन ध्वनि, अलंकार आदि के हिन्दी काव्य के क्षेत्र में संचार की दिशा में रही है । उन्होंने पूर्ववर्ती ग्रन्थों से हटकर जहाँ संस्कृत काव्य के उदाहरणों की प्रचुरता मिलती है, मानस, कामायनी आदि जैसे उत्कृष्ट हिन्दीं काव्यों से उदाहण प्रस्तुत किए हैं । इनके आधार पर हिन्दी की विविध काव्य धाराओं के परिप्रेक्ष्य में ध्वनिकेन्द्रित समीक्षा की दिशा भी खुलती है, जिस ओर ध्यान देकर हिन्दी की व्यावहारिक समीक्षा अपनी जडों से जुड सकती है । आचार्य अवस्थी अधुनातन विश्वजनीन चिन्तन से भी विमुख नहीं है, फलतः वे ध्वनिमत के नवीन चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में सम्भावनाओं से आश्वस्त नजर आते हैं- 'उधर पाश्चात्य चिन्तन अधिकतर ध्वनिमत के निकट आता गया है और इधर हम दूर हटते गये हैं ।' भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य या काव्येतर चिन्तन की ऐसी कोई भी मान्यता नहीं है, जिसे वे ध्वनिसिद्धान्त के साथ तुलनीय नहीं बनाते हों । भारतीय दर्शन, भक्ति आदि से लेकर पाश्चात्य काव्य-चिन्तन, मनोदार्शनिक, वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों तक सभी के साथ तुलना करते हुए उन्होंने ध्वनिमत की अपूर्वता को रेखाङ्कित किया ही है, साथ ही उनके समान-असमान बिन्दुओं का भी निदर्शन करवाया है। समग्रतः उनके बहुमुखी चिन्तन का हिन्दी ही नहीं भारतीय काव्यशास्त्र चिरऋणी रहेगा । उन्होंने पश्चिम से आयातित विचारों के मध्य ध्वनिमत की विलक्षणता प्रतिपादित कर हिन्दीं आलोचकों को सार्थक दिशा-बोध दिया है, जिस पर सम्यक् दृष्टि से विचार किये बिना हिन्दी के अपने काव्यशास्त्र का रचाव असम्भव प्रतीत होता है ।

बी-३/३, विश्वविद्यालय परिसर
उज्जैन (म.प्र.)
पिन. ४५६०१०

डॉ. शैलेन्द्र कुमार शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

१. आचार्य बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान' : **ध्वनि-सिद्धान्त तथा तुलनीय साहित्य-चिन्तन**, पृष्ठ ११५
२. वही, पृष्ठ २००
३. वही, पृष्ठ १७५
४. वही, पृष्ठ १७५ एवं ध्वन्यालोक, ३/१२-१४
५. वही, पृष्ठ २३२
६. वही, पृष्ठ २५८
७. वही, पृष्ठ २७८
८. वही, पृष्ठ २९५
९. वही, पृष्ठ ३०२
१०. वही, पृष्ठ ३१२
११. वही, पृष्ठ ४८७
१२. वही, पृष्ठ ५०१
१३. वही, पृष्ठ ३६१
१४. वही, पृष्ठ ४०७
१५. वही, पृष्ठ ५०२
१६. आचार्य बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान' : **भारतीय काव्य-समीक्षा में ध्वनि-सिद्धान्त**, पृष्ठ २२४
१७. **ध्वनिसिद्धान्त तथा तुलनीय साहित्य** चिन्तन, पृष्ठ ४१३
१८. आचार्य बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान' : **भारतीय काव्य-समीक्षा में ध्वनि-सिद्धान्त**, पृष्ठ २१७
१९. वही, पृष्ठ २२०
२०. वही, पृष्ठ २२४
२१. वही, पृष्ठ २२५
२२. वही, पृष्ठ २३१
२३. वही, पृष्ठ २३२
२४. वही, पृष्ठ २३३
२५. **ध्वनिसिद्धान्त तथा तुलनीय साहित्य-चिन्तन**, पृष्ठ ४३०-३१
२६. **भारतीय काव्य-समीक्षा में ध्वनि-सिद्धान्त**, पृष्ठ २३८
२७. वही, पृष्ठ २४०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२८. वही, पृष्ठ २४१-४२
२९. वही, पृष्ठ २४३
३०. वही, पृष्ठ २४४
३१. वही, पृष्ठ २४८
३२. वही, पृष्ठ २५३

■

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संत तुलसी का विशिष्ट दर्शन : एक अध्ययन

भारतीय सांस्कृतिक एवं धार्मिक धारा पवित्र गंगा की तरह ऐसी गहराई के मार्ग से बहती चली आयी है जिसमें विश्व की प्रायः सभी सांस्कृतिक एवं धार्मिक धारायें विभिन्न रूपों में आकर आत्मसात होती गयीं किन्तु इसके जल को परिवर्तित न कर सकीं । विश्व की सारी धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं को अपने में अंगीभूत करती हुई यह अबाध गति से चली आयी है यहाँ तक । तत्कालीन समाज के कुछ सशक्त वर्गों ने इसपर अपने रंग चढाने का प्रयास करके इसके स्वरूप को अपने स्वार्थ के अनुरूप ढालने का प्रयास किया । इस प्रकार अनेक अंधविश्वासों ने इसके रूप को कुछ धुँधला बनाया है किन्तु कोई भी विकृतियाँ उसके मूल स्वरूप को परिवर्तित न कर सकी । भारतीय अध्यात्म की सार्वभौमिकता इसके मूल स्वरूप को अक्षुण्ण रखने में अपनी विशिष्ट भूमिका निभाती रही है । परिष्कृत मानवता की प्राप्ति के लिये सार्वभौम मानवजीवन के श्रेष्ठतम मूल्यों को स्वीकार करना ही पडेगा और यही उद्देश्य है भारतीय सनातन धर्म का।

जब-जब इस धर्म पर संकट आया है परमात्मा की अनेक विभूतियाँ युग पुरुष के रूप में आकर इन सनातन मानवीय धर्म के आदर्शों से समन्वित जीवन के श्रेष्ठतम मूल्यों की प्रस्थापना के लिये इस धराधाम पर अवतीर्ण होती रही है तथा युग के अनुरूप उत्कृष्ट संस्कृति की प्रस्थापना के लिये आदर्श सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती रही हैं ।

भारतीय सभ्यता के मध्ययुग में अवतीर्ण गोस्वामी तुलसीदास ने श्री रामकथा के व्याज से लोकरूचि को देखते हुये युगधर्मानुकूल तत्त्व विवेचन की सारी बातें एवं मानव जीवन का सर्वांग सुन्दर चित्र उपस्थित कर अपनी सर्वोत्कृष्टता स्थापित की । श्रीराम के जीवन के अनेक चित्र खींचे गये किन्तु संत तुलसी ने मर्यादित मानव जीवन की सम्पूर्ण व्यापकता के साथ श्रीराम के जीवन का मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में जो चित्र खींचा है वह तब से अधिक आज के लिये प्रासंगिक और समीचीन है, अध्यात्मिक और भौतिक दोनों ही क्षेत्र में ।

अपने ७८ वर्षो के विशाल अध्ययन एवं अनुभव से उन्होंने देखा कि भारतीय सनातन धर्म जो सार्वभौम मानवीय धर्म है विभिन्न कुसंस्कारो एवं अंधविश्वासों से आवृत्त हो गया है । फलतः एक ही हिन्दुसम्प्रदाय अनेक रूपों में विखंडित हो गया । कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने को शाक्त कहते थे तो कोई शैव, कोई गाणपल्य तो कोई सौर । कोई अपने को वैष्णव कहते हुये भी रामोपासक कहते थे तो कोई कृष्णोपासक आदि आदि । ये सभी अपने अपने देवों को सर्वोपरि मानने के संदर्भ में एक दूसरे के कट्टर दुश्मन बन रहे थे । मौका पाकर मुगल बादशाह अकबर ने अपने नवीन धर्म दीन ए इलाही का महीन जाल भी बुनना शुरू कर दिया था । साम्प्रदायवाद की इन पोंगापंथी विचारधाराओं ने सनातन धर्म के स्वरूप को धूमावृत्त कर दिया था।

महान संत कबीर ने विशुद्ध आध्यात्मिक धरातल से अपनी सीधे और सपाट उपदेशों के द्वारा इन जातिगत एवं धार्मिक विरोधों को पाटना चाहा । किन्तु जनमानस उन उपदेशों को अपने अपने जीवन में आत्मसात न कर सका । भौतिक समस्याओं से उत्पन्न विषमताओं के आध्यात्मिक समाधान को जनमानस अंगीकार न कर सका।

गोस्वामीजी ने देखा कि कितना भी उपदेश दिया जाय, जन मानस आध्यात्मिक जगत् का दर्शन तब तक नहीं कर सकता जबतक सांसारिक जीवन में सुख और शांति न हो । इसके बिना बुद्धि में निर्मलता नहीं आ सकती । भौतिक विषमता से राग, रोष, ईर्ष्या, द्वेष, दंभ, कपट, पाखंड, चिन्ता आदि दोष उत्पन्न होते हैं और इन विकारों से भरे हृदय में बुद्धि की निर्मलत कैसे हो सकती है । "निज सुख बिनु मन होइ न धीरा । परस की हाई विहीन समीरा ।" बुद्धि और विचार वस्तुगत होते हैं । भौतिक विषमताओं के इस भीषण ऊहापोह में पडी मानवता कभी अध्यात्म मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकती । सुख और शांति तो मन में बसती है । मन जिसका अशांत है वह महल में रहे या झोपडी में रहे या पहाड की गुफा में रहे परिवार में रहे या वन में रहे उसका मन सदा अशांत ही रहेगा ।

वस्तुस्थिति में जब संतुलन हो तो विचारों में प्रायः स्थिरता होती है । बिना वस्तुगत साम्य के विचारों में साम्य आना जीवन के स्वाभाविक प्रवाह के विरुद्ध चलना है जो समाज से अलग रहकर पूर्ण निवृत्ति मार्ग की स्थापना में ही संभव है । कहा है कि संत तुलसी ने केवल सार्वभौम मानव धर्म और भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता की प्रस्थापना ही नहीं बल्कि गीता-युग से लेकर गाँधी-युग तक के समस्त धर्म सुधारकों की सारी मान्यताओं को अपने में आत्मसात किया है । गीता का आसक्तिरहित कर्मयोग, बौद्धों और जैनों का अहिंसावाद, शंकराचार्य का अद्वैतवाद, रामानजुज का विशिष्टाद्वैतवाद, वल्लभाचार्य की बालरूप की उपासना, चैतन्य महाप्रभु का अनन्य प्रेम, गाँधी की सत्य, अहिंसा और लोकनिष्ठा आदि सभी का समावेश इन्होंने अपने रामचरित मानस में किया । "आध्यात्मिक और भौतिक जगत् के चरम सत्य को एक विन्दु पर खडा करके अध्यात्म और विज्ञान को एक दूसरे का पूरक सिद्ध किया । जड प्रकृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और व्यापक ब्रह्म दोनों को एक ही परमात्मा का प्रतिरूप बतलाकर लौकिक व्यवहार में भी परमात्मा भाव की उत्कृष्टता प्रस्थापित की । व्यवहार में सभी रूपों में परमात्म दृष्टि होने से आपसी वैमनस्य स्वतः समाप्त हो जायेगा एवं संसार के प्रति सेवा और परोपकार की भावना प्रस्फुटित होगी । यह विश्वकल्याण का मार्ग प्रशस्त करेगा व्यवहार में । परमात्मा जब प्रकृति का चादर ओढ लेता है तो व्यापक ब्रह्म कहलाता है तथा प्रकृति की माया के आवरण से अपने को ढँक लेने पर सगुण साकार हो जाता है । इस प्रकार व्याप्य प्रकृति और व्यापक ब्रह्म दोनों का जो अधिष्ठान है वह परमात्मा है।

व्यापक व्याप्य अखंड अनंता । अखिलअमोध शक्ति भगवंता ॥
प्रकृति पार प्रभु सब उरवासी । बुद्ध निरोह विरज अविनासी ॥
भगत हेतु, भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप ।
किए चरित पावन परम प्रकृत नर अनुरूप ॥

इस प्रकार संत तुलसी ने निर्गुण से लेकर सगुण साकार तक में अद्वैतवाद स्थापित करते हुये निर्गुणवादी संतों की विचारधाराओं को भी अपने में आत्मसात् किया ।

सबसे बडा विरोध तो भौतिकवाद और अध्यात्मवाद को लेकर प्रदर्शित किया जाता है । यह अत्यंत भ्रमात्मक बाते हैं । विज्ञान भौतिक जगत् अर्थात् दृश्य प्रकृति के गर्भ में प्रवेश कर सत्य की खोज करता है और पाता है कि कोई भी भौतिक पदार्थ किसी अविभाज्य ठोस परमाणु का बना नहीं है । परमाणु भी तो विद्युत् कणों का गतिशील संघटन है । अधिक संभावना है उसका भी आधार कोई चेतन शक्ति ही हो क्योंकि जड से चैतन्य का प्रादुर्भाव हो यह जँचता नहीं । फिर अन्तर्गत की यात्रा करनेवाले साधकों ने भी विभिन्न चिंतन धाराओं के द्वारा सारे जगत् का मूल अधिष्ठान सूक्ष्म चैतन्य (चिन्मय ब्रह्म) ही है जो इस प्रकृति का भी मूल कारण है ।

यह तो जगत् की सत्तात्मक स्थिति की बात हुई । इसकी गतिशीलता के संबंध में यह विचित्र बात है कि जड प्रकृति की हर वस्तुओं में जीवन है, जीवन की गतिशीलता है, परिवर्तन है, जबकि जीवन या गतिशीलनता चैतन्य का गुण है। किन्तु जड ही गतिशील है और चैतन्य स्थिर है, कूटस्थ है । पाश्चात्य वैज्ञानिक न्यूटन के गति का पहला नियम कहता है जड वस्तु अपनी ही पूर्व अवस्था में रहना चाहती है जब तक उसपर कोई बाहरी बल न लगाया जाय । संसार गतिशील है "यः संसरति सः संसाराः ।" और यह जड प्रकृति का ही दृश्य रूप है तो न्यूटन के इस जडता के सिद्धांत अनुसार संसार की गतिशीलता का कारण इस पर संचरित कोई बाहरी शक्ति है जो इस पर काम कर रही है और जिसकी वह शक्ति है उसी को हमारे आचार्यों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमात्मा कहा । उसी के किये और उसी के लिये हम मानव समाज सहित सारे भूत क्रियाशील है । यंत्रवत् किसी यंत्र के द्वारा पैदा की गयी ऊर्जा उस यंत्र के लिये नहीं बल्कि उसके प्रतिष्ठाता के उपभोग में आना ही निश्चित है, तो फिर इस शरीर यंत्र के उद्यमों से किया गया उत्पादन केवल उसी के उपभोग की वस्तु है । यह कहाँ का न्याय है ?

भौतिक संसाधनो के उपभोग में साम्य इसलिये नहीं हो पाता है कि हम अपने कथित अर्थ और बुद्धि से संग्रहित वस्तुओं को मात्र अपने उपभोग की वस्तु समझ बैठते हैं । हमारी मोहाच्छन्न बुद्धि इस ज्ञान को व्यावहारिक रूप नहीं दे पाती है । उपभोक्ता यह शरीर नहीं जीवात्मा है जो सबमें स्वरूपता एक ही है । यह सारा संसार उसके उपयोग की वस्तु है जो इसे अपनी शक्ति से संचालित करता है और हमें भी क्रियाशील करता है ।

वस्तुगत साम्य की स्थिति पैदा करने एवं रूपगत अनेकत्व में आत्मगत एकत्व स्थापित करने के लिये जगत् की ऐसी व्याख्या दी हमारें अध्यात्म ने । किन्तु दुर्भाग्य है हम मानवों का कि अध्यात्म के इस व्यावहारिक पक्ष पर विचार नहीं करके हवा महल या आकाशकुसुम की तरह इसकी उपेक्षा करते आये हैं । इसी का परिणाम है कि हमारे सारे भौतिक संसाधन एक दूसरे के शोषण और जनमानस की सुख और शांति को हरण करने का माध्यम बने हुये हैं और दूसरी ओर विश्वकल्याण का नारा भी बुलंद करते हैं हम । यह नहीं समझते हैं कि ये दोनों दो विरोधी विचारधारायें हैं ।

गोस्वामी जी ने अपनी रामकथा के माध्यम से इन सारे ज्ञानों को व्यावहारिक रूप देने की प्रक्रिया बतायी । उनके राम कहते हैं अपने भक्त हनुमान जी से कि-

सो अनन्य जाके असी मीठ न टरई हनुमंत ।
मै सेवक सचराचर रूप स्वामि भावंत ॥
आकर चारि लाख चौरासी, जाति जीवन जल थल न भवासी ।
सीय राममय सब जग किरउ प्रमाण जोरि युग पाणि ।
जानि कृपाकर किंकर मोहू । सब मिली करहूँ छाडि छल छोडू ।

अपने लंका युद्ध के सहयोगियों को अयोध्या से विदा करते समय श्री राम ने कहा-

अब गृह जाहु सखा सब भजुं मोहि दृढ नेम ।
सदा सर्वगत सर्वहित जानि करेहूँ अति प्रेम ॥

गोस्वामीजी की रामकथा में अन्यायी शासक की निंदा, आदर्शवंत प्रेम अस्पृश्यता के विरुद्ध उनके राम की आवाज और व्यवहार शोषकों और दलितों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्नयन आदि का बडे प्रभावशाली ढंग से वर्णन किया है । स्वस्थ राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में भी उनके विचार अद्वितीय हैं ।

किसी भी कार्य को करने में सामाजिक एवं व्यक्तिगत दोनों ही परिप्रेक्ष्यों पर विचार करना अनिवार्य है इन सामान्य और विशेष दोनों ही धर्मों की ऐसी व्याख्या उन्होंने दी जिससे व्यष्टि का धर्म समाष्टि के हित में समाहित होता हुआ जान पडता है और सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति और ममता को त्यागकर सभी वस्तुओं को भगवान का प्रसाद समझकर उपयोग करने का सिद्धांत उन्होंने प्रतिपादित किया । भोग बुद्धि से राक्षसत्व की प्राप्ति होती है ।

भौतिक संसाधनो के प्रति समत्व बुद्धि की संभावना की स्थिति के संदर्भ में उन्होंने रामराज्य की व्याख्या का भव्य वर्णन किया है । रामराज्य जैसी भौतिक स्थिति में बिना परिश्रम के लोग आध्यात्मिक होते थे । इसी वर्णन के साथ अपनी रामकथा का समापन भी कर दिया उन्होंने । लगता है उनके राम का उद्देश्य ही था रामराज्य जैसे आध्यात्मिक आधारभूत भव्य समाज की स्थापना जहाँ व्यष्टि पूर्णरूपेण समष्टि में समाहित हो ।

बाजार रूचिर न बनडवरनत वस्तू विनु ग्रन्थ पाइये ।
जहाँ भूपरमा निवास तह की सम्पदा किमि गाईये ।

उस राज्य में सबों के अपने अपने निर्धारित कर्म थे और उनके जीवन यापन की सारी आवश्यक वस्तुएँ बिना मूल्य बाजार में मिल जाती थीं । विनिमय का माध्यम द्रव्य नहीं श्रम था । फलतः द्रव्य संग्रह की होड थी ही नहीं । सारी व्यवस्था और उत्पादन सरकार की थी तथा आम लोगो के जीवन यापन एवं समुन्नति का सारा भार सरकार को था । इसका सबसे बडा परिणाम यह था कि

वयरू न कर काहू सन कोई । रामप्रताप विषमता खोई ॥

इस प्रकार भौतिक समस्याओं का भौतिक निदान था - रामराज्य में । सांसारिक सारे ऊहापोह मिट गये थे ।

अवधपुरी वासिन्द कर सुख सम्पदा समाज ।
हस रोष नहि कहि सकहि जह नृप राम विराज ।
दैहिक दैविक भौतिक तापा । रामराज्य काहू नहिं व्यापा ।
सब नर करहि परस्पर प्रीति । चलहिंसधर्म निरत श्रुति रीति ॥
नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहि कोउ अवध न लच्छन हीना ॥
सब गनग्य पंडित सब ज्ञानी । सब कृतज्ञ नहि कपट सयानी ॥

रामराज्य की भौतिक स्थिति जब इस प्रकार थी तो लोग स्वतः अध्यात्म की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पराकाष्ठा पर पहुँच गये थे ।

आदिशक्ति महामाया भौतिक सिद्धियों की अधिष्ठात्री देवी शांतिस्वरूपा जानकी की प्राप्ति करो (जो श्रम से ही प्रातव्य है) किन्तु इसकी प्राप्ति जनक जी की तरह पुत्री रूप में, याने सेव्यभाव से रावण की तरह भोगभाव से नहीं । जो स्वयं के भोगों में आसक्त रहेगा वह कभी विश्व कल्याण की भूमिका में योगदान न दे सकेगा । संसार में जीने का सांसारिक वस्तुओं की उपलब्धि का यही लक्ष्य है । इसी से विश्व कल्याण संभव है । जो व्यक्ति अपनी सत्ता और कल्याण का आधार समष्टि को मानकर उसके अनुरूप कार्य करेगा अर्थात् अपने को समष्टि में समाविष्ट कर देगा वही मानवत्व में ईश्वरत्व के दर्शन कर सकेगा । अपने लिये तो पशु भी जीता है । विवेकशील प्राणी मानवसृष्टि के नियमन का माध्यम है । कम से कम उसे तो जगत् के कल्याण की बात सोचनी चाहिये । अगर यह नहीं हुआ तो पशु और मानव में अंतर क्या रहा ? यह भारतीय आध्यात्म के व्यवहार की वाणी है । यही अनुपम आदर्श था राजर्षि जनक का, गुरू वशिष्ठ का, श्रीराम और श्रीकृष्ण का ।

दूसरी ओर रावण और निशाचरों की परिभाषा करते हुये गोस्वामी जी ने कहा-

परद्रोही परदार रत परधन पर अपवाद ।
ते नर पॉवर पापमय देह धरे मनुजाद ॥

गोस्वामी जी ने अपनी अनुपम चरित्र चित्रण शैली के माध्यम से एक विशिष्ट दर्शन प्रस्तुत किया जो त्रेता से भी आज के लिये प्रासंगिक और समीचीन है । रावण त्रिलोक को रुलानेवाला स्वर्ण का पुजारी, आचार में मानवताको आर्य संस्कृति का द्रोही, जिसने तीनों लोक का सोना बटोरकर अपनी सोने की लंका बनाई थी । वह सारी भौतिक शक्तियों सहित देवताओं को भी वशीभूत कर चुका था और उसी के उपभोग में ही सुख और शान्ति की इच्छा रखकर शांति स्वरूप जानकी जी का अपहरण कर लंका में प्रस्थापित करना चाहा था ।

आज भी स्वर्ण के पुजारी-नीति या अनीति किसी भी प्रकार भोगवृद्धि से अर्थसंग्रह के प्रयोजनार्थ स्वर्णमृग का प्रलोभन देकर मानव का शोषण करके अपनी लंका सोने की बनाने के प्रयास में जनमनास की शांति और सुमतिस्वरूपा जानकी का अपहरण करने में लगे हैं । जब मानस की शांति और सुमतिस्वरूपा जानकी आज स्वर्ण के पुजारियों के कारागार में कैद है और अनेकों व्यक्तिगत या संगठित एजेंसियों के रूप में ताडि सुवाहु सूर्पनखा मारीचादि अनेक घटक इसमें योगदान दे रहे हैं । विश्वरूप भगवान् को यह पता नहीं वह कहा है, किसके द्वारा हरण की गयी । आज की परिस्थिति ठीक उसी प्रकार की है । आज के स्वर्णपुजारी और जनमानस के बीच इतने घटक हैं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनकी नजर में वे अदृश्य हैं । शोषित को वास्तविक शोषणकर्ता का पता नहीं । यह पता तो स्वार्थ और अहंकार से रहित कोई परम ज्ञानी हनुमान ही लगा सकते हैं जिसे अपनी कोई इच्छा नहीं है भोगवृत्ति नहीं है एवं श्रीराम द्वारा उन्हीं उपेक्षित बंदर, भालुओं की सेना बटोरकर जिसे रावण कहता था नरपशु भालु आहार हमारा-जो उसका भोजन या अर्थात् समाज के उपेक्षित एवं शोषित वर्गों की निश्चय सेना बटोरकर रावण का विध्वंस करके विश्वशांतिस्वरूपा जानकी को पुनः लौटाया जा सका जब भौतिक सिद्धियों की अधिष्ठात्री जानकी देवी जी स्वर्ण के पुजारी रावण के कारागार से मुक्त हो सकी और रावणत्व की समाप्ति हो गयी तभी रामराज्य की स्थापना हो सकी ।

आज के भौतिक विज्ञान ने प्रकृति के गर्भ में प्रवेश कर जो भौतिक उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं निश्चय ही उनसे धरती पर स्वर्ग बसाया जा सकता है । किन्तु जबतक ये उपलब्धियाँ स्वर्ण के पुजारी मुनाफाखोरों के कारागार में कैद हैं और उनके अर्थसंग्रह का माध्यम बना है तबतक वे उपलब्धियाँ क्या विश्वकल्याण करने में सक्षम है । भौतिक उपलब्धियाँ ही धरती पर स्वर्ण उतार सकती है किन्तु केवल तभी जब वह अध्यात्मिक नीतियों से जुडी हो । सुख और शांति यर्थाथतः वस्तुओं में नहीं आत्मा में है । यह स्पष्ट है कि अध्यात्मज्ञान से विहीन वर्गो के चंगुल में फँसे होने के कारण आज का विज्ञान जनगण के शोषण का मध्यम बनकर समग्र मानवता के लिये जीवन संकट उपस्थित कर रहा है । पता नहीं यह विकास है या विनाश ।

गोस्वामी जी का स्पष्ट दर्शन है कि पार्थिव सिद्धिरूपिणी जनकसुता जानकी जी (जो श्रम से उत्पन्न धरती की बेटी बनकर आयी) की कृपा से ही शांति और सुमति याने निर्मल बुद्धि प्राप्त हो सकती है । अपनी प्रार्थना वे उन्हीं की वन्दना से करते हैं ।

जनक सुता जग जननी जानकी । अतिशय प्रिय करुणानिवान की ।

बुद्धि की निर्मलता से ही अध्यात्मिक विचारधारा की एवं श्रीराम भक्ति की प्राप्ति होगी । श्री राम ने कहा-

निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥

जगत् और जगदीश के साथ भगवान शंकर जैसा संबंध जिसका है वही श्रीराम का सच्चा भक्त हो सकता है । जिसे अपने भोग के लिये कुछ नहीं चाहिये देवदानव, ऊँच-नीच, पापी-पुण्यात्मा में समत्व बुद्धि हो, समत्व बुद्धि से सबका हित चाहनेवाला हो, वह आसक्ति रहित व्यक्ति सारी सांसारिक विषम वस्तुओं के बीच रहकर भी अध्यात्म-जगत् का प्रमाण बन सकता है ।

"शंकर भजन बिना नर भगति न पावड मोरि ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोस्वामी जी ने अपने व्यापक अनुभव के आधार पर बताया कि भौतिक विज्ञान के द्वारा बाह्य प्रकृति के मार्ग से सत्य की खोज की जाती है और अध्यात्म विज्ञान द्वारा अंतर्गत के मार्ग से । किन्तु अलग अलग दोनों में से प्रत्येक प्रक्रिया एकांगी हो जाती है तथा कुछ दोष उत्पन्न करती है ।

अंतर्जगत् की यात्रा में इहलौकिक जीवन और जगत् की उपेक्षा होती है और केवल भौतिकाना विपुल ऐश्वर्य प्रदान करते हुये भी अनेक प्रकार से जीवन संकट उपस्थित करती है । अतः व्याप्य प्रकृति को जनकसुता जानकी और व्यापक ब्रह्म को श्रीराम के रूप में चित्रित कर दोनों को विवाह के माध्यम से एक बिन्दु पर खडा करके विश्वकल्याण की भूमिका प्रस्थापित की । यह विश्व जड और चैतन्य का संधटित रूप है । अतः इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण दोनों के समन्वित रूप की आराधना से ही संभव है । दोनों के अधिष्ठान एक ही परमात्मा है । (व्यापक व्याप्त अखंड अनंता) इसी तथ्य को प्रतिपादित करने के लिये महामाया सीता श्रम से प्रकट होकर धरती की बेटी बनी। धरती भौतिक पदार्थ है । श्रीराम यज्ञ के पायस से प्रगट हुये । यह आधिदैविक क्रिया है जिससे अध्यात्म के प्रतीक श्रीराम (ब्रह्मस्वरूप) प्रगट हुये । तात्पर्य यह है कि विश्वकल्याण तभी संभव है - सांसारिक विषमता तभी दूर हो सकती है जब अध्यात्म और भूत एक दूसरे के पूरक के रूप में ग्रहण किये जायेंगे । अध्यात्म ज्ञान से रहित भौतिकता जनकल्याण का मार्ग कभी प्रशस्त नहीं कर सकती । वह इसी प्रकार जनगण के शोषण का माध्यम बनती रहेगी और जीवन संकट उपस्थित करती रहेगी । राग, रोष, ईर्ष्या, द्वेष और विरोध का कारण बनती रहेगी या यों कहें कि स्वयं विकसित होकर मानवता के विनाश का कारण बनती रहेगी और भौतिकता से विलग अध्यात्म मात्र चिंतन का विषय बनता रहेगा, धरती पर स्वर्ग लाने में समर्थ न हो सकेगा । इस विशिष्टदर्शन का व्यावहारिक रूप अपने रामचरित्र के माध्यम से गोस्वामी जी ने उपस्थित किया । जीवन के हर क्षेत्र में समन्वयवादी विचारधारा का व्यावहारिक रूप श्रीरामकथा के चरित्रचित्रण के द्वारा उन्होंने दिया ।

डा. गौरीदत्त झा

मुरारका महाविद्यालय,
सुलतानगंज, तिलकामांझी,
भागलपुर विश्वविद्यालय,
बिहार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्यग्दर्शन का समाजदर्शन

त्रिरत्न जैनधर्मदर्शन की प्रमुख अवधारणा है । सम्यग्दर्शन को त्रिरत्न का एक अविभाज्य अंग माना गया है । यही त्रिरत्न जैनों का सर्वोच्च लक्ष्य है । प्रायः सम्यग्दर्शन से इस का प्रारंभ माना जाता है । इसे आध्यात्मिक आदर्श अथवा मानव मूल्य का परिचायक कहा जाता है । यहाँ एक स्वाभाविक एवं सहज जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इस आध्यात्मिक मूल्य का समाजदर्शन क्या हो सकता है ? इस सहज एवं स्वाभाविक जिज्ञासा का समाधान बहुत आसान नहीं है, फिर भी हमें यह अवश्य ध्यान रखना होगा कि मूल्य चाहे वह कोई भी हो जैसे - भौतिक, आर्थिक, लौकिक अथवा आध्यात्मिक -प्रत्येक का अपना कोई न कोई समाजदर्शन अवश्य होता है ।

समाजदर्शन : अर्थबोध

समाजदर्शन का शाब्दिक अर्थ निरूपित करने से पता चलता है कि यह दो शब्दों से मिलकर बना है - ''समाज'' और ''दर्शन''। अतः शाब्दिक अर्थ के अनुसार यह समाज का दर्शन है । यहाँ समाज का तात्पर्य मानव समाज से है । इस अर्थ में समाजदर्शन का बोध सम्पूर्ण मानव समाज के दर्शन में निहित माना जा सकता है । समाजदर्शन के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए मैकेन्जी के विचार हैं ।

''समाजदर्शन मानव जाति के सामाजिक संगठन की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और उस संगठन के साथ वह मानव-जीवन के सामाजिक पक्षों के महत्त्व की व्याख्या करता है । यह विशेष रूप से जीवन के मूल्यों उद्देश्यों तथा आदर्शों का अध्ययन है.....। समाजदर्शन का विशेष कार्य तथ्यों की खोज करना नहीं,क्योंकि इसे अन्य विज्ञानों से अपने तथ्य ग्रहण करने पडते हैं, परन्तु यह उनका विश्लेषण करने की चेष्टा करता है ।''[१]

मैकेन्जी की इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि समाजदर्शन आदर्श मानव-समाज के निर्माण में सहायक होने वाले अनिवार्य सार्वभौमिक और सतत क्रियाशील नियमों और आदर्शों की खोज करता है । यही नियम मानवसमाज के मूल तत्त्व होते हैं । समाजदर्शन इन्हीं मूल्यों, आदर्शों और नियमों का अध्ययन है । वस्तुतः सम्यग्दर्शन के सन्दर्भ भी आदर्शमूलक समाज निर्माण की कतिपय मान्यताओं का दिग्दर्शन कराता है । यह आध्यात्मिक पथ का वाहक होने के साथ-साथ सामाजिक प्रतिमानों को भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने साथ लेकर चलता है। यही इसका सामाजिक दर्शन है ।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

सम्यग्दर्शन एक पारिभाषिक शब्द है जो 'सम्यग्' और 'दर्शन' इन दो शब्दों से मिलकर बना है जिनका सामान्य अर्थ है यथार्थ दृष्टि । क्योंकि दर्शन दृष्टि का बोधक है जबकि सम्यग् यथार्थ अथवा सत्य शब्द का वाचक माना जाता है । इस रूप में सम्यग्दर्शन मनुष्य की सत्याभिरुचि के वाहक माने जाते हैं । यह सत्याभिरुचि तत्त्वदर्शन के साथ-साथ तत्त्वश्रद्धा के रूप में ग्रहण की जाती है । क्योंकि जैनों ने सम्यग्दर्शन को तत्त्वश्रद्धा[२], तत्त्वरुचि,[३] यथार्थ वस्तु स्वरूप निर्धारण[४] आदि विविध रूपों में वियोजित करने का प्रयास किया है ।

सम्यग्दर्शन के उपर्युक्त समस्त सन्दर्भ मात्र आध्यात्मिक अभिरुचि का ही दिग्दर्शन करते हैं । क्योंकि जैनों ने तत्त्व के रूप में जीव, अजीव जैसे तत्त्वमीमांसीय पदार्थों की ही व्याख्या करने का प्रयास किया है और उनके इस प्रयत्न में ही समाजदर्शन के बीज निहित हैं । क्योंकि इसीके आधार पर जैनों ने आत्मामा और भौतिक तत्त्वों से निर्मित जगत् की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया जो व्यक्तिगतश्रद्धा एवं व्यक्तिगतदृष्टिकोण के रूप में परिवर्तित हुआ । यही दृष्टिकोण सम्यग्दर्शन के समाजदर्शन का आधार बना ।

सम्यग्दर्शन के विविध अर्थ जैन परंपरा में किए गए हैं जो इसका ऐतिहासिक विकासक्रम है । इनपर विस्तार भय से यहाँ चिन्तन संभव नहीं है । परन्तु यहाँ हमें यह याद रखना होगा कि सम्यग्दर्शन के चाहे कितने ही अर्थ क्यों न किए गए हों, परन्तु इन सबके मूल में एक ही अर्थ है[५] मिथ्यात्व से मुक्ति और विवेकज्ञान अथवा सत्याभिरूचि का विकास । सम्यग्दर्शन का यह स्वरूप स्वयं में कल्याणकारी होते हुए अपने गर्भ में एक नवीन एवं महान् समाजदर्शन का सिद्धांत छिपाए रहता है ।

सम्यक्त्व के अंग और समाजदर्शन

सम्यक्त्व के ५ अंग माने गए हैं जिनका अपना-अपना एक समाजदर्शन है । ये ५ अंग हैं।[६] १) सम, २) संवेग ३) निर्वेद ४) अनुकम्पा और ५) आस्तिक्य ।

१) समः 'सम', 'शम' और 'श्रम'ये तीनों ही शब्द सम के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं । जैनपरंपरा में यद्यपि ये विविध अर्थों की व्याख्या करते हैं परन्तु मूलतः इनका उपयोग मानव चित्त की व्याख्या करना है । क्योंकि कभी यह मानव चित्तवृत्ति के समानुभूति की बात करता है तो कभी उन वृत्तियों के शमन अथवा शांत करने का संदेश देता है । योगशास्त्र में 'शम' शब्द कषायों के शान्त करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[७] सुख-दुःख, लाभ-हानि, आदि परिस्थितियों में समान भाव रखने वाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति समानुभूति अथवा समत्वभाव से युक्त माना जाता है । ऐसा व्यक्ति 'सम' गुण को धारणा करने वाला होता है । यह अनुकूल-प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियों में अपने विवेक को नहीं खोता है ।

सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल जैसी विषम परिस्थितियों में विवेक नहीं खोना ही 'सम' है । इस गुण का धारक व्यक्ति समाज-व्यवस्था के लिए प्रेरक बन जाता है । यही प्रेरणा इसका समाजदर्शन है ।

२) संवेग : संवेग एक प्रकार की अनुभूति है जो प्रत्येक व्यक्ति में न्यूनाधिक मात्रा में पाई जाती है । जैनों ने इसे दो भिन्न रूपों में ग्रहण किया है- क. संसार-भय[९] और ख. मोक्षाभिलाषा।[९] संसार-भय कर्मजनित दुःख के कारण उत्पन्न होता है जबकि मोक्षाभिलाषा सर्वकर्मदुःख विनाश के रूप में प्रकट होती है । मोक्षाभिलाषा ज्ञानबोध है जो यथार्थदर्शन की उपलब्धि है और मिथ्यात्व के नाश से इसका प्रादुर्भाव होता है।[१०] अतः संवेग मनुष्य को यथार्थ दृष्टिकोण प्रदान करता है । यह व्यक्ति को मिथ्यात्व के दोषों से अवगत कराता है । इस प्रकार व्यक्ति समाज को इनसे मुक्त रखने का प्रयत्न करता है । यही इसका समाजदर्शन है ।

३) निर्वेद : सभी प्रकार की अभिलाषाओं से मुक्त हो जाना अथवा इनका त्याग कर देना निर्वेद है। ''निर्वेद आकांक्षारहित अवस्था है जिसमें इन्द्रियाविषयासक्ति से विरत रहना अनिवार्य है । क्योंकि इन्द्रिय भोगाकांक्षा आसक्ति का कारण है जो प्रायः सभी प्रकार के अनर्थों को उत्पन्न करती है । यही सांसारिक प्रवृत्तियों में मनुष्य को रत रखती है । निर्वेद मनुष्य को इस प्रकार की अनर्थकारी दुःप्रवृतियों से मुक्त रखकर उसके हृदय में अनाकांक्षा की भावना का संचार करती है । तत्त्वार्थभाष्य में स्पष्टरूप से कहा गया है कि संसार, शरीर, इन्द्रियविषय भोगों से होने वाली विरक्ति ही निर्वेद है ।[१२] यह विरक्ति अनासक्ति को दृढ करती है । अनासक्ति सभी तरह के संघर्षों को मिटा सकता है । संघर्षहीनता वाली स्थिति समाज-व्यवस्था के लिए परम उपयोगी हो सकती है । यही निर्वेद का समाजदर्शन है ।

४) अनुकम्पा : अनुकंपा समाज-व्यवस्था की वह सुदृढ नींव है जिस पर मानव साम्राज्य का प्रासाद निर्मित है । मनुष्य अपने इसी गुण के कारण मानव कहलाता है । यही अनुकंपा दूसरों के दुःख, पीडा आदि को दूर करने की भावना है । पंचास्तिकाय में अनुकंपा के संबंध में कहा गया है[१३] तृषित, बुभुक्षित एवं दुःखी प्राणी को देखकर उसके दुःख से स्वयं दुःखी होना व मन में उसके उद्धार की चिन्ता करना ही अनुकंपा है । यही अनुकम्पा व्यक्ति में परस्पर सहयोग का भाव उत्पन्न करती है जो समाज-निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य है । आचार्य उमास्वाति ने इसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'[१४] का रूप दिया है । यह अनुकम्पा रूपी सम्यग्दर्शन के अंग का महान् समाजदर्शन है ।

५) **आस्तिक्य** : सम्यक्त्व का यह अंग 'सत्ता' एवं 'श्रद्धा' का वाचक है। इसके साथ ही साथ यह नैतिक मार्गों के अनुसरण का भी बोधक है । जैन परंपरा में तीर्थंकर, अरिहंत को मुख्य आराध्य माना गया है । उन्हें जिन भी कहा जाता है। इनके वचन जिनवचन के नाम से प्रसिद्ध हैं । जो सिद्धांत एवं ग्रंथों के रूप में उपलब्ध हैं । इन पर श्रद्धा करना तथा इनमें प्रतिपादित नैतिक मार्गों का अनुसरण करना आस्तिक्य है । यह मानव का कर्तव्य भी है और उत्तरदायित्व भी । क्योंकि यह मनुष्य को एक व्यवस्था, एक नियम, एक आस्था, एक सत्ता प्रदान करता है और ये सारे सन्दर्भ समाज निर्माण के लिए अपरिहार्य हैं । मानव स्वभावतः सामाजिक है और आस्तिक्यभाव मनुष्य को उसकी स्वाभाविकता से अवगत कराता है । आचार्य अकलंक ने इसे इस रूप लिखा है[१५] जीवादि पदार्थ यथायोग्य अपने स्वभाव से संयुक्त हैं, इस प्रकार की बुद्धि ही आस्तितक्यबुद्धि कहलाती है । सचमुच अस्तिक्य भाव का यह समाजदर्शन अपने आप में विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण है ।

सम्यग्दर्शन के दर्शनाचार एवं समाजदर्शन

मानव को मिथ्या अवधारणाओं से मुक्त रखना सम्यग्दर्शन का प्रधान लक्ष्य है । दर्शनाचार सम्यग्दर्शन की इस लक्ष्यापूर्ति का साधन है । इसकी कुल संख्या८ मानी गई है[१६] १. निःशंकित, २. निष्कांक्षित, ३. निर्विचिकित्सा, ४. अमूढदृष्टि, ५. उपबृंहण, ६. स्थिरीकरण, ७. वात्सल्य, ८. प्रभावना ।

१. **निःशंकित** : संशय अथवा शंका का अभाव निःशंकता है । संशय भय,द्वैत, अनास्था आदि का कारण है जो सामाजिक-व्यवस्था की मूल बाधा है। निःशंक व्यक्ति सबसे मुक्त होकर निर्भय पूर्वक जीवन में आनेवाली समस्याओं का सामना एवं समाधान करता है । जैनाचार्यों ने निःशंकता और निर्भयता को समानार्थक माना है।[१७] निःशंकता निर्भय की अवस्था के साथ-साथ श्रद्धा एवं आस्था को भी दृढ करती है । यह आस्था-सिद्धांत, धर्म, निर्णय, कर्तव्य, तत्त्व आदि अथवा सभी के प्रति मानी जा सकती है । जैन मत में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है।[१८] जनदेव के शब्द एवं उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत, तत्त्व-दर्शन आदि में शंका नहीं करना एवं वही सत्य है ऐसी दृढ आस्था रखना ही निःशंकता है । इन गुणों को धारणा करने वाला व्यक्ति सामाजिक प्रतिबद्धता से अपने को जोडता है और सामाजिक-व्यवस्था का निर्माण करता है । यही इसका समाजदर्शन है ।

२. **निष्कांक्षित** : कामना अथवा इच्छाओं का त्याग ही निष्कांक्षता है । यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राग-द्वेष के मूल जनक हैं । इन्हीं के कारण व्यक्ति 'स्व' के प्रति आग्रह रखता है। यही मानव की स्वआग्रह वृत्ति सामाजिक-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देती है । निष्कांक्षित व्यक्ति इस प्रकार के दोषों से अपने को मुक्त रखता है । वह अपने को अनाग्रही बनाता है। क्योंकि निष्कांक्षी बनने कि लिए अनाग्रही दृष्टि का आलम्बन अनिवार्य है ।[१९] इसके अभाव में न तो व्यक्ति अपने राग-द्वेष से मुक्त हो सकता है और न ही दूसरों के मतों को आदर दे सकता है । सामाजिक-व्यवस्था हेतु ये अनिवार्य हैं । निष्कांक्षित व्यक्ति अपनी आत्मकेन्द्रित साधना के द्वारा इस दिशा में अग्रसर होता है । वह लौकिक एवं पारलौकिक कामनाओं को त्यागकर अनासक्त भाव से अपनी साधना में रत रहता है[२०] और समाज-दर्शन के महत्त्व को एक नया आयाम प्रदान करता है ।

३. निर्विचिकित्सा : जैनपरंपरा में निर्विचिकित्सा के दो अर्थ मिलते हैं[२१]- (क) मतिविभ्रम अथवा अस्थिर वृत्ति का परित्याग एवं (ख) आंतरिक गुणों की श्रेष्ठता में आस्था। नैतिक क्रिया के प्रति अथवा उसके फल के प्रति शंका रखना विचिकित्सा है । इसके विपरीत नैतिक क्रिया को श्रेष्ठ धर्म मानकर इसके परिणाम को शुभ समझना ही निर्विचिकित्सा है । बाह्य स्थिति को क्षणभंगुर समझकर मनुष्य में पाए जानेवाले आंतरिक गुणों - दया,अनुकम्पा आदि के प्रति प्रीतिभाव रखना निर्विचिकित्सा है । ये दोनों ही अवस्थाएँ समाज-व्यवस्था के लिए अनिवार्य हैं और यही इसका समाजदर्शन है ।

४) अमूढदृष्टि : ज्ञान-अज्ञान, मूढता-अमूढता जैसे विपरीत भाव मनुष्य को हेय-उपादेय, योग्य-अयोग्य जैसे निर्णायक अवस्था से विचलित करते हैं । लेकिन अमूढदृष्टि मनुष्य को वह क्षमता प्रदान करती है जिसके आधार पर वह मिथ्यामार्गों को युक्तिहीन समझकर उनमें मुग्ध नहीं होता ।[२२] प्रायः व्यक्ति तीन प्रकार की मूढता के कारण अपने सन्मार्ग से भटकता है[२३] देवमूढता, लोकमूढता और समयमूढता । साधना के लिए किसे आदर्श माना जाए ? उपास्य बनने की क्षमता किस में है ऐसे निर्णायक ज्ञान का अभाव देवमूढता है । लोकप्रवाह और रूढियों का अंधानुकरण लोकमूढता है। समय, सिद्धांत और शास्त्र के सम्यक् ज्ञान का अभाव समयमूढता है । इनके अभाव में व्यक्ति गलत उपास्य, आदर्श, रूढियों एवं सिद्धांतों को अपनाने लगता है। यह परिस्थिति समाज-व्यवस्था के लिए अत्यंत घातक है । अमूढदृष्टि इन सबसे विरत होकर एक सुव्यवस्थित समाज का निर्माण करता है। यही इसका समाजदर्शन है ।

५) उपबृंहण : सम्यक् आचरण को धारण किए हुए व्यक्तियों की प्रशंसा करना एवं उन्हें दिशा में आगे बढाने का प्रयत्न उपबृंहण कहलाता है । सम्यक् आचरण से तात्पर्य समीचीन गुणों को अपनाने से है । समीचीन गुण आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ व्यक्ति का व्यक्ति में नैतिक आदर्श का भाव भी उत्पन्न करती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक-व्यवस्था के चक्र को गतिमान रखने के लिए नैतिक आदर्श अनिवार्य है । क्योंकि इसके अभाव में समाज-व्यवस्था की कल्पना ही नहीं की जा सकती है । यही कारण है कि जैनों ने समीचीन गुणों की प्रशंसा एवं उनको बढाने को उपबृंहण कहा है और इसे समाज-व्यवस्था के लिए महत्त्वपूर्ण माना है ।[२४] यह जैनों के समाजदर्शन का आध्यात्मिक रूप है जो इसका वैशिष्ट्य है।

६) स्थिरीकरण : पथभ्रष्ट अथवा धर्मभ्रष्ट को पुनः सन्मार्ग पर लाना स्थिरीकरण है ।[२५] मनुष्य के समक्ष कभी-कभी ऐसे प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं कि उसे अपने धर्ममार्ग से च्युत होना पडता है । एक बार धर्ममार्ग से पतित हो जाने पर अपने आपको पुनः इस मार्ग की ओर अग्रसर नहीं होने देना अत्यंत कठिन कार्य है । सामाजिक जीवन में मनुष्य के समक्ष अनेकों बार ऐसे प्रसंग उपस्थित होते रहते हैं जहाँ सन्मार्ग से पतित होना पडता है । व्यक्ति अगर चाहे तो प्रत्येक ऐसे प्रसंग पर अपने मार्ग से भटक सकता है । प्रायः यह परिस्थिति समाज के लिए अच्छी नहीं मानी जा सकती । स्थिरीकरण की अवधारणा वस्तुतः इसी मत का समर्थन करती है । यह मनुष्य को पथभ्रष्ट होने से रोकती है उस दिशा में बार-बार अनुगति करने का समर्थन नहीं करती । इस प्रकार यह एक सम्यक् समाज-व्यवस्था के निर्माण का समाजदर्शन प्रस्तुत करती है ।

७) वात्सल्य : धर्माचरण में प्रवृत्त गुणशील व्यक्ति के प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार एवं प्रेमभाव रखना वात्सल्य है । इस भाव से युक्त व्यक्ति के प्रेम, सौहार्द एवं व्यवहार में दिखावा नहीं होता । यह ऐसे व्यक्ति के हृदय में उपजा स्फूर्त प्रीतिभाव है जो निरंतर गतिमान रहता है । क्योंकि इसमें समर्पण और प्रपत्ति का भाव रहता है । वात्सल्य का प्रतीक गाय और बछडे का प्रेम है ।[२६] जिस प्रकार गाय बिना किसी प्रतिफल की अपेक्षा के बछडे को संकट में देखकर अपने प्राणों की परवाह किए बिना उसकी रक्षा करती है, उसी प्रकार वात्सल्यभाव से युक्त सम्यक्दृष्टि साधक भी अन्य व्यक्तियों के सहयोग और सहकार के लिए सभी तरह के प्रयत्न के लिए तत्पर रहते हैं । वात्सल्य का यह भाव सामाजिक भावना का केन्द्रीय तत्त्व है जो समाजदर्शन के रूप में निःसृत होता है ।

८) प्रभावना : धर्म-कथादि के द्वारा धर्म-तीर्थ को ख्यापित करना, उसका प्रचार करना, उसकी प्रसिद्धी का बखान करना ही प्रभावना है ।[२७] प्रभावना की यह प्रवृत्ति-प्रवचन, धर्मकथा, वाद, नैमित्तिक कर्म, तप, विद्या, व्रत-ग्रहण, कवित्व शक्ति इन आठ अंगों द्वारा प्रवर्तित होती है ।[२८] यद्यापि प्रभावना की इस क्रिया द्वारा किसी धार्मिक तीर्थस्थल को महिमा का गुणगान मात्र ही किया जाना समझा जा सकता है, लेकिन वस्तुतः यही एकमात्र सत्य नहीं है । क्योंकि इस प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति के मन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सदाचरण की प्रवृत्ति का जागरण तो होता ही है साथ ही साथ उस क्षेत्र विशेष की भौगोलिक, सांस्कृतिक, व्यापारिक एवं इसी तरह के अन्यान्य महत्त्वपूर्ण घटकों पर भी प्रकाश डाला जाता है । व्रतादि का जीवन में क्या महत्त्व है वह देवों के गुणों को आधार बनाकर तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है । ये सारे प्रक्रम मनुष्य के मन में कल्याणकारी भाव को पुष्ट करते हैं जो आदर्श समाज-व्यवस्था के निर्माण में परम उपयोग सिद्ध होते हैं । सचमुच प्रभावना का यह समाज दर्शन सम्यग्दर्शन का एक उज्ज्वल पक्ष है जो प्रशंसनीय होने के साथ-साथ ग्रहणीय भी है ।

उपर्युक्त चिन्तन के आधार पर सम्यग्दर्शन जैसी आध्यात्मिक अवधारणा के समाजदर्शन को समझा जा सकता है । जो मानव कल्याण के विविध रूपों में विवेचित है ।

प्रवक्ता, **डा. रञ्जन कुमार**
पार्श्वनाथ विद्यापीठ,
आइ. टी. आइ. रोड,
करौंदी, वाराणसी

टिप्पणियाँ

१. अजित कुमार सिन्हा (अनुवादक): **समाजदर्शन की रूपरेखा**, पृ. २
२. तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । १/२, **तत्त्वार्थसूत्र**, विवेचक : पं. सुखलाल संघवी, बनारस १९७६
३. **विशेषावश्यकभाष्य**, १७८७-९०, हर्षचन्द भूराभाई,बनारस, संवत् २४४१
४. यथा अद्योऽवस्थितयैवावगच्छतीट्यर्थः। १/२/१/१९/४, **राजवार्तिकम**, काशी
५. **अभिधान राजेन्द्र कोश**, खण्ड (५),पृ. २४२५
६. शम-संवेग-निर्वेदानुकम्पांस्तिक्य लक्षणम् सम्यक्त्वं । १/१/१९३, **त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र**, भावनगर, वि.सं. १९६१
७. शमः कषायेन्द्रियजयः । **योगशास्त्र** (स्वविवरण), भावनगर १९२६
८. संसारदुःखान्नित्यभीरूता संवेगः । ६/२४, **सर्वार्थसिद्धिः**, काशी १९५५
९. संवेगोभोगोभिलाषाः । ५७, **दशवैकालिक निर्युक्ति (हरिभद्वृत्ति)**, बम्बई, १९१८
१०. **उत्तराध्ययनसूत्र**, ९/१, आगरा १९७२
११. त्यागः सर्वाभिभाषस्य निर्वेदो लक्षणा । २/४४३, **पंचाध्यायी**, वाराणसी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीनि-२४७६

१२. निर्वेदो निर्विण्णता शरीर-भोग-संसार विषयवैमुख्यमुद्वेगः। ७/७ **तत्त्वार्थभाष्य-वृत्ति**, बम्बई, वि. सं. १९८६

१३. तिसिदं बुभुक्खिदं वादुहिदं दट्ठण जो दु दुहिदमणो । पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥ १३५, **पंचास्तिकाय**, बम्बई वि. सं. १९७

१४. **तत्त्वार्थसूत्र**, ५/२१

१५. जीवोदयोऽर्थो यथास्वं भावैः सन्तीति मतिरास्तिकथम् । १/२/३० **तत्त्वार्थवार्तिकम**, काशी १९५

१६. निस्संकिय, निस्कंखिय निखितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य । उववूह थिरीकरणे वच्छल प्रभावणे अट्ठ ॥ २८/३१, **उत्तराध्ययनसूत्र**

१७. **मूलाचार**, २/५२-५३, नई दिल्ली १९८४

१८. आर्हते प्रवचने निर्गता शङ्का देश-सर्वरूपा यस्य स निःशङ्का । तदेव सत्यं निःशङ्क यज्जिनैः प्रवेदितम् इत्येवं कृताध्यवसायः।(२, ७, ६९, पृ. १६१, **सूत्रकृतांग (शीलांकवृत्ति)**, बम्बई १९५३

१९. एकान्तवाददूषित..... । २४, **पुरुषार्थसिद्धयुपाय**, अगास वि.सं. २०२२

२०. इहपरलोकभोगोपभोगकांक्षारहितं निःकांक्षित्वम् ॥ ६/२४ **तत्त्वार्थवृत्ति**

२१. शरीरदौ शुचीति मिथ्यासंकल्परहितत्वं निर्विचिकित्सता । ...शरीरमलदर्शनादौ निःशूकत्वं.... निर्विचिकित्सता । ७७ टीका, **भावप्राभृत**, बम्बई, वि. सं. १९७७

२२. **तत्त्वार्थवार्तिक**, ६/२४/१, काशी १९५३

२३. **अनगार धर्मामृत**, २/१०३, बम्बई १९२४

२४. उपबृहंण नाम समानधार्मिकाणां सद्गुणप्रशंसनेन तद्वृद्धिकारणम् । ३/१८२ **दशवैकालिक (हरिभद्वृत्ति)**, बम्बई १९१८

२५. ...ठिदिकरणेण जुढो सम्मादिट्ठि मुणेदव्वो । २५२, **समयप्राभृत**, काशी १९१५

२६. धेनुः स्ववत्स इव रागरसादभीक्ष्णं.... । २/१०७, **अनगार धर्मामृत**

२७. प्रभावना धर्मकथादिभिस्तीर्थख्यापना.... । १८२, पृ. १०३, **दशवैकालिकनिर्युक्ति (हरिभद्रवृत्ति)**, बम्बई १९१८

२८. प्रभाव्यते मार्गोऽनयेति प्रभावना वाद-पूजा-दान-व्याख्यान-मंत्र-तंत्रादिभिः..। ५-४, **मूलाचारवृत्ति**,बम्बई, वि. सं. १९७७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक न्याय : स्वरूप, सीमा और सफल संचालन की शर्तें

सामाजिक न्याय, न्याय का एक प्रकार है, यह कहना बडा ही हल्का और एक ही बात को दुहराने-जैसा लगता है । किन्तु यह उतना हल्का नहीं है जितना कि दिखता है क्योंकि इसमें निहित अर्थ बडा ही महत्त्वपूर्ण है । न्याय का भागी और भोगी, सारा समाज, समाज के सभी व्यक्ति होते हैं । किसी भी समाज के किसी खास समुदाय या व्यक्ति के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि न्याय की प्रक्रिया, या उसके सम्यक् रूप में संचालन, में उस व्यक्ति या समुदाय की भूमिका अपेक्षित होने पर भी, उसका उसमें भाग लेना, उसके वितरण में अपनी प्रासंगिक भागीदारी निभाना, उसका कर्तव्य नहीं है। इसी तरह यह भी नहीं कहा जा सकता कि कोई व्यक्ति या समुदाय न्याय का भोगी नहीं हो सकता, अर्थात् यह कि न्याय भोगने का, पाने का, वह अधिकारी नहीं है । हर व्यक्ति हर एक स्थिति में न्याय करने या पाने का अधिकारी नहीं होता, किन्तु कोई भी व्यक्ति हर एक स्थिति में न्याय करने या पाने का अधिकारी भी नहीं होता । किसी न किसी स्थिति में हर एक व्यक्ति या समुदाय न्याय करने या पाने का अधिकारी होता है । यही कहना इस वाक्य का आशय है कि कोई भी व्यक्ति न्याय-प्रक्रिया के दायरे के बाहर नहीं है, हालाँकि दो व्यक्तियों या समुदायों के दायरे अलग-अलग हो सकते हैं । एक परीक्षार्थी परीक्षक से, पूर्णतः सही उत्तर देने पर पूर्ण अंक पाने का अधिकारी, या पूर्ण अंक दिये जाने के न्याय का भोगी, होने का अधिकारी है और ऐसा न्याय करने के लिए, उचित अंक देने की न्याय-प्रक्रिया में अपना कर्तव्य निभाने के लिए, उसका परीक्षक उत्तरदायी है । किसी भी परीक्षक को यह नहीं कहा जा सकता कि अंकों के आवंटन में न्याय करने के लिए वह बाध्य नहीं है या किसी परीक्षार्थी को कि पूर्णतः सही उत्तर देने पर पूर्ण अंक पाने की अधिकारी, या पूर्ण अंक दिये जाने के न्याय का भोगी, होने का अधिकारी है और पाने का अधिकारी, या पूर्ण अंक दिये जाने के न्याय का भोगी, होने का अधिकारी है और ऐसा न्याय करने के लिए, उचित अंक देने का न्याय-प्रक्रिया में अपना कर्तव्य निभाने के लिए उसका परीक्षक उत्तरदायी है । किसी भी परीक्षक को यह नहीं कहा जा सकता कि अंकों के आवंटन में न्याय करने के लिए वह वाध्य नहीं है या किसी परीक्षार्थी को कि पूर्णतः सही उत्तर देने पर पूर्ण अंक पाने की न्याययुक्त माँग करने का वह अधिकारी नहीं है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक न्याय पाने का, उसकी भोगने का, अधिकार समाज के हर व्यक्ति को है और सामाजिक न्याय करने का दायित्व, सामाजिक न्याय करने की प्रक्रिया में अपनी हिस्सेदारी निभाने का दायित्व, भी हर व्यक्ति पर है, यदि उस स्थितिविशेष में उसकी हिस्सेदारी अपेक्षित है । जैसे, पूर्ण अंक दिये जाने की प्रक्रिया में प्रधान परीक्षक की भागीदारी अपेक्षित है किन्तु विद्यालय के प्रधान शिक्षक की नहीं । पूर्ण अंक पाने की न्यायोचित माँग करने का अधिकारी पूर्णतः सही उत्तर देनेवाला परीक्षार्थी है, अंशतः सही उत्तर देनेवाला नहीं ।

सामाजिक न्याय को न्याय कहने में एक और महत्त्वपूर्ण अर्थ छिपा हुआ है । वह यह है कि न्याय की प्रक्रिया के संचालन में कोई अन्याय नहीं होना चाहिए । यदि किसी के प्रति न्याय करने में किसी अन्य के प्रति अन्याय करनां पडे या हो जाय, तो पहले के प्रति किया गया न्याय भी शुद्ध, सम्यक्, अमिश्रित, या खांटी, न्याय न रह जाएगा । ऐसी स्थिति यदि आ जाय तो न्यायतंत्र में सुधार करने की आवश्यकता को सूचित करेगी । वह तंत्र जो एक के प्रति न्याय करने में किसी दूसरे के प्रति अन्याय करने को ठीक कहे, या बाध्य हो जाय, अन्यायपूर्ण कहा जाएगा । सामाजिक न्याय का वह संप्रत्यय भी दोषपूर्ण कहा जायगा जो किसी एक वे संदर्भ उसके प्रयोग करने में किसी और के लिए अन्याय करने को बाध्य करे ।

न्याय कहने में एक तीसरा अर्थ भी शामिल है । न्याय का विचार ही मनमानेपन का विरोधी है । यह कहना कि अमुक कार्य न्यायपूर्ण है, न्यायोचित है, क्योंकि ऐसे मैंने किया है या ऐसे मैं न्यायोचित मानता हूँ, आत्मविरोधी या असंगत है । यह न्याय है, ऐसा तभी कहा जा सकता है जब उसे न्याय या न्यायेचित कहने के लिए वस्तुनिष्ठ, व्यक्तिनिरपेक्ष, तर्क पर आधारित, कारण दिये जा सकें । मनमाने तरीके किसी कार्य को न्यायोचित या न्यायसम्मत नहीं कहा जा सकता । मनमानेपन का विरोधी होने से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि यदि किसी व्यक्ति के विषय में किया गया कोई कार्य न्यायपूर्ण है तो उसी के समझकक्ष, उसी के समान, किसी अन्य व्यक्ति के प्रति भी वैसा करना न्यायोचित होगा । यदि एक विशेष प्रकार का उत्तर देने पर पूर्ण अंक प्राप्त करने का न्यायपूर्ण अधिकारी है, तो यह कहना कि ख, वैसा ही, उसी स्तर का, उत्तर देने पर भी पूर्ण अंक का अधिकारी नहीं है, अन्यायपूर्ण, असंगत, होगा । ख को पूर्ण अंक प्राप्त करने का अनधिकारी तभी कहा जा सकता है जब उसका उत्तर प्रासंगिक रूप में क के उत्तर से भिन्न होगा । उदाहरण के लिए उसके उत्तर में क के उत्तर से अधिक गल्तियों का होना प्रासंगिक होगा । किन्तु चौकोर कागज के बजाय तिकोने कागज पर लिखा जाना,या ख का किसी अमुक जाति का होना, क की जाति से भिन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाति का होना, अप्रासंगिक होगा । तात्पर्य यह कि दो व्यक्तियों या समुदायों के अधिकारों में न्यायपूर्ण ढंग से भेद तभी किया जा सकता है जब दोनों किसी न किसी प्रासंगिक अर्थ में एक-दूसरे से भिन्न हों । प्रासंगिक भिन्नता संदर्भविशेष या कार्यविशेष पर आधारित रहती है । परीक्षार्थी के उत्तर के मूल्यांकन के संदर्भ में उसके उत्तर में गलतियों की मात्रा या संख्या प्रासंगिक है, किस प्रकार के कागज पर वह लिखा गया है, या उत्तर देनेवाला किस जाति का है, अप्रासंगिक है ।

न्याय की प्रक्रिया सदा किसी व्यक्ति या समुदाय को उसका देय, प्राप्तव्य, अधिकार, दिलाने के लिए, या उसकी रक्षा के लिए, होती है और इसके मूल में यह भावना रहती है कि ऐसा करने से उस व्यक्ति के, और अन्ततोगत्वा जनता के, सुख या कल्याण की वृद्धि या रक्षा होगी, भले ही तत्काल, ऐसा न हो, या केवल उस व्यक्ति या उस समुदाय के ही सुख को वृद्धि या रक्षा हो, या किसी के दुःख की ही वृद्धि हो । उदाहरण के लिए गलत उत्तर देने पर किसी विद्यार्थी को फेल करने पर उसके दुःख की वृद्धि हो सकती है, किन्तु ऐसा करने के भावना यही है कि अंततोगत्वा इससे विद्यार्थियों का लाभ ही होगा; केवल अन्य विद्यार्थियों का ही नहीं बल्कि फेल किये जानेवाले का भी क्योंकि भविष्य में गलतियाँ न करे, इसके लिए वह अपनी योग्यता बढाने का प्रयत्न करेगा । न्याय पाना, अधिक गलतियाँ करने पर फेल होना,कोई गल्ती न करने पर पूर्ण अंक पाना, किसी भी परीक्षार्थी का अधिकार है और इस अधिकार को उसे प्राप्त कराना परीक्षातंत्र के लिए न्याय करना है । किसी के प्रति न्याय करना उससे या किसी अन्य से बदला लेना, उसे नीचा दिखाना, उसके व्यक्तित्व का, उसकी अहम् भावना का, अपमान करना नहीं है । अत्याधिक गलतियाँ करनेवाले विद्यार्थी को फेल करना उसके अहंकार को, उसके अन्दर के 'मैं' को झकझोर कर जगाना है, उसका अपमान करना नहीं । बल्कि गलतियाँ करने पर भी उसे पूर्ण अंक देना उसके 'में' को छोटा बनाना है क्योंकि ऐसा करना यही जतलाता है कि जो तुम्हें दिया जा रहा है उसके अधिकारी तुम नहीं थे, उसके वास्तविक अधिकारी से तुम बहुत-बहुत छोटे, नीचे, हो । और, यदि बार-बार यही होता रहा तो यह भी संभव है कि वह विद्यार्थी आत्मविश्वास, अपनी शक्ति में विश्वास, सदा के लिए खो दे । यह बात न्याय के रूप में सुखद परिणाम उत्पन्न करने के विषय में भी सत्य है । सही उत्तर देने पर किसी विद्यार्थी को पूर्ण अंक देना उसे दान देना या भीख देना नहीं है बल्कि उसको उसका अधिकार देना है, उसके अन्दर के 'मैं' को सम्मान देना है । ऐसा करने पर ही न्याय की प्रक्रिया समुचित रूप में सम्पन्न की जाती है । यदि न्याय करने की प्रक्रिया में न्याय पानेवाले के व्यक्तित्व की, उसके ? होने की भावना की, अवमानना हो गई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो, तो वह प्रक्रिया दूषित हो गई । न्याय, दण्ड या पुरस्कार, किसी का वितरण इस रूप में होना चाहिए कि उसे पानेवाले के व्यक्तित्व, उसके अन्दर विद्यमान आत्म-सन्मान, आत्म-विश्वास, की भावना कमजोर या नष्ट न होने पावे । यदि वह भावना क्षीण या नष्ट हो गई तो न्याय का भोगी अपने को ऊपर नहीं उठा पायेगा, अपना सर ऊँचा करके नहीं चल पायेगा जिससे अन्ततः समाज का विकास बोधित या धीमा पड जाएगा । न्यायानुकूल कार्य को प्रतिशोध या उपकार के रूप में दिखलानेवाले नेता या प्रशासक न्याय के भोगी के आत्मविश्वास को दुर्बल या नष्ट कर समाज का बहुत बडा उपकार करते हैं । यह तत्काल भले ही न दीख पडे, अन्ततः तो इसका परिणाम समाज से विकास का बाधक या घातक अवश्य ही होता है ।

सामाजिक न्याय को न्याय इसीलिए मैंने कहा कि न्याय या न्याय का एक प्रकार होने मात्र से ऊपर जो बातें न्याय के विषय में कही गई हैं वे इसके विषय में भी सत्य हैं। तात्पर्य यह है कि सामाजिक न्याय का भागी और भोगी सभी व्यक्ति होते हैं । न्याय करने की स्थिति में होने पर, न्याय के निर्णायक की कुर्सी पर बैठने पर, मैं नहीं कह सकता कि दो दावेदारों में उसी के प्रति न्याय करना मेरा कर्तव्य है जो एक विशेष जाति या वर्ग का है, दूसरे के प्रति नहीं । उसी प्रकार, सामाजिक न्याय का अधिकारी भी सभी व्यक्ति होते हैं, केवल कोई विशेष जाति या वर्ग के नहीं । सामाजिक न्याय के वितरण में, किसी को सामाजिक न्याय देने में, किसी अन्य के प्रति अन्याय करना या अन्याय का हो जाना, उतना ही अनुचित है जितना न्याय के अन्य क्षेत्रों में । सामाजिक न्याय के संचालन में मनमानापन भी उतना ही न्यायघातक है जितना कि वह और जगह है । और, इस दृष्टि से किसी कार्य को सामाजिक न्याय का सूचक कहने के लिए निष्पन्न, व्यक्ति-निरपेक्ष, वर्ग-निरपेक्ष, आधार या कारण का होना अत्यंत ही आवश्यक है । अन्त में यह भी याद रखें कि सामाजिक न्याय के तहत किसी को कुछ देने, किसी से कुछ छीनने, की प्रक्रिया में पानेवाले या खोनेवाले के व्यक्तित्व को अपमानित, कुंठित, या उपेक्षित न किया जाय । व्यक्तित्व का अपमान सबसे बडा अपमान होता है और व्यक्तित्व का ह्रास सबसे बडा घाटा ।

प्रश्न है कि सामाजिक न्याय किस प्रकार का न्याय है ? वह न्याय है, इतना मात्र कह देने से न तो उसके स्पष्ट या निहित अर्थ को समझने में, न उसके महत्त्व को आँकने में, न उसकी चौहद्दी बतलाने में, न उसके समुचित आवंटन में, कोई सहायता मिल सकती है । दुर्भाग्य की बात है कि आज की स्थिति में उसकी चौहद्दी इतनी धूमिल हो गई है या कर दी गई है कि उसके द्वारा जो जो चाहता है उसे ही सामाजिक न्याय कह डालता है । राजनीतिकर्मियों या राजनीतिबाजों के हाथ में वह एक ऐसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जादू की छडी बन गई है जिसे मनचाहे ढंग से घुमाकर वह जनता के वोट और नोट, दोनों से, अपनी तिजोरी भर लेता है । उसकी चौहद्दी ठीक-ठीक नहीं खींची जाने का यह भी परिणाम है कि उसका वितरण सदा न्यायपूर्ण ढंग से नहीं हो पा रहा है । उसकी चौहद्दी, या वैचारिक रूपरेखा, स्थिर करना सैद्धान्तिक ही नहीं बल्कि व्यावहारिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है ।

संक्षेप में, अन्तिम परिभाषा के रूप में नहीं, बल्कि विवेचन, बातचीत को आगे बढाने के लिए, मैं यह कहना चाहूँगा कि सामाजिक न्याय समाज की सम्पत्ति का, उपलब्ध और उपलब्ध होनेवाले संसाधनों का, समाज द्वारा अपनाई गई या अपनाने योग्य जानेवाली नीति के अनुसार, समाज के सभी व्यक्तियों में यथायोग्य वितरण या बँटवारा करना है । समाज की सम्पत्ति, उसके संसाधन, से तात्पर्य भौतिक पदार्थों से नहीं बल्कि सभी, भौतिक-मानसिक-नैतिक-धार्मिक आदि, पदार्थों से है । समाज के द्वारा अपनाई गई या अपनाने योग्य समझी जानेवाली नीति से मेरा मतलब उससे है जिसे समाज नीति निर्धारक उसकी चौतरफी उन्नति के लिए आवश्यक समझते हैं । यह नीति उसके संविधान में स्पष्ट या सांकेतिक, व्यंजित, रूप में तथा जन-मानस में विद्यमान रहती है जिसका अंदाजा हम सामायिक साहित्य, संविधान की व्याख्याएँ, न्यायपालिका के निर्णयों, विभिन्न राजनीतिक दलों के क्रियाकलापों, जनमानस में संतोष और आक्रोश उत्पन्न करनेवाली घटनाओं, आदि से कर सकते हैं ।

ये सारी बातें आधुनिक भारतीय परिस्थिति को, उन समस्याओं को जिनसे हम सभी जूझ रहे हैं, ध्यान में रखकर कही गई हैं । यदि ये आवश्यकता से अधिक अमूर्त लगती हैं तो इसलिए कि सामाजिक न्याय और उसके यथोचित वितरण की प्रणाली के तथ्यात्मक, व्यावहारिक, विवेचन के लिए वे वैचारिक धरातल प्रस्तुत करती हैं । ऐसी धरातल या पृष्ठभूमि का वर्णन पहले अमूर्त रूप में ही हो सकता है ।

समाज द्वारा अपनाई गई नीति के बिना सामाजिक न्याय के वितरण के लिए अपेक्षित दिशा-निर्देश नहीं मिल पायगा । मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि भारतीय समाज की आधारिक नीति है, समाज के हर वर्ग के व्यक्तियों को खुशहाल बनाना । अपनी खुशहाली हासिल करने में हर व्यक्ति को स्वयं क्रियाशील होना पडता या होना चाहिए । किन्तु क्रियाशील होने के लिए कुछ शर्तों का पूरा होना जरूरी होता है, जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, सुरक्षा आदि की समुचित व्यवस्था का होना । यहीं सामाजिक न्याय की आवश्यकता आ पडती है । समाज के हर व्यक्ति को उसकी खुशहाली के लिए आवश्यक संसाधनों को उपलब्ध कराना ही सामाजिक न्याय होगा, किसी व्यक्ति या वर्ग को उन संसाधनों से वंचित करना या उनको क्षीण रूप में ही उपलब्ध कराना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक अन्याय होगा । संसाधनों की जिसकी आवश्यकता अधिक है, उसे संसाधनों को उदारतापूर्वक उपलब्ध कराना और जिसकी आवश्यकता कम है, उसे उसी के अनुपात में संसाधनों को जुटाना न्यायपूर्ण होगा । कुछ चीजें ऐसी हैं जो सबको, हर व्यक्ति को, उपलब्ध होनी चाहिए, जैसे सुरक्षा की व्यवस्था सुरक्षा पाने का अधिकारी हर व्यक्ति है । इस दृष्टि से हर व्यक्ति एक-दूसरे के समान है जिसका अर्थ है कि व्यक्ति होने के नाते, समाज का सदस्य होने के नाते, हर व्यक्ति को सुरक्षा देना समाज का कर्तव्य है । सुरक्षा पाने के लिए किसी विशेष प्रकार की योग्यता अपेक्षित नहीं है। हाँ, जिसे अपनी सुरक्षा के कुछ साधनों को जुटा पाने का सामर्थ्य है उसे उस व्यक्ति से, जो अपने आप अपनी सुरक्षा बनाए रखने में ब्रिल्कुल असमर्थ है,समाज की ओर से मिलनेवाले सुरक्षा के कम संसाधनों की आवश्यकता पडेगी । किन्तु ऐसा कोई नहीं है जिसे समाज से मिलनेवाली सुरक्षा की कोई भी आवश्यकता नहीं है । इसलिए सुरक्षा की दृष्टि से जहाँ योग्य-अयोग्य, भले-बुरे का भेद अप्रासंगिक है, सामाजिक न्याय के वितरण के लिए सभी व्यक्ति संख्यात्मक रूप में एक समान हैं । हम नहीं कह सकते कि किसी विशेष जाति के, धर्म के लोगों की सुरक्षा का दायित्व समाज या सरकार पर नहीं है । ऐसी नीति अपनाना सामाजिक अन्याय होगा ।

यह तथ्य है कि हमारे समाज में एक बहुत बडा वर्ग वैसे व्यक्तियों का है जो सभी दृष्टियों से पिछडे हैं, जिनमें गरीबी, अशिक्षा, अज्ञान, कुसंस्कार, आदि विकराल रूप में विद्यमान हैं । उनको ऊपर उठाने, उनके कल्याण के लिए किए गए कार्यों को सामाजिक न्याय अवश्य ही कहेंगे, किन्तु उनके लिए किए गए सभी प्रकार के कार्यों को नहीं । जैसे, उनके मन में यह भावना पैदा करके कि उनके लिए योग्यता-अयोग्यता, गलत-सही, कर्मठता या निष्क्रियत, उनको सौंपे गये कार्यभार को अच्छी तरह करने या टाल देने, अनुशासन या अवज्ञा, आदि के प्रश्न ही नहीं उठते, केवल पिछडे या गरीब या अमुक जाति के होने मात्र से समाज में उपलब्ध सुविधाएँ उन्हें दी जा रही हैं, उनके लिए जो भी किया जाय, वह सामाजिक न्याय नहीं होगा, क्योंकि इन कार्यों से उनके अन्दर के व्यक्ति का, मनुष्य का,उनके अहंकार का, उनके कर्तापन का, अवमूल्यन करना, उसे विकसित होने से रोकना,है । पिछडेपन से कर्तापन का, स्वाभिमान की, कर्मठता की, चेतना तो यों भी कुंठित होती है, आत्मविश्वास क्षीण हो जाता है,'मैं' सक्षम हूँ, यह भावना मिट-सी जाती है ।

कुछ पाने का अधिकारी कोई व्यक्ति अपनी निजी क्षमता के आधार पर होता है, अपने पिछडेपन के आधार पर नहीं । किन्तु भारतीय पिछडे, दलित, की स्थिति, उसका पिछडापन, थोडा भिन्न इस अर्थ में है कि जमाने से कुछ वर्ग के, जाति के.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तियों के प्रति तथाकथित ऊँचे वर्ग या जाति के कुछ लोगों द्वारा किए जानेवाले अत्याचार, अनाचार, शोषण, के फलस्वरूप वे पिछडे हो गये हैं । इसलिए बहुत अंश तक अपने पिछडेपन के लिए वे उत्तरदायी नहीं हैं बल्कि समाज का एक भाग उत्तरदायी है । यहाँ तक तो निर्विवाद है । किन्तु फिर भी किसी पिछडे वर्ग के बंधु के मन में यह विचार डालना कि उसका पिछडापन कुछ पाने के लिए पर्याप्त है, उसके पिछडेपन के मूल्य को बढाना है, उसे पिछडे बने रहने के लिए उकसाते रहना है । उसके पिछडे बने रहने में राजनीति का पेशा करनेवालों, राजनीतिक कर्मियों, के लिए लाभप्रद है क्योंकि उसे ठगकर वे उससे वोट लेते रहेंगे और पिछडे बने रहते में राजनीति का पेशा करनेवालों राजनीतिककर्मियों, के लिए लाभप्रद है क्योंकि उसे ठगकर वे उससे वोट लेते रहेंगे और पिछडे को पिछडा बनाए रहेंगे । वास्तविक सामाजिक न्याय ऐसे व्यक्तियों के प्रति हम तब करेंगे जब उनकी अपने पिछडेपन से उबरने के लिए संसाधन उपलब्ध कराते हुए उन्हें विभिन्न कार्यों के लिए रक्षता प्राप्त करने का प्रबन्ध करेंगे, किन्तु उन्हें वही दें जो उनकी दक्षता माँगती है, उचित ठहराती है, जिससे उनमें यह स्वाभिमान जगे कि मैंने जो प्राप्ति की है वह मेरी प्राप्ति है, मेरी दक्षता की कीमत है, किसी की दी हुई भीख या खैरात नहीं है । कहा जाता है कि जिस परिवार में शिक्षित होने की परम्परा सदियों से नहीं है उस परिवार की संतान स्कूल-कालेज में पहले से सुविधा प्राप्त परिवारों की संतानों की तरह परीक्षा में अच्छे अंक नहीं ला सकती । यह तर्क खोखला है क्योंकि यह वर्तमान परम्परागत विद्यालयों या विश्वविद्यालयों में प्रचलित शिक्षा प्रणाली को स्थिर, अपरिवर्तनीय, मानकर चलता है । दस या ग्यारह वर्णो में यदि एक सम्पन्न औसत, परिवार का लडका माध्यमिक शिक्षा समाप्त करता है तो उस अवधि को बढाकर दस या ग्यारह के बदले बारह या तेरह वर्ष का समय देकर, शिक्षा के भार को इनमें बाँटकर, विशेष रूप से ऐसे विद्यार्थियों को छोटे-छोटे वर्गो में बाँटकर, उनके शिक्षण में वैयक्तिक रूप से ध्यान देकर, उनकी शिक्षा को समुन्नत किया जा सकता है और शिक्षा का स्तर नीचा किये बिना उन्हें योग्य बनाया जा सकता है । शिक्षा में अधिक समय लग जाने की क्षतिपूर्ति नौकरियों में अवकाश प्राप्त होने की अवधि बढाकर की जा सकती है । किसी पिछडे परिवार के ग्रॅजुएट के ३० प्रतिशत अंक को दूसरे के ६० प्रतिशत के बराबर मानकर यदि पहले को नौकरी दे दी जाय तो या तो यह समझ बैठेगा कि अपनी योग्यता के बल पर मैं यहाँ नहीं हूँ और आजीवन हीन भावना से ग्रसित होकर दुःखी रहेगा, या योग्यता को अनावश्यक समझकर अपने कार्य में अयोग्य बना रहेगा, और अपने-जैसों को अयोग्य बने रहने का उपदेश देता रहेगा । दोनों स्थितियाँ उसके लिए, समाज के लिए, अपकारक हैं । दोनों में सामाजिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्याय के लक्ष्य समाज में खुशलाही की वृद्धि, को पूरा करने में कठिनाई बढती जाएगी। सामाजिक न्याय, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, दृष्टि मात्र से नहीं बल्कि नैतिक दृष्टि से भी करणीय है, समाज का, समाज के हर व्यक्ति का कर्तव्य है । इसका अर्थ है कि इसके सम्पादन में, सम्पन्न करने की क्रिया में, किसी नैतिक मूल्य की उपेक्षा या अवमूल्यन नहीं होना चाहिए । अपनी योग्यता के आधार पर पाई हुई सुविधा, कमाई हुई रोटी की तरह, भीख में, दया के द्वार से, पिछडेपन के, जाति या कुछ के, आधार पर मिली हुई सुविधा से अधिक सम्मानवाली, अधिक गौरव देनेवाली है । यह एक नैतिक मूल्य है जिसकी रक्षा सामाजिक न्याय के वितरण में अवश्य होनी चाहिए, क्योंकि इसको क्षीण करनेवाला सामाजिक न्याय नहीं होगा । अभी जिस रूप में सामाजिक न्याय का ढिंढोरा पीटा जाता है उससे इस मूल्य की पुष्टि नहीं हो रही है, अपितु यह भावना बढाई जा रही है कि अयोग्य होने पर भी वह पाना, जो योग्यतम को ही मिलना चाहिए, अत्याधिक गर्व का विषय है । इसका कुपरिणाम सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में दीख रहा है।

सामाजिक न्याय के वितरण में एक और खतरा है जिससे बचना आवश्यक है। चूँकि सामाजिक न्याय का सम्बन्ध सामाजिक संसाधनों के उचित वितरण से हैं और समाज के कुछ वर्गों को जमाने से ये संसाधन उपयुक्त ढंग से उपलब्ध नहीं कराये गये हैं, इन वर्गों को उन्हें उपलब्ध कराना किसी अन्य वर्ग को उन्हें उपलब्ध कराने में, कटौती किये बिना, तभी संभव हो सकता है जब संसाधनों में आवश्यक वृद्धि की जाय । वैसा तो हम कर नहीं पाए । इसलिए कहीं न कहीं कटौती करनी ही पडेगी । यहाँ खतरा यह है कि कटौती को प्रतिशोध, बदले, की दृष्टि से भी देखा जा सकता है। ऐसा होना सामाजिक खुशहाली के लिए घातक होगा क्योंकि एक बदला दूसरे बदले को जन्म देता है और अदले-बदले के क्रम में सामाजिक शान्ति और सुरक्षा घटती जाती है । इस खतरे से निबटने के लिए भी ऊपर बताये नैतिक मूल्य को पुष्ट करना आवश्यक है : किसी वर्ग के सदस्य के मन में इस भावना को उजागर करना, बलवती बनाना, कि मैं अपना अधिकार अपनी योग्यता के बल पर पा रहा हूँ, किसी से बदला लेने के क्रम में नहीं, और जिसकी सुविधाओं में कटौती होती है, उसमें इस भावना को जगाना या पुष्ट करना कि सबका सुख एक समान है, वर्तमान स्थिति में मेरा अधिकार उन्हीं सुविधाओं पर है जो औरों को भी नीचे से ऊपर उठाते हुए मुझे मिल सकता है । ऐसी भावनाओं को पनपाने के लिए, जहाँ वे हैं वहाँ उनको दृढतर करने के लिए, शिक्षा में सुधार और पेशेवर राजनीतिकर्मियों के, राजनितिक पार्टियों के, दृष्टिकोण और क्रियाकलापों में, आमूल-चूल परिवर्तन की आवश्यकता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक संस्थानों का ऐसा वितरण जिससे पिछडे वर्ग के सदस्यों को अपने को विकसित करने का पर्याप्त अवसर मिल सके और विकसित, या अपेक्षाकृत कम अविकसित, वर्गों की खुशहाली में कष्टदायी रूकावट न आए, आदर्श सामाजिक न्याय होगा । किन्तु ऐसा तभी होगा जब सम्बद्ध संसाधान पर्याप्त रूप में उपलब्ध हों । किन्तु ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है । इस आदर्श को वास्तविक बनाने की तत्परता भी नहीं दिखती है । इसलिए अभी पिछडे वर्ग के सदस्यों को ओरों से अपेक्षाकृत अधिक संसाधन उपलब्ध कराने में औरों को प्राप्त सुविधाओं में कुछ कटौती आवश्यक हो ही जाएगी। किन्तु यह कटौती उसी मात्रा में हो कि उनके सर के बाल ही कटे, सर का चमडा न कटे, या उनमें यह भावना जगा कर हो कि कटौती होने देना उनका कर्तव्य है । नहीं तो एक तरफ न्याय करने में दूसरी तरफ अन्याय हो जायगा, या वैसे परिणाम होंगे जा अन्याय करने से होते हैं । यहाँ सामाजिक खुशहाली सम्बन्धी मूल्यों का बडा ही नाजुक संतुलन स्थापित करने की आवश्यकता पडेगी जो वोट की ओर सदा नजर रखनेवाले राजनीतिबाजों से नहीं हो सकती । यहीं पर निष्पक्ष, दलबंदियों से अनछुए, गांधीजी द्वारा प्रस्तावित नैतिकता पर आश्रित राजनीति में विश्वास रखनेवाले, बुद्धिजीवियों की बौद्धिक आलोचना, ऐसी आलोचना, की आवश्यकता है जो चाबुक और मलहम, दोनों का काम करे । ऐसे लोग कम ही हैं किन्तु हैं । सामाजिक न्याय के संचालन में उसकी परीक्षा कर बार-बार यह याद दिलाने की आवश्यकता है कि इसके द्वारा कोई अन्याय न होने पाए,कहीं भी बदला लेने की प्रवृत्ति न होवे, पिछडेपन के आधार पर यों ही बिना कुछ किए, कुछ पाने की प्रवृत्ति पनपने न पावे और सुविधा प्राप्त जनों में अपनी सुविधाओं में की गई कटौती को जरूरतमंद बन्धुओं को गड्ढे से ऊपर निकालने में हाथ लगाने-जैसा मानने की भावना पुष्पित-पल्लवित करने के लिए सदा प्रयत्न किये जाते रहें । यह कार्य सामाजिक परिस्थितियों का तटस्थ, किसी भी राजनैतिक पार्टी को अनबिका, बौद्धिक निरीक्षक-परीक्षक, ही कर सकता है । ऐसा अब तक सम्यक् रूप में नहीं हो रहा है और इसलिए सामाजिक न्याय के नाम पर काफी घन खर्च होने पर भी जिनकी खुशहाली सामाजिक न्याय का एक प्रमुख या घोषित लक्ष्य है, उनकी जीवनशैली में नहीं प्रवेश कर पा रही है । इस दिशा में संवेदनशील, अ-राजनैतिक, विचारशील व्यक्ति महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं । यह भूमिका राजनीति में कूदकर, मंत्री बन जाने की नहीं बल्कि जनता के बोध को, सच्चे, नैतिक, रूप में सम्पादित सामाजिक न्याय के स्वरूप, उसकी सीमा, संचालन की पद्धति, आदि को समझने के लिए अपेक्षित बोध को सक्षम बनाने की है । बोध के सक्षम होने पर तो जनता स्वयं सामाजिक न्याय के नाम पर दी गई सुविधाओं में दूध-पानी का अन्तर कर लेगी और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलावट करनेवाली की अपना उद्धारक या सहाय्यक नहीं समझेगी । यदि बोध के साथ-साथ स्वाभिमान भी, जो बोध से जुडा हुआ है,जग पाया तो यह असंभव नहीं कि एक पिछडेवर्ग का युवक यह कहे कि मुझे ३० अंक पाने पर भी ६० अंक पानेवाले को मिलनेवाली नौकरी न दो, मुझे वे सुविधाएँ दो जिनसे में ६० या उससे भी अधिक अंश पाने का सामर्थ्य अपने में उत्पन्न कर सकूँ । किन्तु उसे समर्थ बनाने की अपेक्षित सुविधाओं को देना, समर्थ बनाने की शर्तों को पूरा करना, कठिन है, उसे बिना समर्थ बनाये ही समर्थ को मिलनेवाली जगह दे देना आज की राजनीति या प्रशासक के लिए अधिक सहज और अपने स्वार्थ के लिए अधिक लाभप्रद है । इसलिए सामाजिक न्याय के नाम पर वह उसके लिए सामर्थ्य प्राप्त करने को वस्तुतः अनावश्यक कर, ऐसा ताना-बाना रचना है कि वह अपने असामर्थ्य को, अपने पिछडेपन को, अपना अस्त्र-शस्त्र मानता रहे, बिना उससे मुक्त हुए कुछ पाकर संतुष्ट बना रहे, समर्थ बनकर स्वतंत्र निर्णय लेने में सक्षम न होवे । जो वह पाता है उसे अपने सामर्थ्य का मूल्य न मान किसी राजनीतिकर्मी या प्रशासक या सरकार दिया हुआ दान मानकर सदा-सर्वदा उसका कृतज्ञ बना रहे । इस दूषित तंत्र को तोडने के लिए, दूध-पानी को अलग करनेवाले विश्लेषण की, सपाटबयानी की, निष्पक्ष आलोचना की, आवश्यकता है । किन्तु आलोचना भी -जैसा कि लाला भगवान दीन ने कई दशकों पहले कहा था आलू-चना नहीं है जो काई भी पा ले, खा ले या किसी को खिला दे । वह सिंहनी के दूध जैसा है जो सोने के पात्र में होने पर तो अमृत और उससे भिन्न धातु के पात्र में होने पर विष बन जाता है ।

स्टेडिअम के सामने,
प्रेमचंद मार्ग, राजेन्द्रनगर,
पटना- ८०००१६ (बिहार)

प्रो. राजेन्द्र प्रसाद

■

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मित्रता : एक दार्शनिक विवेचन

मित्रता की बात चलते ही हम सभी को स्कूल-कॉलेज और विषशेकर छात्रावासों मे बिताये दिनों की याद ताजी हो जाती है जब मित्रता ही हमारे भावात्मक विश्व के केन्द्र में थी, किन्तु उसपर दार्शनिक दृष्टि स विचार करने के लिये फुर्सत कम ही थी । फिर जीवन की आपाधावी में मिले-बिछडे मित्रों का हिसाब-किताब रख पाना भी सहज नहीं होता । अनेकानेक प्रकार के भावात्मक-सामाजिक सम्बधों को जी चुकने के बाद जीवन की गोधूलि वेला में कुछ प्रश्न स्वाभाविक रूप से मन में उभरने लगते हैं । कई बार जीवन के झंझावातों से त्रस्त अकेला मन किसी करीबी मित्र से स्नेह पाकर फिर से खिल उठता है और हम जीवन में मित्रता के महत्त्व पर सोचने को विवश हो जाते है । किन्तु इस प्रश्न पर विचार करने से पहले यह जानना जरूरी है कि मित्रता किसे कहेंगे ? क्या मित्र वह है जिसके साथ हम समान जरूरतों, रुचियों, गतिविधियों में साझीदार होते हैं या वह जिन पर हम भावात्मक समझदारी, सहयोग और सहारे के लिये निर्भर करते हैं ? क्या मित्रता में प्रेम का इष्ट मित्र स्वयं होता है या उसके द्वारा मिलने वाले लाभ ? क्या मित्रता को एक नैतिक परिघटना माना जा सकता है जिनके आदर्श की उपलब्धि ही उसका पारितोषिक है या उसे सामाजिक सफलता की प्रप्ति में सहायक मात्र एक सीढी से अधिक समझना भूल होगी ? क्या आधुनिक समाज और संस्कृति में मित्रता का स्वरूप और महत्त्व वही है जो पहले था या युगानुरूप उसमें परिवर्तन आया है ? एक बेहतर समाज बनाने में मैत्री की क्या भूमिका हो सकती है ? प्रस्तुत लेख इन्हीं प्रश्नों पर विचार करने का एक छोटा सा प्रयास मात्र है ।

मित्रता को परिभाषित करना कितना कठिन है इतका अनुमान सुकरात के उस कथन से लगाया जा सकता है जिसमें वह कहता है कि यद्यपि वह दोस्तों के प्रति लगाव महसूस करता है किन्तु दोस्त की परिभाषा नहीं दे सकता । अरस्तू का प्रयास अधिक सार्थ लगता है जबकि वह कहता हैं कि मित्र अपने ही समान 'एक और आत्म' होता है जिसका साथ जीवन एक अनुपूरक विस्तार देता है, और हमारे आत्म ज्ञान, आत्म स्थापन और स्वाभिमान में वृद्धि करता है । मित्र के साथ हम समान गतिविधियों, रुचियों का आनन्द उठाते हैं, हमारे जीवन मूल्यों में आधारभूत समानता होती है हमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी पहचान और आत्म-गौरव प्रदान करती है । अरस्तू की यह अवधारणा सदियों तक परवर्ती चिन्तकों के चिन्तन को वैचारिक आधार प्रदान करती रही और कम ही विचारकों ने इस विषय पर विस्तार से विचार किया । तिसरो, रोमन विचारक, थामस एक्विनास आदि ने अरस्तू से मिलते-जुलते है विचार व्यक्त किये हैं । बेकन ने तो यहाँ तक कह दिया कि दोस्त और कुछ नही 'दूसरे तुम हो' जो तुम्हारे जाने के बाद तुम्हारे कार्यकलापों की देखभाल करेगा ।'[१] इस तरह के उपभोगितावादी विचारों को ही इस कथन द्वारा व्यक्त किया गया कि 'जो वक्त पर काम आये वही मित्र है ।' किन्तु सिसेरो[२] सहित अनेक विद्वानों का मत है कि यद्यापि मित्रता से भौतिक लाभ भी प्राप्त होते हैं किन्तु मैत्री का महत्त्व उनके कारण नहीं है । मित्र हितैषी व शुभचिन्तक होता है इसलिये उपकार की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता किन्तु मित्रों को हम रोजाना छोटी-छोटी बातों में एक दूसरे का ध्यान रखने, सुख-दुःख बाँटने के लिये ही पसन्द करते करते हैं जो मन में यह विश्वास जगाता है कि संकट के समय मित्र हमारी मदद करेंगे । सिसेरो ने ठीक ही कहा है कि मित्र हमारा ही एक माडल है जो हमें वैसा ही स्वीकार कर जैसे कि हम हैं, हमारा विश्वास करता है जिस से हमें हर समय दूसरों को प्रभावित करने के प्रयत्न से छुटकारा मिल जाता है । हम अपने मूल स्वरूप का अनुभव करके ही यह जान पाते हैं कि हम क्या है, कौन हैं जो दूसरो से पूरी तरह कट कर रहने या उनसे केवल औपचारिक सम्बध रखने से असम्भव नहीं तो अति कठिन अवश्य है । घनिष्ठ सम्बधों में ही हमारा आन्तरिक व्यक्तित्व मुखरित होता है । तभी तो अरस्तू ने मित्रता को एक श्रेष्ठ जीवन का आवश्यक अंग माना है । आत्म ज्ञान और नैतिक उन्नयन के लिये एक मित्रता महत्त्वपूर्ण आयाम हैं । एक पूर्ण मैत्री में दोनों ही पक्ष चरितार्थ होते हैं । ऐसी मित्रता श्रेष्ठ व्यक्तियों के बीच होती है जो गुणों में समान होते हैं । चूँकि वे स्वयं में श्रेष्ठ और श्रेष्ठता के उपासक होते हैं, इसलिये वे एक दूसरे के श्रेयस् की कामना उसी के लिये करते हैं ।[३] जब तक उनकी श्रेष्ठता कायम रहती है, मित्रता बनी रहती है । किन्तु सभी मित्रतायें मैत्री का उच्च आदर्श प्रस्तुत नहीं करती । इसीलिये अरस्तूने दो निम्न स्तर की मित्रताओं-जो जरूरत और उपयोगिता तथा सुख और पारस्परिक आनन्द के लिये होती हैं, की चर्चा भी की है ।[४] इनमें स्थायित्व का अभाव होता है क्योंकि इनमें दूसरे व्यक्ति के सीमित पहलुओं से ही सम्बध होता है । उपयोगिता-मैत्री तभी तक कायम रहती है जब तक मित्र एक दूसरे के लिये उपयोगी बने रहते हैं । सुख-मैत्री अधिकोंशतः युवावस्था में मौज-मस्ती पर आधारित होती है, इसलिये स्वभाव से ही अस्थाई होती है । इनके विपरीत पूर्ण मैत्री गुणों को के बीच होती है और उनके बने रहने तक स्थाई होती है । यह सम्भव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि किसी मित्रता में ये तीनों प्रकार समाये हो सकते हैं -हम अपने मित्र के लिये उपयोगी हो सकते हैं, उसके साथ आनन्द मना सकते हैं, साथ ही हम एक दूसरे को श्रेष्ठ मनुष्य बनने में मदद भी कर सकते हैं, किन्तु अरस्तू के अनुसार मैत्री का सबसे आधारभूत और महत्त्वपूर्ण पहलू सामान्य शुभ व श्रेष्ठता को बढावा देना है, उस दिशा में विकसित करना हैं। किसी को सच्चा मित्र कहना उसी ओर संकेत करना है भले ही हमारे रोजाना के सामान्य जीवन में वह उपलब्ध न हो ।

मित्रता का उपयुक्त क्लासिकी प्रारुप जिसमें नैतिक पक्ष की प्रधानता है, 'उसके वर्तमान स्वरूप से कम ही मेल खाता है । आज हम मित्रों का चुनाव परस्पर समानता और आनन्द पूर्व साहचर्य के आधार पर करते दीख पडते हैं । यह अलग बात है कि हमारे मित्र हमें अच्छा मनुष्य बनने की प्रेरणा भी दे किन्तु ऐसा हमेशा नहीं होता। सामान्यतः हम अपने मित्रों के बारे में अच्छी राय रखते हैं किन्तु ऐसा होना आवश्यक नहीं। हम अपने मित्र को उसनी नैतिक कमजोरियों के साथ भी पसन्द कर सकते हैं। वास्तव से वर्तमान परिदृष्य में जब हम दो व्यक्तियों को मित्र की संज्ञा देते हैं तो दोनों के बीच किसी नैतिक सम्बद्धता को अपरिहार्य नहीं मानते।

वास्तव में मित्रता का क्लासिकी माडल अति-सीमित और वैचारिक पूर्वाग्रह से परिपूर्ण है क्योंकि चाहे अरस्तू हो या कोई और, मूल रूप से वे आदर्श मित्रता को दो स्वतंत्र पुरुषों के बीच का ही सम्बध मानते हैं, मूले से भी वे दो नारियों के बीच ऐसे सम्बध की कल्पना नहीं करते । आत्म निर्भरता, आत्मनियंत्रण और दूसरों पर विश्वास न करने के पुरुषोचित आदर्शों की पृष्ठभूमि में मित्रता का यह प्रारुप न केवल लिंगभेद को बढाने वाला है अपितु, मैत्री में एक तनाव की सृष्टि भी करता है क्योंकि अरस्तू के अनुसार एक सच्चा मर्द भी न स्वयं मातम मनाता है और न अपने मित्र को अपने शोक में शामिल करना चाहता है क्योंकि यह महिलाओं और स्त्रैण पुरुषों की विशेषता है । जबकि आज हम मित्र के सम्मुख अपनी भावनाओं को व्यक्त करना, उन्हें बाँटना, फिर चाहे वह हमारी उपलब्धियों से पैदा खुशी हो या चिन्ताओं से उत्पन्न दुःख-चिन्तायें, मित्रता का आवश्यक तत्त्व मानते हैं, क्लासिकी प्रारुप में अंतरंगता पर इतना जोर व्यक्ति की संप्रभुता का क्षरण माना जायेगा । अतः हम कह सकते हैं कि मैत्री की क्लासिकीय समझ न केवल लिंगवादी है अपितु सामन्तवादी भी है ।

यदि मित्रता का प्राचीन माडल अपने समय के मूल्यों-आदर्शो से प्रभावित होने के कारक सार्वभौमिक नहीं कहा जा सकता तो यही बात मैत्री के बारे में वर्तमान समझ के लिये भी कही जा सकती है । ऐसे में प्रश्न उठता है कि क्या मैत्री की एक परिभाषा सम्भव है या फिर उसे एक जटिल परिघटना मानकर उसके महत्त्व को अलग-अलग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार की मित्रताओं (पुरुष-पुरुष, स्त्री-स्त्री, शिशु-शिशु, स्त्री-पुरुष आदि) के अध्ययन से समझने का प्रयास करना चाहिये ? कुछ कहने से पूर्व मैत्री के विविध रूपों का तथ्यात्मक परीक्षण आवश्यक है । साथ ही हमें स्वयं के अनुभव को भी खगालना होगा । यद्यापि मैत्री के प्राचीन और वर्तमान माडलों में काफी भिन्नता है किन्तु दोनों की तुलना से दोनों में कई समानतायें भी दिखाई देती हैं । निश्चय ही हमारा विवेचन मूल्य निरपेक्ष नहीं हो सकता क्योंकि मित्रता एक मूल्य और आदर्श भी है जो वास्तविक जीवन में उपलब्ध हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है ।

उपरोक्त स्रोतों से प्राप्त जानकारी को विश्लेषित करने से मित्रता की कुछ तात्त्विक विशेषतायें दिखाई देती हैं । इनमें पहली है बराबरी । अरस्तू ने ठीक ही कहा है कि दो व्यक्तियों के बीच गुण, उग्र, शिक्षा आदि में जितनी भिन्नता या दूरी होगी, उनके बीच मित्रता पनपना और बने रहना उतना ही कठिन होगा । श्रेणीबद्ध सम्बधों में भी शक्ति की असमानता के कारण मैत्री नहीं पनपती । जैसे माँ-बाप और उनके बच्चों के बीच मित्रता नहीं होती क्योंकि एक पक्ष के पास अपना दृष्टिकोण दूसरे पर लादने की शक्ति और क्षमता होती है, चाहे दूसरा पक्ष उससे सहमत हो न हो । हाँ, उम्र बढने के साथ धीरे-धीरे उनके बीच बराबरी आने से, दोस्ताना सम्बध पनप सकते हैं । लाभ देने वाला और लाभ प्राप्त करने वाले के बीच इसी दूरी के कारण अरस्तू मनुष्य और ईश्वर के बीच भी मैत्री सम्बध नहीं स्वीकारता, जो उचित ही है । वास्तव में अपने आदर्श रूप में मित्रता, मालिक-गुलाम सम्बध का विपरीत है । एक गुलाम से आप अपेक्षा नहीं रखते कि वह अपने स्वामी के सम्मुख अपनी हृदय की बात खुलकर कह सकेगा । यही बात मालिक के लिये भी सच है ।

बराबरी में ही जुडा हुआ दूसरा तत्त्व है परस्परता । इस का तात्पर्य दूसरे व्यक्ति को गम्भीरता से लेना है, उसके दृष्टिकोण और सरोकारों के प्रति खुला दृष्टिकोण अपनाना है, साथ ही अपने दृष्टिकोण और सरोकार के प्रति भी उतना ही गम्भीर रहना है । तभी दोनों के बीच पारस्परिकता सम्भव है । मित्रता में प्रत्येक दूसरे के लिये महत्त्वपूर्ण है, जिसे वह औरों की तुलना में अधिक महत्त्व और सम्मान देता है, वही उसे भी उतना ही महत्त्वपूर्ण मानता है । रोमान्टिक प्रेम या बच्चों के प्रति माँ-बाप के लगाव में यह आवश्यक नहीं किन्तु जब दो व्यक्ति मित्र बनते हैं तो दोनों का एक दूसरे को पसन्द करना और उपलब्ध रहना आवश्यक है । तभी दोनों के बीच लगाव पनप सकता है और स्थाई हो सकता है । दरअसल मित्रता में एक दूसरे के प्रति व्यक्ति के रूप में प्रतिबद्धता अन्तर्निहित होती है, न कि सिर्फ उन मूल्यों और आदर्शों के प्रति जो उनमें साझा हो । अतः जीवन के प्रति समान दृष्टिकोन रखनेवाले मित्रों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीच मतभेद सम्भव है लेकिन वे उनपर विजय पा लेते हैं क्योंकि वे एक-दूसरे को मित्र के रूप में उतना ही सम्मान देते है जितना कि वे अपने सिद्धान्तों और प्रतिबद्धताओं को । मित्र होने का मतलबी ही दूसरे के प्रति प्रतिबद्ध होना है जिसका तात्पर्य दूसरे के दृष्टिकोण और नैतिक मान्यताओं को उतनी ही गम्भीरता से लेना है जितनी स्वयं के प्रति है । इसीलिये दो भिन्न धार्मिक मतों के अनुयायी भी अच्छे मित्र हो सकते हैं । होते पाये भी जाते हैं । कई पंडित जी और खाँ साहबों की दोस्ती के उदाहरण हमारे पास हैं ।

मैत्री की तीसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है - एकात्मकता-जिससे अभिप्राय है, मूल्यों और दृष्टिकोणों में एक मूलभूत समानता या क्या महत्त्वपूर्ण और करणीय है इस बारे में एक सी समझदारी इसी कारण भिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि रखनेवाले व्यक्तियों के मध्य मैत्री होना अत्यंत कठिन है । सरोकार ही प्रारम्भ में लोगों को एक-दूसरे के निकट लाते हैं फिर चाहे वह किसी संस्था की सदस्यता हो या किसी आन्दोलन में सहभागिता । अरस्तू ने कहा है कि हमारी मित्रता ऐसे के साथ होती है जो लगभग हमारे जैसा ही होता है । चूँकि हमारी ही एक प्रतिमूर्ति होती है और उन्हीं मूल्यों में विश्वास करता है जो हमारे हैं, इसलिये उसने मित्रता हमारी अपने ही सरोकारों और जीवन पद्धति में आस्था को और दृढ करती है जो शायद अकेले सम्भव न हो, कठिन तो अवश्य ही है। वास्तव में सामान्य शुभ के बारे में साझा दृष्टि ही एकात्मकता और सामुदायिकता का वह आधार प्रस्तुत करती है जिसपर मित्रता के बारे में अरस्तू की अवधारणा विशेष जोर देती है । किन्तु यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि सामाजिक जीवन में सहनागरिकों की भाँति सामान्य शुभ की प्राप्ति के लिये कंधे से कंधा मिलाकर संघर्ष करने वालों को 'कामरेड' या 'साथी' की संज्ञा से तो अभिहित किया जा सकता है किन्तु उन्हें व्यक्तिगत मित्र कहना उचित न होगा क्योंकि मित्र अन्तरंग और निजी होते हैं, सामाजिक परिघटना मात्र नहीं । हम किस देश, परिवार, जाति या वर्ग में जन्म लेते हैं, यह हमारे वश में नहीं किन्तु एक सीमा के भीतर हम अपने मित्रों का चुनाव करते हैं । मित्रता में हमारे निजी मूल्यों की सशक्त अभिव्यक्ति होती है । इसमें हम पहले से दी हुई सामूहिकताओं के स्थान पर अपनी स्वयं की सामूहिकता का सृजन कहते हैं । मित्रों के चुनाव से न केवल हमारा आत्मबोध दृढ होता है । बल्कि उस चयन से निजी मूल्यों पर आस्था भी दृढ होती है । बडी सीमा तक हम जो हैं, उसके बनाने में मैत्री अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका रखती है । अरस्तू के विवेचन में व्यक्तिगत भिन्नता के तत्त्व को कम करके आँकने के पीछे जैसा कि विद्वानोंका मत है, उसकी विचारधारा में एक आत्मकेन्द्रित, विलग, व्यक्तिगत आत्म का न होना है । आज हमारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति की अवधारणा पहले के मुकाबले अधिक 'व्यक्तिगत है', साथ ही हम यह भी मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने में अनोखा, अतुलनीय और महत्त्वपूर्ण है । यह अन्तर तब और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है जब हम मित्रता के आधुनिक संदर्भ पर विचार करते हैं। आज सामान्य शुभ के बारे में कोई एक आम राय सम्भव नहीं है, समाज में श्रेयस् के बारे में, भिन्न-भिन्न प्रतियोगी धारणा में प्रचलित हैं और हम सम्बधों को साथ बाँध सकने वाले समान विश्वासों वाले सामान्य ढाँचे की परिकल्पना नहीं कर सकते ।

एकात्मकता को लेकर वर्णित उपरोक्त द्वन्द्वात्मक तनाव के कारण यह आवश्यक है कि हम एक महत्त्वपूर्ण विशेषता के रूप में परत्व (alterity) को भी स्वीकारें । इसका तात्पर्य दूसरे को स्वयं से अलग और भिन्न स्वीकारना है। सभी प्रकार के प्रेम के समान ही मैत्री में भी स्व का विस्तार होता है, मित्र के सुख-दुःख, इच्छा-भय से हम व्यक्तिगत तौर पर जुड जाते हैं जैसे कि वे हमारे अपने हों किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम में भिन्नता नहीं है । इसे पहचानना और आदर देना मित्रता के लिये जरूरी है । यही हम मित्रता और रोमान्टिक प्रेम में भेद देख सकते हैं । रोमान्टिक प्रेम में दोनों अपने-अपने स्व का परित्याग आनन्द में डूबने के लिये करते हैं किन्तु मैत्री में दूसरे का व्यक्तिगत इतिहास, उसके विचारो में अन्तर बना रहता है । माँ-बाप बच्चों के प्रति प्रेम भी मैत्री से भिन्न होता है। बहुत बार माँ-बाप बच्चों को वह नहीं करने देना चाहते जो बच्चे स्वयं चाहते हैं किन्तु इसके विपरीत मित्रता में हम दूसरे को उसके लिये ही प्यार-सम्मान का पात्र समझते हैं, उसकी इच्छाओं का सम्मान करते हैं और उसे नियंत्रित करने का कोई प्रयास नहीं करते । उदाहरण के लिये यदि हमारा मित्र संगीतकार बनना चाहता है तो हम उसकी भावना का सम्मान करेंगे और उसके सफल होने की कामना, किन्तु हो सकता है उसके माँ-बाप उसकी इच्छा का विरोध करे क्योंकि वे उसे पारिवारिक व्यापार में लगाना चाहते हों । इसका मतलब यह नहीं है कि मित्रों के बीच मतभेद और विरोध के अवसर नहीं आते किन्तु इस तनाव को अपने-अपने व्यक्तित्व के विकास के प्रयोग कर सकने की सीख भी मित्रता से प्राप्त होती है । अपने विरोध द्वारा मित्र हमे पहले से अच्छा इन्सान बनने की चुनौती । प्रेरणा दे सकते हैं जी दोनों के बीच अन्तर को सम्मान की दृष्टि से देखने पर ही निर्भर करती है ।

मैत्री की उपरोक्त चारों विशषतायें- बराबरी, परस्परता, एकात्मकता और परत्व उसके होने की आवश्यक शर्तें हैं किन्तु ये शर्तें तभी पूरी हो सकती हैं जब एक दूसरे के बारे में गहरी जानकारी से, एक दूसरे के जीवन मूल्यों सरोकारों की पहचान हो, उनके बारे में सोचने की क्षमता हो और बीच में आनेवाली बाधाओं पर विजय पा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सके । सभी प्रकार के प्रामाणिक प्रेम के लिये, जिसमें मित्रता भी है, यह आवण्यक है। मैत्री इन सभी विशिष्ट और सामान्य स्थितियों का प्रतिफल है । हमारा मित्र न केवल हमें वैसे का वैसा स्वीकारने को तत्पर रहता है जैसे कि वास्तत्व में हम हैं अपितु एक नकारात्मक पहचान भी देता है जो हमें अपने एकाकीपन से मुक्त करता है । इस सारे विश्लेषण के बावजूद यह कहना कठिन है कि असंख्य लोगों के बीच कौन से दो लोग एक दूसरे के कब मित्र बन जायेंगे । शायद इसका प्रारम्भ, जैसा की कार्ल युंग ने माना है, एक दूसरे में किसी रासायनिक प्रक्रिया को जन्म दे सकते से होती है जो एक दूसरे को आकर्षित कर और ज्यादा एक दूसरे को जानने के लिये विवश करता है । यह आवश्यक नहीं है कि दो मित्र स्वभाव और आचरण में समान हों । उदार कर्ण और लोभी दुर्योधन के बीच मित्रता का उदाहरण हमारे सामने है । वांछनीय तो यह है कि हम ऐसा मित्र बनायें जिसमें वे गुण हो जो हममें नहीं है क्योंकि, जैसा कि खलील जिब्रान ने कहा है 'उसका काम तुम्हारे अभावों की पूर्ति करना है, न कि तुम्हारे खालीपन को भरना ।'[५] कृष्ण-सुदामा, राम-सुग्रीव, चन्द्रगुप्त-चाणक्य और अकबर-बीरबल की सफल मैत्री का यही रहस्य है। सच्ची सहानुभूति ही ऐसी मैत्री का आधार है जिसमें 'एक के हानि त्याग को दूसरा अपना हानिलाभ समझे'[६] जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी माना है । ऐसा मित्र स्वयं होना और पाना जीवन की चन्द नियामतों में से एक है । हमें ऐसी ही मित्रता करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

अब तक के हमारे विवेचन से यह तो स्पष्ट हीं है कि मित्रता का आधुनिक माडल उसके पुराने माडल से कुछ अलग है । अरस्तू की यह कहकर हमने आलोचना भी की कि उसने समानताओं पर तो बहुत जोर दिया किन्तु मित्रताओं पर नहीं । दोनों दृष्टिकोणों के परीक्षण से हमें मैत्री की वर्तमान अवधारणा और वर्तमान सामाजिक जीवन में महत्ता समझने में मदद मिलेगी । मॅक इन्टायर[७] ने अरस्तू का समर्थन करते हुये यह माना है कि मित्रता में परस्पर स्नेह आवश्यक और महत्त्वपूर्ण तो है किन्तु वह श्रेयस के प्रति समान झुकाव और प्रतिबद्धता से उत्पन्न होने के कारण प्राथमिकता में दूसरे स्थान पर आता है । वही आधुनिक दृष्टिकोण में स्नेह को केन्द्रीय तत्त्व स्वीकार किया जाता है, मित्र वह होता है जिसे हम ज्यादा पसन्द करते हैं, चाहते हैं । इस तरह मंत्री एक भावात्मक स्थिति बनकर रह जाती है, न कि एक सामाजिक-राजनैतिक सम्बध । यह पतन के लक्षण हैं । इसी प्रकार सी. एम. लेकिस[८] भी अरस्तू का पक्ष लेते हुये कहते है कि प्रेमियों से विपरीत, मित्र शायद ही कभी एक दूसरे से अपने जीवन की अंतरंग बाते करते हैं, वे उन्हें जानना ही नहीं चाहते । प्रेमी जहाँ एक दूसरे की ओर ताकते हैं वही मित्र एक दिशा में देखते हैं । मैत्री प्रेम का सबमें अधिक मानवीय स्तर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जो जैविक मूल प्रवृत्तियों से सब में कम, निर्धारित होता है । लेविस भी इस बात से दुःखी है कि आज मित्रता अपने प्राचीन गौरव को खोकर हाशिये पर आ गई है ।

जब हम मित्रता पर मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये शोध-परिणामों पर दृष्टि डालते हैं तो पुरुषों के मध्य और स्त्रियों के मध्य मित्रता के भिन्न पॅटर्न दिखाई पडते हैं। पुरुषों के मध्य मित्रता मुख्यतः साथ-साथ कार्य सम्पादन के लिये होती है । वे एक दूसरे के साहचर्य का आनन्द तो उठाते हैं लेकिन किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्तिगत और भावात्मक प्रकटीकरण से बचने का प्रयास करते हैं । वही स्त्रियों के बीच मित्रता में व्यक्तिगत और भावात्मक घनिष्ठता एक महत्त्वपूर्ण पहलू है । पुरुषों के मुकाबले स्त्रियों अपनी मित्रताओं की गुणवता से अधिक सन्तुष्ट भी पायी जाती हैं । यह उचित भी जान पडता है क्योंकि मित्रता में दूसरे व्यक्ति के साथ जो गहरा लगाव व प्रतिबद्धता होती है यह भावात्मक रूप से खुले और घनिष्ठ हुये बिना सम्भव ही नहीं है । ऐसा लगता है कि अरस्तू, मॅकइन्टायर और लेविस आदि विचारकों की दिक्कत ही यही है कि उन्होंने मैत्री के पुरुष माडल को ही अकेला माडल स्वीकार कर लिया और भावात्मक घनिष्ठता को स्त्रियोचित कहकर उसे निचले स्तर का करार कर दिया । हमें देखना यह है कि मित्रता की हमारी परिभाषा किसके अनुकूल है।

हमने मित्रता को ऐसी सकारात्मक, परस्पर पहचान माना है जिसमें दूसरे का स्वतंत्र स्वीकार और प्रशंसा निहित है । यह पहचान तभी गहरी और पूर्ण होती है जब पूरी परस्पर जानकारी और भावात्मक उपलब्धता हो जो व्यक्ति के स्वतंत्र और भिन्न आत्मबोध को कहीं अति क्रमित न करे । इस दृष्टि में देखने पर अरस्तू, लेविस या मॅकइन्टायर की मैत्री के बारे में परम्परागत अवधारणा एक स्थिर सम्बध की ओर इंगित करती है जो एकात्मकता और समान दिशा में देखने पर जोर देती है लेकिन भावात्मक घनिष्ठता को कम करके आँकती है जो दो व्यक्तियों को एक गतिशील सम्बध के बीच जानती पखवती है । कहना न होगा कि भावात्मक समर्थन,आत्म-प्रकटीकरण और परवाह करना ऐसे गुण जो सामान्यतया महिलाओं के बीच मैत्री में पाये जाते हैं, आत्मीयता के विकास को और तीव्र करते हैं । लेकिन किसी के प्रति ऐसा सच्चा लगाव जिसमें परस्पर खुलापन, विश्वास, भावात्मक, उपलब्धता हो, का मतलब आत्म-परित्याग या आत्म हानि नहीं है । वास्तव में दूसरे के बारे में अन्तरंग जानकारी और संलग्नता, हमारे अपने आत्मबोध और आत्मगौरव को पुष्ट करती है जो स्वायत्तता को जन्म देती है । इस तरह से देखने पर मैत्री की हमारी परिभाषा अरस्तू की अवधारणा के मूल उद्देश से सुसंगत जान पडती है ।

आइये अब इस पर भी थोडा सा विचार करें कि क्या मैत्री को एक नैतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिघटना माना जा सकता है ? मित्रता की जो समझ हमने ऊपर विकसित की है, उसके दो पक्ष स्पष्ट दिखाई देते हैं। मित्र को पसन्द करना, उसकी तारीफ करना, उसके साहचर्य से आनन्दित होना,उसपर विश्वास करना, उसे अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण पक्ष से जोडकर देखना आदि मैत्री के वैयक्तिक पहलू हैं । मित्र की परवाह करना, उससे सहानुभूति रखना, न केवल उसके भले की कामना करना अपितु उसके लिये प्रयत्नशील होना सिर्फ इसलिये कि वह मित्र है आदि मित्रता के परहितकारी पहलू कहे जा सकते हैं। जो हमारे मित्र नहीं है उनकी तुलना में सामान्यतः हम अपने मित्र को ज्यादा करीब से जानते है, इस कारण यह भी पहचानते हैं कि उसकी भलाई किसमें है और जितनी गहराई और शिद्दल से हम अपने मित्र से जुडे होते हैं उतना ही हम उसके श्रेयस् की प्राप्ति के लिये तत्पर होते हैं । इन कार्यो को नैतिक रूप से श्रेष्ठ ही कहा जायेगा जब तक कि ये कार्य मित्र के प्रति सम्मान भाव से उसी के लिये किये गये हों। और ऐसा सम्बध जिसमें दूसरे के प्रति इतना गहरा और सच्चा लगाव पैदा होता हो कि ऐसी परहितकारी भावनाओं, कार्यो को जन्म दे सके, नैतिक उत्कृष्टता की निशानी कहना उचित ही होगा की।[९] मित्र की भलाई के प्रति निःस्वार्थ भाव से समर्पित होना उससे लगाव तादात्म्यव अभिव्यक्ति है, अलग से किया जाने वाला बलिदान नही 'जैसा कि अमित्रों के साथ होता है। यह सही है कि कुछ लोग अन्यों की तुलना में अधिक सहानुभूतिशील, सहयोग और मदद देने वाले होते हैं और हमारी मित्रताओं का नैतिक स्तर भी भिन्न-भिन्न होता है किन्तु इससे मित्रता की नैतिक मूल्यवत्ता पर आँच नहीं आती । अतः हम कह सकते हैं कि मित्रता एक नैतिक कर्म है जिसमें हम स्व का अतिक्रमण करके दूसरे व्यक्ति की परवाह, हित कामना उसके लिये ही करते हैं। किन्तु मैत्री के सन्दर्भ में स्वार्थ और परमार्थ का भेद पूरी तरह लागू नहीं होता क्योंकि मित्रता स्वयं में एक मूल्य होने के कारण यह तै करती है कि हमारा स्वार्थ उसके उत्कृष्ट स्तर को पाने में है, चाहे उसके लिये कुछ कष्ट ही क्यों नं उठाना पडे ।

कुछ विद्वानों (जैसे शापेनहावर) ने मैत्री में अन्तर्निहित संकीर्णता की ओर यह कह कर इशारा किया है कि इसमें सभी मनुष्यों की हित चिन्ता नहीं अपितु केवल उस व्यक्ति की हित साधना निहित है जोकि हमारा दोस्त है । यह उसकी मनुष्यता के कारण नहीं बल्कि हमारे उनके बीच सम्बध के कारण है। कुछ ने तो मित्रता को अनैतिक तक कह डाला क्योंकि इसमें कुछ लोगों के प्रति पक्षपातपूर्ण रवैय्या अपनाया जाता है जिनको न उसकी जरूरत होती है और वे इसके योग्य होते हैं । यह सच है कि कई बार मित्रता अपने मित्र के प्रति अंध-पक्षपात को बढावा देकर दूसरों के प्रति अन्याय का कारण बन जाती है । संसाधनों की कभी व तीव्र प्रतिस्पर्धा इनके लिये आधार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत करते हैं। किन्तु ऐसा होना न तो आवश्यक ही है और न हमेशा ऐसा होता ही है । इस तर्क को स्वीकारने का मतलब होगा कि विवाह, परिवार, पडोस, जातीय समाज, देश, आदि किसी भी प्रतिबद्धता को केवल इसलिये नैतिक शंका की दृष्टि से देखा जाय क्योंकि इनके प्रति लगाव औरों को इससे वंचित कर देता है । एक तो मित्र के प्रति स्नेह का मतलब औरों के प्रति विद्वैष रखना नहीं है । जिनसे हमारा कोई सम्बध नहीं उनके हितसाधन की चिंता-प्रयत्न करना किसी भी नैतिक दृष्टि का केन्द्रीय तत्त्व है किन्तु इससे उन लोगों की हित चिन्ता अनैतिक नहीं हो जाती जिनसे हमारा विशेष सम्बध है, भले ही उसका नैतिक स्तर सार्वभौमिक न कहाये[१०] दोनों ही दशाओं में दूसरों की हित चिंता उनके लिये ही की जाती है, इसलिये दोनों का ही नैतिक महत्त्व है ।

मैत्री ने नैतिक पहलू के स्वीकार का मतलब उनके वैयक्तिक पक्ष को कम करके देखना नहीं है, नहीं तो हम अति-नैतिकता की भूल कर बैठेंगे । मित्र के श्रेयस की प्राप्ति उसका हितसाधन ही मैत्री का केन्द्रीय तत्त्व नहीं हैं । और न मित्रों के बीच सम्बध का आधार मुख्यतः उनके नैतिक चरित्र में होता है । किसी की परवाह उसी के वास्ते करने के लिये उस व्यक्ति का नैतिक गुण सम्पन्न होना भी जरूरी नहीं । मित्रता का एक नैतिक पहलू अवश्य है किन्तु मित्रता मात्र इतने तक सीमित नहीं है और न यह इसका प्रमुख उद्देश्य ही है । जैसा कि खलील जिब्रान ने कहा है आत्मीयता को गहरा बनाते रहने के सिवा मित्रता में कोई और प्रयोजन नहीं होना चाहिये ।'[११]

अंत में इन प्रश्नों पर भी थोडा विचार करना जरूरी है कि वर्तमान समाज में मैत्री का क्या महत्त्व है ? एक बेहतर समाज के निर्माण में उसकी क्या भूमिका हो सकती है ? प्राचीन समय में मित्रता अति महत्त्वपूर्ण मानी गई है । अरस्तू ने तो उसे सामाजिक एकता लानेवाली सीमेन्ट माना है और अपनी 'निकोमॅकियन एथिक्स' को दस में से दो किताबों में एक आदर्श जीवन में मित्रता के महत्त्व पर प्रकाश डाला है । किन्तु वर्तमान समय में एक आदर्श के रूप में मैत्री का क्षरण ही हुआ है, भले ही व्यावहारिक वास्तविकता के रूप में ऐसा नहीं । शायद इसी कारण बहुत कम आधुनिक दार्शनिकों ने मैत्री विषय पर लेखनी चलाई । वर्तमान समय में रोमान्टिक प्रेम और पति-पत्नी की समझदारी ने एक आदर्श के रूप में मैत्री को गौण स्थान ला दिया है । हम अभी भी मित्रता करते और निभाते हैं किन्तु मैत्री को हम उच्चतम कोटि का सम्बध नहीं मानते जिसके कि हम योग्य हैं । नहीं हम मित्रता को आज चरित्र निर्माण की प्रयोगशाला ही समझते हैं । आज हम जीवन के सार्वजनिक एवं निजी पक्ष को पृथक् करके देखते हैं और मैत्री को निजी जीवन का कार्यकलाप मानने लगे हैं जो सार्वजनिक शुभ से आवश्यक रूप से जुडी हुई नहीं है । शायद इसके पीछे राजनैतिक जीवन में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आई गिरावट ही है । यदि सार्वजनिक शुभ के लिये प्रतिबद्धता ही आत्यान्तिक और निश्चित नही हैं तो यह कैसे सम्भव है कि मैत्री के मूल्यात्मक आधार में समानता हो ही । इसी से मित्रता आज ध्यान परिवर्तत, मन बहलाव या समय काटने का एक साधन मात्र बनकर रह गई है, ऐसी लेविस की मान्यता है ।

यह सही है कि आज मित्रों का दायरा सिकुडता जा रहा है । हमारे मित्रों की संख्या हमारी पुरानी पीढी के मित्रों की संख्या की लगभग आधी रह गई है । पिछले वर्षो में मित्रता को विभिन्न कोणों से जाँचने-परखने के बाद एन.वाई. सी विश्वविद्यालय न्यूयार्क में रिसर्चर पद पर कार्यरत डॉ. गिआफ कोहली अपने को अवसाद से घिरा पाते हैं क्योंकि आज मित्रता भावात्मक न होकर आर्थिक आधारों पर विकसित हो रही है जहाँ लोग परस्पर एक दूसरे का उपयोग करते हैं । मित्रों के बीच तेजी से स्वार्थपरकता का पनपना इस सदी की विशेषता है । कई बार परस्पर मित्रता में, आत्मीयता एक तरफा हो जाती है । एक की आत्मीयता कायम रहती है और दूसरे की बेरूखी उत्तरोत्तर बढती जाती है । जो लोग मित्रता को भावात्मक स्तर पर स्वीकार करते हैं वे भी मानते हैं कि यह जरूरी नहीं कि ऐसी दोस्ती हमेशा कायम रहे । इधर के वर्षों में ऐसे मित्रो की संख्या भी बढी है जो किसी उत्तरदायित्व से बँधे हुये नहीं हैं । इसे परिस्थितिजन्य मैत्री कहा जा सकता है । सच तो यह है कि हमारे सम्बधों में व्यापारिकता हद से ज्यादा बढती जा रही है । मैत्री सम्बध भी इससे अछूते नहीं हैं । एक ओर वे लोग हैं जो एकतरफा नकलीपन, दूरियाँ और नजरन्दाज करने की प्रवृत्ति से व्यथित है तो दूसरी तरफ वे लोग भी हैं जो मित्रता में इस तरह की व्यावहारिकता और कृत्रिमता को उतनी ही कृत्रिमता के साथ लौटा भी रहे हैं । यहाँ पर एक अहम् सवाल यह उठता है कि मैत्री में स्थाइत्व के लिये क्या आपको और आपके मित्र को आजीवन एक जैसी सामाजिक-आर्थिक हैसियत में ही होना चाहिये ? क्या सम्पन्नता, समृद्धि या उन्नति आपको अन्तर्मुखी बना देती है कि आपको नजरदान करने वाला भाव रूचने लगता है? भले ही समय की कमी, स्थान की दूरी और आर्थिक सफलता को जीवन का सर्वोच्च मूल्य मानने के फलस्वरूप आज मित्रत्व की परिभाषा में बदलाव आ रहा है, अन्तरंगता की व्याख्या भी उसी परिभाषा के आधार पर हो रही है किन्तु अभी भी, एक दो ही नहीं, ऐसे घनिष्ठ मित्र की आवश्यकता ज्यादातर लोग अनुभव करते हैं जिस पर भरोसा किया जा सके ।

आधुनिक जीवन शैली से जुडा एक विवादास्पद प्रश्न-स्त्री-पुरुष मैत्री का है । आज जब स्त्री का कार्यक्षेत्र घर की चहारदीवारी तक सीमित नहीं रहा,कार्यक्षेत्र में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुषों से कंधे से कंधा मिलाकर दिन के महत्त्वपूर्ण आठ-दस घंटे जो गुजारने होते हैं, सहकर्मी स्त्री-पुरुषों के बीच मैत्री सम्बधों को पनपना कोई अनहोनी घटना नहीं है । कट्टरवादी यौन नैतिकता के हामी भी ऐसे सम्बधों के औचित्य से इन्कार करते हैं, वही उदारवादी मनोवृत्ति को इनके पनपने में कोई हानि नही दिखाई पडती । पहला पक्ष उसे पारिवारिक मर्यादा के लिये खतरे की घंटी मानता है तो दूसरा पक्ष उसे मानवीय गरिमा और खुलेपन का सूचक समझता है । यह सही है कि स्त्री-पुरुष के बीच प्राकृतिक यौन आकर्षण के चलते इस प्रकार के मैत्री सम्बधों को सामान्य मैत्री सम्बधों की कोटि में नहीं रखा जा सकता जो पुरुष-पुरुष और स्त्री-स्त्री के बीच होते हैं । इन्हें विशिष्ट कोटि का दर्जा ही देना उचित होगा क्योंकि एक सफल स्त्री-पुरुष मैत्री के लिये कुछ अन्य आवश्यक शर्तें भी पूरी करनी जरूरी है जो मित्रता की सामान्य शर्तों के अतिरिक्त है । इसके लिये स्त्री और पुरुष, दोनों का आत्मनिर्भर और परिपक्व होना अपेक्षित है । इनमें इंतनी समझ भी होनी चाहिये कि वे सामान्य यौनाकर्षण, मित्रता और प्रेम में भेद कर सकें । उनका आचरण परिवारिक मापदंडो से उचित हो इसके लिये अच्छा यही है कि दोनों अपने-अपने वैवाहिक साथी से सन्तुष्ट हो और सम्बधों में पारदर्शिता बनाये रख सकें । इसके लिये आपसी ईर्ष्या पर संयम भी जरूरी है । जहाँ यह समझदारी और आत्मसंयम है वहाँ ऐसे सम्बध निश्चय ही दोनों व्यक्तियों के भावात्मक-मानसिक विकास में प्रभावी भूमिका निभाते हैं क्योंकि स्त्री-पुरुष प्रकृति से ही एक दूसरे के अनुकूल होते हैं । ऐसे सम्बध एक अधिक गहरी आत्मीयता और उच्चतर आदर्शों की प्राप्ति के लिये प्रेरणा जगा सकने की सम्भावना लिये होते हैं किन्तु मैत्री कब प्रेम सम्बध में बदल जायगी इसकी सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता । कुछ संस्कृतियों में मित्रों के बीच यौन सम्बध भी स्वीकृत हैं किन्तु भारतीय परिप्रेक्ष्य में इसे स्वीकारना उचित नहीं जान पडता । किन्तु बदलती परिस्थितियों के अनुरूप नयी यौन नैतिकता की आवश्यकता से भी इन्कार नही किया जा सकता ।

हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि मैत्री के आदर्श और व्यावहारिक सत्य में अन्तर सदा से रहा है और रहेगा । अभी भी एक श्रेष्ठ और आनन्द पूर्ण जीवन के लिये एक प्रेणादायक तत्त्व के रूप में उसकी महत्ता बनी हुई है । मैत्री, प्रेम का ही एक रूप है और हमारे अस्तित्व से जुडा हुआ है । अन्य प्रकार के प्रेम की भाँति ही इसका केन्द्रीय महत्त्व भी इसी बात से है कि यह हमें अकेलेपन से राहत देता है, दूसरों के प्रति खोल देता है और आल्हाद से भर देता है । यह ठीक है कि रोमान्टिक प्रेम में ये तत्त्व अधिक तीक्ष्ण मात्रा में उपलब्ध होते हैं किन्तु रोमान्टिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेम आत्म-परित्याग पर अधिक बल देने के कारण आत्मज्ञान को सम्भव नहीं करता । जबकि मित्रता में परस्पर समाज का भाव होने से आत्म बोध अपने में एक इष्ट के रूप में दूसरे का अवबोध, दोनों को बढावा मिलता है । आत्म-परित्याग के स्थान पर मित्रता आत्मचुनौती का रूप अपनाकर एक गहरी नैतिक समझदारी का निर्माण करने में सहाय्यक है भले ही वर्तमान उपयोगितावादी दृष्टि से यह मेल खाती हो ।

वर्तमान युग में गलाकाट प्रतियोगिता से उत्पन्न तनाव, पारिवारिक बिखराव और दाम्पत्य सम्बधों में टकराव ने एक विश्वस्त मित्र की आवश्यकता और महत्त्व को और भी बढा दिया है । हताशा से पीडित होकर कई बार हम स्वयं के भी दोस्त की होना मूल जाते हैं तब हमारे मित्र ही हमें आत्महीनता, आत्मघृणा औदर्य दया के बिचड से बाहर खींच लाते हैं और यह एहसास जगाते हैं कि हम जैसे भी हैं, प्यार के काबिल हैं । इस तरह वे हमारी जिजीविषा को पैना और जीवन आस्था को मजबूत करते हैं । तभी तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सच्चे मित्र को जीवन में एक औषध के समान माना है ।[१२] मनोचिकित्सकों के चक्कर लगाये बिना मानसिक सन्तुलन बनाये रखने में मित्रों का योगदान नकारना एक भूल ही होगी ।

मैत्री की पुरानी समझ के विपरीत आज व्यक्तियों के बीच भिन्नता उनका अनोखापन ही मैत्री को गति प्रदान करता है । मित्र हम जैसा नहीं अपितु दूसरा व्यक्ति है जिसे जानना, समझना, सम्मान, करना हमारे बीच की दीवार को गिरा देता है । दूसरे के रहस्य को समझते समझते हम कब आत्म-केन्द्रिकता की कारा से युस्त हो जाते हैं पता ही नहीं चलता । भले ही यह सार्वजनीन प्रेम की ऊँचाइयाँ न छू पाये किन्तु उसकी झलक जरूर दिखा देता है जिसकी चर्चा सदियों से आध्यात्मिक पुरुष करते आये हैं।

यह सच है कि आज मैत्री और समुदाय के बीच वह सम्बध नहीं रहा जो शायद अरस्तू के जमाने में था क्योंकि आज हम बहुलतावादी समाज में रहते हैं जिसमें सामाजिक शुभ का कोई एक मानदण्ड, नहीं हो सकता । किन्तु इसका तात्पर्य किसी भी सम्बध से इन्कार नहीं है । पारम्परिक समाज के बंधन अब महानगरों में ढीले हो चुके हैं । कदाचित् ही किसी समुदाय से गहराई से जुडे होने की भावना महानगरवासियों में पायी जाती हैं । ऐसे में अपनों का एक समाज बनाने में मैत्री सम्बधों की अहम् भूमिका हो सकती है । इन तरह में बनाया गया समाज व्यक्तियों को विशेषकर यदि वे परम्परागत समाज द्वारा ठुकराये गये हों (समलिंग, कामी आदि), अपना आत्मगौरव पाने में सहायक होता है इस तरह सामाजिक अलगाव से बचाकर मैत्री हमें उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुष्परिणामों उपभोक्तावाद तथा स्वार्थी व्यक्तिवाद से भी किसी सीमा तक बचाने में सफल होती है ।[१३]

एक बेहतर समाज बनाने के लिये मित्र का महत्त्व इसी बात में जाना जा सकता है कि आज हम लगभग सभी प्रकार के निजी सम्बधों जैसे माँ-बाप और उनके बच्चों के बीच, पति-पत्नी के बीच और यहाँ तक कि गुरू-शिष्य के बीच भी दोस्ताना व्यवहार की वकालत करने लगे हैं। अन्य श्रेणीगत सम्बध (जैसे मॅनेजर कर्मचारी) भी इससे अछूत नहीं रह गये हैं। यह उन मूल्यों के व्यापक स्वीकार और वांछनीयता का ही परिणाम है जो मित्रता में अन्तर्निहित है ।

अंत में, भले ही मैत्री अपना गौरवशाली अतीत खो चुकी हो किन्तु फिर भी वह उन चन्द वरदानों में एक है जो मानव जीवन को जीने योग्य बनाते हैं। आइये, धीमे-धीमे पकने वाले इस फल का अनूठा स्वाद चखें और जीवन को सार्थक करें।

५३, अशराफ टोला
हरदोई · २४१००१

डा. आलोक टण्डन

टिप्पणियाँ

१. D. J. Enright and David Rawlinson, **The Oxford Book of Friendship**, Oxford University Press, New York, 1992
२. उपरोक्त पृ. २
३. Aristotle, **Nicomachean Ethics**, 1156 7-11
४. उपरोक्त, ११५५ ६१७-२१
५. खलील जिब्रान, **जीवन सन्देश**, पृ. ७०, सस्ता सहित्य मंडल प्रकाशन १९८१ नई दिल्ली.
६. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **चिन्तामणि भाग २**
७. A Mac-Intyr, **Ajter Virtue,** Notre Daml Unis of Notre Dame Press, 1981, p.156
८. C. S. Lewis, **The Four Loves**, New York Harcourt, Brace, Jarvanovich, 1960, p. 102
९. Lawrenes A Blum, **Friendship, Altruism and Morality**, Routledge & Kegan Paul, 1980, p. 67-83

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०. उपरोक्त
११. खलील जिब्रान, उपरोक्त, पृ. ३०
१२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, उपरोक्त, पृ.
१३. Richard White, Friendrhip : Ancient and Modern, **Intearntional Philosophical Quarterly**, Vol. XXXIX Issue No 153, March 99, p. 34.

■

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी) प्रकाशन

आत्मस्वीकृति - ले. प्रो. सुरेंद्र बारलिंगे
अनु. प्रा. राजमल बोरा
सं. डॉ. सुभाषचंद्र भेलके

पृ. ८८ मूल्य रु. ६०/-

मनुष्य और समाज के गौरवशाली अस्तित्व की प्रस्थापना में दर्शन किस तरह अपनी भूमिका अदा कर सकता है ? दार्शनिक का भावविश्व एवं विचार-विश्व किस तरह का होता है ? दार्शनिक अपना जीवन किस तरह व्यतीत करता है ? इन प्रश्नों की खोज का समाधान दिलानेवाली यह पुस्तक अवश्य ही पाठकगण के लिए नयी दृष्टि प्रदान करेगी ।

नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (प्रथम खंड)

ले. डॉ. बलिराम शुक्ल

पृ. २१०, मूल्य : रु. १६०/-

नव्यन्याय के अध्ययन के लिए पारंपरिक शिक्षा की आवश्यकता है । लेकिन प्राथमिक स्तर पर तथा तौलनिक अभ्यासकों के लिए नव्यन्याय के पदार्थों का मौलिक परिचय होना जरूरी है । इस दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों की सहायता करेगी ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

प्रायः ऐसा माना और कहा जाता है कि दर्शन चिंतन की गंभीर विधा है। मानवी चिंतन के प्रसंग बहुत होते हैं। दार्शनिक चिंतन एक विशेष विधा है। यह भी देखने को मिलता है कि प्रत्येक मनुष्य का अपना जीवन-दर्शन होता है। प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन पर चिंतन करता है, जिससे उसे कुछ निष्कर्ष एवं दृष्टि प्राप्त होती है। उसी दृष्टि से वह अपने जीवन को समझता है और अन्यों के जीवन का मूल्यांकन करता है। यह शायद मनुष्य का स्वभाव ही है कि वह अपने जीवन के बारे में चिंतन करता रहे। इस चिंतन के स्तर विभिन्न हो सकते हैं। इस चिंतन में परिष्कृति आने के लिए संवाद की जरूरत है। संवाद में विचारों का आदान-प्रदान होता है। दूसरे के प्रति सुयोग्य सत्कार भी भावना के दायरे में ही दूसरे के विचारों का मूल्यांकन, समीक्षा, सारग्रहण आदि जब होता है तब वह अर्थपूर्ण संवाद होता है। संवाद चाहे अपने लिए क्यों न हो, संवाद की प्रेरणा केवल अपने तक सीमित नहीं रहती है। संवाद में दूसरे के साथ होना, दूसरे को साथ लेकर चलना, दूसरे को ऊपर उठाना, दूसरे की वैचारिक संपन्नता में रुचि लेना अभिप्रेत है । दूसरे की वैचारिक संपन्नता से अपने विचारों के परिष्कृत रूप प्राप्त होते हैं इस धारणा के आधार पर संवाद होता है। संवाद की एक और विशेषता यह है कि वह सहज एवं हार्दिक होता है। जब चिंतनशील मनुष्यों में अपने अपने चिंतनों को लेकर संवाद होता है तब गंभीरता के बावजूद भी हार्दिकता के कारण उस में सहजता होता है। संवाद से चिंतन केवल परिष्कृत ही नहीं होता, बल्कि वह परिपुष्ट भी होता है। लेकिन उसके लिए सामयिक संदर्भ का होना जरूरी है। हमारे उद्दिष्टों में अगर कोई सूत्र हो तो सामयिक संदर्भ बन सकते हैं। एक ही समाज के सदस्यों में उद्दिष्टों में एक सूत्र होना तथा सामयिक संदर्भ होना दूभर नहीं है। लेकिन ऐसा भी देखने को मिलता है कि यह सामयिकता दुष्प्राप्य होने को है। इस का एक अर्थ यह भी है कि संवाद की संभावना भी निर्बल होती जाएगी। अगर दार्शनिक चिंतन में संवाद लुप्तप्राय होने लगें तो समाजधारणा के लिए यह संकट का समय होगा।

दार्शनिक पत्रिका की प्रस्तुतता इस में है कि वह समाज में दार्शनिक धरातल पर संवाद सुदृढ करे। हमारे विशाल देश में लोगों का आपसी मिलना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन के विचारों के जरिये होने के लिए दार्शनिक पत्रिका की प्रवृत्ति चलायी जाती है। लेकिन कभीकभी सवाल उठता है कि क्या हम इस आपसी मेल के बारे में गंभीर हैं ? मनुष्य के लिए जो भी लाभप्रद हो, उस की प्राप्ति में बहुत विघ्न आते हैं। पत्रिका चलाने में भी विघ्न हैं। लेकिन विघ्नों के विनाश के लिए हमें ही कमर क़सनी है, और कोई हमारी मदद करने आनेवाला नहीं है । क्या हम पत्रिका का उपयोग केवल अपने विचारों का प्रकटन एवं प्रदर्शन करने के लिए ही करते हैं ? क्या हमारे विचारों में संप्रेषण की प्रेरणा पर्याप्त मात्रा में है ? क्या हमारे विचारों को प्रतिसाद मिलता है ? क्या हम अन्यों के विचारों को पढकर उन से संवाद करना चाहते हैं ? इस दृष्टि से हमारी पत्रिका का स्वास्थ्य बहुत सुधरने की गुंजाईश है। यह काम तो पत्रिका के लेखकों और पाठकों के सिवा और किस का हो सकता है ? क्या हमारे लिए यह गंभीर चिंतन का विषय नहीं है ? नहीं बन सकता है ?

हमारे प्रश्नों का प्रयोजन वैचारिक प्रचोदना है। अब देखना है कि पत्रिका का प्रवृत्ति कहाँ तक और कितनी सप्रयोजन या निष्प्रयोजन है।

- सुभाषचन्द्र भेलके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विटगेन्स्टाइन : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

पाश्चात्य दार्शनिक जगत् में विटगेन्स्टाइन ने मुख्यतः दो महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विचारधाराओं - तार्किक अनुभववाद और साधारण भाषा विश्लेषण की स्थापना का प्रतिनिधित्व किया । प्रथम, तार्किक अनुभववाद विटगेन्स्टाइन की पुस्तक *ट्रैक्टेटस* को अपना मूलग्रंथ मानता है, यद्यपि विटगेन्स्टाइन ने बाद में यह नकार दिया कि वह तार्किक अनुभववादी है । द्वितीय, विटगेन्स्टाइन की पुस्तक *फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशस* ने साधारण भाषा विश्लेषण की नींव डाली । पाश्चात्य दर्शन को इस प्रकार निर्णयात्मक दिशा प्रदान करने वाले दार्शनिकों में विटगेन्स्टाइन के विशिष्ट स्थान होने का कारण न केवल उनके दार्शनिक विचार हैं, अपितु जीवन पद्धति भी है । उनकी दार्शनिक पद्धति और उनका जीवन के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण दोनों इस तरह से एक दूसरे से सम्बद्ध हैं कि किसी एक के बिना दूसरे का अध्ययन एकांगी होता है । विटगेन्स्टाइन के दर्शन और जीवन का समन्वित अध्ययन उनके दर्शन को पूर्णता में प्रस्तुत करता है तथा उत्तर-विटगेन्स्टाइनियों के बीच के कई मतभेदों को दूर करता है, फिर भी, जैसा कि रे मोंक भी स्वीकार करते हैं, इस प्रकार का समन्वित अध्ययन नहीं हुआ है । रे मोंक के अनुसार[1] विटगेन्स्टाइन के दर्शन में रुचि रखने वाले दार्शनिकों को दो कोटियों में रखा ज़ा सकता है (१) ऐसे दार्शनिक जो विटगेन्स्टाइन के दर्शन के अध्ययन के लिए उनके जीवन की घटनाओं के अध्ययन को महत्त्वपूर्ण नहीं मानते हैं । (२) ऐसे दार्शनिक जो विटगेन्स्टाइन के जीवन की घटनाओं को आकर्षक मानते हैं परन्तु जिन्हें विटगेन्स्टाइन का दर्शन दुरूह लगता है । विटगेन्स्टाइन के जीवन और दर्शन दोनों में एक साथ रुचि न रखने से, रे मोंक के अनुसार, विटगेन्स्टाइन के दर्शन को पूरी तरह से नहीं समझा जा सकता है । इस तथ्य को अधिकांश दार्शनिक स्वीकार करते हैं कि विटगेन्स्टाइन के दर्शन को उनके जीवन के प्रति दृष्टिकोण से अलग करके नहीं देखा जा सकता है ।

यह शोधपत्र इस प्रकार के समन्वित अध्ययन का एक प्रयास है । इसका प्रमुख उद्देश्य विटगेन्स्टाइन के दर्शन की पृष्ठिभूमि तैयार करना है । इसमें मैंने

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २२ अंक २, मार्च २००१.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विटगेन्स्टाइन के जीवन परिचय और ऐसे विचारों का जिनका विटगेन्स्टाइन पर प्रभाव पड़ा, के उल्लेख के साथ साथ उनकी दार्शनिक पद्धति की उन प्रवृत्तियों का भी विवेचन किया है जिनका अध्ययन विटगेन्स्टाइन के दर्शन की बारीकियों को समझने का आधार प्रदान करता है ।

I

लुडविग जोसेफ जॉन विटगेन्स्टाइन का जन्म १८८९ में वियना (ऑस्ट्रिया) और मृत्यु १९५१ में केम्ब्रिज में हुई । रियलश्यूले में प्रारम्भिक शिक्षा (१९०३-६) के बाद विटगेन्स्टाइन अभियान्त्रिकी की उच्च शिक्षा के लिए बर्लिन और तत्पश्चात मैनचेस्टर गये । मैनचेस्टर में गणित के तार्किक आधारों के अध्ययन में दिलचस्पी उत्पन्न होने पर उन्होंने अपने एक मित्र के सुझाव पर बरट्रैण्ड रसेल की पुस्तक *द प्रिन्सिपल्स आव मैथमैटिक्स* का अध्ययन किया । इस पुस्तक का अध्ययन विटगेन्स्टाइन के जीवन में मील का पत्थर साबित हुआ क्योंकि इसके बाद उन्होंने अभियान्त्रिकी की ओर से अपना ध्यान हटाकर दर्शन का विधिवत् अध्ययन आरम्भ किया । रसेल की पुस्तक में उठाई गयी समस्यायों के अपने समाधान की सुसंगतता के बारे में फ्रेगे से राय लेने वे उनके पास गये ।

फ्रेगे के सुझाव पर विटगेन्स्टाइन १९११ में केम्ब्रिज जाकर रसेल से मिले । केम्ब्रिज में विटगेन्स्टाइन, रसेल की गणितीय तर्कशास्त्र की कक्षाओं में निरन्तर जाते रहे । विटगेन्स्टाइन ने १९१२ में ट्रिनिटी कॉलेज में स्नातक की शिक्षा हेतु प्रवेश लिया और रसेल के निर्देशन में गणितीय तर्कशास्त्र पर चिन्तन किया । शिक्षा सत्र के समाप्त होते-होते विटगेन्स्टाइन ने गणितीय तर्कशास्त्र में इतनी दक्षता प्राप्त कर ली कि रसेल को यह स्वीकार करना पड़ा कि तर्कशास्त्र के क्षेत्र में विटगेन्स्टाइन उनसे अधिक जानकारी रखते हैं ।

अक्टूबर १९१३ में विटगेन्स्टाइन ने नॉर्वे के एक गाँव में झोंपड़ी बनाकर रहने तथा तर्कशास्त्र के चिन्तन तथा लेखन का निर्णय लिया । अपने विचारों को विटगेन्स्टाइन टिप्पणियों के रूप में डायरी में दर्ज करते रहे जिसे बाद में *नोटबुक्स-१९१४-१६* के नाम से प्रकाशित किया गया । इसका विषय क्षेत्र तर्कशास्त्रीय दर्शन, जीवन, मृत्यु, ईश्वर, पुनर्जन्म और संकल्प-स्वातन्त्र्य है । इस प्रवास के दौरान जी. ई. मूर ने विटगेन्स्टाइन से मुलाकात की ।

प्रथम विश्व युद्ध (१९१४) में विटगेन्स्टाइन ने ऑस्ट्रिया की सेना में स्वयं सेवक के रूप में भर्ती ली । १९१९ में वे इटली में युद्धबंदी बना लिए गये । इस बीच १९१८ में उन्होंने *ट्रैक्टेटस* को पूरा कर लिया । युद्धबंदी कारावास से रिहाई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बाद विटगेन्स्टाइन ने ऑस्ट्रिया के एक गाँव में जाकर स्कूल के अध्यापक की नौकरी की । ऐसा उन्होंने अपनी इस मान्यता के आधार पर किया कि *ट्रैक्टेटस* में उन्होंने वह सब कुछ कह दिया है जो कि दर्शन शास्त्र में अन्तिम सत्य है । *ट्रैक्टेटस* के प्राक्कथन में वह लिखते हैं कि इस पुस्तक में वर्णित विचारों की वैधता मुझे अकाट्य और अन्तिम प्रतीत होती है । अतः मेरी मान्यता है कि मैंने समस्यायों की जड़ का अन्तिम निदान खोज निकाला है । उन्होंने माना कि *ट्रैक्टेटस* के बाद दर्शन शास्त्र में कुछ भी करने को शेष नहीं बचा है । परन्तु तार्किक भाववादियों, विशेष रूप से मोरित्ज श्लिक, रुडोल्फ कार्नेप और फ्रेडरिक वाइसमैन से दार्शनिक विचार-विमर्श में विटगेन्स्टाइन को यह अनुभूति हुई कि *ट्रैक्टेटस* दर्शनशास्त्र का अंत नहीं ।

इसी अनुभूति के पश्चात वह जनवरी १९२९ में केम्ब्रिज वापस आ गये । इसी वर्ष उनको पहले से ही प्रकाशित उनकी पुस्तक *ट्रैक्टेटस* पर पीएच. डी. की उपाधि प्रदान की गयी । इसी वर्ष अरिस्टोटेलियन सोसाइटी के दार्शनिक सम्मेलन के लिए उन्होंने एक लेख *सम रिमार्क्स ऑन लॉजिकल फॉर्म* लिखा । यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि इस लेख और *ट्रैक्टेटस* के अलावा उनकी किसी अन्य कृति का प्रकाशन उनके जीवन काल में न हो सका था । इस वर्ष विटगेन्स्टाइन ने छात्रवृत्ति हेतु अपनी लिखी हुई टिप्पणियाँ ट्रिनिटी कॉलेज को प्रस्तुत की, जो बाद में *फिलोसॉफिकल रिमार्क्स* के नाम से प्रकाशित हुई । इस पुस्तक को *ट्रैक्टेटस* और *फिलॉसोफिकल इन्वेस्टिगेशंस* को जोड़ने वाली कड़ी कहा जाता है । इसी वर्ष का एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य है विटगेन्स्टाइन का *लेक्चर्स ऑन इथिक्स* । इस व्याख्यान के अतिरिक्त उन्होंने नीतिशास्त्र पर न तो कोई अलग से व्याख्यान दिया और न ही कोई लेख लिखा । इसका कारण यह था कि वह यह मानते थे कि धर्म और नैतिकता ऐसे विषय हैं जिनकी भाषायी अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती है । कोई भी ऐसी अभिव्यक्ति निरर्थक होती है । अपने व्याख्यान लेक्चर्स ऑन इथिक्स में उन्होंने विज्ञान और नीतिशास्त्र के मापदण्डों के बीच अन्तर को स्पष्ट किया । इस व्याख्यान पर *ट्रैक्टेटस* के विचारों की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है । इसका यह विचार कि नैतिकता का भाषागत वर्णन संभव नहीं, वास्तव में *ट्रैक्टेटस* का विचार है । जनवरी १९३० में विटगेन्स्टाइन नें केम्ब्रिज में पढ़ाना शुरु किया । १९३३-३४ के उनके व्याख्यान *द ब्लू बुक* और १९३४-३५ के उनके व्याख्यान *द ब्राउन बुक* के नाम से उनकी मृत्यु के उपरांत प्रकाशित हुए । विटगेन्स्टाइन के कुछ अन्य व्याख्यान जो उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मृत्यु के बाद प्रकाशित हुए इस प्रकार हैं : *लेक्चरर्स एण्ड कन्वर्सेशंस ऑन एस्थेटिक्स साइकोलॉजी एण्ड रेलिजियस बिलीफ, लेक्चरर्स आन फिलोसॉफिकल साइकोलॉजी* १९४६-४७, *विटगेन्स्टाइन्स लेक्चरर्स इन १९३०-३१*। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी प्रकाशित पुस्तकों को प्रायः दो श्रेणियों में रखा जाता है- प्रथम श्रेणी में *फिलोसॉफिकल रिमार्क्स, फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस, ऑन सर्टेन्टि, रिमार्क्स ऑन द फिलोसॉफी ऑव साइकोलॉजी* और द्वितीय श्रेणी में *फिलोसॉफिकल ग्रामर, रिमार्क्स ऑन द फांऊन्डेशंस ऑव मैथमैटिक्स,* और *कल्चर एण्ड वैल्यू* पुस्तकें आती हैं।

१९२९ से १९३६ तक वे केम्ब्रिज में रहे । १९३६ में ट्रिनिटी कॉलेज की फेलोशिप की समाप्ति के बाद उन्होंने नॉर्वे में एकान्त में अध्ययन किया और १९३६ में केम्ब्रिज वापस आ गए । १९३८ में विटगेन्स्टाइन ने *फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस* को प्रकाशित करने का मन बना लिया था परन्तु इस पुस्तक के भाग- II से वह अब भी सन्तुष्ट न थे । इसीलिए उन्होंने स्वयं इसका प्रकाशन रुकवा दिया था । फरवरी १९३९में उनको केम्ब्रिज में प्रोफेसर का पद प्राप्त हुआ । अगस्त १९४७ में प्रोफेसर के पद से इस्तीफा देने से पहले विटगेन्स्टाइन ने द्वितीय विश्व युद्ध में हस्पताल के वार्डो में दवाइयों के पहुँचाने का भी काम किया । १९४९ में नॉर्मन मैलकल के आमन्त्रण पर वह अमरीका गए और वहाँ पर दार्शनिक संगोष्ठियों में भाग लिया । वहीं पर वह बीमार पड़ गए । केम्ब्रिज वापस आने पर यह साबित हुआ कि उनको प्रॉस्टेट का कैंसर है । फिर भी विटगेन्स्टाइन ने दार्शनिक चिन्तन जारी रखा । इस समय उन्होंने *मूअर के डिफेन्स आफ कामन सेन्स* पर अपनी टिप्पणियाँ लिखीं जो बाद में प्रकाशित उनकी पुस्तक ऑन सर्टेन्टि में मिलती है । मृत्यु के दो दिन पहले तक वह शोध कार्यों में व्यस्त रहे ।

II

विटगेन्स्टाइन पर बचपन में प्रमुख रूप से जिन विद्वानों के विचारों का प्रभाव पड़ा उनमें कार्ल क्राउस, शोपेनहावर, ऑटो विनिन्गर, आगस्टाइन, टॉलस्टॉय, दोस्तोस्वास्की, नीत्शे, फ्रेगे, रसेल और स्राफा के नाम प्रमुख हैं । इन विद्वानों के जिन विचारों का विटगेन्स्टाइन पर प्रभाव पड़ा उसका उल्लेख न केवल विटगेन्स्टाइन के दर्शन की पृष्ठभूमि तैयार करता है बल्कि इससे विटगेन्स्टाइन के दर्शन को समग्रता से समझा जा सकता है ।

कार्ल क्राउस की पत्रिका *डाई फेकेल (द टॉर्च)* अपने प्रकाशन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुरुआत (१८८९) से ही वियना के बुद्धिजीवियों में प्रसिद्धी पा चुकी थी । विटगेन्स्टाइन की बड़ी बहन मारगरेट ने विटगेन्स्टाइन का परिचय कार्ल क्राउस और शोपेनआवर के विचारों से कराया । इस विचार से कि यदि दो अशुभों में से किसी एक को चुनने की मजबूरी हो तो उसे ही चुनना चाहिए जो कि अपेक्षाकृत कम अशुभ हो, के विपरीत कार्ल क्राउस ने यह विचार दिया कि यदि मुझे दो अशुभों में से जो अपेक्षाकृत कम अशुभ है, को चुनने की मजबूरी हो तो मैं किसी को भी नहीं चुनूँगा । इस प्रकार मूल्य-मीमांसा की अर्थक्रियावादिता से असहमत होते हुई कार्ल क्राउस ने घोर आदर्शवाद का समर्थन किया । कार्ल क्राउस के विचारों की छाप न केवल विटगेन्स्टाइन के नीतिशास्त्रीय विचारों बल्कि उनके जीवन आचरण में भी देखी जा सकती है ।

विटगेन्स्टाइन ने शोपेनहावर के विचारों का अध्ययन किया । यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि शोपेनहावर की पुस्तक *द वर्ल्ड एज विल एण्ड द वर्ल्ड एज रिप्रेजेन्टेशन* (इच्छा की तरह संसार और पुनर्प्रस्तुतीकरण की तरह संसार) ने विटगेन्स्टाइन के प्रारम्भिक विचारों की नींव डाली । इमैनुएल काण्ट की तरह शोपेनहावर भी इन्द्रिय जगत् को आभास मात्र मानते हैं । परन्तु शोपेनहावर का अतीन्द्रिय प्रत्ययवाद काण्ट के व्यक्तिनिष्ठ प्रत्ययवाद से इस अर्थ में भिन्न है कि शोपेनहावर *न्युमेना* (परमार्थ सत्) की सत्ता को अस्वीकार करते हुए इसके स्थान पर *इथिकल विल* (नैतिक संकल्प) के जगत् की सत्ता को स्थापित करते हैं । शोपेनहावर अन्तःजगत् न कि किसी वाह्य अतीन्द्रिय जगत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं । कतिपय दार्शनिक यह मानते हैं कि फ्रेगे के वास्तववाद से प्रभावित होकर विटगेन्स्टाइन ने शोपेनहावर के अतीन्द्रिय प्रत्ययवाद को छोड दिया । फिर भी *ट्रैक्टेटस* और *नोटबुक्स* में यत्र तत्र, विशेष रूप से आध्यात्मिक विषयों में, शोपेनहावर का प्रभाव स्पष्ट है ।

ऑटो विनिन्गर की पुस्तक *सेक्स एण्ड करेक्टर* ने विटगेन्स्टाइन को प्रभावित किया । इस पुस्तक के विचारों को दो भागों में बाँटा जा सकता है - नकारात्मक और सकारात्मक । नकारात्मक पक्ष से तात्पर्य विनिन्गर का नारी की मनोवैज्ञानिकता के अवैज्ञानिक विश्लेषण से है । *सेक्स एण्ड करेक्टर* का सकारात्मक पक्ष, जिसने शायद विटगेन्स्टाइन को प्रभावित किया, इसकी यह स्वीकृति है कि तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र दोनों एक ही हैं । विद्वता का अर्थ है विशुद्ध नैतिकता । विनिन्गर के अनुसार वह व्यक्ति जो इन्द्रियजन्य सुखों से ऊपर नहीं उठ पाया है, उसे जीने का कोई अधिकार नहीं है । उन्होंने भौतिकता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थान पर आध्यात्मिकता की सार्थकता बताई । आध्यात्मिक जीवन ही एक मात्र सार्थक जीवन है । उनके अनुसार ''यदि हम अनुकम्पित मनुष्यों के बारे में विचार करें तो पायेंगे कि उनके प्रेम की शुरुआत प्रायः आत्मनियंत्रण, अपकर्ष, और आत्मदमन से होती है । उनके नैतिक दृष्टिकोण का कायाकल्प होता है - प्रेम की गई वस्तु के द्वारा उनमें विशुद्धता एक प्रक्रिया उत्पन्न होती हुयी प्रतीत होती है ।''[२] विटगेन्स्टाइन, विनिन्गर के इन विचारों से प्रभावित थे । विटगेन्स्टाइन के द्वारा अपार धनसम्पदा का परित्याग एवं उनका संन्यासी जैसा जीवन इसका प्रमाण है । वह कहते हैं कि उनका इन्द्रियसुखों में कोई विश्वास नहीं है ।

मैलकम के अनुसार आगस्टाइन की पुस्तक *कॉन्फेशंस और विटगेन्स्टाइन* की दार्शनिक पद्धति में काफी समानताएँ हैं ।[३]

अपने गुरू बरट्रैन्ड रसेल की पुस्तक *द प्रिन्सिपल्स आफ मैथमैटिक्स* के विचारों का विटगेन्स्टाइन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था । इस पुस्तक में रसेल ने तत्कालीन प्रचलित विचारधारा, जो कि काण्ट के समय से ही चली आ रही थी, जिसके अनुसार गणित तर्कशास्त्र का आधार है, को अस्वीकार कर दिया । रसेल ने तर्कशास्त्र को गणित का आधार माना । रसेल को विटगेन्स्टाइन की विद्वता से सर्वप्रथम उस समय साक्षात्कार हुआ जब विटगेन्स्टाइन ने उनसे यह प्रश्न किया कि तर्कशास्त्र का आधार क्या है ? प्रथम विश्वयुद्ध के पहले विटगेन्स्टाइन और रसेल घंटों दार्शनिक वार्तालाप किया करते थे ।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान विटगेन्स्टाइन ने टॉलस्टॉय की *ग्रॉस्पल इन ब्रीफ* और नीत्शे की *द एंटी क्राइस्ट* पढी । विटगेन्स्टाइन ने टॉलस्टॉय की अत्यन्त प्रशंसा की है । विटगेन्स्टाइन युद्धकाल में *गॉस्पल इन ब्रीफ* को सदैव अपने पास रखते थे । इसी कारण से उस समय लोग उनको 'गॉस्पल वाला' के नाम से पुकारते थे । एक सीमा तक विटगेन्स्टाइन *द एंटी क्राइस्ट* के विचारों से सहमत थे ।

विटगेन्स्टाइन पर उपरोक्त एवं अन्य महान् दार्शनिकों के विचारों के प्रभाव के प्रसंग में यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि इन दार्शनिकों का प्रभाव पूर्ववर्ती विटगेन्स्टाइन अर्थात् *ट्रैक्टेटस* में देखा जा सकता है । उत्तरवर्ती विटगेन्स्टाइन अर्थात् विटगेन्स्टाइन ने १९२९ के बाद जो कुछ भी लिखा, पर किस हद तक वाह्य विचारों का प्रभाव पड़ा, कहना मुश्किल है । उत्तरवर्ती विटगेन्स्टाइन के विचार पूर्णतः मौलिक हैं । वास्तव में १९३३ के आस पास विटगेन्स्टाइन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दार्शनिक विचारों में आमूल-चूल परिवर्तन आया । उनका उन दार्शनिक समस्याओं से आत्मसाक्षात्कार हुआ जिनके समाधान में वह जीवन पर्यन्त क्रियाशील रहे । यह ऐसा परिवर्तन था जिसकी परिणति *फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस* के रूप में हुई । यह ऐसे दार्शनिक विचार थे जिनके बारे में यह कहना कि इनकी प्रेरणा विटगेन्स्टाइन को कहाँ से मिली, संभव नहीं । नॉर्मन मैलकम के अनुसार *ट्रैक्टेटस* के लेखक ने फ्रेगे और रसेल से सीखा । परन्तु *फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस* के लेखक का कोई पूर्ववर्ती नहीं था ।[४]

III

विटगेन्स्टाइन के समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक जगत् में एफ. एच. ब्रैडले (१८४६-१९२४) टी. एच. ग्रीन (१८३६-१८८२) और बर्नाड बोसांके (१८४८-१९२३) की आदर्शवादी संकल्पनाओं का अवसान तथा फ्रेगे और रसेल की वस्तुवादी विचारधारा का प्रचार-प्रसार हो रहा था । यह वास्तव में आदर्शवादी तथा वस्तुवादी संकल्पनाओं के बीच संक्रमण का काल था । विटगेन्स्टाइन शोपेनहावर के आदर्शवाद से प्रभावित थे । बाद में वह फ्रेगे के वस्तुवाद के सम्पर्क में आए । *ट्रैक्टेटस* में विटगेन्स्टाइन यह स्वीकार करते हैं कि अब वह ऐसे मुकाम पर पहुँच चुके हैं जहाँ पर प्रत्ययवाद और वास्तववाद आपस में मिल जाते हैं ।[५] यहाँ पर विटगेन्स्टाइन के प्रमुख दार्शनिक विचारों की एक झलक वांछनीय है ।

विटगेन्स्टाइन के अनुसार वह जिसके बारे में कुछ कहा जा सकता है (सेइंग) और वह जिसके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है बल्कि जिसे केवल दर्शाया जा सकता है (शोइंग) के बीच में अन्तर करना ही *ट्रैक्टेटस* का मुख्य उद्देश्य है । शोइंग के अन्तर्गत धर्म और नीतिशास्त्र आते हैं इसलिए ये ऐसे विषय हैं जिनके बारे में कुछ कहना अयुक्तियुक्त अपलाप होता है । जो कुछ भी कहा जा सकता है वह 'भाषा का चित्र-सिद्धान्त' के आधार पर कहा जाता है । 'भाषा का चित्र-सिद्धान्त' शोइंग के अन्तर्गत आने वाले विषयों की व्याख्या नहीं करता इसलिए ऐसे विषयों की कथनात्मक व्याख्या संभव नहीं।

विटगेन्स्टाइनियों में इस विषय पर काफी चर्चा हो चुकी है कि विटगेन्स्टाइन ने प्रथम युद्ध के दौरान किस प्रकार से अपने 'भाषा का चित्र सिद्धान्त' की स्थापना की ।[६] विटगेन्स्टाइन ने किसी पत्रिका में, पेरिस के न्यायालय में, कार दुर्घटना का नक्शे के द्वारा प्रस्तुतीकरण पर मनन किया । उनके मन में यह विचार आया कि नक्शे का तार्किक आकार वही है जो वि.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुर्घटनाग्रस्त कार का है । दूसरे शब्दों में, नक्शा कार दुर्घटना की तस्वीर है। इसी विचार को भाषा पर आरोपित करते हुए विटगेन्स्टाइन ने यह स्थापित किया कि प्रतिज्ञप्तियाँ तथ्य की तस्वीर होती हैं । ऐसा इसलिए है क्योंकि प्रतिज्ञप्तियों और बाह्य जगत् की उस वस्तुस्थिति में, जिसका कि ये प्रतिज्ञप्तियाँ प्रतिनिधित्व करती हैं, संवादिता होती है । प्रतिज्ञप्तियों की तार्किक संरचना वही होती है जो कि वस्तु-स्थिति-विशेष की होती है । तार्किक स्थिति की इसी समानता के कारण ही भाषा बाह्य जगत् का यथार्थ चित्रण करनें में सफल होती है । अपने इस विचार को विटगेन्स्टाइन ने सर्वप्रथम 'तार्किक चित्रांकन का सिद्धान्त' कहा जो आगे चलकर 'भाषा का चित्र-सिद्धान्त' के नाम से विख्यात हुआ । यदि प्रतिज्ञप्ति और वस्तु-स्थिति-विशेष की संरचनाओं में संवादिता होती है तो प्रतिज्ञप्ति सत्य अन्यथा असत्य होती है । इस भाषा का चित्र सिद्धान्त के आधार पर विटगेन्स्टाइन ने *ट्रैक्टेटस* में यह स्थापित किया कि आर्दश भाषा वह है जिसमें एक प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति एक आणविक तथ्य की तस्वीर होती है । अपने इस विचार को विटगेन्स्टाइन ने *फिलोसॉफिकल इन्वस्टिगेशंस* में छोड दिया । अब उनके अनुसार भाषा केवल एक ही कार्य नहीं करती - अर्थात् प्रतिज्ञप्तियाँ केवल तथ्य की तस्वीर का कार्य नहीं करती, वे केवल विचारों को पहुँचाने का कार्य नहीं करती हैं । भाषा अनेकोनेक कार्य करती है । *ट्रैक्टेटस* में विटगेन्स्टाइन ने यह माना कि भाषा का सारतत्त्व होता है। भाषा का सारतत्व भाषा की संरचना है जिसके आधार पर अर्थ का निर्धारण होता है । *फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस* के अनुसार भाषा का कोई सारतत्व नहीं होता है । भाषा में अर्थ का निर्धारण भाषा के प्रयोग और भाषा के सन्दर्भ, जिसे विटगेन्स्टाइन ने भाषा-खेल कहा, के द्वारा होता है । *फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस* के विटगेन्स्टाइन के अनुसार किसी शब्द और उसके अर्थ के बीच के सम्बध का निर्धारण उस शब्द के प्रयोग के आधार पर होता है न कि किसी सिद्धान्त के आधार पर ।

विटगेन्स्टाइन के द्वारा भाषा-खेल के सम्प्रत्यय की उत्पत्ति से जुड़ी एक मनोरंजक घटना की चर्चा मैलकम ने की है ।[७] एक दिन डायसन और विटगेन्स्टाइन एक ऐसे मैदान को पार कर रहे थे जहाँ पर फुटबाल खेला जा रहा था । इस खेल को देखकर विटगेन्स्टाइन के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि किसी खेल को खेलने और भाषा के प्रयोग में समानता है । भाषा में हम शब्दों के द्वारा खेल खेलते हैं । जिस प्रकार कोई खेल किसी निर्धारित नियम के अन्तर्गत खेला जाता है उसी प्रकार किसी शब्द के अर्थ का निर्धारण उस शब्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रयोग के आधार पर होता है । और यह प्रयोग पूर्व निर्धारित नियमों और रीति-रिवाजों के आधार पर संचालित होता है । इन पूर्व निर्धारित नियमों और रीति-रिवाजों को अनदेखा करते हुए जब किसी शब्द या अर्थ के निर्धारण का प्रयास किया जाता है; अर्थात् जब किसी शब्द या वाक्य के अर्थ का निर्धारण उसके भाषा-खेल से भिन्न भाषा खेल में किया जाता है तब अनावश्यक दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं । इस प्रकार, दर्शनशास्त्र का कार्य विभिन्न प्रकार के भाषा-खेलों का स्पष्टीकरण और उनमें अन्तर स्पष्ट करना है । उत्तरवर्ती-विटगेन्स्टाइन के अनुसार दर्शनशास्त्र का कार्य दार्शनिक समस्याओं का स्पष्टीकरण या निराकरण (डिजोलुशन) करना है न कि उनका हल (सोलुशन) ।

विटगेन्स्टाइन की विशिष्ट दार्शनिक प्रणाली की चर्चा करते हुए मैलकम कहते हैं कि एक बार विटगेन्स्टाइन ने अपने व्याख्यान के दौरान यह कहा कि वह एक अच्छी पुस्तक होगी जिसमें केवल चुटकुले होंगे । इसी प्रकार एक अन्य व्याख्यान में उन्होंने यह विचार प्रकट किया कि ऐसी दार्शनिक पुस्तक लिखी जा सकती है जिसमें केवल प्रश्न हों । मैलकम के अनुसार विटगेन्स्टाइन ने अपने इन दोनों विचारों का प्रयोग किया । उदाहरण के लिए कोई कुत्ता क्यों दर्द का बहाना नहीं कर सकता? क्या वह अत्यन्त ईमानदार है ?(फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस -२५०)''[८]

तार्किक भाववादियों के सत्यापन के सिद्धान्त - अर्थात् किसी वाक्य का अर्थ इसकी सत्यापन की पद्धति है - के बारे में विटगेन्स्टाइन का क्या मन्तव्य था, यह काफी विवादास्पद विषय रहा है । प्रस्तुत उपाख्यान, मैलकम के अनुसार, इस विवादास्पद प्रश्न पर प्रकाश डालता है । दार्शनिक और मनोचिकित्सक जी.एफ. स्टाउट के द्वारा विटगेन्स्टाइन से यह पूछे जाने पर कि उनका सत्यापन के सिद्धान्त के बारे में क्या विचार है, विटगेन्स्टाइन ने अधोलिखित दृष्टान्त को उत्तर स्वरूप कहा: ''कल्पना कीजिए कि एक शहर में पुलिस को व्यक्तियों की आय, रोजगार, मूल निवास इत्यादि के बारे में सूचना इकट्ठा करना है । इस सूचना के लिए एक रिकार्ड बनाया जाता है जिसका उपयोग इस सूचना के एकत्रीकरण में किया जाता है । इस रिकार्ड बनाए जाने के दौरान कभी ऐसा होता है कि पुलिस किसी व्यक्ति से पूछताछ करती है तो यह पाती है कि वह व्यक्ति कोई काम नहीं करता । पुलिस इस तथ्य को भी अपने रिकार्ड में दर्ज कर लेती है क्योंकि यह तथ्य उस व्यक्ति के बारे में एक महत्त्वपूर्ण सूचना है ।''[९]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैलकम के अनुसार विटगेन्स्टाइन के इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि यदि सत्यापन के सिद्धान्त के आधार पर किसी वाक्य का अर्थ समझ में न आए तब ऐसी स्थिति में यह जानकारी कि उसका सत्यापन संभव नहीं है, उस वाक्य के बारे में एक ऐसी महत्त्वपूर्ण सूचना है जिससे आप उस वाक्य को अच्छी तरह समझ जाते हैं । अर्थात् आप उसे और अच्छी तरह समझ जाते हैं एवं यह नहीं पाते कि उसमें समझने जैसा कुछ भी नहीं है । यह तार्किक भाववादियों के सत्यापन के सिद्धान्त के विपरीत है जो यह मानता है कि जिस वाक्य का सत्यापन संभव नहीं है वह अर्थहीन है अर्थात् उसमें समझने जैसा कुछ भी नहीं है । अपने मित्रों फ्रैंक रैमसे और पीरो स्राफा के द्वारा की गई आलोचनाओं ने विटगेन्स्टाइन के नये दर्शन को आधार प्रदान किया । इन आलोचनाओं से प्रभावित होकर विटगेन्स्टाइन ने *ट्रैक्टेटस* के तार्किक अणुवाद को अस्वीकार किया । परन्तु ऐसा कहना असंगत होगा कि विटगेन्स्टाइन का नया दर्शन *ट्रैक्टेटस* से कोई सम्बन्ध नहीं रखता और यह कि *ट्रैक्टेटस* को विटगेन्स्टइन ने पूर्णतया खारिज कर दिया । वस्तुतः विटगेन्स्टाइन के दर्शन का यह एक विवादास्पद पहलू है कि *ट्रैक्टेटस* और *फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस* के विचारों में एक निरन्तरता है या फिर कि दोनों में पूर्णतया अलग-अलग दार्शनिक विचार व्यक्त किए गये हैं। यह कहना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है कि यद्यपि विटगेन्स्टाइन ने *ट्रैक्टेटस* के कतिपय प्रमुख विचारों को अस्वीकार कर दिया । फिर भी *फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस* को *ट्रैक्टेटस* के प्रकाश में देखने से दोनों के बीच के अन्तर और समानता को अच्छी तरह समझा जा सकता है । शायद यही कारण है कि विटगेन्स्टाइन ने *फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस* के आमुख में यह लिखा है कि वह *फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस* को ऐसी पुस्तक के रूप में लिखना चाहते थे जिसकी बायी तरफ *ट्रैक्टेटस* और दायीं तरफ *फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस* के विचार हों ।

विटगेन्स्टाइन, एक तरफ, जिस प्रकार का दार्शनिक अध्ययन विश्वविद्यालयों में होता है उसके हिमायती नहीं थे तो दूसरी तरफ वह दार्शनिकों द्वारा शोध पत्रिकाओं में प्रकाशन के उद्देश्य से लिखे गये लेखों को पसन्द नहीं करते थे । विटगेन्स्टाइन के बारे में ये दोनों विचार आज भी कुछ दार्शनिकों के बीच में एक असत्यापित मिथक् की तरह मौजूद हैं । कतिपय दार्शनिक विटगेन्स्टाइन की दार्शनिक लेखों के प्रकाशन के प्रति अरुचि को किसी विटगेन्स्टाइनियन दर्शन के लेख की आलोचना के लिए प्रयुक्त करते हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण के लिए प्रो. सुरेश चन्द्र की यह मान्यता है कि विटगेन्स्टाइन दार्शनिक पत्रिकाओं में लेखों के प्रकाशन के खिलाफ थे ।[१०] विटगेन्स्टाइन दर्शन की इस प्रकार की आलोचना से दार्शनिकों को बचना चाहिए क्योंकि ऐसी आलोचना विटगेन्स्टाइन के दर्शन का वास्तविक प्रस्तुतीकरण नहीं है । वस्तुतः विटगेन्स्टाइन दार्शनिक लेखों के प्रकाशन और दर्शन की व्यावसायिकता के विरुद्ध इसलिए थे क्योंकि उनके अनुसार इसमें कृत्रिमता झलकती है । मैलकम और रे मोन्क दोनों की पुस्तकों से यह स्पष्ट है कि विटगेन्स्टाइन *फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस* के प्रकाशन में केवल इसलिए देर करते रहे क्योंकि जब भी वह इसके प्रकाशन के बारे में सोचते, उन्हें इसका प्रकाशन अपरिपक्व लगता ।[११] इसी प्रकार, विटगेन्स्टाइन ने अपने सभी शिष्यों को विश्वविद्यालयों में लेक्चरशिप न करने की सलाह दी थी । स्मेथीज़ के बारे में तो उन्होंने यहाँ तक कहा था कि उसे लेक्चरशिप मिल ही नहीं सकती क्योंकि वह अत्यन्त गम्भीर व्यक्ति हैं ।[१२] मैलकम को अमरीका में लेक्चरशिप मिलने पर विटगेन्स्टाइन ने उनको यह लिखा कि "अपने को धोखा देने का प्रलोभन अत्यन्त अधिक होगा । केवल चमत्कार के द्वारा ही आप दर्शन पढ़ाने में अच्छा काम कर सकते हैं । कृपया मेरे इन शब्दों को याद रखिए चाहे भले ही आप वह सब कुछ भूल जायें जिसे मैंने कभी भी आपको कहा है । ...कोई और व्यक्ति इस बात को आपको नहीं कहेगा ।"[१३] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विटगेन्स्टाइन जिस प्रकार से विश्वविद्यालयों में दर्शनशास्त्र पढ़ाया जाता है उसके घोर विरोधी इस कारण से थे क्योंकि इसमें दार्शनिक सत्यनिष्ठा का अभाव पाया जाता है । यही बात दार्शनिक लेखों के प्रकाशन के बारे में भी लागू होती है । विटगेन्स्टाइन के इन विचारों से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि दार्शनिक लेखों का प्रकाशन बन्द हो जाना चाहिए या फिर दार्शनिकों को लेक्चरशिप करनी ही नहीं चाहिए । यद्यपि सतही तौर पर विटगेन्स्टाइन के मन्तव्य का यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है । परन्तु वास्तव में विटगेन्स्टाइन ने ऐसा इसलिए कहा क्योंकि वह दार्शनिक सत्यनिष्ठा के पक्षधर थे ।

इस प्रकार, व्यावहारिक जीवन तथा दार्शनिक चिन्तन दोनों ही क्षेत्रों में विटगेन्स्टाइन पद्धति की प्रभावोत्पादक विशेषताएँ हैं । व्यावहारिक जीवन के बारे में विटगेन्स्टाइन का मूल-मंत्र यह था कि इस तरह से जीना चाहिए कि समस्याएँ उत्पन्न ही न हों । *कल्चर एण्ड वैल्यू* में वह कहते हैं कि "जीवन की समस्याओं का हल जीवन-यापन का ऐसा तरीका है जिससे ये समस्याएँ स्वतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विलुप्त हो जाएँ । समस्या-ग्रस्त जीवन यह दर्शाता है कि आपका जीवन, जीवन शैली के अनुकूल नहीं है । अतः आपको अपनी जीवन शैली ही बदलनी होगी और जब आपका जीवन, जीवन शैली के अनुकूल हो जाएगा तब समस्याएँ भी लुप्त हो जायेंगी ।''[१४] विटगेन्स्टाइन की दार्शनिक पद्धति की मुख्य प्रतिज्ञप्ति है : 'सब कुछ जैसे का तैसा रख देना' (टू पुट इवरीथिंग ऐज इट इज)।[१५]

व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग, **काली चरण पाण्डेय**
गवर्नमेंट कॉलेज, धर्मशाला,
हिमाचल प्रदेश १७६२१५

टिप्पणियाँ

१. रे मोन्क, **लुडविग विटगेन्स्टाइन: द ड्यूटी ऑव जीनियस,** विन्टेज, यु.के. १९९१, पृ.xviii.
२. वहीं, पृ. ६२ ।
३. नॉर्मन मैलकम, **लुडविग विटगेन्स्टाइन : ए मेमॉयर,** आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, लंदन, १९५८, पृ. २१ ।
४. वहीं पृ. १५ ।
५. लुडविग विटगेन्स्टाइन, **ट्रैक्टेट्स,** आमुख ।
६. रे मोन्क, पृ. ११८ और नॉर्मन मैलकम, पृ. ६८९ ।
७. नॉर्मन मैलकम, पृ. ६५ ।
८. वहीं, पृ. २९ ।
९. वहीं, पृ. ६५-६६१
१०. सुरेश चन्द्र, **जर्नल ऑव इण्डियन कौंसिल ऑव फिलोसॉफिकल रिसर्च,** खण्ड १४, अंक ३, पृ. १५३-१६४ ।
११. रे मोन्क, और नॉर्मन मैलकम, पृ. १-२ ।
१२. नॉर्मन मैलकम, पृ. ३० ।
१३. वहीं, पृ. ३७ ।
१४. लुडविग विटगेन्स्टाइन, **कल्चर एण्ड वैल्य,** ब्लैकवेल पब्लिशर्स, यु. के., १९९८, पृ. ३१ ।
१५. अशोक वोहरा, **विटगेन्स्टाइन्स फिलोसॉफी आव माइन्ड,** क्रूम हेल्म, लंदन और सिडनी, पृ. ३ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्य दर्शन में ज्ञान-सिद्धान्त एवं प्रमाता-विमर्श

किसी भी दर्शन में ज्ञान सिद्धान्त का विवेचन मूलरूप से ज्ञान के तीन घटक – प्रमाण, प्रमेय व प्रमाता के स्वरूप के साथ ज्ञान की प्रक्रिया एवं उपलब्ध ज्ञान के विश्लेषणात्मक विवेचन पर भी आधारित होता है । सांख्य-दर्शन में ज्ञान साधन के रूप में तीन प्रमाणों – दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमान एवं आगम[1] को स्वीकार किया गया है, तथा व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ[2] को प्रमेय बताया गया है। परन्तु सांख्य-दर्शन में ज्ञानसिद्धांत का सबसे विवादास्पद, एवं समस्यात्मक पहलू है – प्रमाता या ज्ञाता का निर्धारण। सांख्य दर्शन के अनुसार ज्ञान उत्पन्न होता है, एवं यहाँ ज्ञान का उत्पन्न होना इस बात का संकेत है कि ज्ञान का आश्रय अवश्य ही विकारशील होना चाहिए । यह विकारशीलता सांख्यमतानुसार पुरुष में सम्भव नहीं है क्योंकि सांख्य का पुरुष निर्विकार है ।[3] फिर ज्ञान का आश्रय या ज्ञाता (प्रमाता) किसे माना जाय ? इस प्रश्न का समुचित उत्तर देने के लिए सांख्य दर्शन में उपलब्ध ज्ञान की परिभाषा पर विचार करते हैं ।

ईश्वरकृष्ण के मतानुसार 'निरन्तर तत्त्वज्ञान का अभ्यास करने पर, मैं कर्ता नहीं हूँ, न सुख-दुःख आदि मेरा हैं, न मैं हूँ, इस प्रकार पूर्ण रूपेण चैतन्य होने के कारण केवल विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है ।'[4] परन्तु यह विशुद्ध ज्ञान क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं, ''वह चित्तवृत्ति जिसका विषय असन्दिग्ध अर्थात् निश्चित है, अविपरीत है और नवीन है, प्रमा कहलाती है'' ।[5] परन्तु वस्तुतः तो चित्त या बुद्धि की वृत्ति जड़ होती है, अतः उसे ज्ञान कहा ही नहीं जा सकता है । इस समस्या के समाधान हेतु वाचस्पति मिश्र प्रमा को दो प्रकार से परिभाषित करते हैं; प्रथम दृष्टि में चित्तवृत्ति को प्रमा कहा गया है, तो द्वितीय दृष्टि से पुरुष का बोध ही प्रमा है।[6] इनके अनुसार मुख्य अर्थ में बुद्धि- वृत्ति प्रमा है और गौण अर्थ में पुरुष का बोध ।

वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रस्तुत प्रमा या ज्ञान की परिभाषा एक और समस्या उपस्थित कर देती है, जिसका विवेचन विज्ञान भिक्षु के मतानुसार इस प्रकार है, ''यदि प्रमा रूपी फल को केवल पुरुषनिष्ठ माना जाय, तो बुद्धि वृत्ति को प्रमाण कहा जायेगा । यदि प्रमा को मात्र बुद्धिनिष्ठ माना जाय तो इन्द्रिय-सन्निकर्ष को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी प्रमाण मानना पड़ेगा और ऐसी स्थिति में चैतन्य पुरुष तो प्रमा का साक्षी मात्र हो सकता है, प्रमाता नहीं । यदि पुरुष के बोध और बुद्धि-वृत्ति दोनों को प्रमा कहा जाय, तो प्रमा भेद से उक्त दोनों (बुद्धि-वृत्ति और इन्द्रिय-सन्निकर्ष आदि) प्रमाण कहे जायेंगे । तात्पर्य यह है कि यदि प्रमा पुरुषनिष्ठ है तो बुद्धि-वृत्ति प्रमाण है, और प्रमा को बुद्धिनिष्ठ माना जाय तो इन्द्रिय-सन्निकर्ष को प्रमाण माना जाएगा ।[७]

यहाँ स्थिति एवं अवस्था भेद के कारण बुद्धिवृत्ति प्रमा एवं प्रमाण दोनों में प्रयुक्त हो रही है, जबकि तर्कशास्त्री, तत्त्वमीमांसक एवं ज्ञानमीमांसक तीनों ही प्रमा एवं प्रमाण में स्पष्ट अन्तर करते हैं । बुद्धि-वृत्ति किसे कहते हैं, यहाँ इस प्रश्न का उत्तर जानना अभीष्ट होगा । निर्विवाद रूप से सांख्य-दर्शन में बुद्धि के घटाकार, पटाकार आदि होने को 'वृत्ति' की संज्ञा दी गयी है । संगमलाल पाण्डेय-वर्णित वृत्ति को बौद्धों के विज्ञान एवं जॉन लॉक के *आइडिया* के समान मानते हैं[८] परन्तु लॉक के आइडिया व सांख्य की वृत्ति को समान समझना अनुचित है । लॉक के दर्शन में आइडिया या विचार ज्ञान न होकर ज्ञान के विषय हैं, जबकि सांख्य में बुद्धि-वृत्ति प्रमा या प्रमाण दोनों अर्थों में प्रसंगानुसार प्रयुक्त हैं, परन्तु ज्ञान के विषय के रूप में कहीं भी नहीं ।

परन्तु यहीं पर वे सांख्य-दर्शन में वर्णित ज्ञान प्रक्रिया की एक मौलिक एवं नवीन व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । उनके अनुसार जब बुद्धि-वृत्ति उत्पन्न होती है, तो दो प्रक्रियाएँ घटित होती हैं, पहली प्रक्रिया है- 'यह घट है, दूसरी प्रक्रिया है - 'मैं इस घट को जानता हूँ ।' पहली प्रक्रिया बुद्धि-वृत्ति का परिणाम है, जबकि दूसरी पुरुष या साक्षी का व्यापार । इस प्रकार प्रत्यक्ष में पुरुष और बुद्धि दोनों साथ-साथ चलते रहते हैं । इन दोनों का साथ-साथ घटित होना सांख्य दर्शन में वर्णित प्रमेय के अस्तित्व एवं उसके ज्ञेय होने के अपरिहार्य सम्बन्ध का स्पष्टीकरण है ।

यदि हम ज्ञान की उपरोक्त प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं, तो ज्ञाता या प्रमाता के रूप न तो मात्र बुद्धि-वृत्ति स्वीकार्य होगी, क्योंकि यह मात्र प्रथम चरण है[१०] और न ही मात्र विशुद्ध चेतन पुरुष ही प्रमाता कहा जा सकेगा,[११] क्योंकि पुरुष चेतन है, वह किसी भी पदार्थ की क्रिया में भाग नहीं लेता है और किसी भी पदार्थ का उपादान कारण नहीं है, और इस सम्बन्ध में प्रकृति के असमान है ।[१२] ज्ञान की प्रक्रिया में जो भी सक्रिय अंश है उसका आधार बुद्धि है एवं जो भी चैतन्य अंश है, वह पुरुषाश्रित है । एम. हिरियन्ना भी अपना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टिकोण कुछ इसी प्रकार अभिव्यक्त करते हैं, ''पुरुष बुद्धि को प्रकाशित करता है, अथवा उसमें प्रतिबिम्बित होता है, क्योंकि प्रकृति का विकार होने पर भी बुद्धि उसके प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने के लिए पर्याप्त रूप से तैजस् एवं सूक्ष्म है। इस प्रकार प्रकाशित होने पर वह ज्ञाता का काम करती है । अतः बुद्धि की पुरुष को अभिव्यक्ति हेतु एक माध्यम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस अर्थ में पुरुष और बुद्धि की एकता को हम पुरुष या अनुभवातीत, विशुद्ध चैतन्य आत्मा से अलग मानते हुए अनुभवशील आत्मा कह सकते हैं।''[१४] सांख्य-कारिका से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है, जब यह अभिव्यक्ति मिलती है कि जड़ बुद्धि चेतन जैसी हो जाती है और निष्क्रिय पुरुष सक्रिय जैसा हो जाता है।''[१५]

सांख्य दर्शन के ज्ञाता या प्रमाता के निर्धारण में अनुभवातीत एवं अनुभवशील पुरुष का विवेचन करते समय हिरियन्ना, पश्चिमी दार्शनिक काण्ट वर्णित अतीन्द्रिय आत्मा व आनुभविक आत्मा, जो ज्ञान के अन्तिम आधार के रूप में स्वीकृत है, से प्रभावित जान पड़ते हैं। परन्तु इस सन्दर्भ में काण्ट के इस चेतावनी को स्मरण रखा जाना चाहिए कि इस प्रकार का कोई भी विभाजन वास्तविक विभाजन न होकर ज्ञान-प्रक्रिया को सम्यक् रूप से समझने के लिए मानसिक विभाजन मात्र होता है।[१६]

इसके अतिरिक्ति दोनों दर्शनों में एक मूलभूत अन्तर है, जिन्हें इस प्रकार के तुलनात्मक प्रसंगों में विशेष रूप से स्मरण रखा जाना चाहिए। सर्वप्रथम काण्ट के लिए ज्ञान एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें बुद्धि ज्ञाता या पुरुष से बाहर न होकर ज्ञाता की मुख्य क्षमता के रूप में स्वीकार्य है, जबकि सांख्य-दर्शन में बुद्धि पुरुष की क्षमता नहीं हो सकती है, क्योंकि बुद्धि का आधार विकार है, जबकि पुरुष निर्विकार है, अतः बुद्धि का आश्रय प्रकृति को ही मानना पड़ेगा, इसलिए ए. बी. कीथ ने लिखा है कि ''सामान्य बौद्धिक चेतना से समग्र चैतन्य तक के सम्बन्ध का आरोपण प्रकृति पर ही कर दिया जाता है ।''[१७] द्वितीय, काण्ट की ज्ञान-मीमांसा में ज्ञेय के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना जा सकता है, अपितु वहाँ तो मात्र प्रतीतियों का ज्ञान होता है, जबकि सांख्य की ज्ञान-प्रक्रिया में ज्ञेय ज्ञाताधारित न होकर उससे बाहर स्थित होता है। यहाँ अनिवार्य रूप से वाह्यार्थ का सूचक है। यही पुरुष के अनेकत्व को सिद्ध करने का मुख्य आधार भी है, क्योंकि विभिन्न पुरुषों को होने वाले अनुभवों के समान अंश को उस वस्तु के अस्तित्व का प्रमाण स्वीकार किया जा सकता है, जो उसका मनोबाह्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार है। इस प्रकार यहाँ बुद्धि-वृत्ति ज्ञाता और ज्ञेय को जोड़ने वाली कड़ी मात्र है, ज्ञेय को हटाने वाली नहीं और इस मत का स्वाभाविक परिणाम है- ज्ञान का संवादिता सिद्धान्त। दोनों में तीसरा मूलभूत अन्तर यह है कि काण्ट के चिन्तन में अतीन्द्रिय एवं आनुभाविक विषय दोनों ही ज्ञान की सीमा से परे हैं, क्योंकि बुद्धि की वर्गणाओं का प्रयोग ज्ञाता के ज्ञान-प्राप्ति हेतु किया ही नहीं जा सकता है। ऐसा प्रयास तर्काभास की ओर ले जाता है, जिनका कोई अन्तिम निष्कर्ष नहीं हो सकता है। जबकि सांख्य-दर्शन में ज्ञाता के रूप में नहीं, तो पुरुष के ज्ञान के लिए आगम प्रमाण को सक्षम माना गया है, जो निर्विकार, तटस्थ साक्षी त्रैगुण्यरहित व विशुद्ध चैतन्य होता है, तथा प्रकृति की प्रथम विकृति या व्यक्त के रूप में बुद्धि का ज्ञान प्रत्यक्ष एवं बुद्धि-वृत्ति का ज्ञान अनुमान से स्वीकार्य है। इस प्रकार सांख्यदर्शन में चाहे चेतन पुरुष को ज्ञान का आधार माना जाय, या बुद्धि-वृत्ति को अथवा दोनों को संयुक्त रूप से, तीनों ही अवस्थाओं में इसके ज्ञान की संभावना को स्वीकार किया गया है ।

आगम के अतिरिक्त, सांख्य दर्शन में दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाण की स्वीकृति एवं विवेचन मिलता हैं, जिसका संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण अब हम करेंगे।

सांख्यकारिका में प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है- ''प्रतिविषयाध्यवसायोद्धष्टम्।''[१८] यहाँ प्रतिविषय का अर्थ विषय से सन्निकृष्ट इन्द्रिय एवं अध्यवसाय का अर्थ है- संशय एवं विपर्याय से भिन्न निश्चयात्मक ज्ञान।[१९] इस प्रकार उपरोक्त पद का वाच्यार्थ हुआ- ''इन्द्रिय का विषय से सन्निकर्ष होने पर बुद्धिगत तमोगुण का विषय से सन्निकर्ष होने पर बुद्धिगत तमोगुण का अभिनव हो जाता है और तदनुसार सत्त्वगुण का प्रकर्ष हो जाता है, एवं इस प्रकार सत्त्वगुण के प्रकर्ष से जो भी अध्यवसायात्मक ज्ञान होता है, उसी को प्रत्यक्ष कहा जाता है। दृष्ट प्रमाण में अध्यवसाय वृत्ति को स्पष्ट रूप से मुसलगाँवकर के शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है- ''जिस प्रकार सरोवर का जल प्रवाहशील रहने पर भी उसके निकलने के मार्ग में यदि कोई प्रतिबन्धक उपस्थित रहे तो वह वहाँ तक नहीं पहुँच पाता है, न तदाकार ही हो पाता है, परन्तु प्रतिबन्धक के हटते ही रास्ता पाकर बाहर निकल पड़ता है और नहर आदि के मार्ग से खेत तक पहुँचकर क्यारियों में प्रविष्ट होकर उनके चतुष्कोणादि आकारों जैसा परिणित हो जाता है, वैसे ही बुद्धि सत्त्व समस्त विषयों के प्रकाशन करने में स्वाभाविक रूप से समर्थ रहने पर भी प्रतिबन्धक तमस् के होने से आत्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपना कार्य नहीं कर पाता है, परन्तु जब चक्षु आदि इन्द्रिय सन्निकर्ष तक पहुँचने में स्वयं असमर्थ रहने पर भी इन्द्रियात्मक नलिकाओं के रास्ते घट आदि विषयों तक पहुँचकर तद्-तद् विषय के आकार में परिणित हो जाता है। बुद्धि सत्त्व के इस विषयाकार परिणाम को ही अध्यवसाय वृत्ति आदि के पदों से जाना जाता है।[२०]

युक्तिदीपिकाकार 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्' में 'प्रतिविषय अध्यवसाय' पद को एक शेष समास मानकर समासविग्रह के माध्यम से दो अर्थों में प्रयुक्त मानते हैं। प्रथम अर्थ में बहिरिन्द्रियों के माध्यम से होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान का परिग्रहण किया जाता है, तथा दूसरे अर्थ में प्रतिविषय अध्यवसाय पद का अर्थ आन्तरिक विषयों का ज्ञान है। इस द्वितीय पद के द्वारा ही आन्तरिक मन के विषयों (सुख-दुःख आदि) एवं अतीन्द्रिय मन रूप योगियों के प्रातिभज्ञान का भी संग्रह किया गया है।[२१]

दृष्ट या प्रत्यक्ष प्रमाण के पश्चात् अनुमान प्रमाण का प्रसंग आता है । तल्लिङ्ग लिङ्गि पूर्वकम् में जिस ज्ञान के पूर्व लिङ्ग (व्याप्य) एवं लिङ्गि (व्यापक) का सम्बन्ध ज्ञात हुआ रहता है, उसे ही अनुमान प्रमाण कहते हैं । धूम व्यापक और अग्नि व्याप्य। जहाँ-जहाँ धूम होगा, वहाँ-वहाँ अग्नि होगी, यही लिंग-लिंगी सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध को व्याप्ति कहा जाता है। सांख्य-दर्शन में अनुमान के तीन प्रभेद विवेचित हैं- शेषवत्, पूर्ववत् एवं सामान्यतोदृष्ट। शेषवत् अनुमान को 'अवीत' तथा पूर्ववत् एवं सामान्योदृष्ट अनुमान को 'वीत' की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

सांख्य-दर्शन में अनुमान-प्रमाण के पश्चात् आगम (आप्तवचन या शब्द) प्रमाण का प्रसंग आता है, क्योंकि अनुमान के द्वारा ही शब्दार्थ सम्बन्ध का ज्ञान होता है। शब्दार्थ सम्बन्ध के ज्ञान के उपरान्त ही शब्द-बोध होता है। अतः अनुमान, आगम या आप्तवचन का परम्परया कारण है। आप्तवचन का अर्थ है- "आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु"[२३] अर्थात् आप्त (प्रकृष्ट या उचित) श्रुति अर्थात् वाक्य से उत्पन्न वह वाक्यार्थ ज्ञान जो स्वतंत्र रूप से प्रमाण होता है। अपौरुषेय वेदवाक्यों से उत्पन्न होने से भ्रम, प्रमादादि दोषों से रहित पुरुष विशुद्ध चैतन्य होता है। वेद के वाक्य प्रमाण तो हैं ही, वेदमूलक स्मृति, इतिहास, पुराण के वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान भी प्रमाण है । यहाँ *सर्वदर्शन संग्रह* में विवेचित माधवाचार्य का विवेचन उचित प्रतीत होता है कि 'आप्त' शब्द से युक्त या उचित श्रुतियों का ही बोध होना चाहिए, अन्यथा जैन, बौद्ध आदि के विचार भी, जो आगम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे प्रतीत होते हैं, वे भी प्रमाण माने जायेंगे।[२३]

उपरोक्त तीनों प्रमाण-दृष्ट, अनुमान एवं आगम के द्वारा सांख्य के तीन मूल तत्त्वों का ज्ञान उपलब्ध होता है। महत् आदि व्यक्त पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता हैं, क्योंकि लोक में बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियों एवं पंचमहाभूतों का साक्षात् अनुभव करते हैं। तन्मात्राएँ, जो साधारणतः प्रत्यक्षगम्य नहीं हैं, योगज प्रत्यक्ष का विषय हो सकती हैं, लेकिन प्रकृति अव्यक्त एवं अतीन्द्रिय होने के कारण प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकती। इसलिए सांख्य में अनुमान प्रमाण की व्यवस्था की गयी है। *सांख्यकारिका* के अनुसार अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान सदैव अनुमान से ही होता है, अतः 'अव्यक्त' के अस्तित्व हेतु अनुमान ही एक मात्र प्रमाण है।

यद्यपि अव्यक्त का ज्ञान अनुमान के आधार पर हो सकता है, लेकिन 'ज्ञ' की प्रतीति अनुमान से भी नहीं हो सकती है। चूँकि सांख्य में 'ज्ञ' को त्रिगुणातीत एवं निर्लिंग बताया गया है, अतएव लिंग के अभाव में इसके स्वरूप का निर्धारण अनुमान से नहीं हो सकता है। सांख्य 'ज्ञ' के ज्ञान के लिए आगम या आप्तवचन को ही एक मात्र प्रमाण मानता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सांख्य-दर्शन में जितने भी तत्त्व स्वीकार किये गये हैं, सबके ज्ञान की संभावना को स्वीकार किया गया एवं किसी भी तत्त्व को अज्ञेय नहीं माना गया। ऐसा संभवतः इसलिए माना गया है क्योंकि सभी तत्त्वों के ज्ञान के अभाव में उससे भिन्न पुरुष को अपने स्वरूप का ज्ञान ही नहीं हो पायेगा और ऐसी दशा में सांख्य का एकमात्र उद्देश्य कैवल्य की प्राप्ति का लक्ष्य अधूरा रह जायेगा। यहाँ वेदान्त के दृष्टिकोण से एक प्रश्न उठाया जा सकता है- 'येनेदं सर्वं विज्ञाता है, उसे भला कैसे जाना जा सकता है ?' वेदान्त दर्शन का विवेचन 'तत् त्वमसि' व 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति जन्म ज्ञान का विवेचन करता है, क्योंकि बाह्य-जगत् यहाँ प्रपंचात्मक है, मायाजनित है, भ्रामक है, अतः ज्ञान प्राप्ति से भ्रम, माया या अज्ञान का निवारण हो जाता है, जबकि सांख्य दर्शन में प्रकृति, पुरुष की भाँति ही यथार्थ सत्ता है, उसका अपना स्वरूप है, जिसे पुरुष अपना स्वरूप मानकर बन्धन में फँसता है। अतः यहाँ पुरुष के लिए अपना स्वरूप समझ पाना तभी संभव होगा, जब वह प्रकृति एवं अपना स्वरूप जानते हुए दोनों के बीच स्पष्ट अन्तर कर पायें। अतः बन्धनयुक्त पुरुष को बन्धनमुक्त होने के लिए कैवल्य प्राप्त करने के लिये सम्पूर्ण तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। द्वितीय, सांख्य द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए दृष्ट प्रमाण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रयोग इसे अन्य दर्शनों से भिन्न करता है, क्योंकि इसमें इन्द्रियसंनिकर्ष विषय की सीमा से परे मानसिक अनुभूतियों सुख-दुःख इत्यादि अनुभव को भी शामिल कर लिया गया है। सांख्य दर्शन के ज्ञान-सिद्धान्त की तीसरी विशेषता है कि यहाँ ज्ञान की प्रक्रिया का प्रारंभ और अंत मात्र चेतन पुरुष में निहित न होकर जड़ (भौतिक) प्रकृति में भी निहित है, जो आधुनिक विज्ञानों के लिए एक महत्त्वपूर्ण आधार प्रस्तुत कर सकता है।

इन विशिष्टताओं के बावजूद भी सांख्य-दर्शन के ज्ञानमीमांसा की कुछ समस्याएँ ऐसी हैं, जिनका समाधान इस दर्शन की सीमा में नहीं मिल सकता है। ऐसी ही कुछ समस्याओं की ओर डा. राधाकृष्णन्[२५] बड़ो सुगमता से हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं।

सर्वप्रथम सांख्य का तर्क है कि ज्ञाता व ज्ञेय का स्वतंत्र अस्तित्व है। प्रकारान्तर से सांख्य अनुभव के मूर्त एकत्व को विषयी तथा विषय में विभक्त कर देता है और उन्हें काल्पनिक रूप से निरपेक्ष बना देता है और ऐसी स्थिति में यह अनुभवरूप तथ्य का कारण नहीं बता सकता है। अतः सांख्य ने विषयी और विषय के बीच एक ऐसी खाई खोद दी, जिसे उसकी सीमा में कभी भी पार नहीं किया जा सकता है।

द्वितीय, सांख्य दर्शन में कभी-कभी ज्ञान को बुद्धि-वृत्ति या पुरुष का बोध व्याख्यायित किया गया है, परन्तु कहीं भी ज्ञान की स्पष्ट परिभाषा उपलब्ध नहीं है। सांख्य के अनुसार ज्ञान विषयी और विषय के सम्बन्ध भी हो सकता है, परन्तु विषयी अपने को पूर्णरूप से तब नहीं जान सकता है, जब तक विषय, विषयी द्वारा व्यक्त न हो। इस प्रकार विषय-विषयी दोनों एक-दूसरे के लिए बाह्य हो ही नहीं सकते, जो सांख्य की अवधारणा के बिल्कुल विपरीत है।

उपरोक्त कमियों के बावजूद भी सांख्य के ज्ञान-सिद्धान्त की विशिष्टता यह है कि वह ज्ञान को बाह्य-जगत् से पृथक् न करके उससे सम्बद्ध करके देखने का व विवेचित करने का प्रयास करता है, तथा जड़-प्रकृति से ज्ञान की प्रक्रिया का प्रादुर्भाव स्वीकार करते हुए उसमें पुरुष की चेतनता को भी समाहित करता है, जो आज के आधुनिक विज्ञान की दर्शन से अपेक्षा है ।

डा. इन्दु पाण्डेय
वरिष्ठ प्रवक्ता दर्शनशास्त्र विभाग,
हे. न. ब. गढ़वाल विश्वविद्यालय,
श्रीनगर (गढ़वाल) उ. प्र. २४६१७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

१. **सांख्यकारिका**, ४
२. **सांख्यकारिका**, २
३. डा. नन्दकिशोर देवराज **'भारतीय दर्शन'** उ. प्र. हिन्दी संस्थान
४. **सांख्यकारिका**, ६४
५. **सांख्यसूत्र**, १/८७
६. उपरोक्त
७. उपरोक्त
८. प्रो. संगमलाल पाण्डेय, **भारतीय दर्शन की कहानी**, नगरायण बेनी प्रसाद प्रकाशन, इलाहाबाद पृ. ११
९. उपरोक्त
१०. **सांख्यसूत्र** ११८७
११. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, **भारतीय दर्शन की रूपरेखा**, पृ. २६३
१२. **सांख्यसूत्र** ११८७
१३. एम. हिरियन्ना - **भारतीय दर्शन के मूलतत्त्व** पृ. २८२
१४. राधाकृष्णन् - **भारतीय दर्शन**, दो भागों में पृ. २६२
१५. **सांख्यकारिका** ५
१६. **सांख्यकारिका**, ५
१७. ए. बी. कीथ **सांख्य दर्शन का इतिहास**, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, पृ.८१
१८. **सांख्यकारिका**, गजानन शास्त्री मुसलगांवकर की टिप्पणी सहित पृ. ४७
१९. डा. लीलाधर वात्स्यायन - **सांख्य-दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान, परामर्श** खण्ड १६, अंक ८. १९९९.
२०. **सांख्यकारिका**, ५, ६
२१. उपरोक्त
२२. उपरोक्त
२३. सांख्यसूत्र - ११८१-८७
२४. माधवाचार्य - **सर्वदर्शन संग्रह**, भाष्यकार, डा. उमाशंकर शर्मा पृ. ५३८-५३९
२५. राधाकृष्णन् : **भारतीय दर्शन** पृ. २६२, २६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म की मार्क्सवादी अवधारणा

'धर्म' के सम्प्रत्यय का उद्भव एवं विकास वस्तुतः मानवीय चेतना का उद्भव एवं विकास है। इसलिए धर्म एवं उसके विभिन्न आयामों के निहितार्थ न केवल दार्शनिक अन्वेषण के केन्द्र बिन्दु रहे हैं अपितु इसके आधार पर दर्शन में दार्शनिक सम्प्रदायों की उत्पत्ति भी हुई है। किसी भी दर्शन सम्प्रदाय का धर्म के प्रति दृष्टिकोण उस सम्प्रदाय के सम्पूर्ण दार्शनिक चिन्तन का प्रतिबिम्बन है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य 'धर्म' के प्रति मार्क्सवादी दर्शन की मान्यताओं को प्रस्तुत करना है।

मार्क्सवाद विभिन्न सन्दर्भों में भौतिकवादी, प्रकृतिवादी, इन्द्रियानुभववादी तथा वास्तववादी दर्शन है।[१] भौतिकवाद के अनुसार 'पदार्थ' अन्तिम सत् है। उसका किसी ने सृजन नहीं किया है। जगत् एवं जीवन की समस्त घटनाएँ, स्थितियाँ, मानसिक गतिविधियाँ पदार्थ की अन्तर्निहित द्वन्द्वात्मक प्रकृति की उपज हैं।[२] सृष्टि एवं जीव का अस्तित्व एक ठोस वास्तविकता है एवं मार्क्स उनकी ऐतिहासिक विकास क्रम की यथार्थता में विश्वास करता है। इसलिए मार्क्सवाद में आधिभौतिक, मानवेतर या अतीन्द्रिय मानी जानेवाली दुनिया, सत्ता या उनसे जुड़ हुए विषयों का कोई अस्तित्व नहीं है। सृष्टि एवं जीवन ज्ञेय है। संसार के सम्बन्ध में मानव का ज्ञान प्रामाणिक है जिसके आधार वस्तुगत ऐतिहासिक नियम, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, बुद्धि, इन्द्रियज्ञान, तर्क एवं मानवीय जीवन के अनुभव आदि प्रस्थापनाएँ हैं।

धर्म के उद्भव एवं विकास की व्याख्या मार्क्स इस भौतिकवादी दृष्टिकोण से ही करता है। धर्म की उत्पत्ति का कारण मार्क्सवाद मनुष्य की अज्ञानता एवं उससे जनित असुरक्षा, भय की भावना को मानता है जिसके कारण मनुष्य जीवन में घटित होने वाली घटनाओं की वैज्ञानिक, वस्तुगत नियमों के आधार पर व्याख्या करने में असमर्थ रहता है और उसको किसी आधिभौतिक सत्ता की इच्छा का परिणाम मानने लगता है। वस्तुतः प्रारम्भ से ही मनुष्य दो प्रकार के संघर्षों में लगा हुआ है।[३] प्रथम उसका संघर्ष प्रकृति द्वारा उत्पन्न अवरोधों को हटाने के लिए होता है। समय-समय पर उन्हें हटाकर प्रकृति के साथ वह अपना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामंजस्य स्थापित करता है। इस संघर्ष में जहाँ कहीं वह असफल रहता है वहाँ उन्हें अलौकिक सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित कर उसके प्रति समर्पण, श्रद्धा, भक्ति का भाव रखने लगता है। मनुष्य का दूसरा संघर्ष मनुष्य से होता है। जब कुछ लोग जीवन यापन के अधिकांश साधनों और सुविधाओं पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेते हैं और शेष जनसमुदाय को उसे वंचित कर देते हैं तो मानव जाति के विभिन्न समूहों में संघर्ष आरम्भ होता है। इन दोनों ही प्रकार के संघर्षों में धर्म का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। प्रथम में धर्म की छाँव में व्यक्ति अपने आपको सुरक्षित महसूस करता है, वहीं दूसरे में यह सत्ता एवं सम्पति पर अधिकार को दैवीय स्वीकृति प्रदान करता है और शोषित समुदाय को उनकी नियति के रूप में प्रस्तुत कर संघर्ष को दबाता है। इसलिए मार्क्स कहता है- धर्म मनुष्यों के मस्तिष्कों में उन बाह्य शक्तियों का काल्पनिक प्रतिबिम्ब है जो उनके दैनिक जीवन को नियन्त्रित करता है, ऐसा प्रतिबिम्ब जिसमें लौकिक शक्तियाँ, अलौकिक शक्तियों का स्वरूप ग्रहण कर लेती हैं। अगले विकास क्रम में इन्हीं शक्तियों ने विभिन्न जनों के बीच अतिशय विविधता वाले मानवीय रूप धारणा किए। वे काल्पनिक आकृतियाँ जो, शुरू में केवल प्रकृति के रहस्यमय शक्तियों की ही प्रतिबिम्बित करती थी, इस स्तर तक पहुँचकर सामाजिक विशिष्टताएँ ग्रहण कर लेती हैं और इतिहास की शक्तियों की प्रतिनिधि बन जाती है।[४] एंगेल्स ने पूँजी, ड्यूरहिंग मत-खण्डन, लुडविंग फायरबाख आदि रचनाओं में कहा है कि मानव विकास की सबसे प्रारम्भिक अवस्थाओं में धार्मिक विश्वास की उत्पति जहाँ प्रकृति की शक्तियों के साथ संघर्ष में मानव की असहायता के गर्भ में हुई थी, वहीं एक अन्तविरोंधी वर्ग समाज के अन्तर्गत उसकी उत्पत्ति श्रमजीवी जनता के सामाजिक उत्पीड़न तथा शोषकों के विरुद्ध चलने वाले संघर्ष में उसकी प्रत्यक्ष असहायता के गर्भ से होती है और यही स्थितियों परलोक में अपेक्षाकृत अच्छा जीवन पाने में विश्वास को इहलोक के कष्टों को तथाकथित पुरस्कार के रूप में उस लोक में,अधिक सुखमय जीवन प्राप्त करने में विश्वास को बढावा देती है।[५] कम्युनिस्ट घोषणा पत्र में धर्म को सामाजिक चेतना का एक स्वरूप तथा वर्गीय समाज की संरचना के इमारत का एक तत्त्व कहा है।[६] इसलिए मार्क्स कहता है, धर्म का निर्माण मनुष्य करता है, मनुष्य का निर्माण धर्म नहीं करता।[७] धर्म उस मनुष्य की आत्मचेतना के समर्पण का भाव है जिसने स्वयं को पाया नहीं है या पाकर उसे खो चुका है। मनुष्य इस संसार से बाहर रहने वाली कोई अमूर्त सत्ता नहीं है। मनुष्य से अभिप्राय समाज, राज्य सत्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि के रूप में उसके संसार से है। यह राज्य सत्ता एवं समाज धर्म की एक प्रत्यावर्तित विश्व चेतना का निर्माण करते हैं। धर्म इन सामाजिक सत्ताओं का विश्वकोशीय संग्रह है, उसकी तर्क-संगति है, उसका आध्यात्मिक जगत्, उसका उत्साह, उसका नीतिशास्त्र, उसका गम्भीर पूरक और सान्त्वना पाने का विश्वव्यापी स्रोत है। यह मानवीय सारतत्त्व का काल्पनिक मूर्तीकरण है। अतः धर्म कोई स्वतन्त्र या किसी विचारक द्वारा आविष्कृत प्रत्ययों की प्रणाली नहीं है अपितु 'उपसंरचना' है जो अपने अस्तित्व के लिए उस समाज की आधार-संरचना 'अर्थव्यवस्था' पर निर्भर रहती है किन्तु साथ ही उसका प्रतिबिम्ब भी है। तदनुसार धर्म समाज में प्रभुत्वशाली वर्ग का हित-साधना करने के लिए गढ़ा जाता है और वह आम जनता को संघर्ष से दूर करके अपनी प्रतिक्रियावादी भूमिका निभाता है।

'अलौकिक सत्ता में विश्वास और उसे धार्मिक कर्मकान्डों से प्राप्त करने का प्रयास' धर्म के मर्म बिन्दु हैं। किन्तु, धर्मशास्त्री धर्म को शाब्दिक व्युत्पति की दृष्टि से वस्तु के स्वभाव, स्वरूप एवं वृत्ति के रूप में व्याख्यापित करते हैं जैसे अग्नि का धर्म जलाना, पानी का धर्म प्यास बुझाना, द्रव्य का धर्म स्थान घेरना इत्यादि। मार्क्स धर्म की इस व्याख्या का विरोध करता है क्योंकि वस्तु का स्वभाव, स्वरूप अतीन्द्रिय सत्ता में विश्वास से भिन्न स्थिति है। वस्तु के स्वरूप की व्याख्या तर्क, बुद्धि, वैज्ञानिक एवं वस्तुगत नियमों के आधार पर की जाती है जबकि अतीन्द्रिय सत्ता इन सबका निषेध कर समर्पण, श्रद्धा को अपने अस्तित्व का आधार बनाती है। धर्म एक ऐसे सत्य की उपलब्धि का दावा करता है, जो भाषा, ज्ञानेन्द्रियों और बुद्धि की सीमाओं से परे है। इसका सारा जोर अन्तर्ज्ञान और भावना पर होता है, वह सन्देह की नहीं, विश्वास की माँग करता है। इसी प्रकार धर्म को सामाजिक दृष्टि से कर्तव्य, मूल्य, नैतिकता का पर्यायवाची माना जाता है किंतु ये सम्प्रत्यय धर्म के वास्तविक चरित्र से भिन्न हैं। कर्तव्य, नैतिकता, मूल्य जैसे सम्प्रत्यय धर्म के वास्तविक चरित्र से भिन्न हैं। कर्तव्य, नैतिकता, मूल्य और जैसे सम्प्रत्यय मानव जीवन, व्यवहार एवं अन्तर्क्रिया के लौकिक मापदण्ड हैं जो उसने स्वयं बनाये हैं, वह उनका निर्माता एवं कर्ता है। इनकी प्रासंगिकता को रेखांकित करते हुए मार्क्स कहता है मनुष्य जैविक सत्ता से अधिक सामाजिक-ऐतिहासिक सत्ता है। वह शेष समाज से विसंवादी नहीं अपितु संवादी है, अपृथक्रूप से सम्बद्ध है।[८]

'धर्म' हजारों वर्षों से वर्गों और वर्णों में विभाजित समाजों के आध्यात्मिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवच का काम करता आ रहा है। अभाव, दुःख और पराधीनता की शिकार जनता के लिए वह आशा का केन्द्र बिन्दु रहा है। तमाम श्रम करने के बावजूद जनता इन समाज व्यवस्थाओं में सुख और मुक्ति का कोई उपाय नहीं देखती और विरोधी प्राकृतिक एवं सामाजिक शक्तियों के सामने असहाय महसूस करती है, तब एक ऐसे लोक की कल्पना करने और उसको आत्मसात् करने के लिए मजबूर होती है जहाँ सुख एवं स्वतन्त्रता की अपार सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। असहाय व्यक्ति की सारी वंचित इच्छाएँ, आकाक्षाएँ, उम्मीदें धार्मिक चेतना में केन्द्रित हो उठती हैं। धार्मिक व्यथा एक साथ वास्तविक व्यथा की अभिव्यक्ति एवं वास्तविक व्यथा का प्रतिवाद दोनों ही है। यह उत्पीड़ित व्यक्ति की कराह है, हृदयहीन दुनिया का हृदय है, उसी प्रकार जैसे कि वह आत्मरहित परिस्थितियों की आत्मा है। डा. डी.पी. चट्टोपाध्याय के अनुसार धर्म मनुष्य के अभावों एवं दुर्बलताओं की अभिव्यक्ति है।[९] मनुष्य के लिए सान्त्वना का विश्वव्यापी स्रोत है जिसका मूलकारण मनुष्य की पराधीनता है, जिसे *इकानामिक एण्ड फिलासाफिकल मैन्यूस्क्रिप्ट्स ऑफ १८४४* में मार्क्स ने 'विच्छिन्नता' (एलिअनेशन) के रूप में एवं ड्यूरहिंग मत-खण्डन में एंगेल्स ने विवशता (नंसेसिटी) के रूप में परिभाषित किया है। पराधीनता-जनित व्यथा के लिए दर्द-निवारक दवा के रूप में धर्म अफीम है।[१०]

विश्व में धर्म कई हैं जो सम्बन्धित समकालीन समाजों में बराबर सक्रिय रहते हैं। इन सब में स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, लोक-परलोक, शुभ-अशुभ की कल्पना समान रूप से मौजूद है। ये धर्म जिन भौगोलिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों में जन्में हैं उनसे प्रतिमाएँ, कल्पनाएँ, मूल्य, विश्वास और रीति-रीवाज लेकर आए हैं। उदाहरण के लिए हिन्दू धर्म विश्व की उत्पत्ति का कारण कहीं जल को, कहीं अण्ड को, कहीं ब्रह्म तो कहीं आत्मा को मानता है। बाइबिल में ईश्वर ने गिनकर सात दिनों में सारे विश्व की रचना की। इससे यह निगमित होता है कि सारे धर्म धारणाओं, विश्वासों और कर्म-काण्डों का ढाँचा रखते हैं। धर्मों के संरक्षक अनुभव, बुद्धि और प्रयोग को इज़ाजत नहीं देते कि इनकी धारणाओं की जाँच की जाए और विज्ञान की तरह किसी सार्वभौमिक निष्कर्ष पर पहुँचा जाए। ये अपने अनुयायियों से अपने-अपने मत को परम सत्ता का आदेश मानकर उसी रूप में स्वीकार करने का आदेश देते हैं। तब स्वाभाविक है कि एक धर्म दूसरे धर्म की भिन्न धारणाओं के प्रति सन्देह, उपेक्षा और निषेध का रूख अपनाएगा। इस तरह धर्म एकांगीपन, संकीर्णता और साम्प्रदायिकता का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टिकोण बनाए रखते हैं। फलतः धर्म निरपेक्षता का सम्प्रत्यय अयथार्थ एवं आदर्श लोक की वस्तु बन जाता है।

सभी धर्मों में पायी जाने वाली दो 'लोकों' की कल्पना इस लोक में विद्यमान वर्ग-विभाजन की अभिव्यक्ति तो है ही, इसे मजबूत भी करती है। यह कल्पना ऐसे समाज की उपज है जिसमें सारा अभाव, दुःख, विपदा और पराधीनता एक हिस्से में है और सारा सुख, सम्पदा और स्वाधीनता दूसरे हिस्से में। यह विभाजन इस लोक में बरकरार रहेगा किंतु मनुष्य ईश्वर जगत् में भी पराधीन है क्योंकि वहाँ भी वह ईश्वर के अधीन है। जैसा कि सार्त्र ने कहा था कि 'अगर ईश्वर है तो मनुष्य स्वतंत्र नहीं है क्योंकि फिर मनुष्य के आदि और अन्त का सारा कार्यक्रम उसने तय कर दिया है।[११] चूँकि मनुष्य स्वतंत्र है या स्वतंत्र होने की सम्भावना रखता है इसलिए वह ईश्वर नहीं है। वस्तुतः धार्मिक चेतना व्यक्तिगत सम्पति के अधीन खण्डित सामाजिक यथार्थ का ऐसा प्रतिबिम्ब है जो 'मुक्ति' की आशा जगाती है किंतु जीवन में उसे असम्भव मानकर पराधीनता पैदा करने वाली आर्थिक, सामाजिक शक्तियों का आध्यात्मिक औजार बन जाती है। वह 'मुक्ति' का आभास एवं पराधीनता का यथार्थ बन जाती है। वस्तुतः पराप्राकृतिक घटनाओं में विश्वास से असहाय मनुष्य को तात्कालिक राहत मिलती है जो इस विश्वास की प्रगतिशीलता एवं असमाप्यता, दोनों को स्थापित करता है।[१२] 'अतीन्द्रिय लोक' में विश्वास स्वयंमेव एक मनोवैज्ञानिक परिघटना है जब तक कि इसका उपयोग शोषित वर्गों द्वारा वास्तविक सामाजिक संघर्ष में प्रेरक के रूप में न किया जाए। ए. जे. टेन्सले, सारकोलोर्थ आदि आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार धर्म की धारणा मनःस्थित विचारों, अभिलाषाओं, भावात्मक आवश्यकताओं आदि का बहिराक्षेपण है जो एक प्रकार का आदर्शीकरण है।[१३] मनोवैज्ञानिक जेम्स एल. ल्यूबा के अनुसार उन शक्तियों का अनुसंधान जिनके आँचल में ये शक्तियों काम करती हैं, मनोवैज्ञानिक समस्या है।[१४] जब व्यक्ति कहता है कि परम सत्ता स्वरूपतः बुद्धिमान है, सर्वज्ञ है, दयावान् है, परम शुभ है, कर्मफल दाता है, सोचता है, इस जगत् का कर्ता, धर्ता, हर्ता नियंता है, हमें आज्ञा देता है, हमारी प्रार्थनाओं को सुनता है, हमारा कल्याण चाहता है, हमें अशुभ कर्मो से बचाता है, हमारे दोषों को क्षमा करता है इत्यादि। अर्थात् परम सत्ता में वे सभी पूर्णताएँ हैं जो व्यक्ति अपने जीवन में अपूर्णताओं के रूप में देखता है। किंतु मार्क्स परम-सत्ता के इस स्वरूप को मानसिक संरचना कहकर उसका विरोध करता है। वह कहता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि क्या बिना शरीर के ये क्रियाएँ सम्भव हैं ? सभी तरह की वैयक्तिक विशेषताओं का परम सत्ता में आरोपण किया जाता है किंतु क्या यह अपने आप में विरोधाभासपूर्ण स्थिति नहीं है कि किसी सत्ता में ये सब विशेषताएँ हों और किसी तरह का कोई शरीर न हो ? इसके अतिरिक्त यदि परम सत्ता का स्वरूप यही है तो वह निश्चित रूप से देश-काल में स्थित रहने वाली सत्ता होगी और जो देश-काल में अवस्थित रहता है उस पर नित्यता, अपरिवर्तनशीलता, कूटस्थता के प्रत्यय लागू नहीं हो सकते। बुद्धि, मन, संकल्प, इच्छा आदि शरीर की अनिवार्यता को दर्शाती हैं। योजना बनाना, इच्छा करना अपूर्णता की द्योतक है वहीं कालीक घटनाएँ भी हैं तो हम इस व्याघात से कैसे बच सकते हैं जो एक कालातीत सत्ता में इन मानसिक गुणों का आरोपण करने से पैदा होता है ? इस अपूर्णता की झलक हमें धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप मनवाद, टोटमवाद के रूप में देखने को मिलता है। इसलिए मार्क्सवाद के अनुसार धर्म अपने वास्तविक चरित्र में किसी सामाजिक व्यवस्था में मनुष्य की प्राकृतिक व सामाजिक विवशता से उत्पन्न कष्टों से मानसिक सान्त्वना पाने के लिए, एक समस्त प्रकार की पूर्णताओं से आच्छादित लोक है, जो पुनः वास्तविक संसार का ही विकृत प्रतिबिम्ब है। धर्म आरम्भ से ही अनुभवातीत की चेतना होता है, जो वास्तविक आवश्यकता से उत्पन्न होती है। इन्हीं सब कारणों से धर्म मनुष्य को अपने वास्तविक अर्थों में 'मनुष्य' बनने की प्रक्रिया में बाधक तत्त्व होते हुए भी मानवीय जीवन में बराबर सक्रिय रहा है।[१५]

ऐसा नहीं है कि धर्म अपने विकास क्रम में बिना अवरोधों के निर्बाध गति से आगे बढ़ता आया है। विज्ञान ने अपनी खोजों द्वारा धर्म के मिथ्या स्वप्न को बार-बार तोड़ा है। वैज्ञानिक कैपलर द्वारा ग्रहों के संचालन के नियमों की खोज, न्यूटन द्वारा गुरुत्वाकर्षण एवं गति के नियमों की खोज, युक्लिड का सौर परिवार का सिद्धान्त, कोपरनिकस के प्रकृति सम्बन्धी विचार, लाप्लास तथा हर्शेल द्वारा नीहारिका सिद्धान्त, जीवों की उत्पत्ति एवं परिवर्तन सम्बन्धी लियेन का सिद्धान्त, डार्विन का विकासवाद और आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा जीन-ड्राफ्ट तैयार कर लेने जैसी क्रांतिकारी खोजों ने धार्मिक क्षेत्र के विषयों को न केवल समय-समय पर चुनौतियाँ दी हैं अपितु यह भी स्थापित किया कि छोटी से छोटी वस्तु निरन्तर द्वन्द्वात्मक, गतिशील, कार्य-कारण की परस्पर निर्भरता एवं परिवर्तन की अवस्था में रहती है,[१६] जिसका आधार अन्तर्ज्ञान या अतीन्द्रिय सत्ता नहीं अपितु अनुभव एवं तर्क के आधार पर शुद्ध रूप से वैज्ञानिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोध-कार्य के द्वारा प्रमाणित एवं निर्धारित सत्य है। न्यूटन ने चेतावनी दी 'भौतिकी तुम आधिभौतिकी से सावधान रहना।' कांट द्वारा अपनी पुस्तक *प्रकृति का आम इतिहास तथा स्वर्ग के सिद्धान्त* में पृथ्वी तथा सम्पूर्ण सौर परिवार एक ऐसी वस्तु के रूप में सामने आया जो ऐतिहासिक काल-क्रम में उत्पन्न हुई थी।[१७] मार्क्सवाद, क्योंकि विश्व एवं जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण है उसकी समग्रता की तर्क एवं बुद्धि के आधार पर व्याख्या करता है । इसलिए यह विज्ञान की खोजों को धर्म के अस्तित्व को चुनौती एवं भौतिकवादी दृष्टिकोण की यथार्थता के मापदण्ड के रूप में देखता है। यहाँ ऐसा नहीं है कि धर्मशास्त्री विज्ञान की उपलब्धियों को स्वीकार नहीं करते हैं, वे स्वीकार करते हैं किंतु उन्हें धार्मिकता के आलोक में। (उनकी धर्म की वस्तु के स्वभाव सम्बन्धी परिभाषा) इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान और विज्ञान के माध्यम से इस संसार से परे रहने वाली सचेतन शक्ति अथवा परलोक की मान्यता का निषेध करना उनके लिए असम्भव है। अतः जब विज्ञान और अनुभव पर आधारित ज्ञान, धर्म की मान्यताओं पर प्रश्न खड़ करता है तो वे अबुद्धिवाद एवं रहस्यवाद के क्षेत्र में चले जाते हैं। कांट कहता है जब धर्म अपनी पवित्रता और अपनी भव्यता की आड़ में छिपना चाहता है तो उसका सन्देहास्पद हो जाना स्वाभाविक है और वह उस सत्य का अधिकारी नहीं रह जाता है जो बुद्धि उसे प्रदान करती है। विज्ञान पदार्थ में मूल तत्त्व को खोजता है, धर्म अलौकिक जगत् में। धर्म कहता है वही देखो एवं समझो जिसे दिखाया एवं समझाया जाता है। विज्ञान कहता है वही करो जो बुद्धि द्वारा ग्राह्य हो।

विज्ञान के विकास का इतिहास धर्म के विरुद्ध संघर्ष का इतिहास है। एंगेल्स की रचना *ब्रनो बेयर तथा ईसाइ मजहब का प्रारम्भिक काल* रोमन साम्राज्य के क्षय के समय की सामाजिक, राजनीतिक तथा विचारधारात्मक संघर्ष की उन ऐतिहासिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालती है जिन्होंने ईसाइ धर्म को जन्म दिया। ईसाइ धर्म का उदय सर्वथा निराश, हताश हो गये लोगों के दृष्टिकोण के रूप में उस समय हुआ था जिस समय कि रोमन साम्राज्य के जुए के विरुद्ध दासों, गरीब, भूखी जनता तथा गुलाम बना ली गयी जातियों के अनेक विद्रोहों को मौत के मुँह में धकेल दिया गया।[१८] धर्म की स्थापना वे लोग करते हैं जो स्वयं धर्म की आवश्यकता का अनुभव करते हैं तथा आम जनता की धार्मिक भावनाओं की कमजोरियों को समझते हैं। बाह्य प्राकृतिक तथा सामाजिक शक्तियाँ जो उनके ऊपर शासन करती हैं मनुष्यों के भावात्मक सम्बन्ध के रूप में तब तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासन करती हैं जब तक कि व्यक्ति इनके वास्तविक चरित्र को नहीं समझ लेता है।

धर्म की आलोचना करना मार्क्स जरूरी समझता है क्योंकि धर्म की आलोचना मनुष्य के मिथ्या भ्रमों को तोड़ देती है जिससे कि वह एक ऐसे आदमी के रूप में सोच एवं कार्य कर सके जिस के भ्रम दूर हो चुके हैं और जिसने बोधत्व प्राप्त कर लिया है। बौद्धिक एवं सर्जनात्मक विमर्श में धर्म की आलोचना करना मनुष्य को उन यथार्थताओं से अवगत करा कर उन्हें उपलब्ध करवाना है, जिसमें कि मनुष्य स्वयं अपने और इस प्रकार अपने सच्चे सूर्य की परिक्रमा करने लगे, अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों का साहसपूर्वक सामना कर सके।[१९] मार्क्स एवं एंगेल्स मनुष्य के मिथ्या भ्रमों को खत्म कर उसके उदात्त उच्चासन पर बैठना चाहते हैं उसे स्वयं महान् एवं सूर्य जैसा तेजस्वी व्यक्तित्व से परिपूर्ण बनाना चाहते हैं ताकि उसे सही अर्थों में मानव कहा जा सके। धर्म हमें इस तरह के व्यक्तित्व निर्माण की स्वीकृति नहीं देता क्योंकि उसका आधार आत्मसमपर्ण है, पराधीनता है। धर्म अपने मूल चरित्र में वर्चस्व की विधा रहा है। उसमें अंतर्भूत नैतिकता या मानवता के संदेश यों तो सार्वभौम कहे जाते हैं। किन्तु विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार में वह अपने अनुयायियों को ही सुलभ है और जो उस धर्म का विशेष का पालन नहीं करते हैं उनका तो धर्मान्तरण मान लिया जाता है या अमानवीय जिन्दगी को उनकी नियति बना दिया जाता है। इसलिए जनता के प्रतिभाषिक सुख के रूप में धर्म के उन्मूलन का अर्थ है उसके वास्तविक सुख, स्वतत्रंता की माँग करना। उसे सही अर्थों में मनुष्य बनने के अवसर प्रदान करना। मौजूदा हालात के सम्बन्ध में भ्रमों का परित्याग करने की माँग उन हालात का परित्याग करने की माँग करती है, जिनके लिए भ्रम आवश्यक बन गये हैं। इसलिए धर्म की आलोचना मनुष्य का काल्पनिक जगत् से मोहभंग कर देती है, ताकि वह मनुष्य जिसका भ्रम टूट चुका है और विवेक के रास्ते पर लौट आया है, के रूप में चिन्तन व कर्म कर सके और अपनी यथार्थता को निर्मित कर सके। धर्म तो वह प्रतिभाषिक सूर्य है जो तब तक ही मनुष्य के चारों ओर चक्कर लगता है,जब तक कि स्वयं मनुष्य अपने चारों ओर चक्कर लगाना शुरू न कर दे। मार्क्स ने अर्ध-सामन्ती जर्मनी में ईसाई धर्म की वास्तविक स्थिति देखकर धर्म को जनता की अफीम माना है। किंतु यदि धर्म काल्पनिक स्वर्गिक सुख के भ्रम का निराकरण करे और इसी संसार में सुखी जीवन की आशा जगाए, तो यह उसकी रचनात्मक भूमिका होगी। इतिहास में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे कई अवसर आए हैं जब धर्म ने मुक्तिदायी भूमिका निभाई है। किन्तु संगठित धर्म ने अक्सर मानवीय 'स्व' को पराधीन किया है।

इस सन्दर्भ में मार्क्सवाद के संस्थापकों ने धर्म की सामाजिक भूमिका का ऐतिहासिक मूल्यांकन किया है। एंगेल्स ने प्रारम्भिक ईसाई मत के इतिहास में संत जॉन के समय की ईसाईयत को रोमन साम्राज्य में भू-स्वामित्व के केन्द्रीकरण व श्रमिक वर्ग के तज्जन्य उत्पीड़न के विरुद्ध क्रांतिकारी जनान्दोलन की संज्ञा दी है। मैक्स वेबर ने यूरोप में पूँजीवाद को विकसित करने में प्रोस्टेटन्ट धर्म को एक महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में देखा है।[२०] कई बार उत्पीड़ित वर्गों ने अपने वास्तविक सामाजिक संघर्ष में धर्म का रचनात्मक कारक के रूप में इस्तेमाल किया है। कबीर, ईसा मसीह, नानक, मीरा आदि ने सामन्ती, पितृसत्तात्मक सोच को खत्म कर, समता एवं श्रम की महत्ता को स्थापित करने में धर्म का उपयोग किया। प्रारम्भिक ईसाईयत में तो अन्याय के विरुद्ध उत्पीड़कों से प्रतिशोध लेने के लिए हिंसा को भी उचित ठहराया गया था। तभी वह दासों, गरीब व उत्पीड़ित जनता को संघर्ष की प्रेरणा दे सका। किंतु साथ ही धर्मों के महावाक्य कि शत्रु से प्रेम करो, जो सताये उसे क्षमा करो, अत्याचारों को संयमपूर्वक सहन करो उन्हें शासक वर्गों के विरुद्ध संघर्ष से विमुख करते हैं एवं शासक वर्ग के लिए सकारात्मक अवसरों को उपलब्ध करवाते हैं। इन शिक्षा सूत्रों में पीड़ित जन के लिए मुक्ति परलोक में इंगित की गई है। एंगेल्स ने धर्म की ऐतिहासिक-सामाजिक विषय-वस्तु को पहचान कर मार्टिन लूथर तथा तोत्सतांय की ऐतिहासिक प्रगतिशील भूमिकाओं को सहारा है।[२१]

मार्क्स ने वर्तमान पूँजीवाद एवं उसकी समाज में धर्म की भूमिका का विश्लेषण किया है। पूँजीवाद एक ओर जहाँ धर्म को नकारकर तकनीकी आधारित दृष्टिकोण को बढ़ावा देता है वहीं समाज में उत्पादन-साधनों पर निजी स्वामित्व की स्थिति में इसका साधन के रूप में इस्तेमाल करता है। सम्पति की विषमता व उससे जनसंख्या के अधिकांश की आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक दुर्दशा के कारण आम जनता को यह महसूस करवा देती है कि कोई विलग शक्ति उन पर शासन कर रही है। इसलिए इस समाज में भी धर्म को जन्म देने वाली प्रतिबिम्बन की क्रिया का वास्तविक आधार बना रहता है। ऐसे में पूँजीपति वर्ग के लिए यह स्वाभाविक है कि धर्म का इस्तेमाल अन्याय के विरुद्ध जन-संघर्ष को कुन्द एवं दिशा-विमुख करने के लिए करे, जब कि पूँजी के केन्द्रीकरण व श्रम के सामाजिकरण के फलस्वरूप शोषित जनता के लिए यह आवश्यक है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि वे भौतिकवादी दृष्टिकोण से, संघर्षपूर्वक न्यायपूर्ण व्यवस्था कायम करने के लिए अग्रसर हो।

अंत में, मार्क्स यह मानता है कि धर्म को तब तक समाप्त नहीं किया जा सकता जब तक कि उसका पोषण करने वाली सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों का उन्मूलन न कर दिया जाये। यदि दर्शन इन परिस्थितियों के उन्मूलन में सकारात्मक भूमिका निभाता है तो यह उसका क्रांतिकारी कदम होगा।

व्याख्याता, दर्शनशास्त्र, डा. सुधा चौधरी
राजकीय मीरा कन्या महाविद्यालय,
उदयपुर (राज.)

टिप्पणियाँ

१. Maurice Cornjorth, **Science Versus Idealism,** p. 25
२. एंगेल्स, **समाजवाद, काल्पनिक तथा वैज्ञानिक** पृ. १४
३. रामविलास शर्मा, **परम्परा का मूल्यांकन,** पृ. ५
४. मार्क्स, **धर्म** पृ. १२८
५. **एंगेल्स सकंलित रचनाएं,** खण्ड-१, पृ. २५
६. **कम्युनिस्ट घोषणा पत्र,** पृ. १०
७. एन. के. महला, **वर्ग, विचारधारा एवं समाज** पृ. २६६
८. केल्ले और कोवालजोन, **ऐतिहासिक भौतिकवाद** पृ. २५०
९. डी. पी. चट्टोपाध्यय, **दर्शन का इतिहास** पृ. ४२
१०. मार्क्स, **धर्म** पृ. १३०
११. अभय कुमार दुबे, **साम्प्रदायिकता के स्रोत,** पृ. २००
१२. एन. के. महला, **वर्ग-विचारधारा एवं समाज** पृ. २५९
१३. शिवनारायण जोशी, **दर्शन के मूल प्रश्न,** पृ. २२१
१४. ल्यूबा, **रिलीजन इन ट्रान्जिशन,** पृ. १९०
१५. मार्क्स, **धर्म** पृ. १३५
१६. **वहीं,** पृ. ४०
१७. Max Weber, **The Protestant Ethic and The Spirit of Capitalism,** p. 47
१८. मार्क्स, धर्म पृ. ४८
१९. **वहीं,** पृ. ५
२०. **वहीं,** पृ. २७५
२१. **वहीं,** पृ. २७७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द-विज्ञान-विमर्श

व्याकरण दर्शन में शब्द विषयक विचारधारा पर पर्याप्त मीमांसा हुई है। शाब्दिक लोग शब्द के दो भेद मानते हैं। उनका कहना है कि उपादान (वाचक) भूत शब्दों के दो प्रकार हैं । प्रथम प्रकार वह है जो वैखरी रूप व्यावहारिक शब्दों का कारण है तथा द्वितीय प्रकार वह है जो तत्तत् पदार्थ के बोध की इच्छा होने पर वक्ता द्वारा उच्चरित होता है -

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः ।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते ॥[१]

शब्दतत्त्व

व्यावहारिक शब्द कारण भूत शब्द वक्ता की बुद्धि में अक्रम स्फोट के रूप में सर्वदा स्थित रहता है जिसे वैयाकरण ''शब्दतत्त्व'' नाम देते हैं। यह शब्दतत्त्व उत्पाद-विनाश तथा पूर्वापरीभावों से रहित है तथा ककारादि वर्णरूपा वैखरी वाक् का निमित्त है। यह नित्य शब्दतत्त्व जब बाह्यार्थवासना रूप अविद्या के द्वारा आच्छादित होता है तब घटपटादि के रूप में विवर्त (भासित) होता है। विवर्त का अर्थ है मिथ्या रूप से अन्य वस्तु के रूप में भासित होना - 'अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृत'।[२] शब्दतत्त्व की महिमा रूप व्यावहारिक शब्दों से ही जागतिक व्यवहार प्रक्रिया चलती है। व्यावहारिक शब्द प्रतीतपदार्थक होता है - ''प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।''[३] प्रतीत पदार्थक शब्द का अभिप्राय ऐसे शब्दों से है जो सर्वसाधारण के लिये समान अर्थ रखते हैं और निरपेक्ष रूप से व्यवहार में आते हैं। जैसे अश्वः, पुरुषः इत्यादि।

शब्दतत्त्व का ऐक्य

जिस प्रकार जल एक ही है, परन्तु कभी वह जल भँवर के रूप में, कभी बुद्बुदों के रूप में तथा कभी तरंगों के रूप में दिखाई देता है उसी प्रकार मूल शब्दतत्त्व एक ही है, किन्तु कभी वह ककार के रूप में, कभी गकार के रूप में, कभी घट के रूप में तथा कभी अश्वादि रूप में व्यवहार में आता है। वस्तुतः शब्दतत्त्व से भिन्न घटादि की सत्ता नहीं है।[४]

यद्यपि एक शब्दतत्त्व रूप कारण से घटपटादि अनेक कार्यों की उत्पत्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हो सकती, तथापि उस शब्दतत्त्व में घटपटादि विचित्र कार्यों को उत्पन्न करने की योग्यता रूप शक्ति भेद निहित है इसलिए अभिन्न, अखण्ड तथा एक शब्द-तत्त्व घटपटादि रूप में भिन्न भिन्न सा अवभासित होता है । जिस प्रकार शाखाओं के अलग-अलग दिखाई देने पर भी मूल वृक्ष एक ही होता है उसी प्रकार व्यावहारिक शब्दों के भिन्न-भिन्न होने पर भी मूल शब्दतत्त्व एक ही है। अर्थात् शब्दतत्त्व का एक होना स्वाभाविक धर्म है जबकि भेद होना काल्पनिक है - ''शक्तिरूपेण भिन्नतत्त्वेऽपि स्वतोऽभिन्नत्वमिति ब्रह्मपि नानात्वं काल्पनिकमेकत्वं च वास्तविकमिति ।''[१५]

शब्दतत्त्व की स्थिति

सर्वबीजात्मक तथा एक इस शब्दतत्त्व की स्थिति अनेक प्रकार से लोकव्यवहार में दिखाई देती है, जैसे भोक्ता पुरुष के रूप में, भोक्तव्य विषय के रूप में तथा भोग सुखदुःखादि अनुभव के रूप में । इस प्रकार अद्वितीय तथा सर्वशक्तिमान् शब्दतत्त्व में निहित शक्तिवैचित्र्य के कारण ही अज्ञानी लोगों को उसमें भेद दिखाई देते हैं, वस्तुतः उस शब्दतत्त्व की अनेकता मानना निरर्थक है । इस शब्दतत्त्व की प्राप्ति का साधन तथा प्रतिमा वेद है - ''प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदः।''[१६] यह शब्दतत्त्व क्रमरहित वाणी का उत्तम और शुद्ध आलोक तथा तम का प्रकाशक माना गया है। यह शब्दतत्त्व इस व्यवहारिक शब्द रूप अंधकार से आच्छादित है जिसका ज्ञान वाग्योगविद् वैयाकरणों को होता है। आचार्य भर्तृहरि ने स्पष्ट कहा है -

प्रत्यस्तमित भेदाया यद्वाचो रूपमुत्तमम्।
यदस्मिन्नेव तमसि ज्योतिः शुद्धं विवर्तते।।[१७]

शब्दतत्त्व का व्यंजक ध्वनि के साथ संबंध

शब्दतत्त्व में व्यंजक ध्वनियों के चिह्न प्रतिबिम्ब के समान निवास करते हैं। इस मूल शब्दतत्त्व में ऋगादि वेदों के उदात्तादि वर्णधर्म प्रतीति में आते हैं, किन्तु वास्तव में ये उदात्तादि वर्णधर्म शब्दतत्त्वाभिव्यंजक ध्वनियों अथवा वायु संयोग में रहते हैं। एक ही शब्दतत्त्व में प्रक्रिया भेद से वर्ण, पद वाक्यादि भेद रहते हैं। उस शब्दतत्त्व रूप परब्रह्म का वास्तविक ज्ञान व्याकरण द्वारा होता है। व्याकरण वेद का अत्यंत उपकारक अंग है। दृष्ट तथा अदृष्ट दोनों प्रकार के फलों को देने के कारण व्याकरणाध्ययन उत्तमतप है इसलिए व्याकरण को वेद का प्रधान अंग कहा है - ''प्रथमं छंदसामंगं प्राहुव्यकिरणं बुधाः।''[१८] वेद का स्वरूप ज्ञान व्याकरण द्वारा होता है। पदों में प्रकृति प्रत्ययज्ञान द्वारा वेद की रक्षा होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। व्याकरण शास्त्र अपनी सामान्य विशेष-सूत्रपद्धति से वर्ण, पद तथा वाक्य सम्यक् अवबोध करवाकर अनन्त शब्दराशि का ज्ञान अल्प समय में ही पाठक को करवा देता है। शब्द ज्योति तथा व्यावहारिक शब्दराशि का साधुत्व ज्ञान व्याकरण पर आधारित है। घटपटादि समस्त पदार्थ व्यवहार तथा शब्दबोध शब्द से चलते हैं। उन शब्दों का तत्त्वावबोध (यथार्थ बोध) बिना व्याकरण के नहीं हो सकता -

अर्थप्रवृत्तिर्तत्त्वांना शब्दा एव निबंधनम्।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणावृते।।[९]

शब्दात्मा की प्राप्ति

वह व्याकरण अपवर्ग अर्थात् मोक्ष का द्वार अर्थात् उपाय है, क्योंकि साधुशब्दज्ञानपूर्वक अभ्यास तथा प्रयोग से धर्म विशेष की उत्पत्ति होती है जिससे व्यक्ति महान् शब्दात्मा को प्राप्त कर लेता है। जब वैयाकरण व्याकरणविशुद्धि पूर्वक वैखरी वाक् का प्रयोग करता है तो वह मध्यमा वाक् के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है। मध्यमा वाक् के यथार्थ स्वरूपावबोध से वाग्विकारों की प्रकृति भूता तथा समस्त शब्दार्थकारण भूता पश्यन्ती वाक् का अनुगमन करना साधक के लिए सहज हो जाता है। तत्पश्चात् वह साधक निरन्तर शब्द-योगसाधना से विशुद्ध परावाक् के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। परावाक् से तादात्म्य ही व्याकरण दर्शन में अपवर्ग माना जाता है। परावाक् को ही महाभाष्यकार पतंजलि ने 'महान् देव' कहा है जिसमें समस्त मनुष्यों ने आश्रय प्राप्त कर रखा है। उस महान् देव के साथ सायुज्य व्याकरणाध्ययन से ही संभव है - ''महान् देवः शब्दः। मर्त्या मरण्यधर्मिणो मनुष्यास्तानाविवेशा महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्य- ध्येयं व्याकरणम्।''[१०]

व्यावहारिक शब्दों का व्याकरण से संबंध

व्याकरण दुरुच्चार रूप व्यावहारिक शब्दों को ठीक करने वाला आयुर्वेद है। अपभ्रंश प्रयोगों के अभाव के लिए व्याकरण की अपेक्षा रहती है। इसलिए व्याकरण विद्या सभी विद्याओं में पवित्र मानी गई है। लोक में कोश, काव्यादि समस्त विद्याओं के लिए शक्तिग्राहक व्याकरण ही है - ''लोके विद्यानामेषा विद्या परायणम्।'' व्याकरण से व्यक्ति अपगत शब्दार्थ भ्रम का निराकरण करके वेदों की शुद्ध आत्मा (अपभ्रंशरहित शब्द) का दर्शन कर लेता है। व्याकरण दर्शन में साधु शब्द-साक्षात्कार ही आत्म-साक्षात्कार माना जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दार्थसंबंध की नित्यता

वैयाकरणों ने शब्दतत्त्व, शब्दतत्त्वार्थ तथा इन दोनों के संबंध को नित्य माना है - ''नित्याः शब्दार्थसंबंधास्तत्राम्नाता महर्षिभिः।''[१२] शब्द की नित्यता में अनेक हेतु दिये जा सकते हैं। उनमें प्रथम हेतु यह है कि दूसरे दिन सुने गये गकार का तत्काल श्रुत गकार में ''यह वही गकार है'' इस प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान के कारण शब्द की स्थिरता उतने दिनों तक मान लेने पर फिर नाश मानना उचित नहीं। अतः शब्द नित्य है। केवल व्यंजक के न रहने से वह सर्वदा सुनाई नहीं पड़ता। द्वितीय हेतु यह है कि व्यंजक ध्वनि की उत्पत्ति और विनाश को वर्णों में आरोप करके ''ककार उत्पन्न हुआ'' ''गकार नष्ट हुआ'' आदि प्रतीतियाँ होती हैं। इसलिए ''शब्दमुच्चारयति'' यह प्रतीति तो होती है, किन्तु ''शब्दमुत्पादयति'' यह प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार जब पद का अवयव वर्ण विभु और नित्य है तब पद की नित्यता मानने में भी कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। तृतीय हेतु यह है कि जो लोग वर्ण, पद और वाक्यों को अनित्य मानते हैं वे भी अनादि संसार में अनादि वृद्ध-व्यवहारपरम्परा के लगातार बने रहने के कारण शब्दों की नित्यता स्वीकार करते हैं। शब्द, अर्थ और संबंध इन तीनों की नित्यता में एक और हेतु यह है कि लोक में उस उस पदार्थ बोध के लिए शब्दों का प्रयोग करते हैं, किन्तु इन शब्दों के निर्माण में यत्न नहीं करते। परन्तु जो पदार्थ क्रिया से निष्पन्न होते हैं उनकी निष्पत्ति (उत्पत्ति) के निमित्त यत्न किया जाता है, जैसे - घड़ से काम लेना चाहता हुआ व्यक्ति कुम्भकार के घर जाकर कहता है, ''घड़ा बनाइये मैं इससे काम लूँगा'', किन्तु शब्दों का प्रयोग करना चाहता हुआ व्यक्ति वैयाकरण के घर जाकर कभी नहीं कहता कि मेरे लिए कुछ शब्द बना दीजिये मैं इन्हें प्रयुक्त करूँगा। व्यक्ति विवक्षा होते ही उस उस पदार्थ के बोधनार्थ शब्दों का प्रयोग कर देते हैं -

''यल्लोकेऽर्थममुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते नैषां निवृत्ती यत्नं कुर्वन्ति। ये पुनः कार्या भावा निर्वृत्तौ तावत्तेषां यत्नः क्रियते। तद्यथा घटेन कार्य करिष्यन् कुंभकारकुलं गत्वाह कुरू घटं कार्यमनेन करिष्यामीति। न तावच्छब्दान्प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह कुरू शब्दान्प्रयोक्ष्य इति। तावत्येवार्थ मुपादाय शब्दान्प्रयुंजते।''[१३]

आचार्य भर्तृहरि का स्पष्ट कहना है कि शब्द से चाहे असत्य का ज्ञान हो अथवा मिथ्या का प्रतिपादन होता हो, शब्द अपने अर्थ से नित्य संबद्ध है -

असत्यां प्रतिपत्तौ च मिथ्यां वा प्रतिपादने।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वैरर्थे नित्यसंबद्धास्ते ते शब्दा व्यवस्थिताः।।[१४]

प्रसिद्ध वैयाकरण आचार्य कैय्यट की मान्यता है कि संस्कृत व्याकरण-दर्शन लोकविज्ञान तथा लोकमत को प्रमाण मानता है इसलिए शब्द और अर्थ के संबंध के विषय में भी लोक ही प्रमाण माना जाता है । लोक में अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है । शब्द से अर्थ बनाये नहीं जाते, अपितु अर्थ के लिए शब्द का आश्रय लिया जाता है - "न हि शब्दैरर्था उत्पाद्यन्ते । यथोक्तं न हि शब्दकृतेन नामार्थेन भवितव्यम् ।"[१५]

शब्द कभी भी अपना अर्थ छोडकर दूसरे अर्थ को नहीं बताता - "न तु शब्दः स्वार्थं परित्यज्यार्थान्तरं वक्तुं समर्थः शब्दार्त्रसंबंधस्यानित्यताप्रसंगात् ।"[१६] यद्यापि सभी शब्द सभी प्रकार के अर्थ व्यक्त करने में समर्थ हैं, किन्तु लोकव्यवहार के आधार पर किसी प्रकार के अर्थ व्यक्त करने में नियमकर दिया जाता है - "सर्वार्थाभिधानशक्तियुक्तः शब्दो यदा विशिष्टेऽर्थे संव्यवहाराय नियम्यते तदा तत्रैव प्रतीतिं जनयति ।"[१७] शब्द की नित्यता स्वीकार्य होने पर भी शास्त्रप्रक्रिया में उसका लोप होना, आगम होना, आदेश होना इत्यादि स्वरूपों का अपलाप नहीं किया जा सकता - "यद्यपि नित्याः शब्दाः तथापि शास्त्रप्रक्रियायां क्वचिदुत्पन्नस्य लोपादिद्धारेण निवृत्तिःक्रियते । क्वचिदपवाद-विधानेनोत्सर्गस्यानुत्पत्तिः ज्ञाप्यते । ततो निवृत्तिपक्षो नानुपन्नः।"[१८]

शब्दार्थ कार्यकारणभाव

शब्द और अर्थ का कार्यकारणभावसंबंध बौद्ध है, क्योंकि शब्दों को सुनकर अर्थ का भाव बुद्धि में होता है । फिर प्रयोग की इच्छा होने पर अर्थ का ध्यान रखकर शब्दों का प्रयोग होता है । अतः शब्दों और अर्थों का बौद्धकार्यकारणभाव बनता है । अन्यथा शब्द आहर अर्थ के भिन्न-भिन्न स्थानों में रहने के कारण कार्यकारणभाव बनता ही नहीं ।

शब्दप्रयोग

यद्यपि साधु शब्द और असाधु शब्दों से समान रूप से अर्थज्ञान होने पर भी शिष्टों के द्वारा प्राप्त व्याकरणागम से सिद्ध साधु शब्दों के प्रयोग से धर्म और असाधु शब्दों के प्रयोग से अधर्म उत्पन्न होता है । महाभाष्यकार पतंजलि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि साधु शब्द से अर्थबोध करना चाहिये न कि अपशब्द से । ऐसा करने से अभ्युदय होता है - "इहापि समानायामर्थावगतौ शब्देन चापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते शब्देनैववार्थोऽभिधेयो नापशब्देनेति । एवं क्रियमाणभ्युदयकारि भवतीति।"[१९] ऋषियों ने व्याकरण के माध्यम से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दसाधुत्वासाधुत्व विषयक जो व्यवस्था दी है वह निर्मूल तथा दुष्ट नहीं है, क्योंकि महर्षियों का अतीन्द्रिय ज्ञान भी आगमोक्त विधान के द्वारा तप करने से प्राप्त हुआ है - ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्।[२०] इसलिए आचार्य पाणिनि ने "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्"[२१] सूत्र द्वारा स्पष्ट कहा है कि पृषोदरादि शब्द जिस तरह उच्चारित हैं उन्हें उसी रूप में समीचीन जानना चाहिये। शिष्ट पुरुषों द्वारा प्रयुक्त सूची में किसी लौकिक पुरुष को परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है। इस प्रकार का विधान निपातन भी कहलाता है। सिद्धांत कौमुदीकार श्री भट्टोजी दीक्षित ने कहा है कि जहाँ लोप, आगम, वर्ण विकार, वर्णविपर्यय आदि देखे जाय, किन्तु शास्त्र द्वारा उसका विधान न हो ऐसे शब्दों को शिष्ट पुरुषों द्वारा उच्चारित होने के कारण समीचीन समझना चाहिये -

भवेद्वर्णागमाद् हंसः सिंहो वर्णविपर्ययात्।
गूढोऽऽत्मा वर्णविकृतेर्वर्णनात्पृषोदरम्॥[२२]

शिष्ट की परिभाषा

शिष्ट कौन है ? इस विषय में महाभाष्यकार पतंजलि का कहना है कि वैयाकरण ही शिष्ट है, क्योंकि शिष्टता शास्त्रज्ञान से आती है और वैयाकरण शास्त्र होते हैं - "के पुनः शिष्टाः? वैयाकरणाः। कुत एतत् ? शास्त्रपूर्विका हि शिष्टिः, वैयाकरणाश्च शास्त्रज्ञाः।"[२३] वे पुनः कहते हैं कि आर्यावर्त में रहने वाला जो मनीषी घर में केवल एक घड़ा भर धान्य ही संचित रखते हैं तथा लोभरहित एवं बिना किसी कारण निष्कामभाव से किसी विद्या में पारंगत हैं ऐसे व्यक्ति शिष्ट कहलाते हैं। ऐसे महाविद्वान शिष्ट पुरुषों द्वारा प्रयुक्त शब्दों के यथार्थज्ञान के लिये महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की है। अतः सभी आर्ष शब्द साधु हैं -

"एतस्मिनार्यावर्ते आर्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किंचिदन्तरेण कस्याश्चिद्विद्यायाः पारंगतास्तत्र भवन्तः शिष्टाः। यदि तर्हि शिष्टाः शब्देषु प्रमाणम् किमष्टाध्याय्या क्रियेत ? शिष्टपरिज्ञानार्था-ऽष्टाध्यायी। कथं पुनरष्टाध्याय्या शिष्टाः शक्या विज्ञातुम् ? अष्टाध्यायीमधीयानोऽन्यं पश्यत्यनधीयानं ये वाऽस्यां विहिताः शब्दास्तान् प्रयुंजानम् । स पश्यति नूनमस्य देवानुग्रहः स्वभावो वा, यो नं न चाष्टाध्यायीमप्रयुंक्ते। नूनमयमन्यानति जानातीति।"[२४]

ऋषिवचन का माहात्म्य

आचार्य भर्तृहरि का कहना है कि जिनके चित्त रजोगुण और तमोगुण से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिभूत नहीं हैं, और जिन्हें ज्ञान हो गया है उन महर्षियों को जो भूत और भविष्यत् का ज्ञान होता है, वह ज्ञान हम सामान्य लोगों के प्रत्यक्ष की ही भाँति प्रत्यक्ष है। जो इन्द्रियों से गृहीत नहीं हो सकते और जो प्रत्यक्षमूलक अनुमान से भी अग्राह्य हैं। वे भाव, जिन्हें महर्षियों ने आर्य नेत्र (अलौकिक समाधि रूप तप) से देखा है उनके वचन अव्यवस्थित अनुमान से बाधित नहीं हो सकते -

आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते।।
अतीन्द्रियानसंवेद्यान्पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते।।२५

स्फोट तथा नाद

व्याकरण दर्शन में शब्दतत्त्व को स्फोट कहा जाता है जो मनोग्राह्य तथा बुद्धिस्थ माना जाता है, जबकि व्यावहारिक शब्द वैखरी वाक् कहलाती है जो श्रोत्रग्राह्य तथा मुखावयवजन्य है। जिस प्रकार अरणिस्थ ज्योति ही विवर्त होकर उद्बुद्ध वह्नि का उपादानकारण बनती है उसी प्रकार बीजरूप अविवृत तथा अक्रम स्फोट ही अर्थबोध की इच्छा से पौर्वापर्यभाव को प्राप्त होकर भिन्न-भिन्न घटपटादि व्यावहारिक शब्दों का कारण बनता है। उच्चारणकर्ता पुरुष पहले बुद्धि से शब्दतत्त्व का तर्क-वितर्क करके उसे पदार्थविशेष में तादात्म्यभाव को प्राप्त करवाकर उसे कत्वगत्वादि ध्वनि से अनुगृहीत करता है। नादव्यंग्य स्फोट पूर्वापरी भावरहित है, किन्तु नाद का जन्म क्रमशः होता है इसलिए अवाग्योगविदों को वह स्फोट भेदवान् सा भासित होता है। व्यावहारिक शब्द ही नाद कहलाता है। जिस प्रकार अन्यत्र स्थित पदार्थ का प्रतिबिम्ब जल-चांचल्य से चंचल सा दिखाई देता है, किन्तु वास्तव में वह चांचल्य भाव रहित है उसी प्रकार बुद्धिस्थ स्फोट अक्रमिक है, किन्तु नादधर्म से क्रमिकता को धारण करता हुआ सा प्रतीति में आता है। कर्णग्राह्य नाद की क्रियाएँ कभी प्रकट होती हैं और कभी तिरोहित होती हैं, किन्तु ज्ञानस्वरूप स्फोट सर्वदा एक ही रूप में बुद्धि में ठीक उसी प्रकार स्थित रहता है जैसे मयूर पक्षी के अण्डे में कलल अर्थात् रस अक्रम रूप में स्थित रहता है। जिस प्रकार कोई मूर्तिकार सर्वप्रथम मूर्ति बनाने से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति के अंगों को क्रमशः देखकर अपनी बुद्धि में उस व्यक्ति के स्वरूप को अक्रमिक रूप से स्थिर करने पुनः चित्रफलक पर क्रमशः उस व्यक्ति के स्वरूप को उकेरता है उसी प्रकार व्यावहारिक शब्द भी प्रथमतः सक्रम सुनाई पड़ता है, पुनः श्रोता की बुद्धि में अक्रम रूप से स्थिर हो जाता है और फिर वक्ता के बोलने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इच्छा होने पर वही सक्रम नाद के रूप में प्रकट होता है। जिस प्रकार पानी में उठने वाला बुलबुला पानी से भिन्न नहीं है, अपितु क्षणभर के लिए वह पानी से भिन्न स्वरूप को धारण कर प्रतीति में आता है उसी प्रकार कत्वगत्वादि नादधर्म वस्तुतः शब्दतत्त्व रूप स्फोट से भिन्न नहीं हैं, अपितु क्षणभर के लिए पदार्थ बोध के लिए स्फोट से भिन्न कत्वगत्वादि के रूप में क्रमिक भाव को प्राप्त होता है और पुनः तत्क्षण उसी अक्रम स्फोट में समा जाता है, अर्थात् क्रमिक व्यावहारिक शब्द आभासमात्र है जबकि अक्रम शब्दतत्त्व उसकी मूल प्रतिष्ठा है। जिस प्रकार प्रदीपादि तेज की ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व ये दो शक्तियाँ हैं उसी प्रकार व्यावहारिक शब्दों की भी दो शक्तियाँ हैं। ग्राह्यत्व शक्ति घटादि पदार्थों में रहती है जबकि ग्राहकत्व शक्ति करारादि नादधर्मों में रहती हैं। जिस प्रकार स्वयं तेज ग्राह्य भी होता है और ग्राहक भी होता है। दीप से घट का प्रत्यक्ष भी होता है और स्वयं प्रकाश का भी प्रत्यक्ष होता हैउसी प्रकार शब्दतत्त्व भी एक तरह का अन्तःप्रकाश है। इसलिए उसमें भी दो तरह की शक्तियाँ हैं। वह प्रकाशक भी है और प्रकाश्य भी। वह कारण भी है और कार्य भी -

प्रकाशकप्रकाश्यत्वं कार्यकारण्यरूपता।
अन्तर्मात्रात्मनस्तस्य शब्दतत्त्वस्य सर्वदा॥[२६]

शब्दतत्त्व तथा व्यावहारिक शब्द

जिस प्रकार व्यावहारिक शब्द जब तक श्रोत्रेन्द्रिय का विषय नहीं बनता तब तक वह सत्तामात्र से पदार्थबोधक नहीं बनता उसी प्रकार शब्दतत्त्व जब तक मन की प्रेरणा से बुद्धि का विषय नहीं बनता तब तक वह सत्तामात्र से व्यक्ति के साक्षात्कार का विषय नहीं बनता। उस शब्दतत्त्व का साक्षात्कार साधना से होता है। साधक की साधना पूर्ण होने पर वह शब्दतत्त्व अपने सम्पूर्ण स्वरूप को उपासक के समक्ष ठीक उसी प्रकार प्रकट कर देता है जिस प्रकार सुन्दर शुभ्रवस्त्र धारण की हुयी ऋतुस्नाता स्त्री कामना करती हुई अपने पति के प्रति अपने शरीर को प्रकट करती है -

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥[२७]

शब्दी की नित्यता

आचार्य भर्तृहरि मीमांसकों के इस मत से सहमत है कि शब्द नित्य तथा एक है। जिस प्रकार अर्थः, अर्कः तथा अश्वः आदि पदों में अकार के भेद होने पर भी "स एवायमकारः" इस प्रतीति के कारण उन अकारों की एकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवृत्त नहीं हो सकती, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न देश तथा काल में उच्चरित वाक्यों में पदों के भिन्न-भिन्न होने पर भी पद एक ही है, क्योंकि ''तदेवेदं पदम्'' यह अनुभव प्रमाण है। वर्णो से अलग पद की कोई सत्ता नहीं है और वर्ण तथा पदों से अलग वाक्य भी कोई वस्तु नहीं है अर्थात् भिन्न-भिन्न काल में क्रम से उत्पन्न होने वाले तथा ध्वस्त होने वाले वर्णों से पद तथा पदों से वाक्य बनाया जाता है। इस प्रकार वर्ण ही नित्य है और वही वर्ण, पद तथा वाक्य बनता है, किन्तु व्याकरण दर्शन में वर्णों और पदों को असत्य माना जाता है क्योंकि अर्थबोध की समाप्ति वाक्य से होती है। वाक्य से एकदम भिन्न पदों या वर्णों की सत्ता स्वीकार्य नहीं है -

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानोमत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥[२८]

शब्दतत्त्व तथा ध्वनि

यद्यपि शब्दतत्त्व कालकृतपरिच्छेद से रहित है तथापि उस शब्दतत्त्व को व्यक्त करने वाली ध्वनि में कालिक सम्बन्ध में कारण उस शब्दतत्त्व की व्यंजक ध्वनिरूपी उपाधिभेद से उसके दुतादि वृत्तिभेद माने जाते हैं। ह्रस्वादि मात्रिक भेद भी ध्वनियों के हैं, नित्य शब्द तत्त्व के नहीं। ध्वनिभेदों से स्फोटरूप शब्दतत्त्व में भेद नहीं होता -

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते॥२९

स्फोट की स्थिति

स्फोटात्मक शब्दतत्त्व अमूर्त है इसलिए अल्पत्व, महत्त्व आदि परिमाण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कार्यरूप व्यावहारिक शब्द ही मूर्तरूप है और इसी कारण उसी का अल्पत्वादि परिमाणों से सम्बन्ध रहता है। स्फोटव्यंग्य है तथा कार्यात्मक शब्द व्यंजक है। जब वक्ता के बोलने की इच्छा होती है तब वह कोई प्रयत्न करता है। उस प्रयत्न से प्राणवायु में क्रिया उत्पन्न होती है और वही वायु कण्ठ, तालवादि स्थानों में टकराकर कार्यात्मक शब्दस्वरूप को धारण करती है। आचार्य भर्तृहरि स्फोट को ज्ञानरूप मानते हैं तथा व्यावहारिक शब्द को उस ज्ञान का परिणाम मानते हैं -

अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मवागात्मना स्थितः।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥[३०]

ज्ञानस्वरूप स्फोट ज्ञाता के पदार्थबोध की इच्छा होने पर मन बन जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। वह मन जठराग्नि से संयुक्त होकर पाक को प्राप्त करता है। पुनः पाक प्राप्त मन प्राणवायु में धक्का लगाकर प्राण को उपर की ओर ले चलता है। वही प्राण जठराग्नि रूपी तेज की सहायता से मुख के बाहर व्यावहारिक शब्द के रूप में भासित होता है। व्यावहारिक शब्दों में वर्णादि ग्रन्थिभेद अन्तःकरणविशिष्ट प्राण द्वारा होता है।

शब्दतत्त्व की महिमा

शब्दतत्त्व की महिमा अपरिमेय है। इसी से इस जगत् तथा व्यावहारिक शब्दों की उत्पत्ति हुई है। यही षड्जादि स्वरभेद का कारण है। सांसारिक इतिकर्तव्यता का आश्रयभूतपदार्थ यही शब्दतत्त्व है। यही समस्त ज्ञान का आधार है क्योंकि यह प्रकाश का भी प्रकाशक है। समस्त विद्याएँ तथा कलाएँ भी शब्दतत्त्वाश्रिम हैं। प्राणी को सुखदुःखादि का अवबोध तथा चेतना का अनुभव भी शब्दतत्त्व से होता है। स्वयंप्रकाश शब्दतत्त्व उच्चारणकर्ता के हृदयाकाश या बुद्धि में स्थित है और उसी के साथ सायुज्य अर्थात् तादात्म्य हो जाना व्याकरणदर्शन में मोक्ष कहलाता है -

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ॥[३१]

शब्द तथा वेद का सम्बन्ध

विद्यावाचस्पति पण्डित मधुसूदन ओझा ने अपने *'वेदधर्मव्याख्यान'* नामक ग्रन्थ में शब्दमीमांसा करते हुए कहा है कि शब्द तथा वेद का अविनाभाव सम्बन्ध है। यह शब्द अन्य विषयों की अपेक्षा न रखता हुआ स्वतः प्रमाणरूप में जाना जाता है -

''शब्दोपहिताविज्ञानवद्विज्ञानोपाधिभूतः शब्दोऽपीष्यत एव वेदः शाब्द-विज्ञानस्य तदविनाभावात्। शब्दश्चायं स्वतःप्रमाणभिष्यते इतरानपेक्षत्वात्।''[३२]

शब्द के तीन भेद हैं - स्वतः प्रमाण, परतः प्रमाण तथा अप्रमाण। इन तीनों शब्दों को ही आप्तवाक्य, आप्त का वाक्य तथा अनाप्तवाक्य कहा जाता हैं। आप्त अर्थात् घटित हुए अर्थ की प्राप्ति सत्यनिष्ठ है तथा सत्य प्रमाणों में श्रेष्ठतम प्रमाण है और ब्रह्मतत्त्व है। उस तरह के सत्य का प्रतिपादक होने से सत्यनिष्ठ दिव्यभाषा के रूप में प्रथित प्रथम शब्दजात सत्य आप्तवाक्य कहलाता है। इसतरह यथार्थतत्त्वबोधक वाक्य स्वतःप्रमाण है। अतः निःसन्दिग्ध तत्त्व को यथार्थरूप से प्रतिपादिक करने वाला होने से यह सम्पूर्ण वैदिकवाक्य ही नित्य प्रमाण है क्योंकि इसमें दोष की गन्ध ही नहीं है। द्वितीय प्रकार का शब्द परीक्षक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषारूप होता है जिसमें अनेकबार व्यभिचार रहता है। इसलिए दूसरे प्रमाण से मिलान किये बिना सत्य की आप्त तथा अनाप्त रूप में प्रामाणिकता सन्दिग्ध रहती है। आप्त का वाक्य तभी सत्य बन सकतता है जब जो अर्थ वाक्य से ग्रहण किया गया वही यदि दूसरे प्रत्यक्षादि प्रमाण से ग्रहण हो तो उस वाक्य की आप्तता निश्चित होती है यदि वह दूसरे प्रमाण से मेल न खाये तो वह अनाप्त होता है। आप्त के वाक्य में जो अर्थ वाक्य से ग्रहण हो रहा है उसके समर्थन में एक प्रमाण मिले तथा विरोध में दूसरा प्रमाण मिले तो दो विरुद्ध प्रमाणों के मध्य में बलवान् प्रमाण के अनुसार व्यवस्था होगी। आप्त के वाक्य की प्रामाणिकता किसी प्रमाण पर ही आधारित है। आप्तवाक्य से आप्त के वाक्य की प्रामाणिकता अवर कोटि की है। अनाप्त वाक्य लोकभाषा रूप है जो नासमझ व्यक्ति के द्वारा या छलछद्मयुक्त व्यक्ति के द्वारा कहा जाता है और इसी कारण वह निश्चित रूप से अप्रामाणिक है। अनाप्तवाक्य सत्य पर अप्रतिष्ठित होने के कारण जिस अर्थ को प्रतिपादित करता है वह अनाप्त और अप्रमाण होता है क्योंकि वह दोष संसर्ग से युक्त होता है। इस तीनों प्रकार के शब्दों में जो प्रथम शब्द दिव्यभाषारूप सत्य पर प्रतिष्ठित होने के कारण निःसन्दिग्ध प्रमाणरूप माना जाता है वही "वेद" शब्द द्वारा कहा जाता है-

"तत्र चैतेषु शब्दजातेषु यत्प्रथमं दिव्यभाषारूपं सत्यप्रतिष्ठितत्वादसन्दिग्ध-प्रामाण्यकमाम्नायते तत्रैवायं वेदशब्दो निरूढः।"[३३]

पण्डित ओझा के अनुसार शब्दसामान्य को ही वेद के रूप में मानना इष्ट है- "शब्दसामान्यस्य वेदत्वमभिप्रैतीति गम्यते।"[३४] प्रमाण रूप शब्द तो वेद कहा जाता है। वेद वैदिक भाषा का शब्दप्रमाण अर्थ का अवबोधक है तथा प्रमाण संस्कृतभाषा का शब्द है एवं वेद अर्थ का वाचक है। अपने धर्म के सम्बन्ध में जिसका जो प्रमाणवाक्य होता है वही उसका वेद होता है इसलिए शब्दसामान्य ही वेद है ऐसा समझना चाहिये।

शब्दप्रमाण

शब्दप्रमाण दो तरह का होता है अर्थागत तथा फलागत। इनमें जो वास्तविक तथा तर्क से ग्रहण किया जाता है वह अर्थागत प्रमाण होता है। फलागत प्रमाण वह है जो लोकव्यवहार से ज्ञात होने पर अयथार्थ होकर भी लोकव्यवहार का उपयोगी होने से ग्रहण किया जाता है। इनमें अर्थागत प्रमाण से शब्दसामान्य को ही प्रतिपादित किया जाता है। लेकिन फलागत प्रामाण्य अनाप्तवाक्य का न होकर सदैव आप्तवाक्य का ही होता है। क्योंकि दूसरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक बलवान प्रमाण से मेल न खाने पर विरुद्धवान् के साथ रहने से पहले वाले ज्ञान से उत्पन्न व्यवहार में प्रवृत्ति रूक जाती है।

४५, नव दुर्गा मन्दिर स्किम, डा. मंगलराम विश्नोई
शिवाजी विद्या मन्दिर के सामने, झालामण्ड,
चौटाहा, जोधपुर ३४२००५

टिप्पणियाँ

१. भर्तृहरि, **वाक्यपदीय**,। ४४
२. सदानन्दयोगीन्द्र, **वेदान्तसार**, पृ. १५४
३. पतंजलि, **व्याकरण महाभाष्य**,पस्पशाह्निक, पृ. ४
४. द्रष्टव्य-
एको रसः करूण एव निमित्तभेदाद्,
भिन्नः पृथक् प्रथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्धबुदतरङ् गमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्॥
-भवभूति, **उत्तररामचरित**, ३.४७
५. सूर्यनारायण शुक्ल, **वाक्यपदीयभावप्रदीपव्याख्या**, १.२, पृ. ६
६. **वाक्यपदीय**, १.५
७. **वही**, १.१८
८. **वही**, १.११
९. **वही**, १.१३
१०. **व्याकरणमहाभाष्य**, पस्पशाह्निक, पृ. १२
११. **वाक्यपदीय**, १.१५
१२. **वही**, १.२३
१३. **व्याकरणमहाभाष्य**, पस्पशाह्निक, पृ. २९
१४. **वाक्यपदीय**, २.३३७
१५. कैय्यट, **व्याकरणमहाभाष्यप्रदीप**, २.२.२९
१६. **वही**, २.२.६
१७. **वही**, १.१.२२
१८. **वही**, ३.१.३१
१९. **व्याकरणमहाभाष्य**, पस्पशाह्निक, पृ. ३१-३२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२०. **वाक्यपदीय**, १.३०
२१. पाणिनि, **अष्टाध्यायी**, ६.३.१०९
२२. भट्टोजी दीक्षित, **वैयाकरणसिद्धान्तककौमुदी**, ६.३.१०९
२३. **व्याकरणमहाभाष्य**, ६.३.१०९
२४. **वही**, ६.३.१०९
२५. **वाक्यपदीय**, १.३७-३८
२६. **वही**, २.३२
२७. **व्याकरणमहाभाष्य**, पस्पशाह्निक, पृ. १३
२८. **वाक्यपदीय**, १.७३
२९. **वही**, १.७७
३०. **वही**, १.११२
३१. **वही**, १.१३१
३२. पण्डित मधुसूदन ओझा, **वेदधर्मव्याख्यान**, शब्दप्रामाण्यप्रकरण, पृ. ८२
३३. **वही**, पृ ८३
३४. **वही**, पृ ८४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY PUBLICATIONS

Daya Krishna, A. M. Ghose (eds), Contemporary Philosophical Problems: Some Classical Indian Perspectives, Rs. 10/-

S. V. Bokil (Tran.) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A. P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi(ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A. M. Ghose and P. K. Srivastav (eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale (eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs. 50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs. 25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs. 30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs. 100/-

Contact:

The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Pune,
Pune - 411007

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीतारंभसमय का अर्जुन

गीतोपदेश कुरुक्षेत्र की रणभूमि पर युद्धारंभ के ऐन मौके पर अर्जुन ने वह युद्ध करने की इष्टानिष्टता पर उठाये मर्मस्पर्शी प्रश्न को श्रीकृष्ण ने दिया उत्तर है। अतः गीतोपदेश को वास्तविक प्रकार से समझने, अर्जुन का वह प्रश्न, तथा उसके मूल में अर्जुन की भूमिका, यथातथ्य ध्यान में लेना उघड ही आवश्यक है और गीताकार ने भी इसीलिये अर्जुन का मूल प्रश्न शुरू में मात्र एक दो श्लोकों में कहा न होकर, प्रथम अध्याय में श्लोक २६ से अध्याय समाप्ती तक तथा द्वितीय अध्याय में श्लोक ४ से ९ तक विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। फिर भी प्रायः भाष्यकार उस पर पर्याप्त ध्यान न देते हुए अर्जुन की उस क्षण की मनोभूमिका के बारे में विविध भ्रमात्मक धारणा व्यक्त करते हैं।

अर्जुन पर संन्यासवाद का आरोप

कई भाष्यकार अर्जुन संन्यासमार्ग की ओर प्रवृत्त होकर वह युद्ध करने से इन्कार कर रहा था ऐसा प्रतिपादन करते हैं। गीता में कर्मयोग का मुख्य प्रतिपादन देखनेवाले टिळक लिखते हैं, ''जब कुरुक्षेत्र में दोनों पक्षों की सेनाएँ लडाई के लिये सुसज्जित हो गई थीं, और जब एक दूसरे पर शस्त्र चलाने ही वाला था, कि इतने में अर्जुन ब्रह्मज्ञान की बडी बडी बातें बतलाने लगा और 'विमनस्क' होकर संन्यास लेने को तैयार हो गया; तभी उसे अपने क्षात्रधर्म में प्रवृत्त करने के लिये भगवान् ने गीता का उपदेश दिया है। ('श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य', मूल मराठी, सप्रे द्वारा हिंदी अनुवाद, पृ. २४; तथा देखिये पृ. ३१२)

किन्तु गीतोपदेश में संन्यासमार्ग का प्रमुख प्रतिपादन देखनेवाले भाष्यकार भी गीतारंभ के समय अर्जुन का संन्यास की ओर झुकाव देखते हैं। मधुसूदन सरस्वती 'गूढार्थदीपिका' में (श्लोक २-६ के विवरण में) लिखते हैं, ''इति प्रथमाध्यायस्यार्थः स संन्याससाधन सूचनम्, अस्मिंस्त्वध्याये 'श्रेयो भोक्तुं भैक्षमपि' इत्यत्र मिक्षाचर्योपलक्षितः संन्यासः प्रतिपादितः।'' किन्तु यदि अर्जुन शुरू से ही संन्यासमार्ग की ओर झुका था, तो गीतोपदेश में वही मार्ग प्रमुखता से प्रतिपादन करने में क्या तुक था ? इस पर संन्यास मार्गी उत्तर देते हैं कि, अर्जुन संन्यास की ओर आकृष्ट हुआ था, किन्तु वह अद्याप पूर्णज्ञानी न होनेसे उस मार्ग के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अधिकारी' नहीं था । अतः श्रीकृष्ण ने उसे युद्धकर्म के लिए प्रवृत्त किया, परन्तु ज्ञानी सिद्ध के लिए आखिर संन्यास मार्ग ही उपदिष्ट है।

गीतारंभसमय अर्जुन कर्मसंन्यास की ओर झुका था, यह दृष्टिकोण व्यक्त करते हुए योगी अरविंद कहते हैं ("Essays on the Gita", जगन्नाथ वेदालंकार कृत हिंदी अनुवाद 'गीताप्रबन्ध', पृ. ५९) कि, प्रकृति के त्रैगुण्य से मनुष्य असंतुष्ट हो जाता है तब वह या तो उसके 'बाहर' निर्गुणावस्था में, जहाँ सारी कर्मप्रवृत्ति का अभाव होता है, प्रवेश करना चाहता है, या फिर उस त्रैगुण्य के 'ऊपर' यानी त्रिगुणातीत अवस्था में (जहाँ अनासक्त अबंधक कर्माचरण संभव है) चला जाना चाहता है। इतना कहकर अरविंद अर्जुन की प्रारंभिक मनःस्थिति का कर्मसंन्यास की ओर झुकाव दर्शाते हुए लिखते हैं, ''इनमें से पहले भाव की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है संन्यास की ओर और दूसरे भाव की प्रवृत्ति होती है प्रकृति की माँगों तथा उसकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के चक्कर पर प्रभुत्व प्राप्त करने की ओर, और इसका सिद्धांत होता है समता की स्थापना तथा आवेगों और कामना का आंतरिक त्याग। अर्जुन के चित्त में पहले वही पहला आवेग हुआ था जिसके कारण कुरुक्षेत्र में, अर्थात् युद्ध और हत्याकांड के घोर संहार-क्षेत्र में अपने वीरकर्म की दुःखद पराकाष्ठा से उसका मन फिर गया, अबतक उसका जो कर्म संबंधी सिद्धान्त था वह लुप्त हो गया और उसको ऐसा बोध होने लगा कि अकर्म अर्थात् जीवन और जीवन की माँगों का त्याग ही एकमात्र उपाय है। परन्तु भगवान् गुरू की वाणी उसे जो कुछ करने को कहती है वह जीवन और कर्म का बाह्य संन्यास नहीं है, बल्कि उनपर आंतरिक प्रभुता की स्थापना है।''

इसी प्रकार डा. राधाकृष्णन लिखते हैं, ("The Bhagavad Gita" हिंदी संस्करण 'भगवद्गीता' पृ. ७२-७३), ''गीता एक समस्या को लेकर प्रारम्भ होती है। अर्जुन युद्ध करने से इन्कार कर देता है और कठिनाइयाँ उपस्थित करता है। वह कर्म से दूर रहते और संसार को त्यागने के लिए ऐसी युक्तियाँ प्रस्तुत करता है, जो सुनने में ठीक जान पडती हैं। यह कर्म-संन्यास का आदर्श गीता की रचना के काल में कुछ सम्प्रदायों पर विशेष रूप से प्रभाव जमाए हुए था। अर्जुन के मन को परिवर्तित करना गीता का उद्देश्य है।... सांख्य, जो गीता में ज्ञान का ही दूसरा नाम है, हमें कर्म का त्याग करने को कहता है। ..युक्ति प्रयुक्त की गई कि मनुष्य को सब कर्मों को त्याग कर संन्यासी बन जाना चाहिये।...'' विनोबा लिखते हैं, ''अर्जुन अहिंसा की ही नहीं, संन्यास की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी भाषा बोलने लगा। वह कहता है - 'इस रक्तलांछित क्षात्र-धर्म से संन्यास ही अच्छा है'' ('गीताप्रवचन' पृ. १५)

स्वयं अर्जुन क्या कहता है ?

अब मजे की बात यह कि, यद्यपि गीतोपदेश में आगे जाकर कुछ संदर्भों में 'सांख्य' एवं 'संन्यास' का कुछ विवेचन आया है, अर्जुन मूल प्रश्न वर्णन करनेवाले श्लोकों में 'संन्यास' एवं 'सांख्य' का एक भी उल्लेख नहीं ! फिर भी अर्जुन पर संन्यास वाद का आरोप करनेवाले -

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ॥ २.५

अर्जुन के इस वचन में प्रयुक्त 'भैक्ष्यम्' शब्द का आधार लेकर भीख माँगना याने संन्यास ग्रहण करना ऐसा अर्थ करते हैं। शंकराचार्य लिखते हैं, ''शोकमोहाभ्यां ह्यभिभूत विवेकविज्ञानः स्वत एवं क्षत्रधर्मे युद्धे प्रवृत्तोऽपि तस्मात् युद्धादुपरराम। परधर्मंच भिक्षा जीवनादिकं कर्तुं प्रववृते।'' इसमें प्रयुक्त 'भिक्षाजीवनादिकं' शब्द स्पष्ट करते हुए आनंदगिरी लिखते हैं, ''आदि शब्दात् अशेषकर्मन्यासलक्षणं परिव्राज्यम् आत्माभिज्ञानं इत्यादि ग्रह्यते।'' (इसके अलावा, स्वयं शंकराचार्य गीता के तृतीय अध्याय की, एवं पुनः उसके श्लोक १७ की भूमिका बताने में बृहदारण्य उपनिषद् उद्धृत कर ज्ञानमार्गियों के भिक्षाचर्य जीवन का कर्मसंन्यास से संबंध दिग्दर्शित करते हैं।) इसी आशय का मधुसूदन सरस्वती का स्पष्टीकरण उपर उद्धृत किया ही है। तथा टिळक लिखते हैं, ''जिस सांख्य अथवा संन्यास मार्ग के आचार को ध्यान में लाकर अर्जुन युद्ध छोड भिक्षा माँगने के लिये तैयार हुआ था...'' (उक्त पृ. ६३४)

किन्तु क्या भिक्षाचरण का एकमेव निश्चित अर्थ संन्यास ग्रहण है ? क्या भीख माँगकर खानेवाले सब संन्यासी या संन्यास मार्गी होते हैं ? पुराणों के अनुसार राजा हरिश्चन्द्र सत्यपालन करता हुआ राज्यत्याग कर पत्नीपुत्र के सह भिक्षावृत्ती से जीवन व्यतीत करता हुआ भी संन्यासी नहीं हुआ था। अर्जुन के 'भैक्ष्यम् भोक्तभोक्तुं' का क्या इससे भिन्न अर्थ है ?

'अपि' शब्द की संपूर्ण उपेक्षा

किन्तु अर्जुन का 'भैक्ष्यम्' शब्द संन्यास दर्शन है ऐसा भी मानना हो, तो क्या अर्जुन असल में 'भैक्ष्यम्' चाहता था ? इस बारे में सदियों से किया जा रहा विपर्यास विस्मयजनक है ! अर्जुन ने उस शब्द के साथ 'अपि' अव्यय का प्रयोग किया है। कुलबांधव एवं गुरुजनों के विरुद्ध यह युद्ध करने के बजाय भीख माँगकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पेट भरना भी अच्छा ऐसा वह अतीव उद्वेग से कहता है; इसका आशय वह वस्तुतः भीख माँगना स्वीकार कर रहा था ऐसा नहीं हो सकता। 'क'अच्छा है, 'ख' भी अच्छा है; 'क' अच्छा नहीं है, इससे 'ख' अच्छा होगा; इन दो वाक्यों में 'ख' के लिये वास्तविक संमति है। किन्तु 'क' अच्छा नहीं, इससे तो 'ख' भी अच्छा होगा, इस वाक्य मे 'ख' के लिये वास्तविक संमति न होकर, 'ख' बुरा है किन्तु 'क' उससे भी बुरा है, यह आशय होता है। 'अपि' ('भी') का इस तरह प्रयोग सामान्य बोलचाल में कई बार होता है ('इस भोजन की अपेक्षा कच्चा अन्न खाना भी अच्छा होगा', 'यह नौकरी करने के बजाय खाली पेट मरना भी अच्छा होगा।')

कुछ अनुवादों में "भैक्ष्यम् अपि" का अनुवाद करने में 'अपि' का उल्लेख ही टाल दिया जाता है। भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद ('भगवद्गीता यथारूप'), "ऐसे महापुरुषों को, जो मेरे गुरू हैं उन्हें मारकर जीने की अपेक्षा इस संसार में भीख माँग कर खाना अच्छा है।" Mahadeo Desai, "It were better far to live on alms in this world than to slay these venerable elders", ('The Gita according to Gandhi' p. 146. किन्तु गांधी की मूल हिंदी पुस्तक में 'अपि' का अनुवाद दिया है)। Radhakrishnan, "It is better to live in this world by begging than to slay these honoured teachers" ('The Bhagavadgita', p.99).

वास्तविकता यह है कि उस समय अर्जुन का भैक्ष्यचर्या, सर्वकर्म-संन्यास या अहिंसा की ओर झुकाव न होकर, वह केवल एक विशिष्ट कर्म - कौरवों के विरुद्ध उस युद्ध - को घोर विरोध प्रदर्शित कर रहा था। कुछ खास कारण से एक विशिष्ट कन्या से विवाह करने से इन्कार करनेवाला युवक संपूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करना चाहता है यह कहना जितका विपर्यस्त होगा, उतना ही विपर्यस्त अर्जुन अहिंसा प्रतिपादन करने लगा था यह कहना भी होगा।

अर्जुन के मन में उस समय ऐहिक जीवन के प्रति संपूर्ण वैराग्य उदित हुआ था यह कथन भी भ्रामक है। इन स्वजनों को इस युद्ध में मारकर मैं ऐहिक (तथा पारलौकिक भी) भोग नहीं चाहता इतना ही उसका कथन है। स्वजनों के विरुद्ध उस युद्ध में उसे महत्पाप प्रतीत हो रहा था (१-४५)। उसका वह भोगविरोध हृदयपूर्वक किन्तु सशर्त था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्जुनमानस के बारे में एक और भ्रम

अर्जुन के उस युद्ध विरोध के मूल में शत्रू पक्ष में स्थित स्वजनों के लिये ममताभाव था, ऐसा दर्शाते हुए शंकराचार्य अपने भाष्य के आरंभ में लिखते हैं,"तथा अर्जुनेन... अहमेषो ममैत इत्येवं प्रत्ययनिमित्त स्नेहविच्छेदादि-निमित्रावात्मनः शोकमोहौ प्रदर्शितौ", (सर्वसामान्य मानव के शोकमोहादि दोषों के अनुसार अर्जुन ने... यह मेरे संबंधी हैं और मैं इनका हूँ इस प्रकार अज्ञानजनित स्नेहविच्छेद आदि कारणों से उत्पन्न अपना शोक एवं मोह प्रदर्शित किया।) तथा अर्जुन के बारे में ऐसी ही धारणा लेकर विनोबा लिखते हैं, "पहले हमें अर्जुन की भूमिका देखनी चाहिये। ...अर्जुन, जो समरभूमि में खडा हुआ, सो कृतनिश्चय होकर और कर्तव्यभाव से... अर्जुन चारों ओर एक निगाह डालता है, तो उसे क्या दिखाई देता है ? दोनों ओर अपने ही नाते-रिश्तेदारों, सगे-संबंधियों का जबरदस्त जमघट। ...उस सारे स्वजनसमूह को देखकर उसके हृदय में एक उथल-पुथल मचती है। उसे बहुत बुरा लगता है। ... ऐसा क्यों हुआ ? क्या अशोक की तरह उसके मन में अहिंसा-वृत्ति का उदय हो गया था ? नहीं, यह ना केवल स्वजनासक्ति थी। इस समय भी यदि गुरु, बंधु और आप्त सामने न होते, तो उसने शत्रुओं के मुंड गेंद की तरह उडा दिये होते। परंतु उस आसक्ति-जनित मोह ने उसकी कर्तव्यनिष्ठा को ग्रस लिया और तब उसे तत्त्वज्ञान याद हो आया। कर्तव्यनिष्ठ मनुष्य के मोहग्रस्त होनेपर भी नग्न-खुल्लमखुल्ला-कर्तव्यच्युति उसे सहन नहीं होती। वह कोई सद्विचार उसे पहनाता है। यही हाल अर्जुन का हुआ। अब वह झूठमूठ प्रतिपादन करने लगा कि युद्ध ही वास्तव में एक पाप है। युद्ध से कुलक्षय होगा, धर्म का लोप होगा, स्वैराचार मचेगा, व्यभिचार-वाद फैलेगा, अकाल आ पडेगा, समाज पर तरह-तरह के संकट आयेंगे, आदि अनेक दलीलें देकर वह कृष्ण को ही समझाने लगा। यहाँ मुझे एक न्यायाधीश का किस्सा याद आता है। एक न्यायाधीश था। उसने सैकडों अपराधियों को फाँसी की सजा दी थी। परंतु एक दिन खुद उसी का लडका खून के जुर्ममें उसके सामने पेश किया गया। बेटे पर खून का जुर्म साबित हुआ और उसे फाँसी की सजा देने की नौबत न्यायाधीश पर आ गयी। तब वह हिचकने लगा। वह बुद्धिवाद बघारने लगा - 'फाँसी की सजा बडी अमानुष है। ऐसी सजा देना मनुष्य को शोभा नहीं देता। इससे अपराधी के सुधरने की आशा नष्ट हो जाती है। खून करने वाले ने भावना के आवेश में, जोश और उत्तेजना में खून कर डाला। परंतु उसकी आँखों पर से खून का जुनून उतर जाने पर उस व्यक्ति को संजीदगी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ फाँसी के तख्ते पर चढाकर मार डालना समाज की मनुष्यता के लिए बडी लज्जा की बात है, बडा कलंक है' आदि दलीलें वह देने लगा। ... किन्तु जजसाहब अपने लडके के ममत्व के कारण ऐसी बातें करने लगे। उनकी वह आवाज आंतरिक नहीं थी। वह आसक्ति जनित थी... अर्जुन की गति भी उस न्यायाधीश की तरह हुई। उसने जो दलीलें दी थीं, वे गलत नहीं थीं। ...परंतु सोचने की बात यह है कि वह अर्जुन का तत्त्वज्ञान (दर्शन) नहीं, कोरा प्रज्ञावाद था।''('गीता प्रवचन'पृ.१२-१४, तथा देखिये 'स्थितप्रज्ञदर्शन' पृ. ७७-७८।)

क्या स्वयं अर्जुन के सहित समस्त पांडव बंधुओं को एवं सती द्रौपदी को घोर पीडा देकर अब उद्दंडता से युद्ध के लिये सामने खडे कौरवों को देखने वाला अर्जुन, और अन्य किसी का खून कर अब सजा प्राप्त करने सामने खडा अपना पुत्र देखनेवाला वह न्यायाधीश, इनमें कुछ भी साम्य है ? क्या अर्जुन के मन में दुर्योधन-दुःशासनादि के लिये किंचित् भी ममता भाव था ? अर्जुन कौरवों को 'आततायी' बताकर कहता है -

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः॥ १-३६

इसमें प्रयुक्त 'आततायी' शब्द की परिभाषा 'वसिष्ठ स्मृति' (३-१९) में दी होकर, मनुस्मृति (८-३५०,५१) में कहा है कि, 'सामने आये 'आततायी' को कुछ भी विचार न करते मार डाला जावे,'आततायी' को मारने से कोई दोष नहीं लगता।' इस संदर्भ में अर्जुन नें (ऊपर चर्चित'अपि' के समान) 'पापम्' के साथ उच्चारा 'एव' प्रत्यय विशेष सूचक है। अर्जुन का आशय है कि, सामान्यतया 'आततायी' को मारने से पाप नहीं लगता, किन्तु ये 'आततायी' कौरव हमारे कुलबांधव होने से इन्हें मारने से हमे 'पापही' लगेगा। क्या अर्जुन का यह कथन उक्त न्यायाधीश के समान ढोंगी था ? अर्जुन यह भी कहता है -

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ १-४६

'आततायी' होने पर भी ये कौरव हमारे कुलबांधव होने से हम ने इन्हें मारने के बजाय इनके द्वारा इस रणभूमि पर प्रतिकारशून्य शस्त्ररहित अवस्था में मारा जाना मुझे अधिक श्रेयस्कर होगा ऐसा अर्जुन कहता है। इसके इस वचन का उपरोक्त न्यायाधीश की भूमिका से क्या संबंध ?

यदि अर्जुन का वह युद्धविरोध असल में कौरवों के प्रति आप्तममता पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधारित होता, तो गीतोपदेश श्रवण करने के बाद भी वह उस युद्ध के लिये तैयार न होता। क्योंकि, श्रीकृष्ण ने उसे इस युद्ध में तेरे ये कुलबांधव मारे जानेवाले नहीं है ऐसा आश्वासन न देकर, वे इस युद्ध में निश्चित ही मरनेवाले हैं यह (विश्वरूपदर्शद्वारा) अर्जुन को दिग्दर्शित किया। किन्तु ऐसा हुआ तो भी तुझे इसमें पाप नहीं लगेगा यह श्रीकृष्ण ने आश्वासन दिया, और उसके बाद अर्जुन ने उस युद्ध के लिये धनुष उठाया।

फिर, यदि अर्जुनमानस उस समय स्वजनविषयक ममता से प्रभावित होता, तो वह सामने युद्धार्थ खडे दुष्ट कौरवों के प्रति होती, या अभिमन्यु आदि स्वपुत्र एवं पांडवों के अन्य भी पुत्रों के लिये होती ? कौरवों ने कपट द्यूत में पांडवों को राज्यभ्रष्ट कर बारह वर्ष वनवास तथा एक वर्ष अज्ञातवास भोगने बाध्य किया, उस प्रदीर्घ काल में उन्हें उनके पुत्रोंसे जो व्यर्थ परस्परवियोग सहना पडा उसके (एवं द्रौपदीवस्त्रहरण के) स्मरण से यदि अर्जुन प्रभावित होता, तो कौरवों के विरुद्ध वह युद्ध नकारने के बजाय वह उनपर अति त्वेषपूर्वक बाण चलाने की इच्छा व्यक्त करता। किन्तु वास्तविकता यह है कि, उस युद्ध को विरोध करने में अर्जुन आप्तममता से प्रभावित न होकर इसके विपरीत अपनी स्वाभाविक आप्तममता पर संयम रखकर, केवल पापविषय गहन नैतिकता की समस्या से (जो उस विशिष्ट परिस्थिति में बौद्धिक गलत, 'प्रज्ञावाद' स्वरूप, किन्तु ढोंगी न होकर पूर्णतया मनःपूर्वक थी) ग्रस्त था।

इस संदर्भ में अर्जुन के इस श्लोक का सुसंगत अर्थ करना इष्ट है -

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ १.३३

इसमें ''येषामर्थे'' का आशय ''जिनके वैयक्तिक उपभोगार्थ' ऐसा ममतासूचन न होकर, 'जिनके रक्षणार्थ' ऐसा कर्तव्यसूचक है। इसी प्रकार संजय के -

तं तथा कृपाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ २.१

इस श्लोक में (तथा इसके पूर्व १.२८ में भी) अर्जुन के लिये प्रयुक्त 'कृपयाविष्ट' शब्द में 'कृपा' का अर्थ (कौरवों के प्रति) 'ममता, दया' इस प्रकार न होकर, 'हा ! हम राज्यसुख के लोभ स्वकुलनाश का भीषण महत्पाप करने उद्युक्त होने तक कैसे अधःपतित हो गये हैं' इस स्वरूप की स्वयं के प्रति अनुकंपा यह आशय है। इस 'कृपा' का योगी अरविंद यह मार्मिक स्पष्टीकरण देते हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

''वह दया नहीं है बल्कि उसकी आत्म-कृपा से परिपूर्ण क्लीबता है, जो कर्म उसके सामने उपस्थित है उसके फलस्वरूप जो मानसिक यंत्रणा उसे भोगनी पडेगी उससे वह बचना चाहता है, वह कहता है कि 'मेरी इन्द्रियों को सुखानेवाले इस शोक को मैं कैसे दूर करूँ, यह मेरी समझ में नहीं आता'- यह आत्मकृपा अत्यंत तुच्छ और अनार्य भावों में गिनी जाती है।'' (पूर्व उल्लेखित पृ. ६४; यहाँ 'आत्मकृपा' के लिये अरविंद का मूल अंग्रेजी शब्द Self-pity है)

अर्जुन पर कायरता का आरोप

महारथी दिग्वजयी अर्जुन पर और एक निराधार आरोप किया गया है। ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूपदर्शन के समय श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं -

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे। येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ ११.३२
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भवसव्यसाचिन्॥ ३३
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्ण तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ ३४

इन श्लोकों में प्रयुक्त 'ऋतेऽपि त्वा', 'मयैवैते निहताः पूर्वमेव', 'मया हतान्' 'मा व्यथिष्ठाः'' शब्दों का कईयों ने निराधार विपर्यास किया है। वस्तुतः इन श्लोकों में श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि, 'ऋतेऽपि त्वा' यानी तूने यह युद्ध न किया तो भी, ''प्रत्यनीकेषु योधाः'' यानी तेरे विरुद्ध खडी सेनाओं के सारे योद्धा 'न भविष्यन्ति' यानी जीवित रहनेवाले नहीं है, क्योंकि ''मयैवैते निहताः पूर्वमेव, मयाहताः'' यानी उनके घोर दुष्कर्मों के कारण, तथा वे दुष्कर्म करनेवालों के समर्थन मे खडे होने के कारण ('कर्म सिद्धांत के अनुसार) मैंने (परमेश्वर ने) पहिले ही मृत्युंदंड के पात्र निश्चित किये हैं, अतः ''निमित्तमात्रं भव, त्वं जहि, मा व्यथिष्ठा, युध्यस्व'' यानी (उस ईश्वरी आदेश का पालन करने) स्वयं को मात्र निमित्त (साधन) मानकर इस युद्ध में उन्हें प्रत्यक्ष मार, ऐसा करने से (वे तेरे कुलबांधव एवं गुरुजन होने पर भी) तुझे पाप लगेगा इस कल्पना से चिंतित न हो।

रामानुजाचार्य यह आशय उचित प्रकार व्यक्त करते हैं, ''त्वाम् ऋते अपि त्वदुद्योगम् ऋतेऽपि एते धार्तराष्ट्रप्रमुखाः तव प्रत्यनीकेषु ये अवस्थिता योधाः ते सर्व न भविष्यन्ति विनङ्क्ष्यन्ति। ...मया एव कृतापराधाः पूर्वम् एव निहताः हनने विनियुक्ताः त्वं तु तेषो हनने निमित्तमात्रं भव। ...द्रोण भीष्म कर्णादीन्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृतापराधतया मया एव हनने विनियुक्तान् त्वं जहि त्वं हन्याः एतान् गुरुन् बन्धून् च अन्यान् अपि भोगसक्तान् कथं हनिष्यामि इति मा व्यथिष्ठाः, तान् उद्दिष्ट धर्माधर्मभयेन बन्धुस्नेहेन कारुण्येन च मा व्यथां कृथाः। यतः ते कृतापराधाः मया एव हनने विनियुक्ताः अतो निर्विशङ्को युद्धस्व, न एतेषां वधे नृशंसतागन्धः'' ('तेरे बिना भी, तू कुछ कर्म न करने पर भी, तेरी विपक्षी सेनाओं में कौरवों के प्रमुखत्व में खडे ये सब योद्धा बचेंगे नहीं, सब नष्ट हो जायेंगे ...दुष्कर्म करनेवाले ये मेरे ही द्वारा मारे गये हैं, यानी मृत्यु प्राप्त करने के लिये नियत किये गये हैं, तू उन्हें मारने में केवल साधन हो जा ... द्रोणभीष्मकर्ण आदि, जो दुष्कर्म कारने के कारण मेरेही द्वारा मृत्युदंड के लिए नियत किए गये हैं, को तू मार; इन गुरुजनों को, कुलबांधवों को, तथा अन्य भोगासक्तों को मैं कैसे मारुँ इस प्रकार धर्माधर्मभय से, बन्धुस्नेह से, करुणाभाव से चिंता मत कर; क्योंकि दुष्कर्मी होने से इन्हें मैंनेही मृत्यु के पात्र ठहराया है; अतः बिना किसी आशंका से यह युद्ध कर, इनका वध करने में नृशंसता का, मनुष्य हत्या का, कोई दोष नहीं हैं') (इसमें 'धर्माधर्मभयेन' के साथ 'बन्धुस्नेहेन' न कहा होता तो अधिक सयुक्तिक होता) टिळक भी इन श्लोकों का बहुतांश इसी प्रकार आशय देते हैं, 'तू न होने पर भी, यानी तू कुछ न करने पर भी अनेकानेक सेनाओं में खडे ये सारे योद्धा नष्ट होनेवाले हैं। मैंने इन्हें पहले ही मारा है, तू केवल निमित्त बनकर आगे हो' ... 'दुष्ट मनुष्य अपने ही कर्मों से मरते हैं अतः उन्हें मारनेवाला केवल निमित्तमात्र होनेसे मारनेवाले पर उसका दोष नहीं आता है यह कर्म विपाक प्रक्रिया का सिद्धान्त भी श्लोक ३३ में आया है।'[१]

किन्तु अन्य कई भाष्यकार अर्जुन के मन में शत्रुओं से भय होकर उन्हें पराजित कर सकने के बारे में आशंका थी, ऐसी धारणा लेकर, इन श्लोकों में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को 'मैंने तेरे इन शत्रुओं को पहले ही शारीरिक स्तर पर अति दुर्बल एवं मरणोन्मुख कर रखा होकर तू इन्हें आसानी से मार सकेगा, अतः भय छोडकर यह युद्ध कर' यह आश्वासन दिया ऐसा विपर्यस्त अर्थ करते हैं।

शंकराचार्य लिखते हैं, ''मया हतास्त्वं जहि निमित्तमात्रेण। मा व्यथिष्ठास्तेभ्यो भयं मा कार्षीः'', तथा यह अधिक स्पष्ट करते हुए मधुसूदन सरस्वती ('गूढार्थदीपिका') कहते हैं, ''हतानां हने को वा परिश्रमः। अतो मा व्यथिष्ठाः कथमेव शक्ष्यामीति व्यथा भयनिमित्तां पीडा मा गाः। भयं त्यक्त्वा युद्धस्व।'' श्री वेंकटनाथ, ''मा व्यथिष्ठाः कथमेनान् हनिष्यामीति भयनिमित्तं व्यथं मा गाः''; नीलकंठ ('भारतभावदीपः'), ''मा व्याधिष्ठाः एते महान्तः कथं हन्तुं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्या इत्याकुलीभावं मा गा इत्यर्थः।'' इन भाष्यकारों ने अर्जुन पर शत्रू से भय का निराधार आरोप किया है, फिर भी कम से कम ''ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः'' का अर्थ उचित किया है। किन्तु मध्वाचार्य ने उसका भी विपर्यास कर 'तेरे सिवा(पांडवों के सिवा) इस युद्ध में (दोनों पक्षों के) सारे योद्धा मरनेवाले हैं ऐसा श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आश्वस्त कर उसे युद्ध के लिये खडा किया' ऐसा आशय लिया है । इस आशव के अनुसार अर्जुन स्वयं के मरणभय से उस युद्ध को इन्कार कर रहा था, और श्रीकृष्ण ने उसे उसकी जीवनरक्षा का आश्वासन देने पर वह युद्ध के लिये खडा हुआ। भक्तिवेदान्त स्वामी भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद ('भगवद्गीता यथारूप) उक्त श्रीकृष्ण वचन का ऐसा ही यह अर्थ देते हैं, ''तुम्हारे (पांडवों के) सिवा दोनों पक्षों के सारे योद्धा मारे जायेंगे।'' महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर ने भी अपने सुप्रसिद्ध पद्यात्मक भाष्य में इस श्लोक पर मध्वाचार्य ने दिया अर्थ स्वीकार कर यह लिखा है (मूल मराठी का डा. बांडे द्वारा हिंदी पद्यानुवाद), ''तब पूर्ण निराश न होवे अर्जुन सोच यह बोले चक्रधारी। तेरे साथ बचेंगे पांडव सुन संभला धनुर्धारी॥ ११-४५३,५४। महामरण की महामारी में जाने को ही था अर्जुन। कि प्राण संभाल और हो सावध पुनः लगा सुनने अर्जुन ॥ ४५५॥ बोले देव तुम हो मेरे इस कारण ही बचेंगे रे। शेष सर्व संहार को सिद्ध मैं जान लो इतना निश्चित रे॥४५६॥

श्लोक ३३ एवं ३४ के ''मयैवैते निहताः पूर्वमेव'', ''मया हतान्'' आदि वचनों पर भी शंकराचार्य आदि का दृष्टिकोण स्वीकार कर ज्ञानेश्वर लिखते हैं, ''पहले ही मैं नष्ट कर चुका इनकी सारी कार्यशक्ति। मृत्तिकामूर्ति सम जानो इनको बची नहीं कोई शक्ति॥४६६॥ कठपुतली के खेल में टूटे डोरी जब संचालन की। तब गिर पडती हैं त्वरित मूर्तियाँ होती ना देरी क्षण की॥ ४६७॥ शेष न वैसे किंचित अवधि सेना नष्ट यह होने की। त्वरित उठो हे अर्जुन अब तो समय नहीं हैं खोने को॥४६८॥ ... द्रोण की चिंता करो नहीं कुछ भय ना धरो भीष्म का भी। शस्त्र उठाऊँ कर्ण पर कैसे सोचे ना मन में यह भी॥४७२॥ उपाय क्या हो जयद्रथ वध का जो ख्यातिप्राप्त अतिवीर। मन में भी ना लाओ इसको वह और साथ अन्य सब वीर ॥ ४७३॥ भित्तीचित्र के शेर समान ही हैं समस्त यह जानो। गीले हाथों पोंछने योग्य ही मात्र तुम आज इन्हें मानो॥४०४॥''

इसी के समान ''युद्धस्व जेतासि रणे सपत्नात्'' का अर्थ स्पष्ट करने में गीताप्रेस (गोरखपुर) द्वारा प्रकाशित 'गीतातत्त्वविवेचनी' टीका में लिखा है, ''अर्जुन के मन में जो इस बात की शंका थी कि न जाने युद्ध में हम जीतेंगे या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे ये शत्रु ही हमको जीतेंगे (२/६), उस शङ्का को दूर करने के लिये भगवान् ने ऐसा कहा है । भगवान् के कथन का अभिप्राय यह है कि युद्ध में निश्चयही तुम्हारी विजय होगी, इसलिये तुम्हें उत्साहपूर्वक युद्ध करना चाहिये।'' किन्तु वास्तव में अर्जुन के मन में अपने विजय के बारे में कुछ भी शंका नहीं थी; तथा उसे उस विषय में श्रीकृष्ण से आश्वासन की कोई इच्छा या अपेक्षा नहीं थी। अर्जुन -

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः
यानेव हत्वा न जिजीविषामःतेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥२.६

ऐसा कहता है, तब इस युद्ध में हम जीत पायेंगे या जीते जायेंगे यह निश्चित नहीं ऐसी उसकी शंका न होकर, हमने इनको मार कर जीतना और (हमने प्रतिकार न करने से) इतके द्वारा जीता जाना इसमें हमारे लिये वस्तुतः क्या श्रेयस्कर ('गरीयस्') होगा यह समझ में नहीं आ रहा है ऐसा अर्जुन कह रहा है। हमने लडाई की तो ये कौरव हमारे द्वारा मारे जाकर हम जीतेंगे यह अर्जुन का आत्मविश्वास इस श्लोक के उत्तरार्ध से ही स्पष्ट है; तथा श्रीकृष्ण के ''युद्धस्व जेतासि रणे सपत्नान्'' इन शब्दों में अर्जुन को विजय का दिया खास आश्वासन न होकर, 'यह युद्ध पूरा मन लगाकर लड,और अपनी हमेशा की शूरता से शत्रुओं को जीत ले' यह श्रीकृष्ण का सीधा सरल आदेश है।

अर्जुन द्वारा उस युद्ध से इन्कार के मूल में शारीरिक भय, स्वयं के मरण की चिंता, एवं शत्रुओं को जीतने में आशंका देखना पूर्णतया निराधार एवं सर्वथा अनुचित है।[२] जो अर्जुन कौरवों पर शस्त्र चलाने इन्कार करता हुआ, रणांगण छोडने की बात न करने, अप्रतिकार अशस्त्र अवस्था में रणभूमी पर ही उन शत्रुओं द्वारा मारे जाने की भी कल्पना उच्चारता है। (१.४६), उस पर कायरता का आरोप अतिशय विपर्यस्त है। अर्जुन -

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥२-४

ऐसा कहता है, उसका अर्थ मैं इन महाप्रतापी भीष्मद्रोण पर प्रभावी तरीके से बाण मारने कैसा समर्थ हो सकूँगा ऐसा न होकर, मैं इन पूजनीयों पर उलटकर बाण कैसे डालूँ, मेरे लिये वह कैसा उचित होगा, यह उसके हृदय की मार्मिक चिंता है। उसमें भी अर्जुन ने कहे 'प्रतियोत्स्यामि' शब्द के 'प्रति' उपसर्ग में विशेष आशय है। अर्जुन ने कभी भी भीष्मद्रोण पर बाण चलाना आरंभ नहीं किया। गोग्रहण युद्ध में उन्होंने उसपर बाण चलाने बाद अर्जुन ने उसके प्रतिकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में उनपर बाण चलाये (विराटपर्व ५५-४५, ५८-१९)। किन्तु अब कुरुक्षेत्र पर वह कहता है कि, यहाँ भीष्मद्रोण ने मुझ पर बाण डालना आरंभ किया तो भी मैंने उलट कर उनपर बाण कैसे डाँलू ? गोग्रहण युद्ध उसने राजा विराट की ओर से किया था; कुरुक्षेत्र युद्ध उसे स्वयं के (पांडवों के) 'राज्यसुखलोभ' हेतु प्रतीत हो रहा था (१-४५); इस कारण उसने उन दो युद्धों में भेद किया। किन्तु इसमें स्वयं की सुरक्षितता की किंचित् भी चिंता न होकर, नैतिकता विषयक गहन समस्या थी, जो अंशमात्र भी ढोंगी न होकर (श्रीकृष्ण के उपदेशानुसार गलत दिशा में होने पर भी) पूर्णतया अंतःकरण से उद्धृत थी।

इसीके अनुसार, श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं -

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्, त्वय्युपपद्यते
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥ २.३

श्रीकृष्ण की दृष्टि में अर्जुन शत्रु के भय से वास्तव में डर गया था ऐसा अर्थ न होकर, महत्पाप विषयक गहन समस्या से ग्रस्त होकर उसका शरीर बाह्यतः कायर के समान अंगविक्षेप कर रहा था (१.२०-३०) यह आशय है। वह प्रत्यक्ष मानसिक कायरता न होकर, ऐन मौके पर कर्तव्याकर्तव्य का यथोचित निर्णय न कर सकनेवाली बुद्धि की किंकर्तव्यमूढता, एवं उसका शरीर पर होनेवाला विपरीत परिणाम की अवस्था थी। उसी श्लोक के उत्तरार्ध में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को 'परंतप' (शत्रु को जीतनेवाला) संबोधित कर कहे अनुसार, वह श्रेय एवं अश्रेय के विषय में संदेहग्रस्त 'हृदयदौर्बल्य' था।

यदि उस युद्ध में बलाढ्य शत्रुओं को सहजता से जीतने अर्जुन को साह्य हेतु श्रीकृष्ण ने अपनी योगमाया से उन शत्रुओं को शारीरिक स्तर पर वास्तव में निर्बल कर दिया हो, तो यह उस युद्ध में मात्र अर्जुन का सारथ्य करने के अलावा "मैं प्रत्यक्ष शामिल नहीं होऊँगा" इस श्रीकृष्ण के आश्वासन का भंग हो जाता- और वह भी गुप्तरूप से। किन्तु श्रीकृष्णने ऐसा कुछ भी न किया होनेपर भी, उपरोक्त भाष्यकार उनपर उस प्रतिज्ञाभंग का व्यर्थ आरोप लगाते हैं। और इसके अलावा, प्रत्यक्ष लडाई में अर्जुन ने इन शत्रुओं का प्रतिकार मात्र 'हतानां हननं' या 'मिट्टीकी मूर्तियाँ, भित्ती चित्र के शेर, सहज एक धक्के से गिरा देता' इतनी सुलभता से न करते, कितने पराक्रम से उसे करना पडा, महाभारत में दिये युद्धवर्णन का हर वाचक भलीभाँति जानता है।

अंत में, श्लोक ११.३२-३४ का जो ऊपर उद्धृत गलत अर्थ लगाया जाता है उसकी यह विशेष अंतर्विरोधी परिणति देखिये। अपना उपदेश प्रारंभ करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद द्वितीय अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि, (तू पाप की, श्रेयहानी की, गहन चिंता के कारण इस युद्ध को विरोध कर रहा है, किन्तु) समाज में-

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ २-३४
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥३६

तेरे मत्सरी निंदक तुझपर इस युद्ध को भय के कारण इन्कार करने का घोर अकीर्तिकारक आरोप करेंगे, ऐसा श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं। किन्तु वही आरोप स्वयं श्रीकृष्ण श्लोक ११.३२, ३३, ३४ में अर्जुन पर कर उसे धीरज दे रहे हैं ऐसा उक्त भाष्यकारों के प्रतिपादन के अनुसार कहना पडेगा ! वस्तुतः उन श्लोकों में श्रीकृष्ण, जिस अर्जुन ने गोग्रहण युद्ध में अकेले ने इन्हीं भीष्मद्रोणादि-सहित कौरवों का पराभव किया था, उस अर्जुन के इस युद्ध में तथाकथित शारीरिक भय का (एवं उन्हीं शत्रुओं को जीतने आत्मविश्वासहीनता का) नहीं, अपितु उसके मन के महत्पापभय का निराकरण कर उसे आश्वस्त कर रहे थे।

अर्जुन के मोह का वास्तविक स्वरूप

नीतिशास्त्र की भाषा में कहना हो तो अर्जुन के समक्ष उपस्थित वह प्रसंग दो कर्तव्यों में संघर्ष (conflict of duties) का था। एक ओर स्वकुलरक्षा एवं गुरुजनों के प्रति आदर यह कर्तव्य था; किन्तु समाज के 'आततायी' दुष्टों का (एवं उनके समर्थकों का) सीधे युद्ध में प्रतिकार, यह भी आवश्यक कर्तव्य था। किन्तु अर्जुन की उस परिस्थिति में ये दो कर्तव्य परस्पर विरोध में दीख रहे थे। अर्जुन को इनमें से प्रथम कर्तव्य अधिक महत्त्व का प्रतीत होकर, वह द्वितीय कर्तव्य का त्याग करना चाहने लगा। यह उसका बौद्धिक 'मोह' एवं 'प्रज्ञावाद' था। इसके निराकरण में श्रीकृष्ण ने उसे समझाया कि समाज में व्यापक 'धर्मसंस्थापना' हेतु इनमें द्वितीय कर्तव्य अधिक महत्त्व का है; तथा इस परिस्थिति में (''त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं। ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्...'' महाभारत, उद्योगपर्व १२८.४९ इस भूमिका से) तेरे द्वारा इस युद्धमें प्रथम कर्तव्य का भंग होने पर भी कोई पाप नहीं लगेगा यह आश्वासन शुरू में (२.३८) और फिर आखिर में (१८.६६) दिया। और उस आधार पर अर्जुन ''करिष्ये वचनं तव'' (१८.७३) कहकर युद्ध के लिये खडा हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस अवसर पर अर्जुन दुष्ट कौरवों से युद्ध की अपेक्षा स्वकुलरक्षा का कर्तव्य अधिक श्रेष्ठ क्यों मान रहा था ? उसने गोग्रहण युद्ध में इन्हीं कौरवों के एवं भीष्मद्रोण के विरुद्ध धनुष्य चलाया था। किन्तु वह युद्ध केवल राजा विराट की गायें छुडाने के लिये था; तथा वे गायें छुडाने के साथ वह युद्ध समाप्त हो गया। इसके विपरीत कुरुक्षेत्र युद्ध प्राणांतक स्वरूप का था (''त्यक्त जीविताः'' १.९, प्राणांस्त्यक्त्वा, १.३३) तथा यह ध्यान में लेकर ही अर्जुन पुनःपुनः इस युद्ध में कौरवों के (तथा भीष्मद्रोण के) मारे जाने की बात कर रहा था। इसके अलावा, गोग्रहण युद्ध में उसका (पांडवों का) स्वार्थ नहीं था, किन्तु वर्तमान युद्ध अर्जुन को उसके (पांडवों के) 'राज्यसुखलोभ' हेतु प्रतीत हा रहा था (१-४५)। राज्यसुख के लिये भी अर्जुन ने कौरव एवं भीष्मद्रोण से अन्य अनेकों से राजसूय यज्ञ के समय युद्ध किये थे। ऊपर कहे अनुसार उसने सभी युद्धों का विरोध करने का, संपूर्ण अहिंसा का, विचार कभी भी नहीं व्यक्त किया। किन्तु यह युद्ध स्वबांधवों के एवं गुरुजनों के विरुद्ध होकर, केवल स्वयं के (पांडवों के) राज्यसुख लोभ हेतु है, यह उसकी धारणा हो गई थी। और इसी में उसकी बुद्धि का भ्रम था।

श्रीकृष्ण की दृष्टि में यह युद्ध मूलतः पांडवो के 'राज्यसुखलोभार्थ' नहीं था। इसके पूर्व स्वयं शांतिवार्ता करने हस्तिनापुर जाकर, पांडव इन्द्रप्रस्थ के अपने राज्य का आग्रह छोडकर मात्र पाँच ग्राम लेकर संतुष्ट हो जायें ऐसा प्रस्ताव किया था। किन्तु दुर्योधन कपटपूर्वक जीते उनके राज्य से सूई की नौंक इतनी भी भूमि वापिस देने तैयार नहीं था। कोई सामान्य नागरिक इस प्रकार घोर अन्याय करे, तो पीडित पक्ष ने स्वयं शस्त्र न उठाते राजा (शासन) के पास न्याय माँगने जाना उचित कहा जावेगा। किन्तु सार्वभौम सत्ताधीश राजा (शासन) ही जहाँ ऐसा घोर अत्याचार करे, वहाँ उसके विरुद्ध युद्ध में शस्त्र उठाना गलत कैसा होगा? बल्कि ऐसा प्रतिकार न किया ऐसे राजा (शासन) का संपूर्ण समाज में अनुकरण होकर (८३-२१) कितना अनाचार प्रसारित होगा ?

इस व्यापक सामाजिक दृष्टि से कुरुक्षेत्र पर कौरवों के विरुद्ध (तथा कुछ भी कारण से हो, उनकी ओर लडने खडे भीष्मद्रोण के विरुद्ध) वह युद्ध 'धर्मसंस्थापनार्थ' था (४-८); यह श्रीकृष्ण ने उस युद्ध को 'धर्म्य' युद्ध समुचित संबोधित कर अर्जुन से कहा -

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥२.३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ २.३३

मूलतः यह युद्ध 'धर्म्य' (धर्मसंस्थापना हेतु) होने से, स्वजनों के विरुद्ध होने पर भी, यह लडने तू पाप विषयक कुछ भी कल्पना से विचलित न हो, बल्कि यह युद्ध न करने से ही तुझे पाप लगेगा, यह अर्जुन के उस बौद्धिक मोह को श्रीकृष्ण का उत्तर था।

इस प्रकार, गीतारंभसमय अर्जुन का कुरुक्षेत्र पर उस युद्ध से इन्कार संन्यास मार्ग की प्रेरणा से नहीं था, न सांख्य दर्शन की ओर विशेष आकृष्ट होने से था, न वैराग्यवृत्ति का परिणाम था, तथा सर्व कर्मसंन्यास की भूमिका से नहीं था, भिक्षावृत्ति के प्रति आकर्षण से नहीं था, न ही स्वजनासक्ति के कारण होकर ढोंगी था, शारीरिक भय के कारण नहीं था, और न शत्रुओं को जीतने अपने सामर्थ्य के बारे में शंका पर आधारित था। उस एक विशिष्ट युद्ध को उसका विरोध पापपुण्य विषयक, परमश्रेय की हानि-प्राप्ति विषयक, बौद्धिक गलत किंन्तु पूर्णतया अंतःकरणपूर्वक निष्काम गहन चिंता पर आधारित था। गीतोपदेशक श्रीकृष्ण ने उस अर्जुन के मोह का यह वास्तविक स्वरूप यथार्थ ध्यान में लेते हुए उसका समुचित निराकरण कर अर्जुन को उस 'धर्म्य' युद्ध के लिये प्रवृत्त किया।

ग. वा. कवीश्वर
३४ जानकीनगर (मूल)
इन्दौर (म. प्र.) ४५२००१

टिप्पणियाँ

१. 'गीतारहस्य', मूल मराठी, यहाँ हिंदी अनुवाद इस उद्धरण में 'अनेकानेक सेनाओं में' के पहले 'शत्रुपक्षीय' शब्द स्पष्टतया आवश्यक था; अन्यथा वह उभय पक्षों को लागू होकर अगले वाक्य से विसंगत होगा।

२. अर्जुन के मन में शत्रुओं से भय देखनेवाले शंकराचार्य यह भी कहते हैं कि, अर्जुन उस समय उन्हीं शत्रुओं के प्रति ममत्वभाव से प्रभावित था (ऊपर उद्धृत); यह स्पष्ट ही विसंगत है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिंदी)

(त्रैमासिक पत्रिका)

दर्शन एवं साहित्य पर वैचारिक चिंतन प्रस्तुत करनेवाली पत्रिका दर्शन, साहित्यशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान के अध्यापक, संशोधक, छात्र एवं प्रेमी पढते हैं।

विज्ञापन की दरें

१/८ डिमाई साईज	एक अंक के लिए	चार अंकों के लिए
	रु.	रु.
१/४ पृष्ठ	१२०/-	४२०/-
१/२ पृष्ठ	२००/-	७००/-
पूर्ण पृष्ठ	४००/-	१४००/-
कव्हर पृष्ठ ३	६००/-	२१००/-
कव्हर पृष्ठ ४	८००/-	२८००/-

आप आपकी संस्था / प्रकाशन / उत्पादन का 'परामर्श (हिं)' में विज्ञापन देकर पत्रिका की मदत कर सकते हैं ।

विज्ञापन की प्रति एवं शुल्क मनीऑर्डर या बँक ड्राफ्ट से निम्नंकित पते पर भेजें -

प्रधान संपादक,
परामर्श (हिंदी)
दर्शन-विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे - ४११००७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीर्थंकर महावीर : एक जीवन शैली

जैनधर्म के २४ वें तीर्थंकर भगवान् महावीर अपने युग का 'महान् विचार' थे। वे युगद्रष्टा महापुरुष और श्रेष्ठ धर्म प्रवर्त्तक थे। जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक तीर्थंकर धर्म के संस्थापक न होकर मात्र धर्मप्रवर्त्तक होते हैं। ''तीर्थंकर महावीर'' भी ऐसे ही धर्म प्रवर्त्तक थे। जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती २३ तीर्थंकरों की परम्परा को आगे बढ़ाया। वे चित्त की शुद्धता, आचरण की पवित्रता तथा इन सबसे ऊपर मानवता का विचार थे। आत्महित के साथ लोकहित का उपदेश देना उनका वैशिष्ट्य था। उन्होंने दलित मानवता के उत्थान का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने प्राणिमात्र के कल्याण की बात कही। उनके सिद्धांतों में निहित सार्वजनीन एवं हितकारी भावनाओं के कारण ही श्री समन्त भद्राचार्य जी ने उनके तीर्थ को 'सर्वोदय तीर्थ' की संज्ञा दी है। उनके सिद्धांतों का प्रभाव सार्वत्रिक एवं सार्वकालिक है।

वर्तमान भौतिकता के प्रति व्यामोह एवं आपाधायी के इस युग में तीर्थंकर महावीर के संदेश हमें दिशाबोध देने में समर्थ हैं। उनके सिद्धांत सुख-शांति की चाह में भटकती पीढ़ी को शांति का पान कराने में सक्षम हैं। 'महावीर' निर्ग्रन्थ थे। वे आंतरिक एवं बाह्य ग्रंथि (गांठ) से रहित थे। ''जिसके भीतर और बाहर ग्रंथि नहीं रही, जो भीतर-बाहर स्वच्छ एवं निर्मल हो, जिसकी अहंता और ममता निःशेष हो गई हो, वही तो निर्ग्रन्थ कहलाता है।''[१] उनके विचार अहंकार और ममता से रहित (निःशेष) व्यक्तित्व के विचार थे। उनकी सोच रचनात्मक थी, चूँकि ''विरोध से विरोध उत्पन्न होता है'', अतः उन्होंने विरोधों में सामंजस्य की बात कही। उन्होंने स्वयं कभी किसी का विरोध नहीं किया और न ही किसी के विरोध का या निषेध का विचार दिया। उन्होंने विरोधों में रचनात्मक रूप से समन्वयवादी दृष्टिकोण रखा, विध्वंसात्मक नहीं। जिसमें टकराव के स्थान पर आपसी सौमनस्य का भाव विद्यमान है। उन्होंने 'अनेकान्त' एवं 'स्याद्वाद' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इन सिद्धांतों से हमें सहिष्णुतापूर्वक समन्वय का संदेश मिलता है। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म (गुण) होते हैं, उसे अनेक दृष्टिकोणों से देखना व जानना ''अनेकान्त'' है। रामधारीसिंह दिनकर के शब्दों में-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अनेकान्त चिन्तन की अहिंसामयी प्रक्रिया का नाम है। अतः चित्त से पक्षपात की दुरभिसंधि निकालो और दूसरे के दृष्टिकोण के विषय को भी सहिष्णुतापूर्वक खोजो। वह भी वहीं लहरा रहा है।"[२]

भगवान् महावीर ने अनेकान्त सिद्धान्त का कथन करके विश्वधरातल पर 'सर्वधर्मसमभाव' का आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया।

'स्याद्वाद' सिद्धान्त अनेकान्त चिन्तन की अभिव्यक्ति की शैली है। अनेक धर्मात्मक वस्तु के कथन करने की समीचीन पद्धति है, जो सामंजस्य की द्योतक है। 'स्यात्' शब्द सापेक्षात्मक है। सर्वधा 'ही' के स्थान पर 'भी' शब्द को भी जोड़ता है। "अपनी दृष्टि को विशाल विचारों को उदार, वाणी को आग्रहीन, निष्पक्ष एवं नम्र बनाकर अपना सद् अभिप्राय प्रकट करना 'स्याद्वाद' है।[३]

वर्तमान में एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से, एक राज्य को दूसरे राज्य से एक समाज का दूसरे समाज से, एक परिवार का दूसरे परिवार, जहाँ तक कि एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से जो विरोध, आपसी मतभेद, हठवादिता, मनमुटाव एवं टकराव का वातावरण बन रहा है, उसे महामना तीर्थंकर महावीर के 'समन्वयवादी' विचारों से ही रोका जा सकता है।

तीर्थंकर महावीर के उपदेश 'सर्वकल्याण' की भावना से अनुप्रणित हैं। सभी प्राणियों के हित की भावना या कामना उनके संदेश का मूलभाव है। उनका 'भवकल्याण' संबंधी विचार विशेष वर्ग, जाति वर्ण, देश और समय की सीमाओं से परे है। उनका उपदेश सबके लिए है। उसमें सबके हित और सुख की भावना समाहित है।

भगवान् महावीर श्रेष्ठ दार्शनिक थे। उन्होंने मानवीय-सोच के कई नए मानदंड स्थापित किए। 'अहिंसा' का दर्शन (विचार) उनमें से एक है। उन्होंने अहिंसा के विचार को विस्तृत फलक पर व्याख्यायित किया। यह विश्व का श्रेष्ठ दर्शन है। यह जाति, वर्ग संप्रदाय से ऊपर उठा अत्यंत व्यापक विचार है। इसका मूल लक्ष्य मानव की व्यावहारिक धरातल की विषमताओं का शमन कर एक ऐसी जमीन को तैयार करना है, जिसमें केवल प्रेम और विश्वास की फसल लहलहा सके। उन्होंने "आत्मवत् सर्वभूतेषु" का उद्घोष किया। उनका मानना था कि "प्रत्येक आत्मा में अमृतत्त्व की शक्ति प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है। प्रत्येक आत्मा अपनी यह शक्ति प्रकट कर सकती है। एक आत्मा को सुख-दुःख की जैसी अनुभूति होती है, वैसी ही अन्य आत्मा को भी होती है।" आत्मिक जुड़ाव से अनुस्यूत 'जियो और जीने दो' उनका सूत्र वाक्य था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीर्थंकर महावीर ने अहिंसा की भावभूमि पर संस्थित 'सत्वेषु मैत्री' का संदेश दिया जिसमें प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव रखने की भावना समाहित है। मन, वचन और काया (शरीर) से कुछ भी ऐसा मत करो जिससे दूसरों को पीड़ हो, उनका अकल्याण या अहित हो। वर्तमान में बढती हुई हिंसक प्रवृत्ति, दया रहित परिणाम, बैर-विरोध, घृणा, वैमनस्यता एवं अमानवीय सोच को अहिंसा की शक्ति (भावना) के द्वारा बदला जा सकता है। उनकी अहिंसा में प्रकृति के सूक्ष्म जीव के प्रति भी दयाभाव विद्यमान है। उन्होंने न केवल आचार वरन् विचारों के क्षेत्र में भी अहिंसा की बात कही हैं। ''इतिहासकार भी यही स्वीकार करते हैं कि वैदिक ब्राह्मणों को महावीर की अहिंसा और जीवन सिद्धांतों से प्रभावित होकर यज्ञ-यागादि का रूप बदलना पड़ा। उसके बाद जो वैदिक साहित्य निर्मित हुआ, उसमें 'ज्ञानयज्ञ' को प्रमुखता दी गई, 'कर्मयज्ञ' को महत्त्व दिया गया और आधिभौतिक स्वरों के स्थान पर आध्यात्मिक स्वर गूँजने लगे। आचार और विचार दोनों में ही 'अहिंसा' को मान्यता दी गई।''[५]

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी भी भगवान् महावीर के 'अहिंसा' दर्शन से प्रभावित हुए थे। उन्होंने भगवान् महावीर की अहिंसक, त्यागपूर्ण जीवन शैली एवं सद्विचारों को चरितार्थ किया था। भारत के संविधान की मूलप्रति के मुख पृष्ठ पर चौबीसबें तीर्थंकर 'भगवान् महावीर' का दिगम्बर मुद्रा में ध्यानस्थचित्र अंकित है। उसमें उल्लिखित है- "Vardhamana Mahavir, the 24th Tirthankar in a meditative posture, another illustration from the calligraphed edition of the constitution of India, Jainism is another stream of spiritual renaissance which seeks to refine and sublimate men's conduct and emphasises Ahimsa, non-violence, as the means to achieve it. This became a potent weapon in the lands of Mahatma Gandhi in his political struggle against the British empire."

''जैन मत आध्यात्मिक पुनर्जागरण की एक विशिष्ट धारा है, जो कि एक विशिष्ट है, जो कि मनुष्य के आचार-विचार को उदात्त बनाने के साथ-साथ इसकी प्राप्ति के लिए अहिंसा पर बल देता है। अहिंसा महात्मा गाँधी के हाथों में ब्रिटिश साम्राज्य से राजनैतिक संघर्ष करने में सशक्त अस्त्र बनी।''[६]

महात्मा गाँधी ने अहिंसा के बल पर भारत को गुलामी से मुक्त कराया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और विश्व स्तर पर पराधीन राष्ट्रों में भी इसी शस्त्र के द्वारा स्वाधीनता की चेतना जागृत की।

तीर्थंकर महावीर का विलक्षण व्यक्तित्त्व था। वे विशेष ज्ञान-ज्योति से सम्पन्न थे। उनके सिद्धांत 'आत्मवाद' पर आधारित थे। वे आत्मा की अनंत शक्तियों पर विश्वास करते थे। उन्होंने आत्मिक शक्ति का परिचय पाने के लिए 'पुरुषार्थ' पर बल दिया। उन्होंने आत्मा को अपना चरम एवं परम उत्कर्ष करने का आत्मविश्वास जगाया। जिससे मनुष्य अपने पुरुषार्थ के माध्यम से अंतर में बैठे ईश्वरत्व को पा सकता हैं। ''जो अपने आपको पा लेता है, वही ईश्वर बन जाता है।''[६]

वास्तव में, ''ईश्वर उन शक्तियों का उच्चतम्, शालीनतम और पूर्णतम व्यक्तिकरण है, जो मनुष्य की आत्मा में निहित होती है।''[७]

कर्मवादी तीर्थंकर महावीर का मानना कि ''अच्छे-बुरे कर्म एवं उनके परिणाम के लिए आत्मा स्वयं उत्तरदायी है।'' उन्होंने संपूर्ण मानव जाति को ऐसे कर्म करने के लिए प्रेरित किया, जिनमें सामाजिक विकास के साथ-साथ आत्मिक विकास का भाव निहित हो। उन्होंने मनुष्य को शांति, विकास और मोक्ष (मुक्ति) प्राप्ति का पथ प्रशस्त किया। जो वास्तव में, ''बाहर से भीतर की यात्रा'' का मार्ग है। जो सत्य, निष्ठा, लोक कल्याण आदि मार्गों से होते हुए 'अंतर (भीतर) के आत्म साक्षात्कार' का रास्ता है। इसके द्वारा उन्होंने जनमानस को स्वावलम्बन तथा स्वाधीन भाव का महत्त्व समझाया।

तीर्थंकर महावीर ने मनुष्य को पाप-कर्मों में प्रवृत्त न होने की सलाह दी। ''घृणा पाप से करो, पापी से नहीं'' यह उनका सिद्धान्त-वाक्य है। इसके द्वारा उन्होंने मनुष्य को दुष्कर्मों से बचने की बात कही। साथ ही पापी (बुरे) व्यक्ति को भी चारित्रिक शुद्धि के द्वारा उत्थान का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी दृष्टि में वह व्यक्ति-सुधार के पश्चात् सामाजिक रूप से तिरस्कृत या उपेक्षा का पात्र नहीं हैं। उनका अन्य सिद्धांत है- ''मनुष्य जन्म से नहीं कर्म से महान् बनता है।'' यह सूत्रवाक्य व्यक्ति को उच्च कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। तीर्थंकर महावीर की दृष्टि में कर्म की श्रेष्ठता ही महानता का मापदण्ड है। जिसके कर्म श्रेष्ठ है, वह व्यक्ति महान् (उच्च) है। सत्कर्मों के द्वारा कोई भी व्यक्ति महान् बन सकता है। तीर्थंकर महावीर का यह विचार उन मनुष्यों के दम्भ को तोड़ता है जो जन्म से कुलीन होकर निकृष्ट कार्यों में संलग्न हैं।

तीर्थंकर महावीर ने 'अपरिग्रह' तथा 'परिग्रह परिमाण व्रत' का उपदेश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया। अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करो, धन संग्रह की लालसा पर अंकुश रखों और उसे सीमा में बाँध दो, यह 'परिग्रह परिमाण व्रत' है। मनुष्य की इच्छाएँ असीम व अनंत होती हैं। उनकी पूर्ति के लिए वे अन्याय, अत्याचार, एवं अनुचित साधनों का प्रयोग करते हैं। वर्तमान समय में जीवन की आपाधापी तथा राजनैतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में बढते हुए भ्रष्टाचार को रोकने में 'अपरिग्रह' या 'सीमित सम्पत्ति का सिद्धान्त' अमोघ अस्त्र साबित हो सकता है।

भगवान् महावीर ने स्त्रियों की स्वतंत्रता पर जोर दिया। उन्होंने धार्मिक क्षेत्र में भी स्त्रियों को चरम आत्मोत्थान के लिए दिशाबोध दिया। उनके 'नारी स्वातंत्र्य' के विचारों से प्रेरित से प्रेरित होकर स्त्रियों ने उनके 'समवशरण' में आर्थिक (साध्वी) दीक्षा लेकर संसार बंधन से मुक्ति का मार्ग अपनाया। आर्थिक "चंदना" को उनके समवशरण में प्रथम गणिती आर्थिका बनने का गौरव प्राप्त हुआ। आज संपूर्ण विश्व भी अनुभव करने लगा है कि नारी के सहयोग के बिना संसार की वास्तविक प्रगति संभव नहीं हैं। नारी-सहयोग को लेकर विश्व राष्ट्र स्तर पर बनाई गई संस्थाएँ इसका जीवन प्रमाण हैं। भगवान् महावीर के 'जीव साम्य" के सिद्धान्त ने युगांतकारी परिवर्तन किया। उन्होंने विश्वस्तर पर मनुष्यों के बीच विषमता की खाई पाटकर उन्हें समता (समानता) के धरातल पर उपस्थित किया।

उन्होंने 'प्रकृति चक्र के महत्त्व' को प्रतिपादित किया तथा प्रकृति से साथ मानव का आत्मीय संबंध जोड़ जाने पर बल दिया है। उनका यह विचार 'पर्यावरण संरक्षण' की दृष्टि से अत्यंत प्रासंगिक है। यदि इस विचार की उपेक्षा की जाती है तो उसके दूरगामी परिणामों को भोगने के लिए मानव जाति अभिशप्त होगी।

तात्पर्य यह है कि महावीर तीर्थंकर या उपदेशक ही नहीं स्वयं एक जीवन शैली है। यह जीवन शैली खरी, अनुभूत आत्मचिंतन से मथी शैली है। इस कारण वह कथनी-करनी के अंतर से परे अधिक विश्वसनीय अधिक व्यावहारिक है। वर्तमान मानव के जटिल जीवन के संदर्भ में महावीर की यह जीवन पद्धति प्रतिक्षेण वैशिष्ट्य है। यदि हम वास्तविक सुख-शांति की कामना करना चाहते हैं तो इस जीवन शैली के अलावा दुनिया का कोई भी ऐसा विकल्प नहीं है, जो हमें अपना अपेक्षित यथेष्ट दे सके। भौतिक विकास के चरम सुखों को भोग चुके युरोपीय देशों के लोग आज जिस योग, ध्यान, शांति की कक्षाओं की खोज में धूम हैं, उन्हें वास्तविक सुख तीर्थंकर महावीर की इसी जीवन शैली से भिन्न सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवान् महावीर ने तो जीवन को सरल और सहज भाव से जीने का मार्ग आज से वर्षों पहले खोल दिया था। अब देखना यह है कि हमारी दृष्टि उस मार्ग पर कब पड़ती है और कब हम (मानव जाति) अपने अमूल्य जीवन को सार्थक कर सकते हैं।

द्वारा दिनेश ट्रेडर्स
सर्वोदय चौक, बीना,
जि. सागर (म. प्र.) ४७०११३

रश्मि जैन

टिप्पणियाँ

१. **जैनधर्म का प्राचीन इतिहास** (भाग-एक) : बल भद्र जैन, पृ. ३७४
२. **संस्कृति के चार अध्याय,** रामधारी सिंह दिनकर, पृ. १५३
३. **जैन विषय-वस्तु में संबद्ध आधुनिक महाकाव्यों में सामाजिक चेतना** (शोध प्रबंध) श्रीमती सुशीला सालगीया, पृ.२३
४. **जैनधर्म का प्राचीन इतिहास** (भाग-एक) : बल भद्र जैन, पृ. ३८१-३८२
५. **प्राकृत विद्या** (त्रैमासिकी शोध पत्रिका) : मानद प्रधान संपादक प्रो. (डा.) राजाराम जैन, अक्टूबर-दिसम्बर १९९७, आवरण पृष्ठ
६. **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा** (भाग- १) : डा. नेमिचंद्र जैन, बी. एन. लुनिया पृ. १०२
७. **भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास,** १०२ समवशरण-तीर्थंकर की विशिष्ट धर्मोपदेश सभा ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वज्ञवाद : एक विवेचन

लोक और शास्त्र में सर्वज्ञ शब्द का उपयोग, योगसिद्ध विशिष्ट अतीन्द्रिय ज्ञान के सम्भव में विद्वानों और साधारण लोगों की श्रद्धा, भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के द्वारा अपने-अपने मन्तव्यानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के विशिष्ट ज्ञानरूप अर्थ में सर्वज्ञ जैसे पदों को लागू करने का प्रयत्न, और सर्वज्ञ रूप से माने जाने वाले किसी व्यक्ति के द्वारा ही मुख्यतया उपदेश किये गए धर्म या सिद्धान्त की अनुगामियों में वास्तविक प्रतिष्ठा; इतनी बातें भगवान महावीर और बुद्ध के पहले भी थीं। भगवान महावीर और बुद्ध के समय से लेकर आज तक के करीब ढाई हजार वर्ष के भारतीय साहित्य में तो सर्वज्ञत्व के अस्ति-नास्ति पक्षों की, उसके विविध स्वरूप तथा समर्थक और विरोधी युक्ति वादों की, क्रमशः विकसित, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर, स्पष्ट एवं मनोरंजक चर्चाएँ पाई जाती हैं।

सर्वज्ञत्व के नास्तिपक्षकार मुख्यतः तीन है — चार्वाक, अज्ञानवादी और पूर्वमीमांसक। उसके अस्तिपक्षकार तो अनेक दर्शन हैं, जिनमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शन मुख्य हैं।

चार्वाक इन्द्रियगम्य भौतिक लोकमात्र को मानता है इसलिए उसके मत में अतीन्द्रिय आत्मा तथा उसको शक्तिरूप सर्वज्ञत्व आदि के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अज्ञानवादी का अभिप्राय आधुनिक वैज्ञानिकों की तरह ऐसा जान पडता है कि ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान की भी एक अन्तिम सीमा होती है। ज्ञान कितना ही उच्च स्तर का क्यों न हो पर वह त्रैकालिक सभी स्थूल-सूक्ष्म भावों को पूर्ण रूप से जानने में स्वभाव से ही असमर्थ है अर्थात् अन्त में कुछ न कुछ अज्ञेय रह ही जाता है, क्योंकि ज्ञान की शक्ति ही स्वभाव से परिमित है। वेदवादी पूर्वमीमांसक आत्मा, पुर्नजन्म, परलोक आदि अतीन्द्रिय पदार्थ मानता है। किसी प्रकार का अतीन्द्रिय ज्ञान होने में भी उसे कोई आपत्ति नहीं फिर भी वह अपौरुषेयवेदवादी होने के कारण वेद के अपौरुषेयत्व में बाधक ऐसे किसी भी प्रकार के अतीन्द्रिय ज्ञान को मान नहीं सकता। इसी एकमात्र अभिप्राय से उसने वेद-निरपेक्ष साक्षात् धर्मज्ञ या सर्वज्ञ के अस्तित्व का विरोध किया है, वेद द्वारा धर्माधर्म या सर्व पदार्थ जानने वाले का निषेध नहीं किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्ध और जैन दर्शनसम्मत साक्षात् धर्मज्ञवाद या साक्षात् सर्वज्ञवाद से वेद के अपौरुषेयत्व का केवल विराम ही अभिप्रेत नहीं है बल्कि उसके द्वारा वेदों में अप्रामाण्य बतलाकर वेद भिन्न आगमों का प्रामाण्य स्थापित करना भी अभिप्रेत है । इसके विरुद्ध जो न्याय-वैशेषिक आदि वैदिक दर्शन सर्वज्ञवादी हैं उनका तात्पर्य सर्वज्ञवाद के द्वारा वेद के अपौरुषेयत्ववाद का निरास करना अवश्य है, परन्तु साथ ही उसी वाद के द्वारा वेद का पौरुषेयत्व बतलाकर उसी का प्रामाण्य स्थापन्न करना भी है ।[१]

न्याय-वैशेषिक दर्शन ईश्वरवादी है । वे ईश्वर के ज्ञान को नित्य-उत्पाद-विनाशरहित और पूर्ण-त्रैकालिक सूक्ष्म-स्थूल समग्र भावों को युगपत जानने वाला मानकर तद्द्वारा उसे सर्वज्ञ मानते हैं । ईश्वर भिन्न आत्माओं में वे सर्वज्ञत्व मानते अवश्य हैं, परन्तु सभी आत्माओं में नहीं । योगियों में भी सभी योगियों को वे सर्वज्ञ नहीं मानते किन्तु जिन्होंने योग द्वारा वैसा सामर्थ्य प्राप्त किया हो केवल उन्हीं को । न्याय-वैशेषिक मतानुसार ऐसा नियम नहीं कि सभी योगियों को वैसा सामर्थ्य अवश्य प्रात हो । इस मत में, जैसे कि मोक्ष के लिये सर्वज्ञत्वप्राप्ति अनिवार्य शर्त नहीं है, वैसे यह भी सिद्धान्त है कि मोक्ष प्राप्ति के बाद सर्वज्ञ योगियों की आत्मा में भी पूर्ण ज्ञान शेष नहीं रहता, क्योंकि वह ज्ञान ईश्वर-ज्ञान की तरह नित्य नहीं परन्तु योगजन्य होने से अनित्य है ।

सांख्य, योग[२] और वेदान्त दर्शन सम्मत 'सर्वज्ञत्व' का स्वरूप वैसा ही है जैसा न्याय वैशेषिक सम्मत सर्वज्ञत्व था । यद्यपि योगदर्शन न्याय-वैशेषिक की तरह ईश्वर को मानता है तथापि वह न्याय-वैशेषिक की तरह चेतन आत्मा में सर्वज्ञत्व का समर्थन न कर पाने के कारण विशिष्ट बुद्धित्व में ही ईश्वरीय सर्वज्ञत्व का समर्थन कर पाता है । सांख्य, योग और वेदान्त में बौद्धिक सर्वज्ञत्व की प्राप्ति भी मोक्ष प्राप्ति हेतु अनिवार्य नहीं है ।[३] जैसा कि जैन दर्शन में माना जाता है, किन्तु न्याय-वैशेषिक दर्शन की तरह वह एक योग विभूति मात्र होने से किसी-किसी साधक को होती है ।

भारतीय दार्शनिक परम्पराओं के ऐतिहासिक अवलोकन से भी ज्ञात हो पाता है कि अमुक दर्शन ही सर्वज्ञवाद का प्रस्थापक है । यह भी निश्चयरूप से कहना कठिन है कि सर्वज्ञत्व की चर्चा शुद्ध तत्त्व चिन्तन से फलित हुई है । यह भी बतलाना सम्भव नहीं कि ईश्वर, ब्रह्म, दिव्य आत्माओं में पाये जाने वाले 'सर्वज्ञत्व' के विचार से मानवीय-सर्वज्ञत्व का विचार अस्तित्व में आया या बुद्ध-महावीर सदृश महापुरुओं में माने जाने वाले 'सर्वज्ञत्व' के विचारों से ईश्वर, ब्रह्म

CC-0: In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि में सर्वज्ञत्व की धारणा का समर्थन किया जाने लगा, या देव-मनुष्य उभय में 'सर्वज्ञत्व' का विचार प्रवाह निरपेक्ष रूप से प्रचलित हुआ । यह सब कुछ होते हुए भी सामान्य रूप से इतना कहा जा सकता है कि यह चर्चा धर्म-सम्प्रदायों के खण्डन-मण्डन से फलित हुई है और कालान्तर में उसने तात्त्विक चिन्तन में भी स्थान पाया है जिससे वह तटस्थ तत्त्व चिन्तकों का विचारणीय विषय बन गई है । मीमांसक जैसे पुरातन और प्रबल वैदिक दर्शन द्वारा सर्वज्ञत्व को अस्वीकार और शेष सभी वैदिक दर्शनों द्वारा सर्वज्ञता को स्वीकार किये जाने का मुख्य उद्देश्य वेद का प्रामाण्य स्थापित करना हो सकता है । जब कि जैन, बौद्ध आदि सर्वज्ञत्ववादी दर्शनों का उद्देश्य है कि परम्परा से माने जाने वाले वेदप्रामाण्य के स्थान में इतर शास्त्रों का प्रामाण्य स्थापित करना और वेदों का अप्रामाण्य । जब कि वेद का प्रामाण्य-अप्रामाण्य ही सर्वज्ञवाद, देव-सर्वज्ञवाद और मानव-सर्वज्ञवाद की चर्चा और तार्किकता का एक मात्र मुख्य विषय है ।

मीमांसक कुमारिल ने जिस तरह धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनों वादों का निराकरण बडी युक्ति पूर्णता से किया है, वैसे ही बौद्ध प्रवर शान्तरक्षित ने उसका जवाब उक्त दोनों वादों के समर्थन के द्वारा बडी गम्भीरता और स्पष्टता से दिया है । इसलिए यहाँ पर एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या 'धर्मज्ञ' और 'सर्वज्ञ' दोनों वाद अलग-अलग सम्प्रदायों में अपने-अपने युक्तिबल पर स्थिर हुए होंगे, या किसी एक वाद में से दूसरे वाद का जन्म हुआ है ? अभी तक के चिन्तन से यह जान पडता है कि धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनों वादों की परम्परा मूल में अलग-अलग ही है । बौद्ध सम्प्रदाय 'धर्मज्ञवाद' की परम्परा का अवलम्बी रहा होगा। क्योंकि स्वयं बुद्ध ने अपने को सर्वज्ञ उसी अर्थ में कहा है जिस अर्थ में धर्मज्ञ शब्द का प्रयोग होता है । बुद्ध के लिए धर्मशास्त्र, धर्मदेशक आदि विशेषण पिटकग्रन्थों में प्रसिद्ध है । धर्मकीर्ति ने बुद्ध में 'सर्वज्ञत्व' को अनुपयोगी बताकर केवल 'धर्मज्ञत्व' ही स्थापित किया है जबकि शान्तरक्षित ने प्रथम 'धर्मज्ञत्व' सिद्धकर गौणरूप में 'सर्वज्ञत्व' भी स्वीकार किया है ।

सर्वज्ञवाद की परम्परा का अवलम्बी मुख्यतः जैन सम्प्रदाय ही जान पडता है क्योंकि जैन आचार्यों ने प्रारम्भ में ही अपने तीर्थंकरों में 'सर्वज्ञत्व' को माना और स्थापित किया है । ऐसा सम्भव है कि जब जैनों के द्वारा प्रबल रूप से सर्वज्ञत्व की स्थापना और प्रतिष्ठा होने लगी तब बौद्धों के लिए बुद्ध में सर्वज्ञत्व का समर्थन करना भी अनिवार्य और आवश्यक हो गया । यही कारण है कि बौद्ध तार्किक ग्रन्थों में धर्मज्ञवाद समर्थन के बाद सर्वज्ञवाद का समर्थन होने पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी उसमें वह बल नहीं है जैसे कि जैन तार्किक ग्रन्थों में है ।

मीमांसक का मानना है कि यायदितों का प्रतिपादन और उसके द्वारा धर्माधर्मादिका, किसी पुरुषविशेष की अपेक्षा रखे बिना ही, स्वतन्त्र विधान करना यही वेद का कार्य है ।[५] इसी सिद्धान्त को स्थिर रखने के लिए कुमारिल ने कहा है कि कोई भले ही धर्माधर्म-भिन्न अन्य सब वस्तु साक्षात् जान सके परन्तु धर्माधर्म को वेदनिरपेक्ष होकर कोई साक्षात् नहीं जान सकता, चाहे वह जानने वाला बुद्ध, जिन आदि जैसा मनुष्य योगी हो चाहे वह ब्रह्मा, विष्णु आदि जैसा देव हो, चाहे वह कपिल, प्रजापति आदि जैसा ऋषि या अवतारी हो । कुमारिल का कहना है कि सर्वत्र सर्वज्ञ धर्म मर्यादा एक सी है । जो सदा सर्वत्र एक रूप वेद द्वारा विहित मानने पर ही सहज हो सकती है । बुद्ध आदि को धर्म के साक्षात् प्रतिपादक मानने पर वैसी मर्यादा सिद्ध हो नहीं सकती क्योंकि बुद्ध आदि उपदेशक कभी पूर्ण निर्वाण पाने पर नहीं भी रहते । जीवित दशा में भी वे सब क्षेत्रों में पहुँच नहीं सकते । सब धर्मोपदेशकों की एकवाक्यता भी सम्भव नहीं । इस तरह कुमारिल साक्षात् 'धर्मज्ञत्व' का निषेध करने के लिए 'सर्वज्ञत्व' का भी सब में निषेध करते हैं । वह पुरारोवत ब्रह्मादि देवों के सर्वज्ञत्व का अर्थ भी, जैसा उपनिषदों में देखा जाता है, केवल आत्म-ज्ञान परक करते हैं । बुद्ध, महावीर आदि के बारे में कुमारिल का यह भी कथन है कि वे वेदज्ञ ब्राह्मण जाति को धर्मोपदेश न करने और वेदविहीन शूद्र आदि को धर्मोपदेश करने के कारण वेदाभ्यासी एवं वेद द्वारा धर्मज्ञ भी नहीं थे । बुद्ध, महावीर आदि में सर्वज्ञत्व निषेध की एक प्रबल युक्ति कुमारिल ने यह दी है परस्पर विरुद्धभाषी बुद्ध, महावीर, कपिल आदि में से किसे सर्वज्ञ माना जाय और किसे न माना जाए ? अतः उनमें से कोई सर्वज्ञ नहीं है । यदि वे सर्वज्ञ होते तो सभी वेदवत् अविरुद्धभाषी होते, इत्यादि ।

शान्तरक्षित ने कुमारिल तथा अन्य सामट, यज्ञट आदि मीमांसकों की दलीलों का बडी सूक्ष्मता से सविस्तार खण्डन करते हुए कहा है कि वेद स्वयं ही भ्रान्त एवं हिंसादि दोषयुक्त होने से धर्मविधायक नहीं हो सकते, फिर उनका आश्रय लेकर उपदेश देने में क्या विशेषता है ? बुद्ध ने स्वयं ही स्वानुभव से अनुकम्पाप्रेरित होकर अभ्युदय निःश्रेयसाधक धर्म बतलाया है । शूद्र आदि को उपदेश देकर तो उसने अपनी करुणा-वृत्ति के द्वारा धार्मिकता ही प्रकट की है । वह मीमांसको से पूछता है कि तुम जिन्हें ब्राह्मण कहते हो उनकी ब्राह्मणता का निश्चित प्रमाण क्या है ? अतीतकाल बडा लम्बा है, स्त्रियों का मन भी चंचल है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस दशा में कौन कह सकता है कि ब्राह्मण कहलाने वाली सन्तान के माता-पिता शुद्ध ही रहें हो और कभी किसी विजातीयता का मिश्रण हुआ न हो । शान्तरक्षित ने यह भी कह दिया कि सच्चे ब्राह्मण और श्रमण बुद्ध शासन के सिवाय अन्य किसी धर्म में नहीं है ।[६] अन्त में शान्तरक्षित ने पहले सामान्य रूप से सर्वज्ञत्व को सम्भव सिद्ध किया है, फिर उसे महावीर, कपिल आदि में असम्भव बतलाकर केवल बुद्ध में ही सिद्ध किया है । इस विचारसरणी में शान्तरक्षित की मुख्य युक्ति यह है कि चित्त स्वयं ही स्वभाव से प्रज्ञाशील है । क्लेशावरण ज्ञेयावरण आदि भल आगन्तुक है । नैरात्मयदर्शन आदि का अनेकान्तोपयोगी ऋषभ, वर्द्धमानादि में तथा आत्मोपदेशक कपिलादि में सम्भव नहीं, अतः उनमें क्षय द्वारा सर्वज्ञत्व भी सम्भव नहीं । इस तरह सामान्य सर्वज्ञत्व की सिद्धि के द्वारा अन्त में अन्य तीर्थंकरों में सर्वज्ञत्व को असम्भव बताकर केवल सुगत में ही उसका अस्तित्व सिद्ध किया है और उसी के शासन को ग्राह्य बतलाया हैं । शान्तरक्षित की तरह प्रत्येक सांख्य या जैन आचार्य का भी यही प्रयत्न रहा है कि सर्वज्ञत्व सम्भव अवश्य है परन्तु वे सभी अपने-अपने तीर्थंकरों में ही सर्वज्ञत्व स्थापित करते हुए अन्य तीर्थङ्करों में उसको नितान्त असम्भव बतलाते हैं ।

जैन आचार्यों की भी यही दलील रही है कि अनेकान्त-सिद्धान्त ही सत्य है । उनके अनुसार दर्शन और आचार्य के द्वारा ही सर्वज्ञत्व लभ्य है । अनेकान्त का साक्षात्कार व उपदेश पूर्णरूप से ऋषभ, वर्द्धमान आदि ने ही किया अतः वे ही सर्वज्ञ और उनके उपदिष्ट शास्त्र ही निर्दोष व ग्राह्य हैं । सिद्धसेन हो या समन्तभद्र, अकलंक हो या हेमचन्द्र सभी जैनाचार्यों ने सर्वज्ञसिद्धि के प्रसंग में वैसा ही युक्तिवाद[७] अवलम्बित किया है जैसा ने द्रव्य-गुणादि छः पदार्थ के तत्त्वज्ञान को, तो किसी ने केवल आत्मज्ञान को यथार्थ कहकर उसके द्वारा अपने-अपने मुख्य प्रवर्तक तीर्थङ्कर में ही 'सर्वज्ञत्व' सिद्ध किया है । जबकि जैनाचार्यों ने अनेकान्तवाद की यथार्थता दिखाकर उसके द्वारा भगवान् ऋषभ, वर्द्धमान आदि में ही सर्वज्ञत्व स्थापित किया है । फिर भी इतने भेदों के रहने पर भी सभी सर्वज्ञवादी दर्शन के मतों में, सम्यग्ज्ञान में मिथ्या ज्ञान और तज्जन्य क्लेशों के सर्वथा नाश की शक्यता आदि तात्त्विक विचार में कोई मतभेद नहीं हैं ।

डा. डी. आर. भण्डारी
विभागाध्यक्ष
दर्शन विभाग,
जे. एन. वी. विश्वविद्यालय, जोधपुर.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

१. कुमारिल - तत्त्वसंग्रह ३१२८ ''सर्वमनंद्यिजेनस्तू पुरुषः केन वार्यते''
२. योगसूत्र ३.५४ ''तारकं सर्वविषय सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्''
३. योगसूत्र ३.५५ ''प्राप्तविवेकजज्ञानस्य अप्राप्तविवेकमज्ञानस्य वा सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति''
४. धर्मकीर्ति - प्रमाणवार्तिक २.३२ व ३३ हेयोपादेयतत्वस्य..... नतु सर्वस्य वेदकः ॥ इरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वनिष्टं तु पश्यतु ।
५. शान्तरक्षित - ''स्वर्गापवर्ग..... प्रतीयते । - तत्त्वसंग्रह ३३०९
६. शान्तरक्षित - ''ये च वाहितपापत्वाद.... श्न्यां परप्रवादा हि श्रमणैर्ब्राह्मणैस्तथा'' तत्त्वसंग्रह ३४८९-९०
७. सांख्यकारिका-६४ ''एवं तत्त्वाभ्यासान्नस्मि.... केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आय-वितरण के नैतिक सिद्धान्तों का मूल्यांकन

सामान्यतया यह माना जाता है कि अर्थशास्त्रीय प्रश्नों का संबंध नीतिशास्त्रीय क्षेत्र से नहीं होता है इसलिये आय और उसके वितरण की समस्या नीति से संबंधित नहीं है । किन्तु यह स्थिति वास्तविक नहीं मानी जा सकती है क्योंकि आय और उसके वितरण की समस्या मात्र अर्थशास्त्रीय ही नहीं है अपितु नीतिशास्त्रीय भी है। यही कारण है कि इस समस्या पर चिन्तकों द्वारा विचार किया गया है तथा उनके द्वारा कुछ सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। इन सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हुए उनका मूल्याकंन करना प्रस्तुत पत्र का अभिप्रेत है ।

समाज के रूप में संगठित होने के बाद से ही मनुष्य में 'आवश्यकता पूर्ति' भी व्यवस्थित और मापदण्डात्मक होती गयी । इसी व्यवस्थीकरण की उपज के रूप में 'आय' की अवधारण विकसित हुई । आय स्वामित्व की मान्यता से पृथक् है ।[१] अतः आय को एक उपार्जन माना गया है जो कुशलता और दायित्व का प्रतिफल है । आय उसे नहीं कहा जा सकता है जो एक व्यक्ति के पास सम्पत्ति है अपितु उसे माना गया है जो किसी व्यक्ति के दायित्व निर्वाह तथा कुशलता के बदले में प्राप्त राशि है ।[२] इस तरह किसी राशि को आय घोषित करने से पूर्व उसका उपार्जित होना आवश्यक माना गया है । इसे आधार उपार्जित होना आवश्यक माना गया है । इसे आधार पर शर्त लगाकर प्राप्त की गयी राशि को आय नहीं कहा जा सकता है । इसी तरह धोखा देकर अथवा छल से प्राप्त राशि भी आय नहीं कही जा सकती है।[३]

'कुशलता' और 'दायित्व' अथवा उसके निवर्हन से आय को संबंधित मानने के विषय में गम्भीर विचार चिन्तकों ने किया है । कुशलता (Skill) जहाँ तकनीकी दृष्टि से स्पष्ट है वहीं गतिविधि की दृष्टि से अस्पष्ट और जटिल है। ताले-चाबी के दूकानदार द्वारा किसी भी बंद ताले को खोलना अथवा नयी चाबी बना देना उसकी 'कुशलता' है जबकि चोर द्वारा किसी ताले को खोलना 'कुशलता' नहीं कहा जा सकता है । ठीक इसी प्रकार 'दायित्व' शब्द भ्रम उत्पन्न कर सकता है । एक व्यक्ति यह कह सकता है कि संतान की इच्छापूर्ति करना वह दायित्व मानता है इसलिये उसने दूकान से खिलौना चुरा लिया । किंतु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार से निवर्हन किये गये दायित्व को दायित्व नहीं कहा जा सकता है। अतः इन्हें वांछित अर्थ में समझने की दृष्टि से इनके साथ कुछ शर्त लगाई गयी। इसमें से एक प्रमुख शर्त है, 'समाज द्वारा स्वीकृति'(Sacnction by the Society)। अब कुशलता और दायित्व व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के लिये निर्धारित होना न होकर समाज द्वारा व्यक्ति के लिये निर्धारित किया जाना आवश्यक माना गया। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कुशलता उसे माना जाएगा जो समाज द्वारा स्वीकृत है तथा दायित्व उसे कहा जाएगा जो दूसरों की स्वीकृति के संदर्भ में हो न कि व्यक्ति स्वयं के अनुसार हो। इस प्रकार कुशलता एव दायित्व के संदर्भित अर्थ के अनुसार प्राप्त धन अथवा राशि ही आय मानी जा सकती है। आय वितरण के संदर्भ में यहाँ आय का अर्थ उपरोक्त रूप से कुशलता तथा दायित्व के प्रतिफल के रूप में प्राप्त आय से ही है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि समाज द्वारा कुशलता और दायित्व को स्वीकृति देने के क्या आधार हैं ? इस प्रश्न के उत्तर के लिये हमें पीछे लौटना होगा। जब मनुष्य ने 'समूह' से 'परिवार' की ओर विकास किया हो, अनेक परिवारों के बीच सामन्जस्य एवं आवश्यकता-पूर्ति बनाए रखने के लिये कुछ नियम या मापदण्ड स्वीकार किये और इन मापदण्डों के अनुसार होनेवाली आवश्यकता-पूर्ति को स्वीकृति दी गयी। अतः जो अधिकांश परिवारों के लिये सार्थक, उपयोगी अथवा हितकारी होता था, वही स्वीकार्य होता था। किन्तु परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होने वाले हित अथवा उपयोगिताओं ने अपरिवर्तित होने वाले हित अथवा उपयोगिता की खोज करने को प्रेरित किया और इस प्रकार ''स्थायी महत्त्व'' के मापदण्डों की स्थापना हुई।[४] समस्त मोक्षवादी, पूर्णतावादी अथवा परमश्रेयवादी चिन्तन-सम्प्रदाय वस्तुतः हितवादी अथवा उपयोगितावादी होने के कारण ही समाज-स्वीकृत हैं चाहे इनमें समाज ने स्वयं को माया, बंधन या कारागृह क्यों न मान लिया गया हो। अतः समाज-स्वीकृति के आधार हित अथवा उपयोगिता है जिनका संबंध और अर्थ पाश्चात्य उपयोगितावाद के अनुसार ही नहीं है क्योंकि उसमें अनेक त्रुटियाँ हैं तथा वह उपयोग की सीमित और संकीर्ण अवधारणा से ग्रस्त है।[५] इस संक्षिप्त विवेचन से हम अब आय के विषय में अधिक स्पष्टता से विचार कर सकते हैं कि आय समाज-स्वीकृत कुशलता और दायित्व निर्वहन के बदले में प्राप्त होने वाली वह राशि है जो समाज के उपयोग अथवा हित के मापदण्ड के अनुसार है।[६]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आय के संबंध में यह स्पष्ट होने के साथ ही उसके वितरण की समस्या उठ खडी होती है । दूसरे शब्दों में यह पूछा जा सकता है कि वेतनमानों को, पारिश्रमिकों को अथवा दरों को कैसे निर्धारित किया जाय ? अर्थशास्त्रीय ''आवश्यकता एवं आपूर्ति'' का सिद्धान्त न तो पर्याप्त है न उचित है । उदाहरण के लिये २०वीं सदी के प्रारम्भ में यह सिद्धान्त इस रूप में था कि ''प्रत्येक की क्षमता से प्रत्येक के काम के अनुसार'' आय वितरण होनी चाहिये ।'' किन्तु कुछ वर्षों बाद ही इसे छोडना पडा क्योंकि इसमें वृद्ध एवं विकलांगों के लिए कोई स्थान नहीं था । दूसरा यह सिद्धान्त लाभात्मक है, कल्याणत्मक नहीं है । इस तरह यदि आय के वितरण को अथवा वेतनमानों एवं पारिश्रमिकों को ''आवश्यकता एवं आपूर्ति'' के सिद्धान्त तक सीमित या आधारित कर दिया जाय तो उसे संगत नहीं माना जा सकता है । यद्यपि प्रचलित रूप से इसी सिद्धान्त को अधिकांश रूप में स्वीकार जाता है किन्तु कल्याणकारी राज्य लोकतंत्रीय परम्परा और समाज-चेतना के कारण इस सिद्धान्त को पूर्ण रूप से आधार नहीं माना जाता है । ''पेंशन'' का सिद्धान्त आय वितरण के लाभात्मक पक्ष का नहीं अपितु कल्याणत्मक पक्ष का ही प्रतीक है ।[९] अतः आय वितरण एक नैतिक प्रश्न भी है और इसके उत्तर में नैतिक-चिन्तकों द्वारा कुछ सिद्धान्त भी प्रस्तुत किये गये हैं । इनमें से दो सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना तथा उनका मूल्यांकन करना यहाँ प्रासंगिक होगा ।

आय निर्धारण के लिये पहला सिद्धान्त ''नियमवादी'' है जिसे लुईस ब्लान्क जैसे चिन्तको ने ''डेसर्ट'' नाम दिया है ।[१०] 'डेसर्ट' एक आदर्शात्मक शब्द है जो दो कारकों को निहित रखता है -

(१) पूर्ति की जाने वाली शर्त ।

(२) वह स्थिति अथवा व्यवहार जो इस शर्त की पूर्ति से उत्पन्न होगा । जब यह कहा जाता है कि अ ब के योग्य है तो इसका अर्थ है कि अ ने ब के लिये स्वीकृत या मान्य शर्त को पूरा किया है और इसीलिये उसे शर्तपूर्ति से संबंधित दाय देना उचित है । डेसर्ट के आधार पर वेतनमानों की समानता जहाँ निर्धारित होती है वहीं यह भी प्रश्न उठता है कि वेतनमानों में भिन्नता क्यों होती है अथवा उनमें भिन्नता के आधार क्या हैं ? जिलाधीश, वैज्ञानिक, प्रोफेसर, चिकित्सक अथवा इंजिनियरों के वेतनमानों में भिन्नता के आधारों का औचित्य क्या है ? इस भिन्नता के आधार तथा उसके औचित्य के लिये निम्न तीन कसौटियाँ [११] दी गई हैं -

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) प्रशिक्षण की दीर्घावाधि, निपुणता तथा दायित्व
(२) क्षतिपूर्ति की कसौटी
(३) परम्परागत सापेक्षताएँ

जैसा कि इन कसौटियों से स्पष्ट होता है जिस कार्य के लिये जितने अधिक लम्बे प्रशिक्षण, निपुणता और दायित्वभावना की आवश्यकता होगी उतना उस कार्य का वेतनमान अन्य की तुलना में अधिक होगा । वायुयान चालक के और सरकारी-दर्जी के वेतनमान में भिन्नता और औचित्य का यही आधार पहली कसौटी के अन्तर्गत माना गया है । दूसरी कसौटी में जो कार्य जितना खतरे वाला है, कठिन परिस्थितियों तथा अस्वास्थ्यकर स्थितियों में किया जाने वाला होगा उस कार्य के वेतनमान में भेद इसलिये होगा क्योंकि वे कार्य समाज-स्वीकृत हैं और उन्हें किया जाना उपयोगी है इसलिये जो भी उन्हें करेंगे उन्हें सामान्य से अधिक वेतनमान क्षतिपूर्ति के रूप में देना उचित है । तीसरी कसौटी के अन्तर्गत यह माना गया है कि वेतनमानों का निर्धारण पूर्व ढाँचे को पूरी तरह शून्य बनाकर नहीं प्रारम्भ किया जा सकता है । पृष्ठभूमि के रूप में जो कुछ आयवितरण की प्रणाली उपलब्ध है उसी के आधार पर नयी परिस्थितियों के अनुरूप उसमें संशोधन, वृद्धि आदि किये जा सकते हैं किन्तु कोई भी वेतनमान सर्वथा नये रूप में प्रारंभ नहीं किये जा सकते हैं । यही कारण है कि एक अधिकारी का वेतनमान उसके अधीनस्थ के वेतनमान के समकक्ष नहीं हो सकता है । इसका कारण यही है कि परम्परागत रूप से उन कार्यों के वेतनमानों में भिन्नता चली आ रही है और उन्हें एक स्तर पर समान रूप में नहीं किया जा सकता है । संक्षिप्त में, डेसर्ट अथवा नियमवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत आयवितरण के नैतिक आधारों को इसी रूप में स्वीकार किया गया है ।

आय वितरण के संबंध में दूसरा सिद्धान्त 'आवश्यकवादी'[१२] माना गया है। यह अर्थशास्त्रीय आवश्यकता तथा पूर्ति के सिद्धान्त से भिन्न है । आवश्यकतावादी सिद्धान्तानुसार तथा प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार आय वितरण किया जाना चाहिये, यह माना गया है । इस सिद्धान्त में आय का वितरण अथवा उसमें भिन्नता का आधार 'आवश्यकता' को माना गया है । प्रो. बाबेफ[१३] इस सिद्धान्त के प्रबल पक्षधर हैं । उनके इस सिद्धान्त को समझने से पूर्व आवश्यकता के विषय में संक्षिप्त चर्चा प्रासंगिक होगी ।

आवश्यकता अभाव सूचक होती है । इस अभाव के कारण व्यक्ति वह नहीं प्राप्त कर पाता है जो उससे प्राप्त की जाने की अपेक्षा की जाती है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिये जब यह कहा जाता है कि मनुष्य को भोजन की आवश्यकता है तो इसका अर्थ यह है कि भोजन बिना यह 'मनुष्य या प्राणी' के रूप में अपेक्षापूर्ति नहीं कर पाएगा । ''सुधार को औजारों की आवश्यकता है'' का आशय ही यह है कि औजारों के बिना यह एक सुधार की अपेक्षा पूरी नहीं कर सकता है। किन्तु यहाँ ''आवश्यकता'' एवं ''इच्छा'' में भेद है । 'वह भोजन चाहता है' वाक्य में भोजन आवश्यकता के रूप में नहीं अपितु इच्छा या चाह के रूप में माना गया है । अतः इसमें आवश्यकता में निहित अनिवार्यता का भाव निहित नहीं है । इसलिये आय-वितरण के संदर्भ में आवश्यकता को ज्यादा महत्त्व दिया गया है, इच्छा या चाह को नहीं ।

आवश्यकता को जैविक, मूल एवं कार्यात्मक इन तीन श्रेणियों[१४] में विभाजित किया जा सकता है । जीवन के संरक्षण की दृष्टि से जो भी आवश्यकताएँ होती हैं उन्हें जैविक आवश्यकता माना गया है । साँस लेना ही जीवन नहीं है अपितु जीवित रहने के अर्थ में यह भी सम्मिलित है कि हम श्वास लेते हुए जो करना या होना या बनाना चाहते हैं या जो हमें करना या बनाना चाहिये । दूसरे प्रकार की श्रेणी में मूल अथवा आधारभूत आवश्यकताएँ मानी गयी हैं । उदाहरण के लिये 'प्रेम' एक आधारभूत आवश्यकता है जिसके बिना जीवन जैविक स्तर पर तो जिया जा सकता है किन्तु विशेषरूप में, एक गरिमा और संतोषरूप में नहीं जिया जा सकता है । मूल अथवा आधारभूत आवश्यकता निर्धारण में समाज की स्थिति, उसमें निहित वर्ग एवं उनकी संरचना प्रमुख भूमिका निर्वाह करते हैं । एक देश अथवा समाज में जिसे मूल आवश्यकता माना जाता है दूसरे देश अथवा समाज में वही लक्सरी या विलासिता माना जा सकता है और किसी तीसरे देश में उसे निहायत घटिया माना जा सकता है । उदाहरणार्थ केलिफोर्निया में दिवालियेपन में टेलिविजन सेट को कुर्की के योग्य माना जाता है जबकि पूर्वी देशों में इसे बहुमूल्य मानकर 'वसूली सूंची' में शामिल किया जाता है।[१५] इस तरह आधारभूत आवश्यकता अनेक देशों में उनकी अपनी-अपनी सामाजिक स्थितियों के अनुसार भिन्न होगी । तीसरे प्रकार की श्रेणी में कार्यात्मक आवश्यकता मानी गयी है । कार्य करने के स्थान पर जाना, विशेष पोशाक, कार्य के लिये आवश्यक साधन, कार्य करने की सुविधापूर्ण स्थितियाँ इनके अन्तर्गत मानी गयी है । एक न्यायाधीश का रूट बस से न्यायालय के लिये यात्रा करना न्यायपीठ की गरिमा से निम्न है । अतः न्यायधीश के लिये कार कार्यात्मक आवश्यकता है । डॉ. जोवेनेल[१६] ने एक विश्वविद्यालय प्रोफेसर के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये अपने साथी तथा विद्यार्थियों को स्तरीय रूप से 'इन्टरटेन' (या आवभगत) करने को कार्यात्मक आवश्यकता बताया है और इसलिये तद्नुरूप वेतमान में वृद्धि की अनुशंसा की थी ।

आवश्कतावादी सिद्धांत यद्यपि अर्थशास्त्रीय प्रतीत होता है किन्तु प्रो. वाबेफ इसे अस्वीकार करते हैं । उनके अनुसार आवश्यकवादी सिद्धान्त यह नहीं मानता कि लोग उनकी आवश्यकतापूर्ति के लिये सरकार अथवा अधिकारियों को जगाएँ अपितु यह सिद्धान्त बिना आन्दोलन, हडताल अथवा विरोधप्रदर्शन के ही लोगों की आवश्यकताओं में गुणात्मक सुधार का पक्षधर है । दूसरे शब्दों में 'यह लोगों की क्या आवश्यकता है' से बढकर 'लोगों को क्या दिया जाना चाहिये' पर बल देता है और इस अर्थ के कारण यह सिद्धान्त अर्थशास्त्रीय लाभात्मक सिद्धान्त से कल्याणात्मक सिद्धान्त बन जाता है । इसलिये दोनों में भेद है । वे यह मानते हैं कि यह बहुत संभव हो कि १०० डालर बढाने की कार्यात्मक आवश्यकता प्रदर्शित करने वाला श्रामिक इतनी वृद्धि करने पर आश्वस्त हो सकता है किंतु वस्तुतः उसकी वृद्धि २०० डालर की यदि होनी चाहिये तो उसे दी जानी चाहिये। इस आपत्ति के उत्तर में कि इससे राजकीय कोष पर अतिरिक्त भार बढ़ने और उसके खाली होने का खतरा नहीं बढेगा ? के उत्तर में प्रो. बाबेफ का व्यंग्यात्मक उत्तर है - खजाना भरा होना विसंगतियों और व्यर्थ खर्चों की संभावना का परिचायक है, विकास का नहीं । आय वितरण की समस्या धनाभाव पर आधरित न होकर 'धनसंग्रह' की प्रवृत्ति पर आधारित है । उनके अनुसार धनसंग्रह का दृष्टिकोण अवनतिकारक तथा अनुपयोगी है । वे यह मानते हैं कि करो में राहत 'बचत' पर नहीं अपितु 'खर्च' पर दी जानी चाहिये । अनुपयोगी धनसंग्रह की प्रवृत्ति को उपयोगी और रचनात्मक बनाने के लिये यह एक दिन करना आवश्यक होगा । दूसरी के साथ वे कार्यात्मक आवश्यकता को वेतनमान निर्धारित करने का सबल नैतिक आधार मानने हैं । इस तरह से किया जाने वाल आयवितरण समाज में वर्गगत असन्तुलन को कम करने में सहयोगी होगा । वे यह पूछते हैं कि एक प्रोफेसर की आय में बचत करके किसी प्रोफेसर ने यदि एक सफल लघुउद्योग स्थापित किया तो क्या यह उस प्रोफेसर की सफलता मानी जा सकती है ? नहीं, क्योंकि उसने कार्यात्मक आवश्यकता की कटौती करके ही यह बचत की है । यह चाहे अर्थशास्त्रीय एवं कानूनी दृष्टि से आपत्तिपूर्ण न माना जाए किन्तु नीतिशास्त्रीय दृष्टि से आपत्तिपूर्ण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार आय तथा उसके वितरण के संदर्भ में हमने इस संक्षिप्त विवेचन में दो सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है । अन्य सिद्धान्तों को प्रसंगवश छोड दिया है । यहाँ इन सिद्धान्तों की परीक्षा करना आवश्यक एवं उचित होगा ।

प्रो. लुईस ब्लान्क द्वारा समर्पित नियमवादी अथवा डिसर्ट (Desert) सिद्धान्त किसी पूर्वनिर्धारित नियम अथवा मापदण्ड को आय अथवा पारिश्रमिकों के निर्धारण एवं वितरण के लिये स्वीकार करता है । इसमें प्रचलित अथवा पृष्ठभूमिमें प्रचलित नियम को आयवितरण का आधार माना गया है । अन्य शर्तें भी इस सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रस्तुत की गयी हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिद्धान्त दो स्थितियों की उपेक्षा करता है -

(१) आयवितरण अथवा निर्धारण के लिये यह सिद्धान्त पूर्व प्रचलित अथवा प्रचलित नियमों को ही आधार मानकर उनका नैतिक औचित्य सिद्ध करता है । किन्तु इससे आय वितरण एक परम्परागत, नवीनता रहित तथा रेखीय सिद्धान्त बन जाता है । यह सिद्धान्त शोषण और असमानता को कम कर सकता है किन्तु उनके समूल नाश के लिये प्रेरणा और ऊर्जा नहीं देता है ।

(२) नियमवादी सिद्धान्त यद्यपि संशोधन एवं वृद्धि को आय के वितरण में समाहित करता है किंतु इससे संबंधित संशोधन एवं वृद्धि की प्रक्रिया को बहुत जटिल एवं मंथर बनाता है । प्रो. जोवेनेल की यह टिप्पणी सटीक प्रतीत होती है कि हो सकता है कि हम १९वीं सदी के वास्तविक वेतनमान को २० वीं सदी में प्राप्त करते हुए उसे आधुनिक मान रहे हों ।[७] कारण यह कि नियमयवादी सिद्धान्त पूर्व ढाँचे को ही औचित्य का आधार मानता है और उससे किसी चमत्कारिक, ऊर्जास्पद एवं प्रभावी पूर्णता अथवा बहुलता का अभाव है ।

दूसरा सिद्धान्त 'आवश्यकतावादी है जिसे प्रो. बाबेफ ने प्रस्तावित किया है । आवश्यकता को नये स्वरूप एवं संदर्भ में प्रस्तुत करने के कारण यह सिद्धान्त नियमवादी सिद्धान्त की त्रुटियों से रहित है । इसमें आवश्यकता और आय में यथार्थता का संबंध है तथा आवश्यकता को न केवल आय को अपितु उसके 'व्यय' को भी आधार बनाया गया है । कार्यात्मक आवश्यकता की पूर्ति करने वाली आय को उसके निर्धारण में महत्त्वपूर्ण कारक माना गया है। इसी के साथ यह सिद्धान्त कुछ विवादास्पद सुझाव भी प्रस्तुत करता है ।

किंतु ऐसा नहीं है कि इस सिद्धान्त को सर्वथा त्रुटिरहित कहा जा सकता हो । इस संदर्भ में निम्न कुछ बिन्दु विचारणीय हैं -

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) आय एक उपार्जन है तथा व्यय भी इसी उपार्जन के अनुसार किया जा सकता है और किया जाना चाहिये । किन्तु आवश्यकतावादी सिद्धान्त आवश्यकताओं को इतना अधिक विस्तार दे देता है कि उनकी पूर्ति योग्य आय न होने पर क्या किया जाना चाहिये, यह स्पष्ट नहीं करता है। जो स्पष्ट करता है वह इतना ही है कि व्यक्ति या सरकार 'बचत' को खर्च करे और कार्यात्मक आवश्यकता की पूर्ति करे । यद्यपि कार्यात्मक आवश्यकता पर खर्च की जानेवाली बचत 'आय वृद्धि' कर सकती है किंतु ऐसा होगा ही यह अनिवार्यतः नहीं कहा जा सकता है । उस स्थिति में बचत से होने वाली आय भी बंद हो जाएगी और बचत को ''कार्यात्मक आवश्यकता'' पर खर्च करने पर कोई आय भी नहीं होगी तब एक तरह की 'आर्थिक शून्यता' उत्पन्न हो सकती है जो स्वयं एक तरह की अनैतिकता होगी ।

(२) आवश्यकतावादी सिद्धान्त मनुष्य अथवा समाज की आवश्यकताओं को निर्धारित स्वरूप में ही स्वीकार करता है जैसे जैविक, मूल एवं कार्यात्मक आवश्यकताएँ । किन्तु मनुष्य मनुष्य है, उसकी आवश्यकताएँ इस तरह निर्धारित स्वरूप में ही हों, यह आवश्यक नहीं है । वह जितना सीमित और परिधिवृद्ध वास्तविक रूप में दिखता है, संभाव्य रूप में वह उतना ही अधिक व्यापक और गहरा है और उसकी इस स्तर की आवश्कयताएँ भी उतनी ही प्रबल और प्रभावी हैं । अतः आवश्यकतावादी सिद्धान्त इन प्रछन्न अभीप्साओं की उपेक्षा करता प्रतीत होता है । यद्यपि प्रो. बाबेफ किसी भी स्तर की आवश्यकता को इसमें सम्मिलित करने और तदनुसार आय निर्धारित-वितरित करने के पक्षधर हैं किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि आवश्यकता का एक स्तर, एक आयाम ऐसा भी है जहाँ आवश्यकता है, उसकी पूर्ति भी है किन्तु आयनिर्धारण संभव नहीं है । यह स्तर श्रेयस् अथवा परमशांति की आवश्यकता का है जो पश्चिम में हो या पूर्व में, किन्तु है अवश्य ।

इसे प्रो. बाबेफ की भारतीय नीति-चिन्तन से अनभिज्ञता मानी जाय अथवा अन्य कुछ, किंतु यदि उनसे पूछा जाय कि कैवल्य, निर्वाण अथवा परमपद की प्राप्ति की आवश्यकता के लिये आय निर्धारण या वितरण कीजिए तो वे क्या उत्तर देंगे ? इसका कुछ उत्तर संभव ही नहीं है क्योंकि आवश्यकतावादी सिद्धान्त उस स्तर से दूर है जहाँ आय एवं आवश्यकता का संबंध समाप्त हो जाता है । यह आय एवं लाभ से इतर आवश्यकता है किन्तु है यह मनुष्य की ही आवश्यकता । इस संदर्भ में किसी ने ठीक ही कहा है -

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वो जो मुझसे पूछते हैं कि इससे क्या फायदा ।
पूछता हूँ मैं उनसे कि फायदे से क्या फायदा ।

विभागाध्यक्ष डा. एस. आर. व्यास
दर्शनविभाग, सु. वि. वि.
उदयपुर (राज.)

टिप्पणियाँ

१. S.I. Benn and R.S. Peters, **Social Principles and Democratic State,** p. 136
2. Ibid, p. 142
3. B. de Jouvenel, **Ethics of Redistribution**, p. 56
4. H.J. Laski, **Grammer of Politics**, p. 190-2
5. R.H. Tawney, **Religion and Rise of Capitalism**, p. 23
6. Barbara Wotton, **Social Foundations of Wage Policy**, p. 73
7. B. de Jouvenel, **Ethics of Redistribution**, p. 106
8. S.I. Benn and R.S. Peters, **Social principles and Democratic State**, p. 139
9. Ibid, p. 201
10. Louis Blanc, **Distributional Ethics**, p. 123
11. Barbara Wootten, **Social Foundations of Wage Policy**, p. 87
12. T. S. Babeuf, **Elements of Social Justice**, p. 95
13. Ibid, p. 108
14. S.I. Benn and R.S. Peters, **Social principles and Democratic State**, p. 144-5
15. Ibid, p. 148
16. Jouvenel, **Ethics of Redistribution**, p. 127
17. Ibid, p. 139
18. **Ishavasyopnishad** - 1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिंदी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से संबंधित विवरण (फॉर्म नियम ८ देखें)

फॉर्म ४ (नियम ८ देखिये)

१.	प्रकाशन स्थान	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११००७.
२.	प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
३.	मुद्रक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११००७ भारतीय.
४.	प्रकाशक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११००७ भारतीय.
५.	संपादकों के नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११००७ भारतीय.
६.	उन व्यक्तियों/संस्थाओं के नाम और पते जो समाचार पत्र के स्वामी हो	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११००७. भारतीय.

मैं सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य हैं ।

सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचर्चा में

-१-

मानव अधिकार पर प्रो. दयाकृष्ण के लेख पर एक टिप्पणी

हाल ही में १९९८ में यूनेस्को के तत्त्वावधान में **''टेकिंग एक्शन फॉर ह्यूमन राइट इन दी ट्वन्टी फर्स्ट सेन्च्यूरी''** नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है । इस पुस्तक में मानवाधिकार पर ३१ लेख प्रकाशित हुए हैं जो विभिन्न राजनीतिज्ञों, दार्शनिकों, मनोवैज्ञानिकों, संगीतज्ञों और नृविज्ञानियों द्वारा लिखे गये हैं। इनमें से १० लेखों के लेखक विभिन्न देशों के जाने-माने दार्शनिक हैं।

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य पुस्तक में प्रकाशित प्रो. दयाकृष्ण के लेख ''ए रॅडिकल रिविजन ऑफ ह्यूमन राईट दी नीड फॉर रिथिंकिंग इन ए यूनीवर्सल पर्सपेक्टिव'' के प्रमुख बिन्दुओं को प्रस्तुत करते हुए उनका आलोचनात्मक विश्लेषण करना तथा साथ ही मानवाधिकार पर अपने विचार व्यक्त करना है । प्रो. दयाकृष्ण ने अपने इस लेख में मानवधिकार पर गहन और गम्भीर चिन्तनआद्धृत एक आकर्षक संकल्पना प्रस्तुत की है ।

वर्तमान में मानवाधिकारों के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण प्रश्न है वह यह है कि वर्तमान समाज में मानवाधिकारों की क्या स्थिति है ? एक दीर्घकालिक चिन्तन प्रक्रिया के बावजूद आज तक उपर्युक्त प्रश्न के सन्दर्भ में जो भी समाधान एवं संकल्पनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं उनमें सार्वजनीनता और सर्वांगीणता का अभाव दृष्टिगोचर होता है । आज भी मानवाधिकार के सम्बन्ध में कोई पूर्ण एवं सार्वभौमिक संकल्पना विश्व मंच पर उपलब्ध नहीं है । यही कारण है कि विचारमंच पर आज भी मानवाधिकार चर्चा की अपेक्षा रखते हैं ।

इसी उद्देश्य से एक और संयुक्त राष्ट्र संघ तथा यूनेस्को के तत्त्वावधान में इनकी स्थिति को सुदृढ करने हेतु महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई जा रही है, जबकि दूसरी ओर, विश्व के अनेक लोकतान्त्रिक देश यथा अमरिका, ब्रिटन आदि

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २२ अंक २, मार्च २००१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकारों की उपेक्षा कर अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए अनियमित शोषण का मार्ग अपनाएँ हुए हैं । वर्तमान प्रतिस्पर्धात्मक विकसित युग में व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु आधारभूत स्वतन्त्रता तथा सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए । इसके लिए बुद्धिजीवी वर्ग सामाजिक कार्यकर्ताओं राजनेताओं आदि के द्वारा मानवाधिकारों की रक्षा तथा उनकी स्थिति को सुदृढ करने हेतु सुहृदय से सशक्त आवाज उठाने की आवश्यकता है।

प्रो. दयाकृष्ण ने उपर्युक्त समस्या पर विचारमंथन की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए अपने लेख में, जैसाकि प्रतीत होता है, मानवाधिकारों का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव जाति से माना है तथा इनके सम्बन्ध में सार्वजनीनता के नियम को लागू करने का प्रसाय कर विचारकों को ध्यानाकर्षित करने का प्रयास किया है।

प्रो. दयाकृष्ण ने अपने इस लेख में दो महत्त्वपूर्ण बातों पर बल देने का प्रयास किया है। प्रथम, उन्होंने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि आज तक मानवाधिकारों पर केवल पश्चिमी प्रारूप में रखकर ही विचार किया जाता रहा है । द्वितीय, पश्चिमी प्रारूप ही एकमात्र ऐसा प्रारूप नहीं है जिसमें ही मानवाधिकारों की सार्थक एवं सार्वभौमिक व्याख्या सम्भव है । कुछ पश्चिमी शक्तिशाली देशों द्वारा मानवाधिकार की अपनी एकांगी व्याख्या के आधार पर राजनीतिक हितों की पूर्ति करने का प्रयास किया जाता रहा है जो कि किसी प्रकार से न्यायोचित नहीं कहा जा सकता है क्योंकि मानवाधिकार का सम्बन्ध केवल किसी विशेष क्षेत्र के व्यक्तियों से न होकर सम्पूर्ण मानव जाति से है । अतः मानवाधिकारों के सम्बन्ध में सार्वजनीन घोषणा पत्र को एकपक्षीय करार देते हुए प्रो.दयाकृष्ण इस पर एक सर्वांगीण, सार्वभौमिक तथा आधारभूत चिन्तन की आवश्यकता महसूस करते हैं । सार्वजनीन घोषणा पत्र के सम्बन्ध में अपने उपर्युक्त दो बिन्दुओं की पुष्टि प्रो.दयाकृष्ण किस प्रकार करते हैं ? क्या उनके द्वारा प्रस्तुत पुष्टीकरण तर्कसंगत हैं ?, इनका विवेचन निम्न गद्यांशों में प्रस्तुत है ।

अपने लेख के प्रारम्भ में ही प्रो. दयाकृष्ण मानवाधिकारों के सार्वजनीन घोषणा पत्र को द्वितीय विश्व युद्ध की देन मानते हैं तथा मानतें हैं कि इस घोषणा पत्र ने कुछ शक्तिशाली राष्ट्रों की दृष्टि को ही साकार करने का प्रयास किया है। (पृ. १४८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रो. दयाकृष्ण की उपर्युक्त पंक्तियाँ इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करती हैं कि यह घोषणापत्र कुछ विशेष राष्ट्रों द्वारा, विशेष परिस्थितियों में, अपनी विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति को ध्यान में रखते हुए बनाया गया है । अतः विशेष हितों की पूर्ति हेतु बनाया गया घोषणापत्र किसी भी रूप में सार्वभौमिक नहीं कहा जा सकता है । यह एक अलग बात है कि घोषणा पत्र के सार्वभौमिक होने की दुहाई दी जाती रही है । प्रो. दयाकृष्ण का ऐसा करने का आधार उनकी यह मान्यता है कि मानवाधिकार सम्बन्धी चिन्तन अन्य मूल्यों से पृथक् रहकर नहीं किया जा सकता है वरन् इस पर सर्वांगपूर्ण रीति से चिन्तन करने की आवश्यकता है । इस सन्दर्भ में प्रो. दयाकृष्ण द्वारा उद्धृत संयुक्त राष्ट्र का दृष्टान्त उनके मत की पुष्टि करता है । उनके अनुसार संयुक्त राज्य द्वारा अपनी शक्ति के बलबूते पर मानवाधिकारों का अपने राजनीतिक हितों की पूर्ति हेतु हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जाना तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यक्षत्र का अपहरण किया जाना इस बात का सूचक है कि मानवाधिकारों का सार्वजनीन घोषणा-पत्र सार्वभौमिक न होकर कुछ राष्ट्रों के हितों की पूर्ति का साधन मात्र बनकर रह गया है । प्रो. दयाकृष्ण द्वारा उद्धृत कुछ अन्य उदाहरण भी उनके मत की पुष्टि करते हैं, जैसे - गोपनीयता के अधिकार का मीडिया द्वारा उल्लंघन, तृतीय विश्व के बहुत से देशों के औषधि उद्योग पर प्रतिबन्ध लगाना, शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा नाभिकीय अपशिष्ट तथा आयुधों को सस्ते दामों पर बेचा जाना आदि ।

प्रो. दयाकृष्ण की उपर्युक्त विचार-योजना में यह पूर्वमान्यता प्रतीत होती है कि मानवाधिकारों पर सार्वभौमिक परिप्रेक्ष्य में विचार नहीं किया गया है किन्तु प्रस्तुत लेखिका प्रो. दयाकृष्ण का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहती है कि मानवाधिकारों की सार्वजनीन घोषणा का एक आधारभूत सिद्धान्त सार्वभौमिकता है । यह एक अलग प्रश्न है कि सार्वभौमिकता के सिद्धान्त को सदैव लागू नहीं किया जाता है । इसीलिए सार्वभौमिकता के व्यावहारिक प्रभावीकरण को ध्यान में रखते हुए इसके अर्थ को पुनः परिभाषित करने की आवश्यकता है । एशिया में मानवाधिकारों को राजनीतिक, धार्मिक, परासांस्कृतिक आदि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त करने का प्रयास किया गया है। अतः प्रो. दयाकृष्ण का यह कहना कि मानवाधिकारों पर सार्वभौमिक परिप्रेक्ष्य में पुनर्चिन्तन की आवश्यकता है, उचित प्रतीत नहीं होता है । इस पर सार्वभौमिक परिप्रेक्ष्य में पुनर्चिन्तन की आवश्यकता नहीं है वरन् मानवाधिकारों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सन्दर्भ में प्रयुक्त सार्वभौमिकता के प्रत्यय के अर्थ को पुनर्परिभाषित करने की आवश्यकता है ।

प्रो. दयाकृष्ण मानवाधिकारों के सामाजिक पक्ष को महत्त्वपूर्ण मानते हैं । उनके अनुसार मानवाधिकारों का यह सामाजिक पक्ष ही व्यक्ति की दृष्टि को ''स्व'' से हटाकर ''पर'' पर केन्द्रित करता है । यह पक्ष मानवाधिकारों के सार्वभौमिकीकरण में सहायक हो सकता है । उनके अनुसार यही पक्ष मानवाधिकारों को कानूनी अधिकारों के (जो कि स्वकेन्द्रित होते हैं) से पृथक् करता है ।

अपनी उपर्युक्त संकल्पना को पुष्ट करते हुए प्रो. दयाकृष्ण अपने लेख के अन्त में पुनश्च लिखते हैं कि ''पश्चिमी रूप ही एकमात्र रूप नहीं है जिसमें कि मानव द्वारा मानवाधिकारों की अनुभूति की जा सकती है ।'' (पृ.१५०)

उनके अनुसार पश्चिमी राष्ट्रों की पद्धति द्वारा किया गया मानवाधिकारों का व्यवहार न तो समस्त राष्ट्रों (विकसित एवं अविकसित) द्वारा किया जाना संभव है और न ही समस्त राष्ट्रों की विभिन्न परिस्थितियाँ पश्चिमी राष्ट्रों की परिस्थितियों से साम्य रखती हैं । अतः जब तक सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों को पश्चिमी राष्ट्रों के अनुरूप नहीं बनाया जाता तब तक मानवाधिकार का व्यवहार प्रभावी नहीं हो सकता है । अब चूँकि सभी राष्ट्रों की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों को पश्चिमी राष्ट्रों की परिस्थितियों के अनुरूप बनाना सम्भव नहीं है । अतः इन राष्ट्रों की विभिन्न परिस्थितियों को पश्चिमी रूप के अनुरूप बनाने के स्थान पर संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मानवाधिकारों के सार्वजनीन घोषणा पत्र को ही सार्वभौमिक बनाने का प्रयास किया जाना चाहिए ।

यद्यापि प्रो. दयाकृष्ण ने मानवाधिकारों के सम्बन्ध में प्रस्तुत उपर्युक्त संकल्पना में सार्वजानीनता का मौलिक एवं आधारभूत प्रश्न उठाकर अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है तथा सार्वजनीन घोषणा पत्र को विचार मंच पर पुनर्विचार के लिए ला खडा किया है किन्तु उनकी यह विचार योजना मौलिक सूझ-बूझ से ओतः प्रोत होते हुए भी चिह्नित प्रश्न की ओर संकेत भर करती है, उस चिह्नित प्रश्न के उत्तर की खोज के लिए स्पष्ट रूप से उपयुक्त मार्ग दर्शन प्रस्तुत नहीं करती है । यद्यापि यह ठीक है कि पश्चिमी रूप को ही चिन्तन का एक मात्र रूप नहीं माना जा सकता है, किन्तु यह प्रश्न उठता है कि चिन्तन के अन्य रूप कौन से हैं ? इन अन्य रूपों का उन्होंने निर्देश नहीं किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है । अब यदि यह स्वीकार किया जाय कि चिन्तन का सार्वभौमिक रूप ही अन्य रूप है तो इस सार्वभौमिक रूप की प्राप्ति किस प्रकार सम्भव है ? यह सर्वविदित है कि विश्व में विविध धर्म, विविध समाज, विविध संस्कृतियाँ हैं, तब इन विविध धर्मों, समाजों एवं संस्कृतियों का सार्वभौमिकीकरण किस प्रकार किया जा सकता है ? यदि प्रो. दयाकृष्ण समस्त संस्कृतियों से स्वतन्त्र एक सार्वभौमिक रूप की बात कर रहे हैं जो कि समस्त संस्कृतियों से पृथक् रहकर भी समस्त संस्कृतियों के लिए प्रांसगिक होगा, तब क्या ऐसा सार्वभौमिक रूप होना सम्भव है ? और हाँ, तो मानवाधिकारों को किस प्रकार यह सार्वभौमिक रूप दिया जा सकता है तथा विविध बृहद् संस्कृतियों के दैनिक व्यवहार में इस रूप को कैसे लागू किया जा सकता है ?

प्रो. दयाकृष्ण के लेख के सन्दर्भ में उत्पन्न उपर्युक्त प्रश्न-श्रृंखला से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि उन्होंने अपने लेख में 'होना चाहिए' का निर्देश किया है किन्तु किस प्रकार होगा इसका निर्देश नहीं किया है । इसी कारण उनका लेख मौलिक सूझ-बूझ से ओतःप्रोत होते हुए भी कुछ मौलिक समस्याओं के विषय में चिन्तन नहीं करने के कारण अपूर्ण सा प्रतीत होता है ।

संतोष चौहान
शोधार्थी
दर्शनशास्त्र विभाग,
राज. वि.वि., जयपुर

टिप्पणियाँ

१. फेड्रिका मेयर व रोजर पॉल डोरिट टेकिंग एक्शन फॉर ह्यूमन राइट इन दी ट्वेन्टि फर्स्ट सेन्चूरी, यूनेस्को, पेरिस, १९९८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श के खण्ड-१९, अंक-३ जून १९९८ के अंक में प्रकाशित डॉ. अरुण कुमार प्रसाद का लेख **''सामाजिक न्याय की अवधारणा - एक राजनीतिक सन्दर्भ और दार्शनिक विमर्श''** विद्वत्तापूर्ण दृष्टि का परिचायक है । वर्तमान समाज में बढते हुए अन्याय, शोषण, अत्याचार, मानव गरिमा का ह्रास आदि के कारण आज सामाजिक न्याय की अवधारणा विचार-मंच पर एक गम्भीर तथा ठोस विचार की अपेक्षा के साथ विद्यमान् है । डॉ. प्रसाद का लेख इस दिशा में एक सार्थक प्रयास है । यह लेख न केवल समस्या का गम्भीरता की ओर ध्यान आकृष्ट करता है वरन् विविध सन्दर्भो में सामाजिक न्याय की आकर्षक संकल्पना भी प्रस्तुत करता है । प्रस्तुत लेख के विषय में क्षमायाचना के साथ कुछ आपत्तियाँ, कुछ प्रश्न तथा कुछ सुझाव दर्ज करना चाहूँगी, जिनका बिन्दुवार विवेचन निम्न प्रकार से है ।

डॉ. प्रसाद अपने लेख के प्रारम्भ में पारलौकिक न्याय अथवा ईश्वरीय न्याय की चर्चा करते हैं तथा इसके विशुद्ध रूप को स्वीकार करते हैं। डॉ. प्रसाद लिखते हैं कि ''पारलौकिक न्याय की अस्वीकृति हमें आनुभविक न्याय की ओर अग्रसर करती हैं ।'' (पृ. ६८, पैरा २) इस सन्दर्भ में मेरा प्रश्न यह है कि पारलौकिक न्याय की अस्वीकृति से उनका क्या तात्पर्य है ? यदि इसका तात्पर्य पारलौकिक न्याय की अवधारणा को अस्वीकार करना है, तो किस प्रकार पारलौकिक न्याय की अस्वीकृति हमें सामाजिक न्याय की ओर अग्रसर करती है ? इसे डॉ. प्रसाद ने स्पष्ट नहीं किया है । क्या सामाजिक न्याय की ओर अग्रसर होने के लिए पारलौकिक न्याय की अस्वीकृति अनिवार्य है ? यदि हाँ तो फिर उन व्यक्तियों की सामाजिक न्याय के सम्बन्ध में क्या स्थिति होगी जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं ? ऐसे व्यक्ति के लिए ईश्वरीय न्याय को अस्वीकृत करना इतना सरल नहीं है, तब ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति समाज का सदस्य होते हुए भी साामजिक न्याय की ओर अग्रसर नहीं हो सकता क्योंकि इसके लिए पारलौकिक न्याय को अस्वीकृत करना होगा । डॉ. प्रसाद अपने लेख में इस ओर इंगित करते हैं कि ईश्वरीय न्याय को स्वीकार करने का कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्हीं घटनाओं के कारण विशेष की व्याख्या में हमारी असमर्थता होती है । (पृ. ६७, पैरा १) यह पंक्ति इस पंक्ति से संगत नहीं है कि पारलौकिक अथवा ईश्वरीय न्याय अस्वीकृति से सामाजिक न्याय की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है, बल्कि पारलौकिक न्याय एवं साामजिक न्याय दोनों को एक व्यक्ति साथ-साथ स्वीकार कर सकता है । जिस घटना के कारण की व्याख्या में व्यक्ति असमर्थ होता है, तब वह ईश्वरीय न्याय के दायरे में हो सकता है तथा अन्य घटना, जिसके कारण की व्याख्या में वह समर्थ है, के सन्दर्भ में सामाजिक न्याय के दायरे में हो सकता है ।

डॉ. प्रसाद अपने लेख में (पृ. ७१, पैरा १) लिखते हैं कि ''सामाजिक न्याय को एक वर्गविशेष के साथ जोडना उचित नहीं है'' जबकि एक अन्य पंक्ति (पृ. वही, पैरा वही) में लिखते हैं कि ''सामाजिक न्याय समस्त समाज को मिलना चाहिए ।'' यद्यपि यह ठीक है कि वर्तमान में सामाजिक न्याय को वर्ग के साथ जोडा जा रहा है किन्तु वह वास्तव में सामाजिक न्याय न होकर वर्ग-न्याय है । जब हम सामाजिक न्याय की अवधारणा की बात करते हैं तो स्वतः ही फलित होता है कि यह सम्पूर्ण समाज के लिए है । अतः सम्पूर्ण समाज को मिलना चाहिए, ऐसा कहना ठीक नहीं है । यद्यपि उन्होंने स्वयं भी लिखा है कि सामाजिक न्याय को एक वर्ग विशेष के साथ युक्त करना इस पद के अभिप्रेत अर्थ के साथ अन्याय होगा । अतः उनके इन दोनों वाक्यों के मध्य तार्किक संगति नहीं है । ऐसा कहना ज्यादा उचित है कि आज वर्ग-न्याय को सामाजिक न्याय का नाम देकर उसे प्रयुक्त किया जा रहा है हमें व्यापकता के स्थान पर अतिसंकीर्णता को ओर अग्रसर कर रहा है । अतः वर्ग-न्याय के स्थान पर सामाजिक न्याय की स्थापना का प्रयास किया जाना चाहिए ।

सामाजिक न्याय का औचित्य क्या है ? यह प्रश्न दर्शन के लिए महत्त्वपूर्ण है । डॉ. प्रसाद भी इस प्रश्न की महत्ता को स्वीकार करते हैं । वे इस प्रश्न पर अपने लेख में विचार करते हैं कि ''एक व्यक्ति, एक न्यायाधीश तथा एक समाज को न्यायी क्यों होना चाहिए ?'' (पृ. ७२,पैरा २) इस प्रश्न पर विचार करते हुए वे लिखते हैं कि ''न्यायी होना व्यक्ति के लिए अनिवार्य है, मैं न्यायी होने के लिए विवश हूँ ।'' (पृ. ७२, पैरा २) । डॉ. प्रसाद न्यायी होने की इस अनिवार्यता पर दो दृष्टिकोणों से विचार करते हैं । प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार यह अनिवार्यता बाह्यरोपित हो सकती है तथा दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार यह अनिवार्यता अन्तःकरण द्वारा आरोपित हो सकती है । यहाँ यह दृष्टव्य है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. प्रसाद द्वारा प्रस्तुत दोनों दृष्टिकोणों को केवल व्यक्ति के सन्दर्भ में ही लागू किया जा सकता है, समाज के सन्दर्भ में नहीं । परन्तु डॉ. प्रसाद समाज के सन्दर्भ में भी यही दृष्टिकोण अपनाते, हैं, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे यह पूर्वमान्यता रखकर चलते हैं कि समाज एक मूर्त (concrete) सत्ता है, परन्तु उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि समाज पर यह ब्राह्मारोपण किसके द्वारा लगाया जाता है ? तथा समाज के अन्तःकरण से उनका क्या तात्पर्य है ?

डॉ. प्रसाद अपने लेख में (पृ. ७४, पैरा २) लिखते हैं कि "व्यक्ति के लिए कौन सी क्रिया न्यायसंगत है तथा कौन सी अन्यायसंगत, इसका निर्णय तो खुद व्यक्ति को ही लेना होगा ।" इसी प्रकार (पृ. ७५,पैरा ३) लिखते हैं कि "न्याय का स्वरूप वैसा ही होगा, जैसा न्यायी चाहेगा ।" डॉ. प्रसाद इन पंक्तियों के माध्यम से क्या कहना चाहते हैं, वह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है । उनकी ये पंक्तियाँ न्याय की अवधारणा की व्यक्तिनिष्ठता की ओर संकेत करती हैं । किसी एक क्रिया की न्यायसंगतता अथवा अन्यायसंगतता पर विभिन्न व्यक्तियों का अलग-अलग दृष्टिकोण हो सकता है । कोई अमुक क्रिया को न्यायसंगत बता सकता है तो अन्य उसी क्रिया को अन्यायसंगत करार दे सकता है। तब ऐसी स्थिति में न्याय की परिभाषा पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ हो जायेगी और जिसे जो न्यायपूर्ण लगेगा, वह करेगा । फिर यदि व्यक्ति स्वयं ही यह निर्णय कर ले कि उसकी कौन सी क्रिया न्यायसंगत है तथा कौन सी अन्यायसंगत तब फिर विधि तथा विधि के आधार पर मूल्यांकन करने वाले न्यायालयों की अपेक्षा ही नहीं रहेगी, तब तो प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुसार न्यायपूर्ण क्रिया ही करेगा, किन्तु ऐसा नहीं है, विधि तथा न्यायालयों का अस्तित्व इस ओर इंगित करते हैं कि व्यक्ति की क्रिया आत्मारोपित होते हुए भी अन्यायसंगत करार दी जा सकती है । यद्यपि डॉ. प्रसाद का यह कहना उचित है कि व्यक्ति की क्रिया आत्मारोपित होनी चाहिए, किन्तु वास्तव में देखा यह जाता है कि उस क्रिया के प्रति सार्वभौमिकता का भाव नहीं होता है । उदाहरणार्थ – समान परिस्थितियों में क्रिया A को X व्यक्ति का अन्तःकरण न्यायसंगत मान सकता है जबकि Y व्यक्ति का अन्तःकरण उसे अन्यायसंगत करार दे सकता है । इसी प्रकार दो विपरीत क्रियाओं A और B को X और Y दो व्यक्तियों का अन्तःकरण न्यायसंगत अथवा अन्यायसंगत करार दे सकता है ।

डा. प्रसाद लिखते हैं (पृ. ७५,पैरा ३, पंक्ति ४) कि "व्यक्ति या समाज को न्यायी इसलिए होना चाहिए कि यह उसके अन्तःकरण की माँग है ।" यहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर डॉ. प्रसाद न्याय के सम्बन्ध में क्यों प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करते हैं जबकि (पृ. ७२, पैरा २) में वे यह स्वीकार करते हैं कि ''न्याय से सम्बन्धित क्यों प्रश्न का उत्तर देना कठिन है क्योंकि यह प्रश्न परोक्ष रूप से तत्त्वमीमांसा और प्रयोजन की ओर अग्रसर करता है'', किन्तु उनके द्वारा अन्तःकरण की माँग को न्यायी होने का आधार मानना भी प्रश्नों की एक श्रृंखला को जन्म देता है, जैसा- अन्तःकरण क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? यदि यह स्वीकार कर लिया जाये कि व्यक्ति में अन्तःकरण नाम की कोई शक्ति है, तब प्रश्न उठता है कि हम अन्तःकरण की माँग को क्यों स्वीकार करें ? यदि इस आधार पर कि वह हमें उचित निर्णय प्रदान करता है तो हम यह कैसे स्वीकार करें कि अन्तःकरण सदैव ही हमारा उचित मार्गदर्शन करता है ? हो सकता है कि अन्तःकरण की जो माँग हो, वह व्यक्ति के सम्बन्ध में न्याय संगत हो, किन्तु उसे सार्वभौमिक बनाना असम्भव हो ।

व्यक्ति के जीवन की महत्ता को स्वीकार करते हुए डॉ. प्रसाद लिखते हैं कि (पृ. ७७, पैरा १) ''व्यक्ति को स्वतः साध्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए ।'' ''प्रत्येक व्यक्ति को उसका देय मिलना ही चाहिए।'' क्या विद्वान् लेखक यह बतलाने का कष्ट करेंगे कि देय का निर्धारण कौन करेगा तथा देय का आधार क्या होगा ? क्या व्यक्ति की शारीरिक क्षमताओं को या बौद्धिक क्षमताओं को देय का आधार बनाया जाय ?

डॉ. अरुण कुमार प्रसाद का लेख, जैसाकि हमने आरम्भ में कहा, सामाजिक न्याय की अवधारणा का युक्त दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है । किन्तु कुछ जगहों पर हम उनसे अपने को असहमत पाते हैं और इन्हीं असहमतियों को हमने आपत्तियों अथवा प्रश्नों के रूप में प्रस्तुत किया है । ऐसा सम्भव है कि आपत्तियाँ अथवा प्रश्न पूर्णतः उपयुक्त न हों अथवा भ्रान्तिमूलक हों । हो सकता है, हमने डॉ. प्रसाद की सामाजिक न्याय विषयक अवधारणा को ठीक से न समझा हो । अतः अनभिज्ञता में हुई भ्रान्तिमूलक आलोचनाओं अथवा प्रश्नों के लिए क्षमायाचना के साथ तथा आपके प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा में ।

संतोष चौहान

दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

-३-

धर्म और वैज्ञानिक दृष्टिकोण : एक प्रतिक्रिया

परामर्श (खण्ड-२२, अंक ४, सितंबर २०००) में प्रकाशित डा. वेद प्रकाश वर्मा का लेख 'धर्म और वैज्ञानिक दृष्टिकोण' न केवल स्पष्ट, तर्कपूर्ण व सुलझी दृष्टि का परिचायक है अपितु वर्तमान युग की एक ज्वलंत समस्या - विभिन्न धर्मावलम्बियों के आपसी संघर्ष का हल प्रस्तुत करने के प्रयत्न के कारण अत्यंत प्रासंगिक भी । धर्म के प्रचलित सामान्य अर्थ को उसके नैतिक अर्थ से अलग करके लेखक ने प्रारम्भ में ही उस भ्रमजाल को काट दिया है जो इस विषय पर तमाम बहसों के उलझाव के केन्द्र में है। हमारे यहाँ यह हमारा 'धर्म' बनाम उनका 'रिलीजन' के रूप में पेश की जाती रही है। दरअसल, धर्म के नैतिक अर्थ का सहारा उसके प्रचलित अर्थ की कुरूपता को ढकने का प्रयत्न मात्र है जो समस्या से दो-चार होने के स्थान पर उससे निगाह फेर लेता है। कहीं यह अपने धर्म की श्रेष्ठता के अहंकार की ओर भी इंगित करती है जो धर्मों के संघर्ष के मूल में है। चूँकि आज यह आशंका व्यक्त की जा रही है कि अगला विश्व युद्ध विभिन्न धार्मिक सम्भताओं के बीच होगा, इसलिये इस विषय को उठाने के लिये लेखक तो साधुवाद के पात्र हैं ही, हमें इससे जुडे अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर भी विचार अपेक्षित हैं।

यदि धर्म का उद्गम प्राचीन मानव के भय और अज्ञान में है तो निश्चय ही विज्ञान के विकास के साथ-साथ धर्म की पकड ढीली हो जानी चाहिये थी जबकि ऐसा नहीं हुआ, क्यों ? कहीं ऐसा तो नहीं कि धर्म हमारी किन्हीं अन्य जैविक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक जरूरतों को पूरा करने का एक सशक्त माध्यम होने के कारण आज भी अधिसंख्यकों के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है शायद इस प्रश्न का उत्तर धर्म के दर्शनशास्त्र के स्थान पर हमें धर्म के मनोविज्ञान या धर्म के समाजशास्त्र में खोजना चाहिये। किन्तु यहीं पर लेखक का यह कथन कि "वस्तुतः धर्म पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार विचार करना और इस दृष्टिकोन के अनुरूप उसकी कोई संतोषप्रद वैज्ञानिक व्याख्या करना सम्भव प्रतीत नहीं होता" (पृ.५८), उचित नहीं जान पडता क्योंकि धार्मिक व्यवहार मानव के समस्त व्यवहार का एक अंश मात्र है जिसका अध्ययन भी वैज्ञानिक दृष्टिकोन

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २२ अंक २, मार्च २००१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से उतना ही औचित्यपूर्ण है जितना कि किसी अन्य प्रकार के व्यवहार का। सामाजिक-जीवशास्त्र ने इस विषय में कुछ महत्त्वपूण खोजें भी की हैं।

मानव व्यवहार के वैज्ञानिक अध्ययन से यह बात सामने आयी है कि यह जितना तार्किक है उससे ज्यादा अतार्किक है। अतः लेखक का यह मत कि विभिन्न धर्मों के सम्बध में तथ्यात्मक जानकारी द्वारा धार्मिक असहिष्णुता को समाप्त या कम किया जा सकता है (पृ. ५९), अपने में काफी नहीं जान प्रडता यद्यपि उनकी उपादेयता से इन्कार भी नहीं किया जाना चाहिये। कुछ और भी अपेक्षित है, पर क्या ? इसका निर्णय धर्म और हिंसा के सम्बधों की व्यापक जाँच-पडताल से ही सम्भव है। तभी हम जान पायेंगे कि धर्म किस तरह हिंसा का जनक, वाहक और वैधता प्रदान करने का कार्य करता है (देखे : ''धर्म और हिंसा : अन्तर्सम्बन्धों की खोज'', आलोक टण्डन, पश्यन्ती, जुलाई-सितम्बर, १९९४ पृ. १३२-१३५)। यह सच हैं कि धर्म से जुडी हिंसा आज, धार्मिक पुनरुत्थानवाद के राजनैतिक प्रक्रिया से जुडे विभिन्न रूपों से सम्बधित है जिसमें विभिन्न धार्मिक समुदायों की पहचान को उभारकर उसे साम्प्रदायिक विचारधारा तक पहुँचाने में कट्टर राजनैतिक संगठनों की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। किन्तु कोई भी राजनैतिक विचारधारा शून्य से नहीं उभरती, उसे एक मनो-सामाजिक आधार की जरूरत होती है, धर्म ऐसा ही एक आधार प्रस्तुत करता है।

धर्म के विषय में वैज्ञानिक दृष्टिकोन की सीमा इस बात से और भी स्पष्ट हो जाती है कि विज्ञान-प्रोद्योगिकी आधारित जिस सभ्यता का विकास पिछले कुछ सौ सालों में हुआ है उसने जो नयी असुरक्षायें पैदा की हैं उनका विज्ञान के पास कोई समुचित समाधान नहीं है। आज न केवल वैज्ञानिक विधि पर प्रश्न उठ खडे हुये हैं अपितु उस नैतिक शून्य का बीहड सन्नाटा भी हमारे सामने है जिसका कोई उत्तर विज्ञान हमें नहीं देता। विकास के नाम पर जिस भोगवादी जीवन शैली से हम आक्रान्त हैं उसने हमारे सम्बधों का ताना-बाना एकदम छितरा दिया है। ऐसे में प्रतिक्रिया स्वरूप धार्मिक पुनरुत्थानवाद का उदय, आकर्षण और सफलता एक ऐसी सच्चाई है जिसने मूल्यों के प्रश्न को केन्द्र में ला दिया है। यदि विज्ञान का दृष्टिकोण मूल्यात्मक न होकर तथ्य परक ही होता है (पृ.५५) जबकि धर्म का सम्बंध अनिवार्यतः मूल्यों से है (पृ. ५४) तो मूल्यों के संकट के समाधान के लिये क्या किया जाय ? क्या मूल्यों के प्रश्न को धर्म से विलग किया जाना चाहिये, किया जा सकता है ? यदि हाँ तो कैसे ? जबकि धर्म में अनास्था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखने वालों की संख्या हमेशा से बहुत कम ही रही है, आज भी है।

एक प्रश्न और है जिसकी ओर भी ध्यान दिलाना समीचीन होगा। धर्म और विज्ञानसे जुडी बहसों में अक्सर समझोते के रूप में अध्यात्म को प्रस्तुत किया जाता है जोकि, जैसा कि स्थापित किया जाता है, सभी धर्मों के मूल में है। क्या अध्यात्म की कोई अवधारणा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ तर्कसंगत है? यदि हाँ, तो क्या अध्यात्म की उस मूल अवधारणा को विभिन्न धर्मों के संस्थागत कर्मकाण्डीय रूप से अलगाना सम्भव है? यदि नहीं तो कैसे यह सम्भव होगा कि अध्यात्म विभिन्न धर्मों का प्रभावी स्वर बन सके?

ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक विश्वास एवं रीति-रिवाज बदलते रहते हैं किन्तु धार्मिक प्रतीकों, कर्मकान्डों, संस्थाओं के सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने व जीवन को अर्थ देने के प्रकार्य बने रहते हैं। जब तक इनका कोई स्थापन्न हम नहीं ढूँढ लेते, किसी न किसी रूप में धर्म हमारे साथ बना रहेगा, चाहे उसके मूल विश्वास विज्ञान सम्मत हों, न हों। लेकिन उसे खुली छूट देना भी खतरनाक होगा। धर्म को सांस्कृतिक अस्मिता का मूलाधार समझना भारी भूल है। आज जरूरत एक ऐसे आलोचनात्मक विवेक को विकसित करने की है जो विज्ञान और धर्म, दोनों का समुचित मूल्यांकन, मानवीय आवश्यक्ताओं, उद्देश्यों की दृष्टि से कर सके। दर्शन के सामने यह भारी चुनौती है किन्तु क्या हमारा दार्शनिक समुदाय इनके लिये तत्पर है?

५३, अशराफ टोला
हरदोई (उ. प्र.) २४१००१

डा. आलोक टण्डन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

समाज-जीनव में व्यावहारिकता और प्रगति इनमें आजकल विशेष भेद नहीं किया जा रहा है। किस हद तक इन के अभेद को हम स्वीकार कर सकते हैं ? व्यावहारिकता का एक अर्थ होता है अपने आदर्शों से समझौता कर के कार्य को सफल करना। जब जीवन को व्यावसायिकता के अंग से देखा जाता है तब व्यावहारिकता का पक्ष उभर आता है। तत्त्व और व्यवहार में भी एक विशेष द्वन्द्व होता है। वास्तव में उनका एकरूप होना ही अभीप्सित है। लेकिन उन में अंतर आ जाता है। यह अंतर जितना अधिक हो उतना मनुष्य तथा समाज के चरित्र के बारे में गंभीरता से सोचने की जरुरत होती है। असल में तत्त्व और व्यवहार इन में केवल संदर्भानुकूल शाब्दिक भेद ही है। तत्त्व का स्वरूप अमूर्त तथा वैचारिक है और व्यवहार ठोस तथा कृतिरूप है। तत्त्व और व्यवहार में अगर भेद है तो उसका मतलब यही होगा कि वह तत्त्व प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है और जो व्यवहार है वह किसी अन्य तत्त्व का आविष्कार है। अतः तत्त्व और व्यवहार में संगति होना चरित्र है। किसी कार्य का सफल होना यह उसका व्यावहारिक पक्ष होने के बावजूद भी उस के साररूप तत्त्व का आविष्करण ही उसका सफल होना है। व्यावहारिक सफलता के लिए तत्त्वों में परिवर्तन या तत्त्वों की उपेक्षा अपेक्षित नहीं है। कितने कार्य होते हैं और वे किस तरह संपन्न होते हैं इस पर प्रगति का परिणाम निर्भर नहीं करता है। कोई भी कार्य किसी न किसी तत्त्व का प्रत्यक्ष रूप है। उस तत्त्व की महत्ता पर ही उस कार्य की सफलता निर्भर होती है। कार्यों की संख्यात्मक बहुलता को प्रगति का परिणाम मानना बडी भूल है। किसी भी तत्त्व की मूलगामिता तथा दूरान्वेषी परिणामकारकता उसे गहन बनाती है। तत्त्व का संदर्भ निहायत रूप से मनुष्य का जीवन होना अपेक्षित है। जीवनप्रवाह से ही तत्त्व उभर आते हैं और जीवनप्रवाह को उसके अगले मोड पर अधिक सार्थक एवं बलशाही बनाते हैं। व्यवहार जीवन का व्यक्त रूप है। उस के पीछे जो संकल्प या तत्त्व होता है उसी की अभिव्यक्ति व्यवहार में होती है। अतः शुभसंकल्प महत्त्वपूर्ण होता है। केवल शुभ-संकल्प से ही काम नहीं चलेगा। संकल्प के अभिव्यक्त करने के लिए सामर्थ्य चाहिए। इस सामर्थ्य का एक पहलू सृजनशीलता भी होता है। व्यक्ति चरित्र की धारणा से यह सामर्थ्य प्राप्त होती है। सामर्थ्य के लिए उचित दिशा तथा दृष्टि होना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। इन सभी बातों को हमें सामाजिक जीवन में बडे गौर से देखना पडता है। तभी समाज का,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक संस्थाओं का चरित्र बनता है।

प्रगति को नापने के लिए आधार तो अवश्य ही व्यवहार का ही रहेगा। लेकिन व्यवहार को भली भाँति परखकर ही नापा जा सकता है। व्यावहारिक पक्ष से जो लाभ होता है वह प्रत्यक्ष भले ही हो, वह हितप्रद होने की संभावना भी देखनी जरूरी है। जीवन ही सभी घटनाओं तथा क्रियाकलापों का केंद्र है। जीवन के लिए जो कुछ भी हितकारक एवं उपकारक है वही प्रगति के लक्षण का चिह्न है। जिस व्यवहार से व्यापक परिधि में या दीर्घ कालक्रम में जीवन के लिए कोई भी हितकर या मूलगामी न हो ऐसे व्यवहार प्रगति के लक्षणचिह्न नहीं माने जाएँगे। समाज के बारे में जब देखा जाता है तब यह भी देखना चाहिए कि क्या किसी सीमित अंशतक समाज का हित मर्यादित है? जीवन की व्याप्ति के लिए कोई सीमा नहीं है। समाज में अगर हित सीमित है, किसी अंश तक या काल तक, तो वह असल में हित नहीं है। जिन संकल्पों या तत्त्वों के उन्मेष का स्रोत जीवन है और सर्वानुगामी व्यापक जीवन है उन से आविष्कृत व्यवहार समाज की उन्नति के लिए प्रेरक तथा सहाय्यभूत साबित होंगे। यह दृष्टि व्यावहारिकता के पक्ष पर बल देने की वृत्ति को पनपने नहीं देगी। तत्त्व और व्यवहार का समन्वय तथा संतुलन ही प्रगति को संभव बना पाएगा। चिंतन की प्रक्रिया से साररूप जो संकल्प तथा तत्त्व उभर आते हैं उन को प्रत्यक्ष में लाने के प्रयत्न करना मनुष्य-जीवन का क्रम है। इस जीवनक्रम में मनुष्य का अपना चिंतन, अपनी दृष्टि उस में मोड लाते हैं, रोक लगाते हैं या रोकथाम तोड भी देते हैं। मनुष्य का केंद्र में होना इस जीवनक्रम की विशेषता है। अतः इस जीवनक्रम को सफल तथा हितकारी होने के लिए उस के केंद्र में स्थित मनुष्य के चरित्र का होना, संपन्न चरित्र का होना, उतना ही जरूरी है। अब हमें देखना है कि हमारे सामाजिक जीवन की परिधि में हमारा चरित्र किस तरह बनना-बिगडता या उभरता-बुझता नजर आता है।

सुभाषचन्द्र भेलके

पत्रिका के खंड २१ अंक ४ के लेख 'धर्म और वैज्ञानिक दृष्टिकोण' (पृ. ४९-५९) के लेखक का नाम गलत छपा है। सही नाम है : डॉ. वेदप्रकाश वर्मा। गलती के लिए हमे खेद है।

– संपादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माया के तार्किक निहितार्थों का दार्शनिक अवलोकन*

माया का सिद्धान्त दार्शनिक जगत् का यक्ष प्रश्न है। अगर हम इसका उत्तर देते हैं तो कैठिनाई में पड जाते हैं और अगर हम इसका उत्तर नहीं दे पाते तो हमारी दार्शनिक मान्यताएँ अस्पष्ट रह जाती हैं। इसके लिए हमें माया के खण्डन-मण्डन से ऊपर उठकर उसके तार्किक निहितार्थ को समझना होगा। उसके कथनों और मन्तव्यों का दार्शनिक अवलोकन करके अपने सामने उसका एक ऐसा दार्शनिक-तार्किक निहितार्थ स्पष्ट करना होगा जो हमारी दार्शनिक समस्याओं का यथातथ्यात्मक निरूपण और समाधान प्रस्तुत कर सके।

माया की अवधारणा को विश्व की व्याख्या के लिए भारतीय दर्शन के चिन्तन का तर्कसंगत परिणाम माना जाता है । माया के तार्किक निहितार्थों के उद्घाटन के साथ-साथ इस तथ्य का दार्शनिक अवलोकन भी आवश्यक है। आचार्य शंकर और श्री अरविन्द अद्वैतवादी और पूर्ण अद्वैतवादी चिन्तन के दो प्रतिभान दार्शनिक हैं। इनके दर्शनों के सन्दर्भ में यदि हम माया के तार्किक निहितार्थों का अवलोकन करते हैं तो इससे शांकर वेदान्ती और समकालीन भारतीय चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में माया के दार्शनिक अवदान, प्रभाव और परिणामों का एक अपेक्षाकृत अधिक युक्तिसंगत विवेचन सम्भव हो सकेगा। इस प्रक्रिया में दार्शनिक दृष्टिकोण की व्याख्या के अतिरिक्त लेखक के स्पष्टीकरणों, उसकी टीकाओं और अभिवचनों से विषय की तारतम्यता और गवेषणा को अधिकाधिक जीवंत बनाये रखने और स्पष्ट करने में भी सहायता मिलेगी।

माया के शाब्दिक अर्थ से उसके दार्शनिक विवेचन की ओर बढने से पहले हमें उस प्रश्न के क्षितिज की ओर भी संकेत करना होगा जिससे माया का सीधा सम्बन्ध है। माया की सहायता वहाँ ली जाती है जहाँ जगत् की व्याख्या का प्रश्न, असीम चेतना के अन्दर से एक ससीम जगत् की सृष्टि का प्रश्न सामने आता है। हमें एक ऐसे सिद्धान्त की आवश्यकता होती है जो असीम सत्ता से ससीम रूपों को बना सके। स्पिनोजा के पर्याय-सिद्धान्त की कठिनाइयों से हमें एक मध्यवर्ती वरणात्मक (चयनकारी) सिद्धान्त की आवश्यकता की शिक्षा मिलती

*परामर्श (हिन्दी) खण्ड २२ अंक ३, जून २००१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है । ज्ञान का यह मध्यवर्ती वरणात्मक (चयनकारी) सिद्धान्त किसी भी प्रकार से मन के रूप में नहीं हो सकता क्योंकि सत्ता को निरंकुश (स्वच्छन्द) विभाजन के द्वारा विकृत कर देने के कारण मन संभ्रमवाद या मायावाद की ओर ले जायेगा। अतः हमें ऐसे एक दार्शनिक सिद्धान्त की आवश्यकता होती है जो शांकर वेदान्त या प्लेटो की कठिनाइयों से मुक्त हो। शांकर वेदान्त या प्लेटो की त्रुटि इस विचार में है कि सर्जनात्मक सिद्धान्त परम तत्त्व से कोई भिन्न वस्तु है। इसका परिणाम यह हुआ कि (जैसा शांकर वेदान्त में है) या तो जगत् को असत्य मान लिया गया (जैसा प्लेटो में है) या तंत्र की एकता नष्ट हो गयी और परम सिद्धान्त स्रष्टा और जगत् अलग-अलग हो गये। यही वह बिन्दु है जहाँ दार्शनिकों की अक्षौहिणी सेना दार्शनिक समस्याओं के दलदल में फँसकर डूब जाती है । इसीलिए माया के तार्किक निहितार्थों का दार्शनिक अवलोकन आवश्यक हो जाता है।

यदि शाब्दिक अर्थ या शब्द की व्युत्पत्यात्मक दृष्टि से देखें तो माया शब्द दो अक्षरों से बना है 'मा' और 'या'। 'मा' का अर्थ 'नहीं' और 'या' का अर्थ 'जो' होता है। इस प्रकार 'जो नहीं हैं' वह माया है। इस दृष्टि से माया एक अभावात्मक और निषेधात्मक प्रत्यय है।

किन्तु वेद और उपनिषदों में माया को भावात्मक और स्वीकारात्मक प्रत्यय के रूप में ग्रहण किया जाता है। वहाँ इसका अर्थ परमार्थ तत्त्व की वास्तविक शक्ति है। कुछ एक स्थलों पर माया के अन्यान्य अर्थ प्रयोग भी हैं। किन्तु उनके मन्तव्य सहज रूप में शाब्दिक नहीं हैं। विभिन्न अर्थ-प्रसंगों में माया के विभिन्न अर्थ प्रयोग हैं। हम उसकी व्याप्ति भावात्मक और स्वीकारात्मक अर्थ में प्रकट करके ही उसकी सार्थकता को स्पष्ट कर सकते हैं। दार्शनिक प्रश्नों का समाधान माया के सर्जनात्मक और वास्तविक शक्ति के अर्थ में ही निहित है।

ज्ञान का प्राचीनतम दस्तावेज ऋग्वेद 'माया' का बार-बार उल्लेख करता है। उसका सबसे प्रसिद्ध वाक्य है - 'इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते'[१] अर्थात् इन्द्र माया शक्ति से अनेक रूप धारण कर लेता है। बृहदारण्यक उपनिषद् यद्यपि यजुर्वेद का एक अंश है फिर भी उसने ऋग्वेद के इस प्राचीन मंत्र का नये प्रसंग और नये अर्थ में प्रयोग किया गया है। जिसके अनुसार ईश्वर माया से अनेक रूप प्रतीत होता है। उसके शरीररूपी रथ में शत और दश इन्द्रियरूपी घोडे जुड़े हुए हैं।[२] यहाँ माया ऐसी शक्ति है जो विभिन्न रूप धारण करती है। यह जीव से लेकर जगत् तक विभिन्न रूपों में व्याप्त है। माया का इस अर्थ में व्याख्यान यह प्रमाणित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है कि माया दैवी, सर्जनात्मक और वास्तविक शक्ति है। उपर्युक्त सन्दर्भ का वेदान्त के आचार्यों के द्वारा अन्य भावार्थों में भी व्याख्यान किया गया है जिसमें से एक इस प्रकार है जहाँ कहा गया है कि सर्वव्यापक चिद्रूप परमात्मा प्रत्येक शरीर में निहित बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर जीवभाव को प्राप्त होता है। घर के अन्दर रखे जल में आकाश की छाया की भाँति शरीर में उपस्थित बुद्धि में जो चिदाभास है वही जीव हैं। परमात्मा का वह प्रतिबिम्बस्वरूप जीवात्मक बिम्ब स्थानीय परमात्मा के यथार्थ बोध के लिए है। ऐश्वर्यशाली वह परमात्मा माया और माया की अन्तर्शक्तियों के द्वारा आकाशादि विविध रूपों में परिणत होकर नानारूप ब्रह्माण्ड की रचना करता है।[३] इस व्याख्या में शांकर की झलक मिलती है क्योंकि इसमें बुद्धि के चिदाभास को जीव कहा गया है और जीव परमात्मा का प्रतिबिम्ब-स्वरूप है। यहाँ चित्त का आभास और बिम्ब-स्वरूप परम्पात्मा का प्रतिबिम्ब मानकर जीव की यथार्थता पर प्रश्नचिह्न सा लगाया गया है।

श्वेताश्वेतर उपनिषद् में कहा गया है कि वेद, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, भविष्य और वर्तमान तथा और भी जो कुछ वेद बतलाते हैं, वह सब मायावी ईश्वर इस अक्षर से ही उत्पन्न करता है और उस प्रपंच में ही माया से अन्य-सा होकर बँधा हुआ है।[४] इससे स्पष्ट है कि समस्त देश-काल और कार्य-कारण सहित जगत् उस परमेश्वर से रचित है जो माया-शक्ति का धारणकर्ता है, और माया के कारण ही जीव ब्रह्म से अन्य-सा होकर इस मायामय जगत् में बँधा है। इसी उपनिषद् में आगे कहा गया है कि प्रकृति को माया जानना चाहिए और महेश्वर को मायावी। उसी के अवयवभूत से यह संपूर्ण जगत् व्याप्त है।[५] यहाँ माया के अवयवभूत होने का जो संकेत किया गया है वह लक्षण उसके स्वामी महेश्वर में नहीं है। संभव है माया के अवयवभूत कहने से मंत्र के ऋषि का संकेत प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रज और तम से हो। शांकर वेदान्त में सर्जनात्मक तत्त्व से उसकी सर्जनात्मक शक्ति को पृथक् करके जहाँ दोनों में भेद और द्वैत उत्पन्न किया जाता है उसके बीज की विद्यमानता यहाँ देखी जा सकती है किन्तु शांकर वेदान्त माया के जिस मन्तव्य का विकास करता है वह उसकी निहित दार्शनिक आवश्यकता से उत्पन्न दार्शनिक समस्या का असमाधेय परिणाम है।

यद्यपि आचार्य शंकर के समस्त ग्रन्थों में माया सम्बन्धी विवेचन अनेक स्थलों पर हुआ है, परन्तु मायावाद सम्बन्धी विवेचन की दृष्टि से शंकराचार्य के भाष्यग्रन्थ ही अधिक प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण हैं। उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकर एक बात विशेष महत्त्वपूर्ण रूप से हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती है। प्राचीन उपनिषदों में, ईशोपनिषद् भाष्य के अन्तर्गत माया शब्द की चर्चा एक बार भी नहीं हुई है और ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत केवल एक बार ही माया की चर्चा की गयी है।[६] इनके अतिरिक्ति अन्यान्य उपनिषदों में तथा ब्रह्मसूत्र भाष्य के अन्तर्गत माया की चर्चा का उल्लेख एक से अधिक बार किया गया है।[७] इन स्थलों पर माया का उल्लेख परमेश्वर की शक्ति, अविद्या, इन्द्रजाल और मिथ्यात्व के अर्थ में मिलता है।

शांकर वेदान्त में माया, अविद्या, अज्ञान, अभ्यास, अध्यारोप, विवर्त, भ्रान्ति, भ्रम, सदसदनिर्वचनीयता आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः पर्याय के रूप में किया गया है। इनमें भी अधिकांशतः माया, अविद्या, अज्ञान, अध्यास और विवर्त शब्दों का पर्यायार्थक प्रयोग हुआ है।

शंकर माया और अविद्या का प्रयोग एक ही अर्थ में करते हैं। किन्तु पंचदशी के लेखक विद्यारण्य के अनुसार ईश्वर माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है और जीव ब्रह्म का अविद्या में प्रतिबिम्ब है।[८]

माया की इस पृष्ठभूमि का प्रयोग शांकर वेदान्त में जिस प्रकार से किया गया है उसके विभिन्न अर्थों को एक स्थान पर एकत्र करके डा. राधाकृष्णन ने[९] शांकर वेदान्त में माया के छः प्रमुख निहितार्थों का उल्लेख किया है। (१) चूँकि यह जगत् अपनी व्याख्या अपने-आप नहीं कर सकता इसी से इसका आभास स्वरूप प्रकट होता है और यही भाव माया शब्द से ध्वनित होता है (२) ब्रह्म तथा जगत् के मध्य की समस्या हमारे लिए एक अर्थ रखती है क्योंकि हम विशुद्ध ब्रह्म के अस्तित्व को प्रेरक के रूप में स्वीकार करते हैं और फिर जगत् के साथ इसके सम्बन्ध की माँग प्रस्तुत करते हैं जिसे हम तार्किक दृष्टिकोण से देखते हैं। हम यह कभी नहीं समझ सकते कि किस प्रकार परम यथार्थ सत्ता अनेकत्वपूर्ण जगत् के साथ सम्बद्ध है क्योंकि दोनों विजातीय हैं और इसीलिए इसकी व्याख्या के लिए किये गये सब प्रयत्नों का असफल रहना आवश्यक है। इसी दुर्बोधता का नाम माया है। (३) यदि ब्रह्म को जगत् का कारण माना जाय तो यह इन्हीं अर्थों में होगा कि जगत् ब्रह्म पर आश्रित है किन्तु ब्रह्म किसी प्रकार भी जगत् से प्रभावित नहीं होता और जो जगत् ब्रह्म पर आश्रित है उसे माया के नाम से पुकारा जाता है। (४) ब्रह्म के जगत् रूप में आभास होने के सम्बन्ध में कारणरूप जिस तत्त्व की कल्पना की जाती है उसे ही माया कहते हैं। (५) यदि हम अपने ध्यान को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यावहारिक जगत् तक ही परिमित रखें और तर्क के विचार-विमर्श का प्रयोग करें तो हमारे सामने एक पूर्ण व्यक्तित्व का भाव आता है, जिसमें आत्म-अभिव्यक्ति की शक्ति है। इस शक्ति का ही नाम माया है। (६) ईश्वर की यह शक्ति उपाधि, अथवा प्रतिबन्ध में परिणत हो जाती है, जो अव्यक्त-प्रकृति है और जिससे समस्त संसार उत्पन्न होता है। यह विषय है जिसके द्वारा सर्वोपरि विषयि अर्थात् ईश्वर विश्व का विकास करता है।[१०]

डा. राधाकृष्णन् के द्वारा किये गये शांकर वेदान्त की माया के तार्किक निहितार्थों का दार्शनिक अवलोकन इतना परिपुष्ट है कि उससे किसी को किसी प्रकार की आपत्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हो सकता किन्तु यह दार्शनिक अवलोकन जहाँ माया की अवधारणा को यथा सम्भव शांकर वेदान्त की दार्शनिक निष्पत्तियों के साथ संगतिपूर्ण ठहराने का प्रयास करता है वहीं क्या यह अवलोकन शांकर वेदान्त के दार्शनिक निष्कर्षों के साथ शंकर की माया की अवधारणा को भी युक्तिसंगत बना पाता है, यह प्रश्न अवश्य शेष रह जाता है। यदि हम शांकर वेदान्त की मूल ध्वनि का अवलोकन करें तो एकमात्र ब्रह्म को छोडकर अन्य सभी कुछ, सभी सत्तायें, समस्त अवधारणायें, पारमार्थिक दृष्टि से पारमार्थिक स्तर पर निःशेष हो जाती हैं। उनका कोई मौलिक और सार्थक अस्तित्व या योगदान नहीं रह जाता। किन्तु इस सन्दर्भ में हम शांकर वेदान्त में माया की अवधारणा के तार्किक निहितार्थों का स्वयं कोई आकलन न करके समकालीन भारतीय चिन्तन में श्री अरविन्द के दार्शनिक दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में उनके द्वारा निरूपित माया की अवधारणा का उल्लेख करते हुए फिर दोनों दार्शनिकों की माया की अवधारणा के तार्किक निहितार्थों का एक तुलनात्मक और आचोलनात्मक विवेचन करेंगे जिससे माया के निषेधात्मक और भावात्मक तार्किक निहितार्थ स्वयमेव स्पष्ट हो जायेंगे।

शंकर ने माया के निषेधात्मक स्वरूप और पक्ष को ही प्रस्तुत किया है किन्तु श्री अरविन्द का पूर्णाद्वैतवाद माया की अधिक युक्तिसम्मत और भावात्मक व्याख्या करता है। शंकर के सामने समस्या थी कि किस प्रकार एक एवं अद्वितीय ब्रह्म जो निराकार, निर्विशेष और स्थाणु है, उसके साथ इस अनेकतापूर्ण जगत् का सामंजस्य हो सकता है? इस समस्या का हल करते हुए शंकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्रह्म ही सत्य है और अनेकतापूर्ण जगत् मिथ्या है। उन्होंने मायावाद अथवा अविद्या या अज्ञान के सिद्धान्त का प्रयोग परम सत् ब्रह्म और पूर्णतया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असत् जगत्'[११] को मिलानेवाली कड़ी के रूप में किया किन्तु श्री अरविन्द ब्रह्म और जगत् दोनों को सत्य मानते हैं (ब्रह्म सत्यं जगदमपि सत्यं जीवो ब्रह्मैव नापरः) इसलिए उन्हें सृजनात्मक सिद्धान्त के रूप में अज्ञान या अविद्यारूपी किसी शक्ति की कल्पना नहीं करनी पड़ी। श्री अरविन्द ने अविद्या को सृष्टि की मुख्य कार्यकारी शक्ति के रूप में न लेकर उसे केवल एक गौण या व्युत्पत्तिक शक्ति के रूप में ग्रहण किया जो अपने मूल रूप में ज्ञान या विद्या का बहिष्कार नहीं है बल्कि उसी का एक प्रच्छन्न रूप है। यदि उन्होंने भी शांकर वेदान्त की भाँति अविद्या को ब्रह्म की एक शक्ति के रूप में ग्रहण किया होता तो ब्रह्म के मूल स्वरूप को एकीभूत और अविभक्त बनाये रखना कठिन होता और यदि उसे बनाये रखने का प्रयत्न किया जाता तो शंकर के समान ही अविद्या के स्वरूप की व्याख्या करने के स्थान पर उसे अनिर्वचनीय कहना पडता। श्री अरविन्द शंकर की भाँति अविद्या को जगत् या सृष्टि की बीज-शक्ति नहीं मानते। वह यह भी नहीं मानते कि अविद्या-शक्ति से प्रसूत यह जगत् मिथ्या या भ्रम है। उनके अनुसार ब्रह्म सत्य है, जगत् भी सत्य है और अविद्या, जगत् या सृष्टि की प्रक्रिया में उत्पन्न ब्रह्म-चैतन्य की उद्देश्यमूलक आत्म-विस्मृति है।'[१२]

श्री अरविन्द ने अपने दर्शन में माया का प्रयोग वैदिक अर्थ में किया है। उनके अनुसार वैदिक द्रष्टाओं के लिए माया का अर्थ था अनन्त चेतना की वह शक्ति जो अनन्त सत् के बृहत् असीम सत्य को अपने अन्दर धारण करती है, अन्तर्विष्ट रखती है और उसका परिमापन करती है अर्थात् उसमें से नाम-रूप का निर्माण करती है क्योंकि रूपायित करना ही परिसीमित करना है।'[१३] इस अर्थ में ही माया के द्वारा परम सत्ता का निश्चल सत्य सक्रिय सत्ता का व्यवस्थित सत्य बन जाता है।[१४] कहने का तात्पर्य यह है कि पारमार्थिक सत्ता में जो अभेद चैतन्य विद्यमान रहता है, जिसके कारण प्रत्येक में सब कुछ और प्रत्येक सब कुछ में होता है। श्री अरविन्द के लिए माया शून्य में जाल बुनने वाली कोई अनिर्वचनीय शक्ति नहीं है। वह परम तत्त्व सच्चिदानन्द की एक क्रीडा, एक लीला है। एक से अनेक का रूप धारण करना, सत् का सत् के साथ, चेतना का चेतना के साथ, शक्ति का शक्ति के साथ और आनन्द का आनन्द के साथ क्रीडा हेतु होता है।'[१५]

श्री अरविन्द ने माया दो प्रकार की मानी है - उच्चतर माया और निम्नतर माया अथवा दिव्य माया और अदिव्य माया।[१६] माया का निम्नतर स्वरूप मन, प्राण और शरीर की चेतना के अपरार्ध जगत् में दृष्टिगोचर होता है किन्तु माया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उच्चतर स्वरूप हमारी मानसिक सीमाओं और विभेदकारी मानसिक चेतना के कारण हमसे छिपा रहता है। निम्न स्तर पर माया के कारण मनुष्य को ऐसा लगता है कि वह सब में पृथक्-पृथक् रूप से विद्यमान है, परन्तु सब कुछ उसमें अपृथक् रूप से विद्यमान् नहीं है। उच्चतर माया का स्तर अतिमानसिक चेतना का स्तर है। इसमें प्रत्येक सब कुछ में और सब कुछ प्रत्येक में सह-अस्तित्व रखता है। परार्ध जगत् सत्-चित् (शक्ति) आनन्द से लेकर उच्चतर मन तक का जगत् है। इसकी सृष्टि उच्चतर माया के द्वारा होती है। यहाँ अनेकता की पृष्ठभूमि में एकता का ज्ञान विद्यमान् रहता है। उच्चतर और निम्नतर माया का भेद वस्तुतः परा और अपरा प्रकृति का भेद है। इसमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। इस स्थिति को समझ लेने पर फिर जगत् को मिथ्या, मनोमय या विचारमय नहीं कहा जा सकता। मूल चित्-शक्ति ही अतिमानसिक स्तर पर परा प्रकृति या उच्चतर माया कहलाती है और मानसिक स्तर पर अपरा प्रकृति या निम्नतर माया कहलाती है।

शांकर वेदान्त में केवल अज्ञानमयी माया का ही अस्तित्व है, दिव्य माया या अनन्त ज्ञानमयी माया का अस्तित्व नहीं है। यद्यपि श्री अरविन्द ने भी जगत् को माया कहा है किन्तु उनका कथन माया के उस वास्तविक और भावात्मक तार्किक निहितार्थ को स्पष्ट करता है जो इस सम्बन्ध में माया के परम्परागत कथनों के अर्थ से भिन्न है। जगत् माया है, किन्तु जगत् इस अर्थ में माया (मिथ्या) नहीं है कि उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। यदि माया केवल आत्मा (ब्रह्म) का स्वप्न हो तो भी स्वप्न रूप से आत्मा (ब्रह्म) में इसका अस्तित्व होगा, अन्तिम रूप में मिथ्या होने पर भी वर्तमान में तो उसके लिए यथार्थ ही होगा।

शांकर वेदान्त से मतैक्य रखने वाले आधुनिक चिन्तको में प्रो. मलकानी श्री अरविन्द के माया सम्बन्धी विचारों की आलोचना करते हैं। किन्तु वस्तुतः उनकी आलोचना माया के तार्किक निहितार्थों की समीक्षा पर आधारित न होकर केवल मायावाद का बौद्धिक खण्डन-मण्डन है। हमारा पक्ष या प्रयास शंकर या श्री अरविन्द के सन्दर्भ में माया को सही या गलत सिद्ध करना नहीं है बल्कि शंकर और श्री अरविन्द के दर्शनों के आधार पर माया के तार्किक निहितार्थों पर प्रकाश डालना हैं। माया की जैसी तार्किक और दार्शनिक व्याख्या श्री अरविन्द ने की हैं वह माया के तार्किक निहितार्थों को समझने की दृष्टि से अधिक सहायक है। श्री अरविन्द को भी पूर्णाद्वैतवादी होने के कारण इस समस्या का सामना करना था कि कैसे एक परम स्रोत (ब्रह्म) से जगत् की निष्पत्ति होती है और कैसे ब्रह्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सत्-चित्-आनन्द के साथ अशुभ और ससीम जगत् का समन्वय होता है। श्री अरविन्द ने सत्ता के सर्वव्यापक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए माया के तार्किक निहितार्थों का जो दार्शनिक अवलोकन प्रस्तुत किया है वह न केवल सत्ता के साथ जगत् के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है बल्कि सत्ता से अनेकत्वमय जगत् के स्वरूप को और उसकी प्रक्रिया को भी स्पष्ट करता है। किन्तु टी. आर. वी. मूर्ति के अनुसार श्री अरविन्द मायावाद का निराकरण करके दो विकल्पों में से एक में पड गये हैं। ब्रह्म के अंशतः या पूर्णतः जगत् में रूपान्तरण (अर्थात् ब्रह्म-परिणाम) के विकल्प में अथवा ब्रह्म के असीम और ससीम दोनों पक्षों को समान रूप से सत्य मानने के नम्र विकल्प में। इससे अशुभ और अपूर्णता उतने ही सत्य और अस्थानान्तरणीय बन जाते हैं जितना कि स्वयं ब्रह्म।[१७] वस्तुतः श्रीअरविन्द ने सत्ता और माया की अवधारणा को जिस रूप में प्रस्तुत किया है उसमें इस दोनों विकल्पों को न केवल स्वीकार किया गया है बल्कि इनके माध्यम से सत्ता, जगत् और माया की अधिक तर्कसंगत और व्यावहारिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। श्री अरविन्द के अनुसार माया किसी तथ्य का निषेध नहीं है बल्कि विकास की एक अभिव्यक्ति है। यह ब्रह्म की स्वतन्त्रता और परात्परता को अन्तर्निहित रूप से प्रतिपादित करती है। माया ब्रह्म की परात्परता को जगत् में उसकी अन्तर्व्याप्ति के साथ जोडती है।

पलायन वह अन्तिम वस्तु है जिसे श्री अरविन्द का अनुग्रह प्राप्त है। उनका अनुग्रह आत्मा की सर्वोच्चता में विभंवयुक्त शूरत्व और अडिग विश्वास के अन्दर श्वास लेता है। उन्होंने जगत् को 'मिथ्या' और माया को 'मिथ्याभूता सनातनी' नहीं माना हैं। यद्यपि यह भी कहा जाता है कि माया अलग-अलग सन्दर्भों में अलग-अलग व्यक्तियों के लिए भिन्न अर्थ रखती है। जैसे मुक्त पुरुष के लिए वह तुच्छ है, दार्शनिक के लिए अनिर्वचनीय है और संसारी पुरुषों के लिए वह वास्तविक है[१८] किन्तु ऐसी लोकोक्तियाँ न तो माया के तर्कसंगत दार्शनिक स्वरूप और उद्देश्य को स्पष्ट करती हैं और न जगत् की यथार्थता या सत्ता से जगत् के प्रादुर्भाव के स्वरूप को स्पष्ट करती हैं। श्री अरविन्द कहते हैं कि मायावाद का अर्थ यदि यह हो कि विश्व-सत्ता भ्रम या मिथ्या है तो यह कठिनाइयों को सुलझाने की अपेक्षा उन्हें और अधिक बढ़ा देता हैं, यह विश्व-सत्ता की समस्या का यथार्थ में समाधान नहीं करता अपितु उसे सदा के लिए असमाधेय बना देता है। कारण, माया चाहे कोई मिथ्या (असत्य) वस्तु हो अथवा मिथ्या - यथार्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(असत्य-सत्य) हो, हर प्रकार से मायावाद के अन्तिम परिणामों में सहजभाव से विनाशकारी शून्यीकरण रहता हैं।[१९] ...मायावाद जगत् समस्या की ग्रन्थि को काट देता है, उसे खोलता नहीं है, यह समस्या से जान बचाकर भाग जाना है, उसका सामना करके समाधान करना नहीं है, सम्भवन के इस जगत् में देहधारी जीव के लिए उसकी आत्मा के द्वारा इस जगत् को छोड़ कर पलायन कर जाने में कोई पर्याप्त विजय नहीं है, इसका परिणाम यह होता है कि आत्मा प्रकृति से पृथक् हो जाती है, किन्तु इससे हमारी प्रकृति की मुक्ति और परिपूर्णता नहीं होती।[२०] अतः माया का तार्किक निहितार्थ जगत् को मिथ्या समझना या ब्रह्म की सर्जनात्मक अवास्तविक शक्ति समझना नहीं है। माया को अनिर्वचनीय कहकर उसकी व्याख्या से बच निकलने का प्रयास सत्ता और जगत् के सम्बन्ध की व्याख्या तथा सत्ता से जगत् की उत्पत्ति की व्याख्या करने में सफल नहीं होता बल्कि उसे और असमाधेय बना देता है। श्री अरविन्द कहते हैं कि हम इसके (मायावाद के अभावात्मक स्वरूप के) समर्थन में चाहे कितना ही शब्द-जाल या तर्क-जाल रच लें वास्तव में मायावाद कुछ भी व्याख्या नहीं कर पाता, यह केवल अनिर्वचनीयता का एक मानसिक सूत्र बनकर रह जाता है। उसके लिए अनन्त की शक्ति केवल भ्रमात्मक शक्ति बन जाती है और यह विश्व अनवधारणीय रह जाता है - विश्वव्यापी पागलपन का एक रहस्य - अनन्त की शाश्वत मूर्छना बनी रहती हैं।[२१]

यद्यपि श्रीअरविन्द के लिए सृजनात्मक प्रत्यय वास्तविक प्रत्यय है, अर्थात् चित्-शक्ति की एक ऊर्जा है जो वास्तविक सत्ता को अभिव्यक्त करती है, वास्तविक सत्ता से उत्पन्न होती है और उसकी स्वभावधर्मी है, वह न शून्य की सन्तान है और न कोरी कल्पनाओं का जाल बुनने वाली है।[२२] तथापि उन्होंने यह माना है कि मायावाद के ऐतिहासिक महत्त्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। बौद्ध दर्शन के निषेधात्मक दृष्टिकोण और विशेष कर माध्यमिक सिद्धान्त के सर्वविनाशिकवाद या शून्यवाद की प्रतिक्रिया के रूप में ब्रह्म की सत्ता को पुनः प्रतिष्ठित करके शंकर ने अपने माया-सिद्धान्त के बावजूद जो ऐतिहासिक कार्य किया है वह निःसन्देह प्रशंसनीय है।

डा. अंजनीकुमार सिंह
उपाचार्य,
दर्शनशास्त्र-विभाग,
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यायल,
गोरखपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

* यह लेख १४ अक्टूबर २००० से १६ अक्टूबर, २००० तक विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग - ८२५३०१ बिहार के अखिल भारतीय दर्शन परिषद के ४५ वें अधिवेशन में प्रस्तुत किया जा चुका है।

१. **ऋग्वेद** ६.४७.१८

२. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षण।।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादशेति।।
- **बृहदारण्यक उपनिषद्** २.५.१९

३. कार्यानन्द शर्मा, **भारतीय दर्शन के मूल संप्रत्यय**, पृ. १६२.

४. छन्दासि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि, भूतं भव्यं यच्च वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिश्चान्यो मायया संनिरुद्धः।।
- **श्वेताश्वतर उपनिषद्** ४.९

५. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।।
वही, ४.१०

६. बादरायण कृत **ब्रह्मसूत्र**, ३.२.३

७. केनोपनिषद् भाष्य में माया शब्द की चर्चा लगभग तीन बार, कठोपनिषद् भाष्य में चार बार, मुण्डकोपनिषद् भाष्य में चार बार, प्रश्नोपनिषद् भाष्य में चार बार, ऐतरेयोपनिषद् भाष्य में तीन बार, तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य में दो बार, छान्दोग्योपनिषद् भाष्य में दो बार तथा बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य के अन्तर्गत तीन बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार कुल मिलाकर उपनिषद् भाष्य में लगभग पच्चीस बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है।
गौडपादाचार्य की माण्डूक्यकारिका में भी लगभग पच्चीस बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत लगभग चालीस बार माया सम्बन्धी विवेचन मिलता है। ब्रह्मसूत्र भाष्य के अन्तर्गत लगभग तीस बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है।
माया शब्द के प्रयोग के लिए डा. रामानन्द तिवारी की पुस्तक **शंकराचार्य का आचार दर्शन**, पृ. ८५ द्रष्टव्य है।

८. पंचदशी, १.१६.१७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९. डॉ. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन - II पृ. ४९९-५००

१०. तुलना करें - ईश्वरस्यात्मभूते इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्याम् अनिर्वचनीये संसारप्रपंचबीजभूते..... ईश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलषेते। शांकर भाष्य, २.१.१४.
पुनः देखें - शांकर भाष्य, १.४,३, २.२,२.

११. 'सर्वं च नामरूपादि सदात्मनैव सत्यं विकारजातं, स्वतस्तु अनृतमेव।' देखिये, छान्दोग्य ६.३.२
नाना रूपनामात्मक विषय सत्तारूपेण सत्य हैं, किन्तु अपने विशेष रूप में असत् हैं।

१२. Ignorance is Nature's purposeful oblivion of the self and the All, leaving aside, putting them behind herself in order to do solely what she has to do in some outer play of existence. Sri Aurobindo, **The Life Divine**, p. 582.

१३. This power known to the Vedic seers by the name of Maya. Maya meant for them the power of infinite consciousness to comprehend, contain in itself and measure out, that is to say, to form - for form is delimitation - Name and Shape out of the vast illimitable truth of infinite existence. Sri Aurobindo, **The Life Divine,** p. 115.

१४. It is by Maya that static truth of essential being becomes ordered truth of active being, Ibid, p.115.

१५. Ibid, p. 117.

१६. इसे परा माया और अपरा माया तथा विद्या माया और अविद्या माया भी कहा गया है।

१७. देखें, प्रो. रामशंकर मिश्रा की पुस्तक **'द इण्टीग्रल अद्वैतीज्म ऑफ श्रीअरविन्द'** में प्रो. टी. आर. वी. मूर्ति का आमुख।

१८. तुच्छा अनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रोतृ यौक्तिक लौकिकाः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९. "A theory of Maya in the sense of illusion or the unreality of cosmic existence creates more difficulties than it solves; it dose not really solve the problem of existence, but rather renders it for ever insoluble. For, whether Maya be an unreality or a non-real reality, the ultimate effects of the theory carry in them a devastating simplicity of nullification." Sri Aurobindo, **The Life Divine**. p. 466.

२०. "The theory of Illusion cuts the knot of the world problem, it dose not disentangle it; it is an escape, not a solution : a flight of the spirit is not a sufficient victory for the being embodied in this world of the becoming; it effects a separation from Nature, not a liberation and fulfillment of our nature." Ibid, p. 468.

२१. Sri Aurbindo, **Path Mandir Annual**, 1945, p. 203.

२२. .....it sees the creative idea as Real-Idea, that is to say, a power of Conscious-Force expressive of real being, born out of real being and partaking of its nature and neither a child of the void nor a weaver of fiction. Sri Aurobindo, **The Life Divine**, p. 117.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ट्रैक्टेटस-लॉजिको-फिलॉसोफिकस

यह निर्विवाद सत्य है कि *ट्रैक्टेटस* का तत्कालीन पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन पर सुदूरगामी प्रभाव पडा और यह पुस्तक निरन्तर दार्शनिकों की प्रेरणा का स्रोत बनी रही है।

यह शोध-पत्र लुडविग विटगेन्स्टाइन की पुस्तक *ट्रैक्टेटस-लॉजिको-फिलॉसोफिकस* के प्रमुख दार्शनिक विचारों का विश्लेषणात्मक विवेचन इस उद्देश्य के साथ करता है कि *ट्रैक्टेटस* पर समकालीन शोध एवं दार्शनिक परिचर्चा को अधिकाधिक गहनता एवं सहजता के साथ आत्मसात् किया जा सके। इसका उद्देश्य समीक्षात्मक न होकर *ट्रैक्टेटस* का परिचयात्मक विवरण देना है। यह लेख दो भागों में विभाजित है : भाग (क) *ट्रैक्टेटस* के बारे में सामान्य जानकारी और भाग (ख) *ट्रैक्टेटस* में प्रतिपाद्य दार्शनिक विचारों से सम्बन्धित है।

(क)

प्रतिपाद्य विषय की विविधता, इसकी सूत्रात्मक पद्धति तथा अत्यन्त संक्षिप्तीकरण के कारण यह पुस्तक अत्यन्त दुरूह है तथा अनेकों दार्शनिकों ने इसे त्रुटिपूर्ण ढंग से समझा।

इसमें व्यक्त समस्त विचार को एक दूसरे से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। मैक्स ब्लैक के अनुसार, "*ट्रैक्टेटस* मकडी के एक ऐसे जाले के समान है जिसके लगभग सभी विचार एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।"[१] इस पुस्तक के सूत्रात्मक प्रस्तुतीकरण की तुलना नीत्शे की दार्शनिक पद्धति और इसकी अंकात्मक प्रतिज्ञप्तियों की तुलना स्पिनोजा की नीतिशास्त्र (*इथिक्स*) नामक पुस्तक से की जा सकती है। विटगेन्स्टाइन ने यह स्वीकार किया है कि *ट्रैक्टेटस* को कई दार्शनिकों ने त्रुटिपूर्ण ढंग से समझा। अर्थात् तत्कालीन दार्शनिक यह समझ ही न सके कि *ट्रैक्टेटस* का मूल प्रतिपाद्य विषय क्या है। रसेल, मूर और फ्रेगे के बारे में विटगेन्स्टाइन स्वयं यह कहते हैं कि उन्होंने *ट्रैक्टेटस* को नहीं समझा । ए. जें. एअर, जॉन डब्ल्यू. कुक जैसे दार्शनिकों ने *ट्रैक्टेटस* के प्रति अपने दृष्टिकोण को इस आत्मबोध के बाद परिवर्तित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर दिया कि वस्तुतः *ट्रैक्टेटस* जिस दार्शनिक विचार पर बल देता है वह, वह नहीं हैं जिसे कि वह अब तक समझते आये थे। एअर अपनी पुस्तक विटगेन्स्टाइन में कहते हैं कि "यह अब तक स्पष्ट हो चुका है कि वियना सर्किल, नवीन अंग्रेजी दार्शनिक और मैंने भी *ट्रैक्टेटस* को त्रुटिपूर्ण ढंग से समझा।"[२] इसी प्रकार कुक भी अपनी पुस्तक *विटगेन्स्टाइन्स मेटाफिजिक्स* में विटगेन्स्टाइन को त्रुटिपूर्ण ढंग से समझने की अपनी भूल को स्वीकार करते हैं।

ट्रैक्टेटस के प्राक्कथन में विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि "यह पुस्तक दर्शनशास्त्र की समस्याओं से सम्बन्धित है और यह, यह दर्शाती है कि ये समस्याएँ हमारी भाषा के तर्कशास्त्र को गलत ढंग से समझने के कारण उत्पन्न होती हैं। इस पुस्तक के सम्पूर्ण भाव को निम्नलिखित शब्दों में सारांशित किया जा सकता है : जो कुछ कहा जा सकता है उसे स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है; और हमें उसके बारे में मौन रहना चाहिए जिसके बारे में कुछ कहा ही न जा सके। प्राक्कथन की यही बात पुस्तक की अन्तिम प्रतिज्ञाप्ति, जो कि इसका निष्कर्ष है, कहती है : "जिसके बारे में हम कुछ कह नहीं सकते हैं, उसके बारे में हमें मौन रहना चाहिए।" इस प्रकार, वस्तुतः कथनीय और दर्शनीय के बीच अन्तर स्पष्ट करना *ट्रैक्टेटस* का मुख्य उद्देश्य है। यह पुस्तक दर्शनीय को कथनीय की सीमा की व्याख्या के आधार पर परिभाषित करती है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार यह पुस्तक रसेल के 'प्रकार का सिद्धान्त' (*थिअरी आव टाइप्स*) की निरर्थकता तथा नैतिक सत्यों की अनिर्वचनीयता या अकथनीयता को स्पष्ट करती है। इसके अनुसार 'प्रकार का सिद्धान्त' जिसे प्रतिपादित करना चाहता है उसे केवल समुचित प्रतीकों के द्वारा ही दर्शाया जा सकता है। और जगत् को समष्टि के रूप में देखने पर ही हम नैतिकशास्त्र को समझ सकते हैं। दर्शनीय बात को अकथनीय बनाने के प्रयास से अपलाप उत्पन्न होता है। इसलिए ऐसा करना न केवल तार्किक दृष्टिकोण से अयुक्तिसंग है बल्कि नैतिक दृष्टिकोण से अवांछनीय भी है।

ट्रैक्टेटस की मुख्य विषयवस्तु के बारे में विटगेन्स्टाइन के उर्पयुक्त स्पष्टीकरण को समझना आवश्यक है क्योंकि रसेल इस पुस्तक के अपने परिचय में यह कहते हैं कि इसका सम्बन्ध तार्किक रूप से पूर्ण भाषा (*लॉजिकली परफेक्ट लैंग्वेज*) से है। विटगेन्स्टाइन ने रसेल को एक पत्र में लिखा है कि "कोई भी व्यक्ति इस पुस्तक को नहीं समझ सकेगा; यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि यह स्फटिक (क्रिस्टल)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की तरह स्पष्ट है।''[३] फिकर को लिखे गये अपने एक पत्र में विटगेन्स्टाइन *ट्रैक्टेटस* के मुख्य प्रतिपादक विषय को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि ''.....आप इस पुस्तक को समझ नहीं सकेंगे।''[४]

तार्किक भाववादियों ने इस पुस्तक को अपना मूलग्रंथ माना; हांलाँकि विटगेन्स्टाइन ने *ट्रैक्टेटस* की भाववादी व्याख्या को अस्वीकार कर दिया। शायद इसका कारण यह था कि तार्किक भाववादियों ने जिस ढंग से तत्त्वमीमांसा की आलोचना की, वह विटगेन्स्टाइन को मान्य नहीं था। जेम्स के, फेबलमैन के अनुसार *ट्रैक्टेटस* में तत्त्वमीमांसा एक पूर्वमान्यता के रूप में विद्यमान है। वहँ कहते हैं कि ''*ट्रैक्टेटस* के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि विटगेन्स्टाइन ने इसमें तत्त्वमीमांसा की पूर्वमान्यता की थी, यद्यपि उन्होंने इसके बारे में न तो कुछ कहा और न ही कुछ कहने दिया।''[५] इसी प्रकार मैक्स ब्लॅक भी यह मानते हैं कि ''तत्त्वमीमांसा को (*ट्रैक्टेटस* का) केवल उपांग मानना अत्यन्त गलत होगा वस्तुतः पूरी तत्त्वमीमांसीय निष्कर्षों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना। उनकी पुस्तक को भाववादी विचारों की मानना, जैसा कि वियना सर्किल ने प्रयास किया, अत्यन्त दुराग्रह पूर्ण होगा।''[६] एअर भाववादियों की भूल के बारे में लिखते हैं कि ''हमने यह मान लिया था कि उन्होंने (विटगेन्स्टाइन ने) तत्त्वमीमांसा को अनुपयोगी माना जबकि, जहाँ तक उन्होंने तत्त्वमीमांसा को ''रहस्य'' माना और इसमें मूल्यगत निर्णय तथा जीवन के अर्थ की प्रशंसा को शामिल किया, उनका दृष्टिकोण काण्ट की तरह था, जिनकी तत्त्वमीमांसा की आलोचना का उद्देश्य आस्था के पक्ष में ज्ञान के क्षेत्र की सीमा को सीमित करना था।''[७]

ट्रैक्टेटस के दुरूहपन तथा दार्शनिकों द्वारा इसकी त्रुटिपूर्ण व्याख्या का भान विटगेन्स्टाइन को पहले से ही था। ऐसा प्रतीत होता है कि इसीलिए वह *ट्रैक्टेटस* के प्राक्कथन में कहते हैं कि ''सम्भवतः यह पुस्तक केवल ऐसे व्यक्ति के द्वारा ही समझी जा सकेगी जो कि इसमें व्यक्त विचारों या इसमें व्यक्त विचारों के समान विचारों को रखता है।'' अपनी पुस्तक *ट्रैक्टेटस* के बारे में विटगेन्स्टाइन के इस कथन के बारे में एफ. पी. रैमसे लिखते हैं कि ''अपनी पुस्तक के बारे में उनका (विटगेन्स्टाइन का) यह दृष्टिकोण नहीं है कि कोई भी व्यक्ति इसके अध्ययन से उनके विचारों को समझ लेगा बल्कि यह है कि कोई न कोई व्यक्ति, किसी न किसी दिन स्वतः इन विचारों को सोंचेगा और यह जानकर उसे अत्यन्त खुशी होगी कि इस पुस्तक में उसके अपने विचारों की अभिव्यक्ति हुयी है।''[८]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि विटगेन्स्टाइन ने *ट्रैक्टेटस* को प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान लिखा और १९१८ में पूरा किया था फिर भी इसके कतिपय विचारों को १९१३ या उससे भी पहले का माना जा सकता है जबकि विटगेन्स्टाइन पर फ्रेगे और शॉपेनआवर का प्रभाव था। अगस्त १९१८ में इस पुस्तक की पाण्डुलिपि पूरी करने के पश्चात्, अपने अनथक प्रयासों के बावजूद, वह इस पुस्तक को प्रकाशित न करा सके। जर्मन भाषा में लिखी गई यह पुस्तक रसेल के प्रयासों से सर्वप्रथम *एन्नालेन डेर नेचुर फिलॉसोफि* नामक जर्मन दार्शनिक पत्रिका में १९२१ में *''लाजिश्च फिलॉसोफिश्च एभान्डलुंग''* के नाम से प्रकाशित हुयी। इस पुस्तक को विटगेन्स्टाइन सदैव इसी नाम से सम्बोधित करते रहे। परन्तु वह इसकी छपाई की त्रुटियों से अत्यन्त मायूस हुए। सी. के. आग्डेन और एफ. पी. रैमसे ने इसका प्रथम अंग्रेजी अनुवाद करके नवम्बर १९२२ में विटगेन्स्टाइन की सहमति से *ट्रैक्टेटस -लोजिको-फिलॉसोफिकस* के नाम से प्रकाशित कराया। इसका द्वितीय अंग्रेजी संस्करण जून १९२३ में प्रकाशित हुआ जिसमें विटगेन्स्टाइन द्वारा, रैमसे से वार्तालाप के दौरान, सुझाए गये प्रथम संस्करण पर कई संसोधनों को समाहित किया गया है। डी.एफ. पियर्स और बी. एफ. मैकगुनेस ने इसका अंग्रजी अनुवाद करके १९६१ तथा अपने इस अनुवाद का संशोधित संस्करण १९७४ में प्रकाशित कराया।

जिन दार्शनिक समस्याओं का *ट्रैक्टेटस* में उल्लेख हुआ है उनका अस्तित्व *ट्रैक्टेटस* के पहले से ही रहा है। दूसरे शब्दों में, अन्य दार्शनिकों के विचारों ने *ट्रैक्टेटस* को प्रभावित किया। इस प्रकार के दार्शनिकों को प्रायः छः भागों में बाँटा जाता है:

१. क्राउस और फिकर की पत्रिकाओं से विटगेन्स्टाइन परिचित थे। वह ब्रेनर सर्किल के उन विचारों से भी परिचित थे जो नीतिशास्त्र, भाषा, कला और प्रतीकों के बारे में थे।

२. हेनरिक हर्टज की *प्रिन्सिपल्स आव मैथमैटिक्स*।

३. किर्केगार्ड की *कन्सर्निंग अनसाइन्टिफिक पोस्टस्क्रिप्ट* में वर्णित व्यक्तिनिष्ठता।

४. शॉपेनआवर जिन्होंने जगत् को संकल्प और पुनर्प्रस्तुतीकरण की तरह वर्णित किया और जिनके लिए नीतिशास्त्र का तात्पर्य था अनुराग और आचरण की पवित्रता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५. टाल्स्टाय जिनके *ग्रास्पल्स* ने जीवन तरीकों को अकथनीय ढंग से प्रस्तुत किया।

६. फ्रेगे और रसेल जिनके नये तर्कशास्त्र (*न्यू लॉजिक*) ने विश्लेषण की दिशा में दार्शनिक विचारों को आकर्षित किया।

विटगेन्स्टाइन ने *ट्रैक्टेटस* के प्राक्कथन में यह स्वीकार किया है कि इसके विचारों में वह फ्रेगे और रसेल से प्रभावित थे। यद्यपि उन्होंने उपर्युक्त वर्णित अन्य दार्शनिकों का उल्लेख प्राक्कथन में नहीं किया है फिर भी इनके विचारों की छाप स्पष्ट रूप में *ट्रैक्टेटस* में देखी जा सकती है। रे मोन्क के अनुसार *ट्रैक्टेटस* में फ्रेगे के वस्तुवाद, शॉपेनआवर के आदर्शवाद और विनिन्गर के अहंमात्रवाद का एकाकार हो जाता है।[९] इन दार्शनिकों के विचारों का अध्ययन *ट्रैक्टेटस* को समझने की पृष्ठभूमिं के रूप में किया जा सकता है। *ट्रैक्टेटस* को समझने की पृष्ठिभूमि के रूप में विटगेन्स्टाइन की अन्य पुस्तकों *नोटबुक्स - १९१४-१६, ब्लू एण्ड ब्राउन बुक्स, फिलॉसोफिकल इन्वेस्टीगेशंस*, तथा उनके लेखों *'नोटस् आन लॉजिक''*, ''नोटस डिक्टेटेड टू मूर-१९१४'', ''सम रिमार्क्स आन लॉजिकल फार्म'', ''लेक्चर्स आन इथिक्स'', तथा ''लेक्चर्स आन रेलिजन'' का अध्ययन उपयोगी होता है। यहाँ पर यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि *ट्रैक्टेटस* को समझने के लिए पी. एफ. रैमसे के द्वारा लिखी गई इसकी समीक्षा, जो माइन्ड नामक दार्शनिक पत्रिका में प्रकाशित हुयी, के अध्ययन को अत्यन्त उपयोगी माना जाता है।

(ख)

इस पुस्तक में विटगेन्स्टाइन ने जिन दार्शनिक विषयों पर मुख्य रूप से अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है वह निम्न प्रकार हैं :

जगत् की प्रकृति, भाषा का सार तत्त्व, गणित और तर्कशास्त्र की प्रकृति, सम्भाव्यता के सिद्धान्त की रूपरेखा, फ्रेगे और रसेल के दार्शनिक विचारों की आलोचना, दर्शनशास्त्र का सम्प्रत्यय, नीतिशास्त्र, धर्मदर्शन और रहस्यवाद।

ट्रैक्टेटस की पद्धति सूत्रात्मक है। सम्पूर्ण पुस्तक सात प्रमुख सूत्रों में विभाजित है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार इन सात सूत्रों को पुस्तक के सात शीर्षकों के रूप में लेना चाहिए। *ट्रैक्टेटस* के ये सात सूत्र अधोलिखित हैं :

१. जगत् ही सम्पूर्ण वस्तु-स्थिति है।

२. वस्तु-स्थिति क्या है ? - तथ्य-संघटनों का अस्तित्व है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. विचार, तथ्यों का तार्किक चित्र है।

४. विचार, अर्थपूर्ण प्रतिज्ञप्ति है।

५. प्रतिज्ञप्ति आणविक प्रतिज्ञप्तियों का सत्यता फलन है। (एक आणविक प्रतिज्ञप्ति स्वयं का सत्यता फलन होती है)।

६. सत्यता फलन का सामान्य आकार इस प्रकार है : यह एक प्रतिज्ञप्ति का सामान्य आकार है।

७. जिसके बारे में हम कुछ कह नहीं सकते हैं, उसके बारे में हमें मौन रहना चाहिए।

उपर्युक्त प्रत्येक सूत्र के उपसूत्र हैं और उपसूत्रों के भी उपसूत्र हैं। उपसूत्र मुख्य सूत्र पर व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ हैं। ये टिप्पणियाँ इस प्रकार क्रमबद्ध हैं कि उत्तरवर्ती टिप्पणी, पूर्ववर्ती टिप्पणी की व्याख्या है। प्रतिज्ञप्तियाँ अ.१, अ.२, अ.३, प्रतिज्ञप्ति अ पर टिप्पणियाँ हैं; प्रतिज्ञप्तियाँ अ.ब.१, अ.ब.२, इत्यादि अ.ब पर टिप्पणियाँ हैं। इस प्रकार, प्रतिज्ञप्तियाँ १.१.१.२, प्रतिज्ञप्ति १ पर टिप्पणियाँ हैं; प्रतिज्ञप्तियाँ २.१.२.२. प्रप्तिज्ञप्ति २ पर टिप्पणियाँ हैं। जो प्रतिज्ञप्ति टिप्पणी के रूप में प्रयुक्त हुयी है, उस पर भी टिप्पणियाँ हैं। जैसे, प्रतिज्ञप्तियाँ १.११, १.१२ प्रतिज्ञप्ति १.१ पर टिप्पणियाँ हैं। दशमलव प्रणाली का प्रयोग प्रतिज्ञपत्तियों का उनकी महत्ता के अनुसार, क्रमबद्ध करने के लिए किया गया हैं।

ट्रैक्टेटस के मुख्य प्रतिपाद्य विषय को निम्नलिखित विचारबिन्दुओं के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

१) जगत् तथ्यों का संग्रह है। यह *ट्रैक्टेटस* की प्रथम प्रतिज्ञप्ति है। वस्तुस्थिती को विटगेन्स्टाइन तथ्य कहते हैं। वह यह कहते हैं जगत् तथ्यों का संग्रह है न कि वस्तुओं का। वस्तु और तथ्य में अन्तर है । वस्तु का सम्बन्ध तथ्य से होता है परन्तु कोई भी वस्तु तथ्य नहीं होता है। उदाहरण के लिए यह वाक्य लिजिए : 'मेरे घर के सामने धौलाधार पर्वत बर्फ से आच्छादित है।' यह वाक्य एक तथ्य को व्यक्त करता है। परन्तु न तो 'मैं, न 'घर', न 'धौलाधार पर्वत', न 'बर्फ' तथ्य हैं। इस प्रकार वस्तु और तथ्य में अन्तर होता है।

२) तथ्य जिससे मिलकर बनता है उनको विटगेन्स्टाइन ने जर्मन भाषा में *'सच्चेहाल्टिन'* कहा है। इसका अंग्रेजी अनुवाद ऑग्डेन और रॅमसे ने *एटॉमिक फॅक्ट* (आणविक तथ्य) और पियर्स तथा गुइनेस ने 'वस्तुस्थिति' किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३) प्रत्येक वस्तुस्थिति ऐसी सरल वस्तुओं से मिलकर बनी है जो आणविक है अर्थात् जिन्हें भागों में बाँटकर विश्लेषित नहीं किया जा सकता है।

४) प्रत्येक सरल वस्तु को नाम दिया जा सकता है।

५) ये नाम एक क्रमबद्ध प्रणाली में जुडकर आणविक या प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों की रचना करते हैं।

६) प्रत्येक प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति एक दूसरे से स्वतन्त्र होती है।

७) प्रत्येक आणविक प्रतिज्ञप्ति 'संभावित-वस्तुस्थिति' का चित्रण करती है। इस चित्रण में ही प्रतिज्ञप्ति का भाव निहित होता है।

८) ये चित्र तथ्य होते हैं । इनका तार्किक या चित्रीय आकार वही होता है जो कि उनका होता है जिन्हें ये चित्रित करते हैं, अर्थात् जिनका ये चित्र प्रतीक होते हैं। यह विचार भाषा के चित्र-सिद्धान्त के नाम से विख्यात है। इसके अनुसार प्रतिज्ञप्तियाँ तथ्य का चित्र होती हैं।

९) ये तार्किक आकार 'कथनीय'नहीं है। बल्कि इसे केवल 'दर्शाया' जा सकता है।

१०) उपर्युक्त बिन्दु (६) में कहा गया है कि प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियाँ एक दूसरे से स्वतन्त्र होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि किसी सत्ता की पूर्ण व्याख्या के लिए यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि उस सत्ता के बारे में कौन सी प्रतिज्ञप्ति सत्य है और कौन सी असत्य। वही प्रतिज्ञप्ति सत्य होगी जो किसी सम्भावित वस्तुस्थिति की संवादी हो।

११) प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियाँ मिलकर मिश्रित प्रतिज्ञप्ति बनाती है। मिश्रित प्रतिज्ञप्ति बनाने की यह संक्रिया, तार्किक अचरों निषेध, विकल्प, संयोजन और प्रतिस्थापना या अर्थापत्ति की तरह किसी बाह्य सत्ता की संवादी नहीं होती है।

१२) यद्यपि सभी प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियाँ एक दूसरे से भिन्न होती हैं और इस प्रकार अपनी सत्यता और असत्यता के लिए स्वयं उत्तरदायी होती हैं, फिर भी इतना कहा जा सकता है कि जब कोई प्रतिज्ञप्ति प्रणाली की अन्य सभी प्रतिज्ञप्तियों से असहमत होती है तो वह व्याघात स्वरूप होती हैं। और जब कोई प्रतिज्ञप्ति प्रणाली की अन्य सभी प्रतिज्ञप्तियों से सहमत होती है तब वह पुनरुक्ति होती है।

१३) यदि कोई प्रतीक न तो प्राथमिक और न ही मिश्रित प्रतिज्ञप्तियों को व्यक्त करता हो, और न तो किसी गणितीय समीकरण को स्वीकारता या नकारता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो तो ऐसा प्रतीक अपलाप होता है। विटगेन्स्टाइन यह मानते हैं कि पारम्परिक दर्शनशास्त्र की अधिकांश प्रतिज्ञप्तियाँ इसी प्रकार का प्रतीक हैं। *ट्रैक्टेटस* ४.००३ के अनुसार 'दर्शनशास्त्र की अधिकांश प्रतिज्ञप्तियाँ असत्य नहीं बल्कि अपलाप हैं। ये प्रतिज्ञप्तियाँ उसी श्रेणी के प्रश्नों में आती हैं जैसे 'क्या शुभ सुन्दर की तुलना में कम या अधिक समान है।'

१४) यहाँ पर दर्शनशास्त्र की उचित विधि प्रासंगिक हो जाती है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार यह विधि यह निर्धारित करती है कि उसे व्यक्त करने का प्रयास जो अव्यक्त हैं, अपलाप होता है।

१५)विटगेन्स्टाइन के अनुसार तत्त्वमीमांसा, नीतिशास्त्र, धर्म, तार्किक आकार, सौन्दर्यशास्त्र अव्यक्त की कोटि में आते हैं। इनसे सम्बन्धित दार्शनिक समस्याएँ अपलाप के सिवा कुछ नहीं।

१६) विटगेन्स्टाइन के अनुसार क्योंकि *ट्रैक्टेटस* मुख्यतः 'कथनीय' के माध्यम से 'दर्शनीय' को आत्मसात् करने का प्रयास है इसीलिए 'दर्शनीय'को आत्मसात् करने के बाद यह अप्रासंगिक हो जाती है। इसीलिए वह सीढी के प्रतीक की तुलनास्वरूप कहते हैं कि जैसे ऊपर चढ जाने के बाद सीढी का औचित्य समाप्त हो जाता है उसी प्रकर इसके (*ट्रैक्टेटस*) मन्तव्य को समझने के बाद इसकी स्थिति अपलाप जैसी ही है।

तथ्य के बारे में ही कुछ कहा जा सकता है परन्तु जगत् के सम्पूर्णत्व के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि जगत् का सम्पूर्णत्व सभी तथ्यों का संग्रह है। सभी तथ्यों के बारे में अलग-अलग कुछ कहा जा सकता है परन्तु तथ्यों के संग्रह के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार विटगेन्स्टाइन विशिष्ट 'तार्किक अणुवाद सिद्धान्त' की स्थापना करते हैं जो रसेल के 'तार्किक अणुवाद सिद्धान्त' से भिन्न है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार रसेल का 'प्रकार का सिद्धान्त' (थिअरी ऑव टाइप्स) जो कि यह मानता है कि सम्पूर्ण तथ्यों का संग्रह भी एक तथ्य है, एक विरोधोक्ति (*पॅराडॉक्स*) है। *ट्रैक्टेटस* में जगत् का सम्पूर्णत्व या सभी तथ्यों का संग्रह चिन्तनीय या कथनीय की सीमा निर्धारित करता है - ऐसी सीमा जिसके बाहर अचिन्तनीय या अकथनीय या दर्शनीय का क्षेत्र शुरू होता है, जिसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इनके बारे में कुछ कहने के प्रयास से अपलाप उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि *ट्रैक्टेटस* की विषयवस्तु बहुआयामी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। सहज व्याख्या के दृष्टिकोण से *ट्रैक्टेटस* की विषयवस्तु को विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत रखकर देखना उचित होगा। ग्लोक के अनुसार *ट्रैक्टेटस* के मुख्यतः चार भाग हैं :[१०]

१) तर्कशास्त्र का सिद्धान्त

२) चित्र का सिद्धान्त

३) विज्ञान और गणित पर विचार-विमर्श

४) 'रहस्य' पर चर्चा

वस्तुतः उपर्युक्त चारों भागों को दो भागों में बाँटा जा सकता है : १) कथनीय २) अकथनीय या दर्शनीय। कथनीय और दर्शनीय के बीच के अन्तर का अभिव्यक्तीकरण, जिससे कि दर्शनीय को आत्मसात् किया जा सके, ही *ट्रैक्टेटस* का मुख्य विषय है। कथनीय और दर्शनीय के बीच के अन्तरकी चर्चा हम आगे करेंगे परन्तु यहाँ यह कहना पर्याप्त है कि उपर्युक्त भाग १) से भाग ३) तक कथनीय और भाग ४) अकथनीय या दर्शनीय के अन्तर्गत आते हैं।

ट्रैक्टेटस पर जो विभिन्न टीकाएँ लिखी गई हैं वे भिन्न-भिन्न प्रकार से विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत इसकी व्याख्या करती हैं। इन टीकाओं के बारे में एक बात प्रायः हास्य-विनोद की तरह चर्चा में आती हैं कि *ट्रैक्टेटस* की कुछ टीकाएँ तो ग्राह्यता के दृष्टिकोण *ट्रैक्टेटस* से भी अधिक क्लिष्ट हैं। यहाँ यह कहना प्रासंगिक है कि *ट्रैक्टेटस* पर मैक्स ब्लैक, सच्चिदानन्द गांगुली, रार्बट जे. कैवलियर, स्काट रेन्डल स्ट्रिपलिंग, ए. एन. एनस्कोम्बे और एम. ओ. माउन्स की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। अधिकांश टीकाएँ निम्नलिखित प्रमुख शीर्षकों पर चर्चा करती हैं -

१) जगत्, तथ्य, वस्तुस्थिति, प्रतिज्ञप्ति, अर्थ, अपलाप। २) भाषा का चित्र सिद्धान्त। ३) कथनीय और दर्शनीय। ४) दर्शनशास्त्र की प्रकृति

ट्रैक्टेटस के प्राक्कथन में विटगेन्स्टाइन यह दावा करते हैं कि इस पुस्तक में उन्होंने दार्शनिक समस्याओं का अन्तिम हल खोज लिया है। यही बात वह रसेल को लिखे गये एक पत्र में भी स्वीकार करते हैं। प्रश्न उठता है कि विटगेन्स्टाइन के इस दावे का तात्पर्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर हमें इससे भी अवगत कराएगा कि विटगेन्स्टाइन के अनुसार दर्शनशास्त्र की प्रकृति क्या है। *ट्रैक्टेटस* ४.११२ के अनुसार, "दर्शनशास्त्र विचारों का तार्किक स्पष्टीकरण करता है। दर्शन शास्त्र सिद्धान्तों का संग्रह नहीं बल्कि एक क्रिया है। वस्तुतः दार्शनिक कार्य स्पष्टीकरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में निहित होता है। दर्शनशास्त्र "दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियों में नहीं बल्कि स्पष्टीकरण में परिणत होती है। दर्शनशास्त्र के बिना विचार धूमिल और अस्पष्ट होते है; इसका कार्य उनको स्पष्ट करना और उनकी ठीक ठीक सीमा निर्धारित करना है।" *ट्रैक्टेटस* ४.११२ के अनुसार, "दर्शनशास्त्र प्राकृतिक विज्ञान की सीमा के बारे में विवादों को दूर करता है।" इस प्रकार, विटगेन्स्टाइन के अनुसार, दर्शनशास्त्र विचारों की सीमा के निर्धारण के द्वारा प्राकृतिक विज्ञानों की सीमा का निर्धारण करता है। दूसरे शब्दों में, वह यह बताता है कि क्या कथनीय है और क्या कथनीय नहीं है। कथनीय और अकथनीय या दर्शनीय के बीच अन्तर का उद्देश्य कथनीय के द्वारा अकथनीय की महत्ता को स्थापित करना है।

दर्शनशास्त्र का सम्प्रत्यय वस्तुतः *ट्रैक्टेटस* का मूल उद्देश्य है। प्राक्कथन में विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि 'इस प्रकार पुस्तक का उद्देश्य कथनीय और दर्शनीय के बीच की सीमा निर्धारण करना है।' इस प्रकार विटगेन्स्टाइन के अनुसार दर्शनशास्त्र का कार्य विचारों का स्पष्टीकरण औ. विश्लेषण करना है। क्योंकि विचार की अभिव्यक्ति भाषा में होती है इसीलिए दर्शनशास्त्र का कार्य भाषा के तर्कशास्त्र को परिसीमन के आधार पर स्थापित करना है। इस प्रकार *ट्रैक्टेटस* ६.५३ के अनुसार "दर्शनशास्त्र की सही पद्धति निम्नलिखित होगी : कथनीय अर्थात प्राकृतिक विज्ञान की प्रतिज्ञप्तियों के अलावा, अर्थात् जिसका दर्शनशास्त्र से कुछ भी लेना देना न हो, कुछ भी न कहना।"

विटगेन्स्टाइन के कथनीय और दर्शनीय के बीच अन्तर की आलोचना में रैमसे कहते हैं कि जिसके बारे में हम कुछ कह नहीं सकते हैं उसके बारे में बिल्कुल नहीं कह सकते हैं और उसको सीटी बजाकर भी नहीं व्यक्त कर सकते हैं। यह आलोचना आधारहीन है। विटगेन्स्टाइन का मुख्य मन्तव्य है कि अव्यक्त को यद्यपि भाषा के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है परन्तु दर्शाया जा सकता है। अव्यक्त को यद्यपि भाषा के द्वार व्यक्त नहीं किया जा सकता है परन्तु दर्शाया जा सकता है। अव्यक्त को अभाषायी ढंग से व्यक्त करने के अनेकों तरीके हैं। वस्तुतः हम यह कला, साहित्य, धर्म में अक्सर पाते हैं । एक पेंटिंग, बिना कुछ कहे, बहुत कुछ कह जाती है । कविता में, बिना कुछ कहे, उसे कह दिया जाता है जो 'कहना' होता है। *ट्रैक्टेटस* में कथनीय के द्वारा दर्शनीय को उसी प्रकार समझने की कोशिश की गई है जैसा कि कविता शब्दों के द्वारा अव्यक्त को व्यक्त करने की कोशिश करती है। इसीलिए शायद विटगेन्स्टाइन ने इसे दार्शनिक और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्यिक दोनों माना है।

एक प्रश्न विचारणीय है कि विटगेन्स्टाइन *ट्रैक्टेटस* के प्राक्कथन में कहते हैं कि इस पुस्तक के विचार निश्चित और सत्य हैं, परन्तु निष्कर्ष में वह कहते हैं कि इस पुस्तक की प्रतिज्ञप्तियाँ अपलाप (*नॉनसेन्स*) है। क्या यह विरोधाभास नहीं है? रैमसे के अलावा अन्य कई दार्शनिकों ने उदाहरण के लिए रसेल, कार्नेप, विन्स्टन बर्न और पिचर ने इसी विचारबिन्दु पर विटगेन्स्टाइन की आलोचना की है। पिचर कहते हैं कि विटगेन्स्टाइन *ट्रैक्टेटस* के विचारों को ऐसा अपलाप मानते हैं जो कि दृष्टि प्रदान करता है। विटगेन्स्टाइन के इस विचार को इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि विटगेन्स्टाइन ने इसे कहा है। वस्तुतः जिसके बारे में कहा जा चुका है उसके बारे में यह कहना कि उसे कहा नहीं जा सकता, अपलाप है। इस प्रकार के दार्शनिक विचार फ्रेंक रैमसे के विचारों से प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं। रैमसे के अनुसार, "दर्शनशास्त्र का कोई न कोई उपयोग होना चाहिए, इसे हमारे विचारों और कार्यों को दिशा प्रदान करनी चाहिए।..... अन्यथा दर्शनशास्त्र की मुख्य प्रतिज्ञप्तियाँ यह हैं कि दर्शनशास्त्र अपलाप है। पुनः ऐसी स्थिति में हमें गम्भीरता के साथ यह स्वीकार करना चाहिए कि यह अपलाप है और हमें यह प्रपंच नहीं करना चाहिए, जैसा कि विटगेन्स्टाइन करते हैं, कि यह महत्त्वपूर्ण अपलाप है।"[११]

वास्तव में पिचर और रैमसे जैसी आलोचनाएँ आधारहीन हैं। विटगेन्स्टाइन ने यह कभी नहीं कहा कि वह जो कुछ कह रहे हैं वह महत्त्वपूर्ण अपलाप है। *ट्रैक्टेटस* ६.५४ के अनुसार "मेरी प्रतिज्ञप्तियाँ निम्नलिखित अर्थ में मार्गदर्शक हैं: जो भी उनको समझता है, उनको अपलाप समझ लेता है।" यहाँ अपलाप प्रतिज्ञप्तियों से, न कि दर्शन से सम्बन्धित है। पिचर का मन्तव्य कि 'जिसके बारे में कहा जा चुका है उसके बारे में यह कहना कि उसे कहा नहीं जा सकता है, अपलाप है', वस्तुतः तर्कसम्मत है। परन्तु पिचर यह मान लेते हैं कि विटगेन्स्टाइन किसी के बारे में कह कर फिर यह कह रहे हैं कि उसके बारे में कहा ही नहीं जा सकता है। वास्तव में विटगेन्स्टाइन केवल यह कहते हैं कि कुछ ऐसे विषय हैं जिनको केवल दर्शाया जा सकता है। और उनका यह कहना, जैसा कि पिचर सोचते हैं, उस अकथनीय जिनको केवल दर्शाया जा सकता है। और उनका यह कहना, जैसा कि पिचर सोचते हैं, उस अकथनीय विषय के बारे में कथन के रूप में नहीं लेना चाहिए। इस प्रकार जब विटगेन्स्टाइन *'लेक्चर्स ऑन इथिक्स* में पूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और तुलनात्मक नीतिशास्त्र में अन्तर करते हुए पूर्ण नीतिशास्त्र को अव्यक्त कहते हैं तो इससे यह अर्थ नहीं लगाना चालिए कि अब तो उन्होंने कुछ न कुछ कह ही दिया है इसलिए वह यह नहीं कह सकते हैं कि पूर्ण नीतिशास्त्र अव्यक्त है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार पूर्ण नीतिशास्त्र मानवीय अन्त से सम्बन्धित है। वास्तव में जिस प्रकार पूर्ण नीतिशास्त्र का विषय अव्यक्त है; उसी प्रकार *ट्रैक्टेटस* में 'अव्यक्त' का सम्बन्ध 'दर्शनीय' से है। इस प्रकार रैमसे का यह विचार कि जिसे शब्दों में नहीं व्यक्त किया जा सकता है उसे सीटी बजाकर भी नहीं व्यक्त किया जा सकता, असंगत है। रैमसे तार्किक भाववादियों के उस विचार से प्रभावित हुए लगते हैं कि 'विज्ञान ही सब कुछ है और अन्य सब अपलाप के सिवा कुछ नहीं।' वस्तुतः न तो यह सच है कि सब कुछ शब्दों के द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है अर्थात् शब्द ही विचार सम्प्रेषण के एक मात्र साधन हैं और न ही यह माना जा सकता है कि शाब्दिक जगत् से परे कुछ है ही नहीं। पिचर और रैमसे जैसे दार्शनिकों के विचारों से सहमत होने से अव्यक्त न केवल महत्त्वहीन हो जाता है बल्कि अव्यक्त का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता है। परन्तु यदि अव्यक्त का अस्तित्व न होता तो मानवीय जगत् में कविता, प्रेम, धार्मिक अनुभूति, संवेदना इत्यादि का कोई स्थान न होता।

रसेल *ट्रैक्टेटस* के 'परिचय' में कहते हैं कि *ट्रैक्टेटस* का सम्बन्ध उन शर्तों से है जिनका पालन तार्किक रूप से पूर्ण भाषा को करना पडता है। रसेल के अनुसार भाषा से सम्बन्धित कई समस्याएँ हैं : मनोवैज्ञानिक समस्याएँ, ज्ञान मीमांसीय समस्याएँ, विभिन्न विज्ञानों की समस्याएँ और तार्किक समस्याएँ। रसेल के अनुसार *ट्रैक्टेटस* का सम्बन्ध भाषा की तार्किक समस्या से है। रसेल के अनुसार भाषा की तार्किक समस्या है : ''किसी तथ्य (उदाहरण के लिए वाक्य) को किसी दूसरे तथ्य से किस प्रकार का सम्बन्ध रखना चाहिए जिससे कि प्रथम तथ्य दूसरे तथ्य के प्रतीक के योग्य हो सके । वह सटीक प्रतीकात्मकता की शर्तों के बारे में चर्चा करते हैं : ऐसी प्रतीकात्मकता जिसमें वाक्य के बिल्कुल निश्चित अर्थ का निर्धारण होता है। मि. विटगेन्स्टाइन (*ट्रैक्टेटस* में) तार्किक रूप से पूर्ण भाषा की शर्तों के बारे में चर्चा करते हैं।'' रसेल *ट्रैक्टेटस* की अपनी आलोचना में आगे कहते हैं कि 'जो बात हिचकिचाहट उत्पन्न करती है यह तथ्य की अन्ततः विटगेन्स्टाइन उसके बारे में बहुत कुछ कह जाते हैं जिसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए यद्यपि विटगेन्स्टाइन सम्पूर्ण नीतिशास्त्र को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहस्यवादी मानते हुए अकथनीय के क्षेत्र में रखते हैं फिर भी वह अपनी नैतिक मान्यताओं को प्रकट कर देते हैं।'' रसेल की इस आलोचना का कोई औचित्य तब नहीं रह जाता जब इस बात पर ध्यान दिया जाए कि विटगेन्स्टाइन स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि उनकी पुस्तक बहुत कुछ ऐसे विषयों के बारे में दर्शाती है जिसे नहीं कहा जा सकता है।

यद्यपि इस लेख में मैंने *ट्रैक्टेटस* के प्रमुख पहलुओं पर चर्चा करने का प्रयास किया है परन्तु फिर भी यह लेख सर्वांगीण पूर्णता का दावा नहीं करता क्योंकि वास्तव में आज तक *ट्रैक्टेटस,* जो कि संस्थापित और युगप्रवर्तक ग्रंथ है, पर न तो किसी व्याख्या को अन्तिम माना गया है और न ही माना जा सकता है। विटगेन्स्टाइन ने अपने दर्शन विषयक विचारों को समझने के लिए *ट्रैक्टेटस* को जिस प्रकार एक सीढी की तरह प्रयोग करने को कहा उसे ही दर्शाने में इस लेख की सार्थकता निहित है।

काली चरण पाण्डेय
व्याख्याता, दर्शनशास्त्र-विभाग,
गवर्नमेंट कालेज, धर्मशाला,
हिमाचल प्रदेश १७६२१५
email-pandeykc2k11@rediffmail. com

टिप्पणियाँ

१. मैक्स ब्लैक, **ए कम्पेनियन टू विटगेन्स्टाइन्स ट्रैक्टेटस**, केम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९६४, पृ. २
२. ए. जे. एअर, **विटगेन्स्टाइन**, पेन्गुइन बुक्स, १९८५, पृ. ३०-३१
३. रे माँक, **द ड्यूटी ऑफ जीनिअस**, विंटाज, यूके, १९९१, पृ. १६०
४. अपने मित्र बॉन फिकर के नाम विट्गेन्स्टाइन का पत्र। यह पत्र प्रकाशित हुआ था - पॉल एंगेलमान, **लेटर्स फ्रॉम लुडविग् विट्गेन्स्टाइन बुइथ अ मेमॉआर**, ब्लॅकवेल, ऑक्सफोर्ड, पृ. १४३
५. जेम्स के फालमन, **इनसाइड द ग्रेट मिरर**, माटिनेस, हाग, १९७३, पृ. ५
६. मॅक्स ब्लॅक, वही. पृ. ८
७. वही, पृ. ३१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८. पी. एफ. रैमसे का अपने मित्र कीन्स के नाम पत्र, जिसे रैमसे ने २० सितम्बर १९२३ को लिखा।

९. रे. मोन्क, पृ. १९०।

१०. हंस जॉन ग्लोक, **ए विटगेन्स्टाइन डिक्शनरी**, ब्लैकवेल, १९९६,पृ. ३६४।

११. पी. एफ. रैमसे, **फाउन्डेशन्स ऑव मैथमैटिक्स**, लंदन १९३१, पृ. २३८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नासदीय सूक्त : ऋग्वेद का नवनीत

ऋग्वैदिक ऋषियों ने अनुक्षण सुगम्भीर अनुचिन्तन के फलस्वरूप एक सार्वभौम सत्य का साक्षात्कार कर लिया था, जो दार्शनिक जगत् का सर्वाधिक चिन्तनीय विषय है। ऋग्वेद में ही सत्-असत्, जगत्-कारण, सृष्टि प्रक्रिया एवं अनिर्वचनीय चेतन-तत्त्व की जो मीमांसा की गयी है, वही परवर्ती दार्शनिक चिन्तन की आधारभूमि बनी। अतएव भारतीय तत्त्वज्ञान की आकृति-प्रकृति, उद्गम एवं विकास के समुचित अनुसन्धान के लिये वैदिक संहिताओं का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन तदुपरान्त गहन चिन्तन अपरिहार्य है।

ऋग्वैदिक ऋषि जगत् एवं जगदीश्वर को भिन्न-भिन्न न मानकर सकल प्रपञ्च को परम तत्त्व से अभिन्न एवं उसका चिद्विलास ही मानते हैं। व्यक्त या अव्यक्त अथवा क्षर या अक्षर सृष्टि का मूल तत्त्व परब्रह्म एवं समस्त जीवों में विद्यमान् आत्मतत्त्व मूलतः एक ही है। उन्हें इस बात का निश्चय हो चुका था कि एकमात्र परब्रह्म या परमात्मा ही एकरस एवं त्रिकालबाधित सत्य है। नामरूपात्मक यह दृश्य प्रपञ्च सच्चिदानन्द परब्रह्म का ही स्फुरण होने के कारण परब्रह्मस्वरूप ही है। नामरूपों को दूर कर लेने के पश्चात् जो नित्य द्रव्य शेष रहता है, वह नित्य या अव्यक्त तत्त्व ही परब्रह्म है। ऋग्वेद में तत्त्वज्ञान विषयक सिद्धान्तों का प्रकटीकरण वैसे तो कई भिन्न-भिन्न सूक्तों में किया गया है, किन्तु सुप्रसिद्ध नासदीयसूक्त[1] में इन सिद्धान्तों का समग्ररूपेण एक ही स्थल पर इतना सुव्यवस्थित मण्डन हुआ है कि आगे के उपनिषदादि ग्रन्थों एवं परवर्ती वेदान्त आदि दर्शन में वही ज्ञान उसी रूप में समुपस्थित किया गया है। इस सूक्त के विषय में लोकमान्य तिलक ही टिप्पणी अक्षरशः सत्य है कि "इसी सूक्त के तत्त्व को परवर्ती दार्शनिकों ने अधिक सुव्यवस्थित रीति से प्रतिपादित करने के अतिरिक्त कुछ नहीं किया है।"[2]

यह सूक्त ऋग्वैदिक ऋषियों के अलौकिक दार्शनिक चिन्तन का पूर्णतया परिचायक है। यहाँ अद्वैतवादी विचारधारा का सार दिखायी देता है। यहाँ विश्व-रचना के रहस्य की दार्शनिक दृष्टि से समीक्षा एवं विचारणा की गयी है। तथा उस मूल कारण या परम तत्त्व का स्वरूप निर्धारित करने की चेष्टा की गयी है। ऋषि परमेष्ठी प्रजापति जगत् की प्रारम्भिक स्थिति का वर्णन करते हुए कहता है कि उस समय (सृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से पूर्व प्रलय दशा में) न सत् था और न असत् ही। पृथ्वी से लेकर पातालपर्यन्त लोक नहीं थे। न नहीं आकाश था और न उसके ऊपर द्युलोक (Heaven) था। किसने आवृत्त कर रखा था ? वह आवरण करनेवाला तत्त्व कहाँ था और किसके आश्रय में विद्यमान था ? क्या वह आदिम कालीन गहन एवं गम्भीर जल था (जिसमें यह सब स्थित था ?)[३] उस समय मृत्यु भी नहीं थी, अतः अमरत्व का भाव भी नहीं था। दिवस एवं रात्रि का विभेदक प्रकाश भी नहीं था। वह एक तत्त्व ही बिना श्वास-प्रश्वास की क्रिया के स्वतः श्वसित था, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं था।[४]

मूलारम्भ में नाना पदार्थों के अस्तित्व के पूर्व जो कुछ था वह सत् था या असत्, मृत था या अमर, आकाश था या जल, प्रकाश था या तमस् आदि विविध द्वन्द्वात्मक प्रश्नों से परे जाकर ऋषि सहसा यह प्रश्न कर उठता है कि सत् एवं असत्, मर्त्य व अमर्त्य, प्रकाश एवं तमस्, आच्छादक एवं आच्छाद्य आदि द्वैत की परस्पर सापेक्ष भाषा तो दृश्य सृष्टि के निर्माण के पश्चात् की है, किन्तु सृष्टि के ये द्वन्द्व जब उत्पन्न ही नहीं हुए थे अर्थात् एक-दूसरे का भेद ही नहीं था, तब कौन किसे आच्छादित कर सकता था ? अतएव मूलारम्भ में विद्यमान एकरस द्रव्य को सत् या असत्, अमृत या मृत्यु, नभ या जल, प्रकाश या तम आदि परस्पर सापेक्ष कोई भी नाम देना उचित नहीं।[५] जो कुछ था, वह इन समस्त पदार्थों की अपेक्षा विलक्षण था तथा वह एक ही आरम्भ में अपनी अपार शक्ति से स्फुरित हो रहा था । उसे आच्छादित करनेवाला दूसरा कुछ भी नहीं था। परम सत्ता को, जो समस्त विश्व की पृष्ठभूमि में है, हम सत् या असत् किसी भी रूप में ठीक-ठीक नहीं जान सकते। वह ऐसी सत्ता है जो अपनी ही सामर्थ्य से बिना श्वास-प्रश्वास की क्रिया के जीवित है।[६] उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु उससे परे नहीं थी। इन सबका आदि कारण समस्त विश्व से प्राचीन है तथा काल, देश, आयु, मृत्यु, अमरत्व आदि सबसे परे है। हम इसकी ठीक-ठीक व्याख्या नहीं कर सकते, केवल इसके कि यह अस्तित्ववान् है। उस सत् स्वरूप के आदिम एवं अनिर्वचनीय रूप की यही प्रारम्भिक एवं मूलभूत भूमिका है।

परन्तु जो न सत् था न असत् वह सजीव प्राणियों के समान श्वासोच्छ्वास करता होगा । यह कैसे कहा जा सकता है तथा श्वासोच्छ्वास के लिये वायु कहाँ से आयी ? इसी का समाधान करने हेतु ''आनीत्'' (श्वासोच्छ्वास करना या स्फुरण करना) पद के साथ ''अवातं'' पद रखा गया, जिसका अर्थ है - बिना वायु के । ''स्वधया'' पद द्वारा यह अभिव्यक्त किया गया कि ''वह अद्वितीय तत्त्व वायु की अपेक्षा न रखते हुए अपनी स्वतः की महिमा से (शक्ति से) स्फुरित हो रहा था। यहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वैतवाद की भाषा में बडी युक्तिपूर्वक अद्वैतावस्था का यह अर्थ स्पष्ट किया गया है कि मूल तत्त्व जड नहीं था। उपनिषदों में परब्रह्म का वर्णन करते समय ''नेति-नेति'',[७] ''एकमेवाद्वितीयम्'',[८] ''स्वे महिम्नि (प्रतिष्ठितः)''[९] आदि जो वर्णन आये हैं, वे इसी अर्थ के अनुवादमात्र हैं। इस सूक्त में जिस अनिर्वचनीय तत्त्व के विषय में यह कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में वही स्फुरित होता था, वही तत्त्व प्रलय के पश्चात् भी रहेगा - यह भाव भी स्पष्ट है। यही भाव प्रकारान्तर से श्रीमद्भगवद्गीता में भी अभिव्यक्त किया गया है - ''समस्त पदार्थों का नाश होने पर भी जिसका नाश नहीं होता।''[१०] वहीं आगे भी इसी सूक्त की भावना व्यक्त की गयी है - ''वह सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है।''[११]

सूक्त की प्रथम ऋचा के अन्तर्गत प्रयुक्त ''असत्'' शब्द का अर्थ शशविषाणवत् असत् तथा ''सत्'' शब्द का अर्थ निर्वाच्य पदार्थ से नहीं है। इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में जो मूल तत्त्व था, वह न शशविषाणवत् असत् था और न निर्वाच्य (व्यावहारिक) सत्। इसीलिये वह सत् तथा असत् से विलक्षण है। इस ऋचा में उस स्थिति का वर्णन है, जब सब कुछ शून्यावस्था में था। यहाँ असत् उस स्थिति का वाचक है जब जीवित जगत् का अभाव था। असत् पूर्ण प्रलय का वाचक अर्थात् महाप्रलय का पर्याय है। वस्तुतः जिस अवस्थामें पञ्च-तत्त्व निष्क्रिय और सूक्ष्म होकर ब्रह्म में विलीन रहते हैं, उसी स्थिति का नाम असत् है। पञ्चभूतों का वाचक ''प्राण'' है। प्राण को ही प्रजापति और सत्य भी कहा गया है। इस अर्थ में प्राण चेतन-ब्रह्म का वाचक हो जाता है। जब प्राण शब्द जीव और प्रकृति का वाचक होता है तब वह असत् कहा जाता है और जब ब्रह्म का वाचक होता है, तब सत् कहलाता है। ब्रह्म ''सत्'' इसलिये है क्योंकि महाप्रलय के समय वही शेष रहता है। ऋग्वैदिक ऋषियों ने परम तत्त्व (ब्रह्म) को नपुंसकलिङ्ग अर्थात् ''सत्'' की संज्ञा दी जिससे यह भी लक्षित होता है कि वह लिङ्गातीत है। महाप्रलयावस्था को सत्-असत् इसलिये कहते हैं कि उस समय दोनों तत्त्व एक ही तत्त्व ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि ''सत् असत्'' संज्ञा शाश्वत ब्रह्म की ही है, जैसा कि बृहद्देवता के रचयिता शौनक के स्वीकार किया है।[१२] गीता में भी यही उल्लेख मिलता है।[१३]

प्रलयावस्था जिसे शून्यावस्था भी कहा जाता है, ब्रह्म के विश्वास की अवस्था कहलाती है। इसे शून्यावस्था इसलिये कहते हैं कि इसमें ब्रह्म निष्क्रिय हो जाता है और ब्रह्माण्ड की कोई भी वस्तु दृश्यमान नहीं रहती है। निष्क्रियावस्था वह है जिसमें पूर्णतया क्रिया का अभाव हो तथा अदृश्य क्रियायें भी न हों। सद् असद् का विभेद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमतत्त्व की क्रियाशील अवस्था में ही सम्भव होता है। इसीलिये कहा गया है कि निष्क्रियावस्था में सत् और असत् का भी अभाव था। निष्क्रियावस्था में सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् ब्रह्म के रूप में अविभागापन्न होता है। यह हिरण्यगर्भ से पूर्व की स्थिति है।

इस विश्व ब्रह्माण्ड की मूल सत्ता एक ही है। इस जगत् की रचना का स्रोत ब्रह्म है - इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ऋग्वेद में स्पष्टतः हुआ है। उसे समस्त जगत् का गर्भ कहा गया है - ''विश्वस्यकेतुर्भुवनस्य गर्भ....।'' (ऋ. १०.४६.६) यदि ब्रह्म ही इस समस्त जगत् का मूल तत्त्व है तो प्रश्न उठता है कि ब्रह्म एवं जगत् का सम्बन्ध किस प्रकार का है ? इसका उत्तर नासदीय सूक्त देता है कि ब्रह्म ही इस चराचर जगत् का बीज है। ब्रह्मरूपी सत्ता ही नित्य है, जिसकी न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश। यह समस्त विश्व उसी का विकसित रूप है, ''ब्रह्म विश्वमिदं जगत्'' (तैत्तिरीय ब्राह्मण २.८.८,९) महाप्रलय के समय वही शेष रहता है अर्थात् वह अविनाशी है, जो अविनाशी है वही सत्य है और जो नाशवान है वह असत्य है। जगत् का सृजन किसी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति नहीं, प्रत्युत् अव्यक्त सत्ता का व्यक्त होना है।

सृष्टि-रचना से पूर्व अर्थात् प्रलय की अवस्था में सर्वत्र अन्धकार व्याप्त था, सब कुछ अज्ञात था। भेदाभेदविरहित गम्भीर जल था अथवा सर्वव्यापी ब्रह्म (आभु) ''तुच्छ'' अर्थात् मिथ्या माया से आच्छादित था ऐसा जो कहा जाता है वह (तत्) एक मूल (परम तत्त्व, ब्रह्म) ही तप[१४] की महिमा से (इस नामरूपात्मक जगत् के रूप में) प्रकट हुआ।[१५]

अग्रिम ऋचा में उल्लेख है कि उस अनिर्वचनीय ब्रह्म के मन में सृष्टि की इच्छा उत्पन्न हुई -''कामस्तदग्रे समवर्तत''[१६] तैत्तिरीय उपनिषद् में भी परमात्मा की सिसृक्षा की ओर संकेत किया गया है - ''सोऽकामयत् बहुस्यां प्रजायेय इति।''[१७]

चतुर्थ ऋचा के पूर्वार्ध ''कामस्तदग्रे समवर्तत'' का अर्थ ''मेक्समूलर'' ने "Love overcame in The Begining" किया है। उन्होंने ''काम'' का अर्थ ''Love'' (प्रेम) किया है, किन्तु यहाँ पर ''काम'' का अर्थ सृष्टि करने की इच्छा अधिक उचित प्रतीत होता है। (शतपथ ब्राह्मण १०.५.३.) एवं तैत्तिरीय उपनिषद् (ब्रह्मानन्द वल्ली, षष्ठ अनुवाक्) में इस मन्त्र के प्रथम पाद का अर्थ देते हुए परमात्मा की सिसृक्षा की ओर संकेत किया गया है। अन्य उपनिषदों[१८] में भी इसका समर्थन किया गया है।

सृष्टि का आरम्भ बताते हुए कहा गया है कि परमात्मा से बीज की उत्पत्ति हुई और क्रान्तदर्शी कवियों ने अपनी बुद्धि से अन्तःकरण में विचार करके अविद्यमान वस्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(असत्) से विद्यमान् वस्तु (सत्) का उत्पत्तिस्थान निरूपित किया।[१९] यहाँ मूल परब्रह्म को ही असत् कहा गया है, परन्तु इसका अर्थ "कुछ नहीं" - ऐसा नहीं लिया जा सकता, क्योंकि दूसरी ऋचा में "वह है"[२०] - ऐसा स्पष्ट कहा गया है। अगली दो ऋचाओं में कहा गया है कि - "उनकी (ऋषियों की) किरणें (ज्ञान का प्रकाश) जो सर्वत्र फैली हुई थीं, वह ऊपर थीं अथवा नीचे थीं ? बीज को धारण करनेवाली थी, शक्तियाँ भी थीं, आत्म-शक्ति नीचे और इच्छाशक्ति ऊपर थी, तब फिर जानने वाला (ज्ञाता) कौन है, किसने इसकी यहाँ घोषणा की ? कहाँ से (किससे) यह सृष्टि उत्पन्न हुई?[२१] देवगण इस सृष्टि के बाद आये तो फिर कौन जानता है कि सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई। इस सूक्त के अतिरिक्त अन्यत्र भी दृश्य सृष्टि को यज्ञ की उपमा देकर प्रश्न किया गया है कि - "इस यज्ञ में प्रयुक्त समिधा, घृत आदि सामग्री कहाँ से लायी गयी।"[२२]

एक अन्य स्थल पर इस गूढ प्रश्न को व्यावहारिक भाषा अङ्गीकार करके पूछा गया है कि "मूल एक निर्गुण से नेत्रों को प्रत्यक्ष दिखनेवाली आकाश-पृथिवी की इस इमारत के लिये काष्ठ (मूल प्रकृति) कहाँ से आया ?[२३] उस अनिर्वचनीय तत्त्व के मन में सृष्टि निर्माण का कामरूपी तत्त्व उदित हुआ और वस्त्र के धागों के समान अथवा सूर्यप्रकाश के समान उसकी शाखायें तत्काल ऊपर, नीचे एवं चारों ओर फैल गयीं एवं सत् का यह समस्त विस्तार अर्थात् आकाश-पृथ्वी का भव्य भवन खडा हो गया।[२४] इस प्रकार इस सूक्त की ऋचायें एवं वाजसनेयि संहिता उक्त प्रश्न का समीचीन समाधान प्रस्तुत कर देती हैं। यही कारण है कि उपनिषदें भी इस सूक्त की ऋचा के अर्थ का अनुगमन करते हुए इस गूढ प्रश्न का उत्तर देती हैं - "उस परब्रह्म को अनेक होने की इच्छा हुई।"[२५] अथर्ववेद में भी ऐसा ही वर्णन है कि समस्त सृष्टि के मूलभूत द्रव्य में से पहले काम उत्पन्न हुआ।[२६] नाम और रूप से रहित होते हुए भी सत् (परम तत्त्व) ने अपने में निहित प्राणियों के रजस्तत्व से प्रेरित होकर सिसृक्षा की कि "मैं नाम और रूप से युक्त होकर प्रकट होऊँ।" यहाँ नासदीय सूक्त में परमात्मा को अज्ञान (तुच्छपाया) से आच्छन्न कहना, उसकी सिसृक्षा का वर्णन करना, उससे बीजोत्पत्ति का निरूपण करना तथा परमात्मा की सर्वज्ञता की ओर निर्देश करना अद्वैत वेदान्त के परब्रह्म के रूप का ही अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन करना है।

निर्गुण से सगुण की, असत् से सत् की, निर्द्वन्द्व से द्वन्द्व की, असङ्ग से सङ्ग की उत्पत्ति का प्रश्न मनुष्यों के लिये तो अगम्य है ही, देवताओं की बुद्धि भी इस बात को बताने में असमर्थ है कि सृष्टि का आरम्भ कैसे हुआ क्योंकि देवगण भी सृष्टि के आरम्भ के बाद ही उत्पन्न हुए हैं। सूक्त की अन्तिम ऋचा यही भाव अभिव्यक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करती है। यह विविध प्रकार की सृष्टि जिस उपादान और निमित्त कारण से उत्पन्न हुई है, वह कारण अर्थात् परम तत्त्व ही इस सृष्टि को धारण किये हुए है। उच्चतम अन्तरिक्ष में रहने वाला वह परमतत्त्व (अध्यक्ष) ही इस सृष्टि के आरम्भ को जानता होगा अथवा वह भी न जानता हो।[२७] क्योंकि वह भी अन्ततः सत् की ही कोटि में आता है।

यहाँ ऋषि जो यह शङ्का करता है कि यह सृष्टि किससे उत्पन्न हुई, कहाँ से उत्पन्न हुई ? इसे किसने रचा या नहीं रचा जो उच्चतम दिव्यलोक में निवास करता है, वही (ब्रह्म) इसे यथार्थ रूप से जानता है अथवा वह भी नहीं जानता - इसका समाधान इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में ही मिल जाता है। ''न असद् आसीत् नो सद् आसीत् तदानीम्'' इस मन्त्र में ही पश्चात् कालीन अद्वैत वेदान्त का यह सिद्धान्त अन्तर्भूत है कि ''मायिक जगत् सत् और असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है।'' यहाँ ऋषि सृष्टि की अनिर्वचनीयता की ओर ही संकेत करता है। इस प्रकार सत् और असत् तत्त्व की जो विवेचना परवर्ती काल में अद्वैत वेदान्त का मूलाधार बनी उसका आरम्भिक रूप हमें नासदीय सूक्त के अन्तर्गत मिलता है।[२८] जिस प्रकार ब्रह्म का विविध रूपों में वर्णन करने के उपरान्त ऋषि ''नेति-नेति'' कहकर मौन हो जाता है और यह स्वीकार कर लेता है कि उस परम तत्त्व का वाणी के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह अनिर्वचनीय, अचिन्त्य, अगम्य, अवाङ्मनसगोचर है, उसी प्रकार उसी ब्रह्म की माया शक्ति से निर्मित इस जगत् की अनिर्वचनीयता सिद्ध करने हेतु ही ऋषि सप्तम मन्त्र में कहता है - ''यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि ना न वेद।'' अतएव पाश्चात्य विद्वानों[२९] ने अन्तिम मन्त्र की जो यह व्याख्या की है कि वैदिक ऋषि इस सन्दिग्ध अवस्था में था कि यह सृष्टि कैसे हुई, वह नितान्त भ्रामक है तथा भारतीय मनीषियों के चिन्तन की अपरिपक्वता को सिद्ध करने का प्रयास मात्र है।

जे. मूईर (J. MUIR) ने लिखा है - ''कवि 'सृष्टि' कैसे हुई यह बताने में स्वयं को असमर्थ पाता है। सृष्टि के बाद ही देवगण भी उत्पन्न हुए हैं, किन्तु वे भी अपने उपासकों को इसकी उत्पत्ति के विषय में बताने में असमर्थ थे, क्योंकि उन्होंने उसकी उत्पत्ति को देखा ही नहीं था। जब स्वयं देवता ही असमर्थ थे तब इस पृथ्वी का कोई अन्य व्यक्ति कैसे बता सकता है कि सृष्टि कैसे हुई। यहाँ तक कि उच्चतम दिव्य लोक में विराजमान इस जगत् का शासक भी सृष्टि का रहस्योद्घाटन नहीं कर सकता।[३०] ऐसा कहकर जे. मूइर प्रभृति अनेक विद्वान यह सिद्ध करते हैं कि वैदिक ऋषि अपनी अज्ञानता की स्वीकृति करता है। इसी सूक्त पर तैत्तिरीय ब्राह्मण के भाष्यकार की व्याख्या द्रष्टव्य है, जो पाश्चात्य विद्वानों के इस व्याख्या की अनर्थकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्ध करती है । ''यतः सृष्टि से पूर्व न तो देवता थे ओर न मानव, अतः उन लोगों ने उसे देखा, नहीं हो सकता और यतः ये किसी पर्याप्त कारण अथवा उदाहरण के अभाव के कारण सृष्टि के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने में असमर्थ हैं, अतः इस महान् रहस्य को वही समझ सकता है जो वेद में पारङ्गत है - ''तस्माद् अति गम्भीरम् इदं परमार्थतत्त्वं वैदिक समधिगम्यम् इत्याभिप्रायः.....।''[३१] सूक्त का अन्तिम मन्त्र यह कहता है कि जगत् का शासक जानता है, अथवा वह भी नहीं जानता है कि किस उपादान कारण से यह दृश्यमान् जगत् उत्पन्न हुआ है और वह उपादान कारण किसी निश्चित रूप में विद्यमान है या नहीं। इसका आशय यह है कि परमात्मा किसी भी ऐसी वस्तु को नहीं जानता जिसकी सृष्टि उसके बाहर हुई हो, क्योंकि ऐसी किसी वस्तु का अस्तित्व है ही नहीं।[३२] यहाँ इस भाष्य की व्याख्या भी नासदीय सूक्त में निहित अद्वैतवादी विचार का समर्थन करती है, क्योंकि मूलतत्त्व एकमात्र ब्रह्म ही है। शाङ्कर अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म को निर्गुण स्वीकार किया गया है। ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का उल्लेख सर्वप्रथम नासदीय सूक्त में ही मिलता है।

प्रो. गफ ने नासदीय सूक्त के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के मायावाद सिद्धान्त के मूल रूप के दर्शन किये हैं।[३३] प्रो. गफ के कथन का औचित्य इस तथ्य से प्रकाशित होता है कि जिस प्रकार नासदीय सूक्त में जगत् के मूल कारण को सत् तथा असत् से विलक्षण कहा गया है उसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य शङ्कर ने भी जगत् की उत्पादिका बीज-शक्ति अविद्या को सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा है । परन्तु यह भी ध्यातव्य है कि नासदीय सूक्त में मूल तत्त्व के जिस सत् के रूप का निषेध किया गया है उससे निर्वाच्य एवं व्यावहारिक सत् का तात्पर्य है परन्तु इसके विपरीत माया की सद्रूपता के निषेध से उसकी (माया की) पारमार्थिक सत्ता के निषेध का तात्पर्य है।

एक अद्वैत तत्त्व ब्रह्म के ही मायाशक्ति के कारण ''ईश्वर'' एवं अविद्योपाधि के कारण ''जीव'' - ये दो भेद हैं। शङ्कराचार्य ने जीव की जीवता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब तक बुद्धि रूप उपाधि के साथ जीव का सम्बन्ध रहता है तभी तक जीव का जीवत्व एवं संसारित्व है।[३४] वस्तुतः जीवों का वास्तविक स्वरूप ब्रह्म ही है - ''जीवानां स्वरूपं वास्तव्यं ब्रह्म''[३५]

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि अविद्या-निवृत्ति होने पर जीव ईश्वरत्व को प्राप्त होता है। इस ईश्वर से ब्रह्म की सत्ता पृथक् नहीं है। जगत् के समस्त सुख-दुःखादि का भोक्ता एवं विविध कर्मों का कर्ता यही जीव है। इस प्रकार शुद्ध चैतन्यरूप ब्रह्म के ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अविद्योत्पन्न जीवादि भेद हो जाते हैं।

इस प्रकार नासदीय सूक्त में ऋषि न केवल सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एक मूल कारण से मानता है, बल्कि उसके स्वरूप को निर्धारित करने की भी चेष्टा करता है। इसमें हमें अद्वैतवादी विचारधारा का सार दिखायी देता है। यहाँ पर सत्-असत्, जीवन-मृत्यु, पुण्य-पाप इत्यादि सारे द्वन्द्वों का इस आधारभूत तत्त्व के अन्दर ही विकसित होना और फलतः उनके विरोधों का परमार्थतः इस तत्त्व में परिहार माना गया है। विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यहाँ यह मत नहीं अपनाया गया है कि कोई बाह्य कर्ता इसकी सृष्टि करता है, बल्कि यह मत प्रस्तुत किया गया है कि दृश्य जगत् अनुभवातीत प्रथम कारण का स्वतः विस्तार है।[३६]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद के इस सूक्त में ''नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं''[३५] ''तुच्छ्येनाभ्वपिहितम्''[३६] ''आनीदवातं स्वधया तदेकं''[३७] आदि पदों द्वारा जो गुह्यार्थ अभिव्यक्त किया गया है, वही अर्थ उपनिषदों में ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, तद् ह एके आहुः असद्वा इदमग्रासीत'',[३८] ''हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्''[३९] ''अप्राणौ ह्यमनाः शुभ्रः''; ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्''[४०] आदि पदों द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इस आधार पर कह सकते हैं कि वैदिक तत्त्वज्ञान ऋग्वैदिक काल में ही सिद्धावस्था प्राप्त कर चुका था। ऋग्वैदिक ऋषि इस तथ्य से अवगत था कि ब्रह्माण्ड का प्रत्येक अंश ब्रह्म से ओत-प्रोत है। इसी के आधार पर उपनिषदों में भी कहा गया है कि - ''खं ब्रह्म, यत्पिण्डे तत्त्वब्रह्माण्डे''। इस सूक्त के विषय में ए. सी. बोस अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं - ''क्या मानव का मन अब तक इस उच्च चिन्तन को लाँघ सका है ?''[४१] सामान्यतः समस्त इन्द्रियों को गोचर होनेवाले विनाशी या विकारी नामरूपात्मक समस्त प्रपञ्चों के परे भी कोई एक अमृत-तत्त्व विद्यमान है इसे अन्तर्चक्षु या ज्ञानदृष्टि से पहचान लेना ही समस्त वेदान्तशास्त्र का रहस्य है और इस गुह्य तथ्य को नासदीय सूक्त में ही अभिव्यक्त किया गया है। अतएव इस सूक्त को यदि ऋग्वेद का नवनीत कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इस सूक्त की चिन्तन गरिमा का अवलोकन कर तत्कालीन तत्त्वद्रष्टाओं के अन्तर्ज्ञान की तीव्रता स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

अर्चना श्रीवास्तव
द्वारा - श्री. डी. एन. लाल
बुद्धनगर - रुस्तमपुर,
जनपद - गोरखपुर (उ. प्र.)
पिन - २७३००१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

१. **ऋग्वेद**, १०.१२९

२. द्रष्टव्य : **वैदिक राष्ट्र दर्शन**, खण्ड-३, पृ. ४५ (वेदों का आध्यात्मिक अन्तरङ्ग) लेखक - महामहोपाध्याय बालशास्त्री हरदास, अनुवादक - कुप्पहल्ली सीतारामैया सुदर्शन.

३. नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीदगहनं गभीरम्॥ **ऋ.** १०.१२९.१

४. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥ **ऋ.**, १०.१२९.२

५. **Pre -Samkar Advaita Philosophy** - Sangam Lal Pandey, p. 99-100

६. **Six Systems of Indian Philosophy** - Max Muller, P. 49

७. **बृहदारण्यकोपनिषद्**, ४.४.२२

८. छान्दोग्योपनिषद्, ६.२.१

९. छान्दोग्योपनिषद्, ७.२४.१

१०. परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽ व्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ **श्रीमद्भगवद्गीता**, ८.२०

११. ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परंब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ **श्रीमद्भगवद्गीता**, १३/१२

१२. तपसः तपस् का अर्थ है - बाहर निकल पडना, तात्कालिक बाह्य निष्कासन, एक अन्य सत्ता को बाहर प्रकट करना....। **भारतीय दर्शन**, पृ. ८२ (हिन्दी अनु.) - डॉ. राधाकृष्णन्

१३. तम आसीत्तमसा गूळहमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वया इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायैतैकम्॥ **ऋ.**, १०.१२९.३

१४. तदेव, १०.१२९.४

१५. **तैत्तिरीय उपनिषद्**, ब्रह्मानन्द वल्ली, षष्ठ अनवाक्

१६. सोऽकामयत् बहुस्यां प्रजायेत इति - **तैत्तिरीय उप.**, ३/६
तद ऐक्षत् बहुस्यां प्रजायेत इति - **छान्दोग्य उप.**, ६.२.१

१७. कामस्तदग्रे समवर्तता धिमनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ **ऋ.**, १०.१२९.४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१८. आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥ तदेव, १०.१२९.२, उत्तरार्ध
१९. ऋ., १०.१२९.५, ६
२०. तदेव, १०.१३०.३
२१. ऋ., १०.३१.७, १०.८१.४ **वाजसनेयि सं.**, १७/२०
२२. क - ऋ., १०.१२९.४, ५ ख - वाजसनेयि सं. ३३/७४
२३. **तैत्तिरीय उप.**, २/६, छान्दोग्य उप. ६.२.३, बृहदा. उप., १/४
२४. **अथर्ववेद**, १.२.१९
२५. इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो...वा न वेद॥ ऋ. १०.१२९.७
२६. डॉ. राममूर्ति शर्मा : **अद्वैतवेदान्त**, पृ. ९९
२७. द्रष्टव्य : **Six Systems of Indian Philosophy** - Max Muller. (ऋग्वेद १०.१२९.७ की व्याख्या पृ. ४९)
२८. जे. मूइर - **मूल संस्कृत उद्धरण** वाल्यूम ५ हिन्दी अनुवाद - रामकुमार राय, पृ. ३५६
२९. ओरिजिनल संस्कृत टैक्स्ट - जे. मूइर, (हिन्दी अनु.) में उद्धृत तैत्तिरीय ब्राह्मण के भाष्य का अंश, पृ. ३५७
३०. तदेव, पृ. ३५७-५८
३१. **स्टडीज इन वेदान्त** -जे. कीर्तिकर, पृ. ३८
३२. यावदेव चायं बुद्धयुपाधिसम्बन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्व च - **ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य**, २.३.३०
३३. **भामती, ब्रह्मसूत्र**, १.४.३
३४. **भारतीयदर्शन की रूपरेखा** - एम. हिरियन्ना, पृ.४० (हिन्दी अनुवाद)
३५. ऋ., १०.१२९.१
३६. तदेव, १०.१२९.३
३७. **ऋग्वेद**, १०.१२९.२
३८. **छान्दोग्योपनिषद्**, ६.२.१
३९. **ईशावास्योपनिषद्**, १५
४०. **छान्दोग्योपनिषद**, ३.१४.१
४१. **The Call of the Vedas** - A. C. Bose.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मीमांसा दर्शन में प्रमाण-सम्प्लव एवं प्रमाण-व्यवस्था

भारतीय चिन्तन-धारा में 'प्रमाण-मीमांसा' का विवेचन इसकी एक प्रमुख विशिष्टता रही है। प्रमाण-मीमांसा पर समग्र भारतीय दर्शन अवलम्बित हैं।

प्रमाण-मीमांसा की इसी पृष्ठभूमि में 'प्रमाण-सम्प्लव' और 'प्रमाण-व्यवस्था' ये दो विधाएँ सामने आती हैं। सर्वप्रथम वात्स्यायन भाष्य में ''सम्प्लव'' एवं ''व्यवस्था'' सम्बन्धी अवधारणा का दिग्दर्शन प्राप्त होता है।[1]

प्रमाण-सम्प्लव का अर्थ है, किसी विषय का एक प्रमाण द्वारा ज्ञान होने पर उसी विषय का अन्य प्रमाण द्वारा भी ज्ञान होना, अर्थात् एक विषय जो एक प्रमाण द्वारा ज्ञात हो चुका है, वही विषय अन्य प्रमाणों द्वारा ज्ञात हो तो इसे प्रमाण-सम्प्लव कहते हैं।

प्रमाण-व्यवस्था से तात्पर्य है, एक विषय का केवल एक ही प्रमाण द्वारा ज्ञान होना।

भारतीय दर्शनशास्त्र में जिस प्रकार दर्शनों को आस्तिक तथा नास्तिक इन दो वर्गों में विभक्त किया गया है उसी प्रकार इन सभी दर्शनों के आधार पर बाह्यार्थवादी या वस्तुवादी तथा प्रत्ययवादी (ज्ञानवादी) ये दो वर्ग भी निर्धारित किये जा सकते हैं। नास्तिक दर्शनों में यद्यपि शून्यवादी बौद्धों के सन्दर्भ में इतना ही कहा जा सकता है कि ये बाह्यार्थवादी नहीं हैं। बाह्य पदार्थों के साथ ही किसी आन्तरिक विज्ञान की सत्ता स्वीकार नहीं करते । क्षणिक विज्ञानवादी बाह्य पदार्थों का अस्तित्व तो स्वीकार नहीं करते किन्तु इन्हें विज्ञान की सत्ता स्वीकार्य हैं, तथा ये समस्त बाह्य-प्रपञ्च को विज्ञान का ही आकार निरूपित करते हैं। आस्तिक दर्शनों में जगद्गुरू शङ्कराचार्य द्वारा संवर्धित अद्वैत वेदान्त भी सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञानात्मक ब्रह्म ही सत्ता का प्रतिपादन करता है तदतिरिक्त समस्त प्रपञ्च को ये ब्रह्म का विवर्त निरूपित करते हैं अतः ये भी बाह्य पदार्थवादी न होकर विज्ञानवादियों की श्रेणी में ही स्थापित होते हैं।

आस्तिक दर्शनों में महर्षि जैमिनि द्वारा प्रवर्तित मीमांसा दर्शन कार्य सङ्गति के मुख्य लक्ष्य को लेकर प्रवृत्त हुआ है। इनकी दृष्टि में समग्र वेद किसी न किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यागादि क्रिया का निर्देश करते हैं। वैदिक वाक्यों के विश्लेषण से इस (कर्मात्मक) धर्म का निर्धारण करना ही मीमांसा का परम प्रयोजन है। आचार्य कुमारिल भट्ट ने इसे श्लोक-वार्त्तिक में निम्नलिखित वार्त्तिक द्वारा स्पष्ट किया है - धर्म संज्ञक विषय का प्रतिपादन करना ही मीमांसा का लक्ष्य है।

"धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्"[२]

महर्षि जैमिनि द्वारा प्रवर्तित यह मीमांसा दर्शन वस्तुवादी दर्शन है, न तो इसे सांसारिक पदार्थों का क्षणिकवादी बौद्धों के अनुरूप विज्ञान के आकार के रूप में काल्पनिक अस्तित्व अभिमत है और न ही यह अद्वैत वेदान्त के अनुरूप समग्र जागतिक प्रपञ्च को नित्य विज्ञान (ब्रह्म) का काल्पनिक आकार विवर्त मानने से सहमत हैं। इनकी दृष्टि में यह समग्र संसार नित्य है। खण्ड प्रलय अवश्य होते हैं परन्तु महाप्रलय इन्हें अभिमत नहीं हैं। वेद जिस यागात्मक क्रिया का प्रतिपादन करते हैं वह धर्मरूपी यज्ञ अपने दो अङ्गों के माध्यम से निष्पन्न होता है। प्रथम अङ्ग है द्रव्य एवं द्वितीय अङ्ग है देवता।

देवत्व को मीमांसकों ने अग्नये स्वाहा इन्द्राय स्वाहा इत्यादि शब्द के रूप में प्रतिपादित किया है तथा द्रव्य व्रीहिभिर्यजेत्[३] पशुनायजेत् अरुणपापिङ्गाक्ष्या एकहायन्या[४] गवा सोमं क्रीणति[५] इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रतिपादित व्रीहि यज्ञाति द्रव्य, आरुण्य आदि गुण ये याग के अङ्ग हैं। अब यदि हम इन्हें विज्ञान या नित्य विज्ञान (ब्रह्म) का आकार मान लेते हैं तो ऐसी स्थिति में ये सारे पदार्थ कल्पित हो जायेंगे तथा इन कल्पित अङ्गों से निष्पन्न होने वाला यागरूपी धर्म भी कल्पित अर्थात् मिथ्या हो जाएगा। मीमांसा दर्शन इस स्थिति को स्वीकार करने के लिये बिल्कुल तैयार नहीं है, इसलिये कुमारिल भट्ट ने बौद्धों के निरालम्बनवाद, शून्यवाद तथा विज्ञानवाद का निराकरण करने के साथ ही साथ वेदान्त के विवर्तवाद से भी अपनी असहमति व्यक्त की है। चूँकि धर्म लौकिक पदार्थों पर अवलम्बित है अतः इन लौकिक पदार्थों के ज्ञान के लिये मीमांसकों ने लौकिक प्रमाणों का तथा धर्म के ज्ञान के लिये अलौकिक वेद के अन्तर्गत विधि, अर्थवाद, मन्त्र एवं नामधेय तथा वेदमूलक स्मृति एवं शिष्टाचार का प्रतिपादन किया है।

व्यवस्था एवं सम्प्लव

पूर्व-विवेचित प्रमाण-सम्प्लव एवं प्रमाण-व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में यदि विचार किया जाये तो यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति और अनुपलब्धि इन छह प्रमाणों के अतिरिक्त धर्म-बोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिये अन्य प्रमाण मानने पर भी मीमांसा दर्शन में प्रमाण-सम्प्लव की स्थिति नहीं बन पाती है। यद्यपि लौकिक धरातल पर अनुमान से ज्ञात वह्नि का पास जाकर प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान सम्भव है तथापि मीमांसकों के प्रमाण-लक्षण पर ध्यान देने पर इन स्थलों में भी प्रमाण-सम्प्लव की स्थिति सर्वथा विलुप्त हो जाती है। मीमांसकों ने आचार्य कुमारिल भट्ट से लेकर परवर्ती काल के मीमांसकों के प्रमाण-लक्षणों का स्वरूप संक्षेप में ''अनधिगतार्थगन्तृप्रमाणम्''[६] इस प्रमाण-लक्षण के रूप में प्रदर्शित किया गया है। इस लक्षण का अर्थ यह है कि जिस विषय का ज्ञान नहीं हुआ है, उस विषय का जो बोधक होता है, उसे ही प्रमाण कहते हैं। इस प्रमाण-लक्षण के परिप्रेक्ष्य में प्रमाण-सम्प्लव का प्रश्न स्वतः ही समाप्त हो जाता है। एक प्रमाण द्वारा ज्ञात अर्थ का ज्ञान जब दूसरे प्रमाण द्वारा किया जाता है, तब वह प्रमाण-सम्प्लव कहलाता है। मीमांसकों के प्रमाण-लक्षण के अनुसार प्रमाण हमेशा अज्ञात अर्थ का ही अवबोधन करता है।[७] मीमांसकों के प्रमाण का यह लक्षण उनके मुख्य प्रयोजन धर्म के अवबोधक विधि प्रमाण में सङ्गति के लिये परिकल्पित किया गया है। अग्निहोत्रयाग स्वर्ग का साधन है यह अर्थ अन्य किसी भी प्रमाण से ज्ञान न होने से 'अग्निहोत्रं जुहोति'[८] यह विधि इस अग्निहोत्र याग की कर्तव्यता का अवबोधन करती है। जो विधि रूप, पूर्ण रूपेण अज्ञात अर्थ का अवबोधन नहीं कराता, अपितु किसी अंश में ही अज्ञात अर्थ का अवबोधन कराता है वहाँ, ''अदग्ध दहनन्याय'' से विधि में इस अज्ञातार्थ-बोधकता की सङ्गति मानी जाती है।[९] अदग्ध-दहन-न्याय में अदग्ध शब्द का अर्थ है, न जला हुआ और दहन का अर्थ है जलाना। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अग्नि जो लकडी जला चुकी है उसे नहीं जलाती, अपितु जो नहीं जली है, उसे ही जलाती है। इसी प्रकार जिस अर्थ का अवबोध हो चुका है उसका पुनश्च अवबोध शब्द प्रमाण द्वारा सम्भव नहीं है । इसलिये शब्द प्रमाण के साथ किसी भी प्रमाण का प्रमाण-सम्प्लव सम्भव नहीं है। इसलिये ''अग्निहोत्रं जुहोति'' इस वाक्य में विधि अत्यन्त अप्राप्त अग्निहोत्र यागादि का स्वर्गरूपी फल के साधन के रूप में प्रतिपादन करती है, जिसके कारण ''अग्निहोत्रंसंज्ञकेन यागेनस्वर्गंभावयेत'' अग्निहोत्र याग से स्वर्ग सम्पादित करें, ऐसा शाब्दबोध निष्पन्न होता है इसके विपरीत 'दध्नाजुहोति'[१०] दधि नामक द्रव्य से याग करे, इस गुण-विधि द्वारा यद्यपि दधि-द्रव्य तथा प्रधानयाग दोनों का उल्लेख किया गया है, तथापि होम का पूर्ववाक्य (अग्निहोत्रं जुहोति) द्वारा उल्लेख हो जाने से उक्त (अदग्ध दहन-न्याय) से केवल दधि का यहाँ विधि विधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है, इस प्रकार मीमांसा के लक्ष्य धर्म के साक्षात् प्रतिपादक विधिवाक्य रूपी प्रमाणों में 'प्रमाण-सम्प्लव' की स्थिति सर्वथा असम्भव होने से मीमांसा शास्त्र स्पष्ट रूप से प्रमाण-व्यवस्थावादी शास्त्र कहा जाता है।

लक्ष्य की दृष्टि से मात्र व्यवस्था का संप्रत्यय

पूर्व-विवेचन से स्पष्ट है कि महर्षि जैमिनि के अनुसार विधिवाक्य द्वारा प्रतिपादित अर्थ ही धर्म है। इस धर्म का प्रतिपादन मात्र विधिवाक्य द्वारा ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई लौकिक प्रमाण धर्म के प्रतिपादक नहीं हो सकते इस तथ्य को प्रकाशित करने के उद्देश्य से ही महर्षि जैमिनि ने प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण प्रतिपादित किया है। इनके मतानुसार 'पुरुष की इन्द्रियों' का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही प्रत्यक्ष प्रमाण। यह प्रत्यक्ष विद्यमान वस्तु का ही प्रकाशक होता है। धर्म चूँकि इन्द्रियों से सम्बद्ध नहीं हो सकता, अतः प्रत्यक्ष उसके प्रकाशन में असमर्थ है।[११] कुमारिल भट्ट के अनुसार 'योगियों का प्रत्यक्ष भी सर्वसाधारण को होने वाले लौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है अतः योगज प्रत्यक्ष भी धर्मज्ञान-बोधकत्व में समर्थ नहीं है।'[१२]

श्लोकवार्त्तिक में आचार्य कुमारिल भट्ट का कथन है कि व्रीहि आदि द्रव्य यागादि क्रिया, आरुण्यादि गुण ये सभी मीमांसाशास्त्र में धर्म माने जाते हैं तथा इनका प्रत्यक्ष भी होता है, तथापि जिस द्रव्यत्वादिरूप से इनमें प्रत्यक्ष विषयता है, उस रूप से इनमें धर्मता नहीं है। इनमें जो धर्मता है वह इष्टसाधनत्वेन है। इस रूप से इनका ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं, अपितु वेद के विधिवाक्य द्वारा ही हुआ करता है अतः धर्म प्रत्यक्षवेद्य नहीं है।[१३] प्रत्यक्ष के अनुरूप एक वस्तु को रखकर उससे व्याप्ति सम्बन्ध से सम्बन्ध दूसरी अप्रत्यक्ष वस्तु के ज्ञान (अनुमिति) के साधन के रूप में प्रतिपादित अनुमान[१४] भी धर्म का ज्ञान कराने में असमर्थ है। आचार्य कुमारिल भट्ट का कथन है कि "धर्म-सामान्य या धर्मविशेष के साथ किसी भी लिङ्ग या व्याप्त का कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म का कोई व्याप्त नहीं है जिसके बल पर अग्निहोत्र आदि धर्म हैं, यह परिज्ञान हो सके अतः अनुमान धर्म का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है।"[१५]

अनुमान जैसी ही स्थिति उपमान तथा अर्थापत्ति प्रमाण की भी है। गवय (नीलगाय) गाय के सदृश है "गोसदृशोगवय" इस अतिदेश वाक्य के बल पर सादृश्य विशिष्ट - पिण्डदर्शनात्मक उपमान सादृश्य विशिष्ट अर्थ निष्पत्ति को मीमांसक उपमिति मानते हैं। इसी प्रकार 'प्रत्यक्ष या शब्द द्वारा ज्ञात अर्थ की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुपपत्ति हो जाने की दशा में उस अनुपपत्ति को दूर करने के लिये उपपादक अर्थ की कल्पना अर्थापत्ति माना गया है। इनमें धर्म, विधि की प्रवृत्ति के पूर्व सर्वथा अज्ञात रहने से किसी भी सादृश्य के ज्ञान के आधार पर उसका परिज्ञान जिस प्रकार उपमान द्वारा सम्भव नहीं है उसी प्रकार अज्ञात धर्म के सन्दर्भ में किसी अनुपपत्ति का होना भी संभव नहीं है, जिसके आधार पर किसी उपपादक धर्म की कल्पना द्वारा उसका परिज्ञान किया जा सके, अतः धर्म अर्थापत्ति प्रमाण का भी विषय नहीं बन सकता। धर्म भावात्मक पदार्थ होने के कारण अभावग्राहक अनुपलब्धि प्रमाण की धर्मग्राहकता तो विचार का विषय भी नहीं बन सकती। इस प्रकार उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मीमांसा के मुख्य लक्ष्य धर्म के बोधन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ये कोई भी प्रमाण समर्थ नहीं हैं। धर्म का अवबोध मात्र विधि प्रमाण द्वारा ही साक्षाद्रूप से मान्य होने के कारण धर्मप्रतिपादकत्वं रूप लक्ष्य की दृष्टि से भी मीमांसा में मात्र प्रमाण-व्यवस्था की ही समन्विति सम्भव है प्रमाण-सम्प्लव सम्भव नहीं है।

शोधछात्रा **कु. दिव्या भारद्वाज**
संस्कृत अध्ययनशाला
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. 'प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे प्रमाणानां सम्भवोऽभिसम्प्लवः असम्भवो व्यवस्थेति। **न्यायभाष्य**, १.२.३
२. **श्लोकवार्त्तिक**, श्लोक ११
३. **आपस्तम्ब श्रौतसूत्र**, ६.३.१.१४
४. **वही**, पृ.८.२१.२
५. **तैत्तिरीय संहिता**, ७.१.६२
६. **मीमांसा कुतूहलम्** कमलाकर भट्ट, पृ. ७२, पंक्ति २७
७. सर्वस्याऽनुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा।
श्लोकवार्त्तिक, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी १९७८ पृ. १५१.
८. **तैत्तिरीय संहिता**, १/५/९
९. दृष्टव्य **काव्यप्रकाश की बालबोधिनी व्याख्या** काव्यप्रकाश, भाण्डारकर, ओरिएण्टल रिसर्च, पूना, १९६५ पृ.२२७.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०. **आपस्तम्ब श्रौतसूत्र**, ६/२५

११. ''सत्यम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्'' **जैमिनी सूत्र**, १.१.४

१२. ''न लोकव्यतिरिक्तं हि प्रत्यक्ष योगिनामपि'' **श्लोक वार्त्तिक**, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी १९७६ पृ. १०२.

१३. द्रव्य क्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते ।
तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न तादूप्येण धर्मता॥ **श्लो. वा.** पृ. ३७
श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते।
तादूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः॥ **वही**, पृ. ३०७

१४. अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थो बुद्धिः। **शाबरभाष्य, मीमांसा दर्शनम्**, भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी, १९७९ पृ. २९०.

१५. न सामान्यविशेषाभ्यां धर्मसम्बन्धदर्शनम्।
लिङ्गस्य कस्याचित्सिद्धं येन स्यादनुमानता॥ **श्लोक. वा.**, पृ. ३८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुस्मृति की मूल्य संकल्पना

भारतीय दार्शनिक विचारधारा में धर्म और दर्शन अभिन्न स्वरूप लिये हुए हैं तथा इन्हें नैतिक जीवन का आधारस्तम्भ भी माना गया है। यदि देखा जाये तो धर्म का व्यावहारिक रूप नीति है, और नीति का सैद्धान्तिक रूप धर्म है। और इस नैतिक विचारणा या नीति का सम्बन्ध मानवमूल्यों से है। वेद, वेदांग, उपनिषद्, पुराण, धर्मसूत्र एवं विविध स्मृतियाँ आदि यदि एक ओर धर्म का आख्यान करते हैं तो दूसरी ओर विभिन्न दार्शनिक प्रवृत्तियों पर भी प्रकाश डालते हैं। जीवन क्या है ? इसका लक्ष्य क्या है ? अच्छा क्या है ? बुरा क्या है ? अच्छा ही क्यों बनना चाहिये ? विविध जीवन-मूल्यों में भेद क्यों ? आदि । इन सभी प्रश्नों के उत्तर वस्तुतः दर्शन द्वारा ही सम्भव हैं। इस प्रकार दर्शन की सम्पूर्ण खोज मानवीय नैतिक मानदण्डों अथवा मानव मूल्यों से सम्बन्धित है।

अब यह प्रश्न सहज रूप से उठ खडा होता है कि मानव-मूल्य क्या हैं ? अथवा मानव-मूल्यों की परिभाषा क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए संक्षेप में कहा जा सकता है कि मानव-मूल्य एक ऐसी आचरण संहिता अथवा सद्गुण समूह है, जिन्हें संस्कारों एवं पर्यावरण के माध्यम से अपनाकर व्यक्ति अपने निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु एक विशिष्ट जीवन पद्धति का निर्माण करता है और इस जीवन पद्धति का प्रश्रय लेकर वह एक आदर्श अथवा पूर्ण व्यक्तित्व के विकास का प्रयास करता है।

मूल्य और आदर्श दोनों ही चरित्र-निर्माण एवं व्यक्तित्व-विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अंगीकृत या आत्मसात् किये हुए मूल्य ही जीवन का आदर्श बनते हैं। मूल्य वह है, जो व्यक्ति को आत्मसाक्षात्कार कराते हैं और उसे सही अर्थों में अपने आत्मस्वरूप की पहचान कराने में सहायता करते हैं। यदि देखा जाये तो हमारे सभी सुख-दुःख, राग-द्वेष, शुभ-अशुभ विषयक निर्णय मानव-मूल्यों पर अवलम्बित हैं।

कुछ जीवन-मूल्य शाश्वत् होते हैं तथा कुछ युग की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप बदल जाते हैं, जिन्हें क्रमशः शाश्वत-धर्म एवं युगधर्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं। वे जीवन-मूल्य जो शाश्वत् हैं, नित्य हैं, कभी नहीं बदलते, वे 'शाश्वत्-धर्म'; तथा जो युग की आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के अनुसार बदल जाते हैं वे 'युग-धर्म' कहलाते हैं। उदाहरणार्थ, यदि सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के मूल्यों की परस्पर तुलना करें तो हमें उत्तरोत्तर इन युगों में ह्रासमान मूल्यों की ही झलक दिखाई देती है। महर्षि मनु ने इसी सत्य का उद्घाटन करते हुए कहा है-

अन्ये कृतेयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः॥ (मनुस्मृति १/८५)

अर्थात् सतयुग में दूसरे धर्म हैं तथा त्रेता, द्वापर और कलि में दूसरे दूसरे धर्म हैं, इस प्रकार युगानुरूप धर्म का ह्रास होता दिखाई देता है। जिस प्रकार ज्ञानमीमांसा शिक्षा विधियों का आधार होती हैं, उसी प्रकार मूल्यमीमांसा शिक्षा के उद्देश्यों का आधार होती है। शिक्षा और मूल्यों का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार कर लेने पर जीवनमूल्यों को शिक्षा के आधार स्वरूप स्वीकार किया जाना अतिशयोक्ति न होगी। यहाँ यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि महर्षि मनु द्वारा प्रतिपादित जीवन के सभी पक्षों से सम्बन्धित मूल्यों को मनुस्मृति में निरुपित किया गया है जिन्हें मनुस्मृति में इस प्रकार व्यक्त किया गया है।

१.१ मनुस्मृति की मान्यता के अनुसार जगत् की रचना एवं मूल्य निरूपण

मनुस्मृति की मान्यता के अनुसार जगत् की रचना के मूल में जगन्नियन्ता की एक सुनियोजित गम्भीरता है। समस्त जगत्, प्राणी और पदार्थ एक ही परमात्मा की संतान हैं। महर्षि मनु के अनुसार मनुष्य अपने आप में पूर्ण नहीं वरन् एक पूर्ण शाश्वत शक्ति का अंग है। परन्तु अपने लौकिक तथा सामाजिक जीवन में अपने धर्मगत कृत्यों तथा आदर्शों की पूर्णता के लिए उसे समाज का प्रश्रय लेना पडता है।

अतः मनुस्मृति की मूल्यमीमांसीय विवेचना के अन्तर्गत सभी महत्त्वपूर्ण मूल्यों यथा धार्मिक, जैवकीय, भौतिक एवं आध्यत्मिक मूल्यों की संक्षिप्त विवेचना करने का प्रयास किया गया है।

महर्षि मनु द्वारा प्रतिपादित आश्रम-व्यवस्था की नियोजना में मनुष्य के जीवन को सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित करने का प्रयास किया गया है। महर्षि मनु कृत मनुस्मृति में वर्णाश्रम की अभियोजना मनुष्य में दैवीय गुणों का आरोप कर उसे सामाजिक जीवन में विविध धार्मिक, भौतिक, जैविक, आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों को आत्मसात् करा आत्मिक उन्नति का मार्ग दर्शाती है। मनु द्वारा वर्णित आश्रमव्यवस्था की नियोजना के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलग-अलग ढंग से आश्रमों में प्रवेश कर कर्तव्याकर्तव्य तथा उनके लिये निर्धारित आदर्शों एवं मूल्यों का प्रावधान किया गया है। मनुस्मृति के अनुसार मानव-जीवन का अन्तिम और चरम लक्ष्य मुक्तिरूप अतिशायित सिद्धि प्राप्त करना था अतः आध्यात्मिक मूल्यों की चरम प्रतीति जीवन्मुक्त हो उसी ब्रह्म के साथ ब्रह्मीभूत हो जाने में मानी गई है -

"आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः।
भिक्षा बलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन्प्रेत्य वर्धते॥" (मनुस्मृति ६/३४)

अर्थात् यह एक आश्रम से दूसरे आश्रम में (ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में और गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थाश्रम में) आकर यथाशक्ति हवन कर जितेन्द्रिय रहता हुआ, भिक्षाचरण एवं बलिकर्म से श्रान्त (थका) हुआ द्विज विषयशक्ति का त्याग करता (संन्यास लेता) हुआ मरकर ब्रह्मभूत हो अतिसिद्धि (मुक्तिरूप अतिशयित सिद्धि) को प्राप्त करता है।

मनु के अनुसार मनुष्य की प्रकृति और स्वभाव के निर्धारण में सात्त्विक, राजस और तामस इन तीन गुणों का विशेष महत्त्व है। उनके अनुसार इस लोक की स्थापना तथा विकास में व्यक्ति के स्वभाव तथा गुणों की विशिष्ट भूमिका है। मनु का मानव सम्पूर्ण लोक-परलोक से सम्बद्ध है। उसके जीवन की पूर्णता जीवन का अन्तिम और शाश्वत् सत्य 'चरम-तत्त्व' है, जो सत्, चित् तथा आनन्द से युक्त है। दूसरे शब्दों में जो सत्यं, शिवं और सुन्दर का समुच्चय है। मनु की समाज व्यवस्था में इसी सत्य, शिव और सुन्दरं की प्राप्ति हेतु 'मूल्यगत् आदर्शों' की नियोजित प्रायोजना दिखाई पडती है। मनु के अनुसार समस्त जगत्, प्राणी और पदार्थ उसी एक स्वयंभू स्वप्रकाश्य परमात्मा की सन्तान है। सामाजिक-व्यवस्था की आत्मा से मूल्यगत आदर्श ही सम्पूर्ण सामाजिक पद्धतियों तथा उनकी एकता के कारण की कुंजी प्रदान करते हैं। परम्परागत चिन्तन में परमात्मा ने समग्र सृष्टि को नैतिक नियमों से पूर्ण बनाया है। मनु के अनुसार यह नैतिकता उस चरम शक्ति से निःसृत है जो आदर्श समाज और व्यक्ति से भी ऊपर है। इस अर्थ में मनु की नैतिकता तथा नियम का एक निश्चित स्रोत है। इस प्रकार व्यक्ति के ऊपर उठने का पथ नियम का एक निश्चित स्रोत है। इस प्रकार व्यक्ति के ऊपर उठने का पथ प्रशस्त है। उनकी मान्यता है कि इकाई के स्वरूप से ही पूर्ण का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है।

मनुस्मृति के अनुसार मनुष्य सामाजिक प्राणी की अपेक्षा असीम, अनंत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा मानवेतर शक्ति का अंग है। उसकी आत्मा उसी परम सत्ता का ही तत्त्व है। मनुष्यत्व की पूर्णता अथवा सफलता उसी पूर्ण की प्राप्ति अथवा उसके साथ मिल जाना है। मनुस्मृति के अनुसार मानव जीवन का आन्तरिक अथवा साध्य मूल्य एक सच्चिदानन्द निर्गुण ब्रह्म ही है। उस निर्गुण सच्चिदानंद ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाने अथवा उसे पाने की इच्छा ही इस मूल्य का आधार है। मनु आन्तरिक मूल्यों को मानसिक भी स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। न केवल मानसिक ही वरन् उन्होंने 'प्रकृति' की महत्ता को स्वीकार कर वस्तुगत साधन अथवा बाह्य मूल्यों को भी मान्यता प्रदान की है इस तर्क के साथ कि अनित्य एवं क्षणिक होते हुए भी यह व्यक्ति की इच्छापूर्ति और कार्य सिद्धि के आधार हैं चूँकि सभी प्रकार के मानसिक आदि कर्मों का फलभोक्ता मन है -

"मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्।
वाचा वाचाकृतं कायनैव च कायिकम्॥" (मनुस्मृति १२/८)

अर्थात् यह (देही-जीव) मानसिक कर्मों के फल को मन से, वाचिक कर्मों के फल को वचन से और शारीरिक कर्मों के फल को शरीर से ही भोगता है।

महर्षि मनु ने प्रत्येक व्यक्तित्व रचना के मूल में सात्त्विक, राजस और तामस इन तीन गुणों को आधार माना है और ये तीन गुण ही मूल्यगत धारण के आधार भी हैं। मनुस्मृति के अनुसार ये तीन गुण इस प्रकार हैं -

"सत्त्वं राजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यात्मनो गुणान्।
यैर्व्याप्यैमान्स्थितो भवान्महान्सर्वानशेषतः॥" (मनु. २/२४)

अर्थात् आत्मा (महान्) के सत्त्व, रज तथा तम ये तीन गुण हैं जिनसे युक्त यह महान् (आत्मा) सम्पूर्ण (चराचर) में व्याप्त होकर स्थित है। यद्यपि ये तीनों गुण प्रकृति में समरूप से व्याप्त है, परन्तु जिस व्यक्ति में निवेदन, प्रीति का प्राबल्य, क्लेश का अभाव, शान्ति तथा शुद्धि का वास हो, वह सात्त्विक है। वेदाभ्यास, यज्ञ, शास्त्र का अर्थ तथा ज्ञान, इन्द्रिय संयम, दान धर्म की वास्तविकता से परिचय, ये लक्षण सात्त्विक व्यक्ति के हैं। दूसरी ओर जो सत्-असत् के विचार से शून्य, विषयों में लीन, तर्क से हीन, जिसका अन्तःकरण अज्ञान से धूमिल है वह तामसी व्यक्ति है। अधिक धन की इच्छा, अधिक शयन, आचारहीनता तथा नास्तिकता ये तामसी व्यक्ति के लक्षण हैं। राजसी व्यक्ति में फल प्राप्त्यर्थ आरम्भ किये गये कार्य में रुचि होना, धैर्य का अभाव, शास्त्र वर्णित कर्मों का आचरण तथा सदा (रूप, रस, शब्द आदि) विषयों में आसक्ति होना आदि गुण पाये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाते हैं। व्यक्तियों में इन गुणों की विभिन्नता ही व्यक्तित्व विभिन्नता तथा मूल्यों की विभिन्नता का आधार होती है।

वस्तुतः भारतीय व्यक्तित्व की सर्वाधिक पूर्ण व सार्थक व्याख्या गुण एवं मूल्यानुसार जीवन के सर्वोच्च लक्षण 'मोक्ष' अथवा 'पूर्णता' की प्राप्ति की संभावना के रूप में मिलती है। भारतीय मनीषियों ने भी जीवन के चार मूल्यों अथवा पुरुषार्थों को सम्पादित किया है। वे हैं- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। मनुस्मृति में भी इन्हीं मूल्यों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के समन्वय में ही जीवन की पूर्णता बताई गई है।

मनुस्मृतीय वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार जो व्यक्ति इन चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) में इन पुरुषार्थों को सम्पन्न कर चुका हैं अथवा जिसने इन जीवन-मूल्यों को अपने व्यक्तित्व में समाहित कर लिया है ऐसा व्यक्ति निश्चित रूप से पूर्णता को प्राप्त करेगा।

मनुस्मृति में मनु द्वारा प्रतिपादित जीवन-मूल्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं। मनुस्मृति में प्रतिपादित प्रमुख मूल्य, धार्मिक मूल्य है जिसे मनु ने नैतिक और आचारगत अनुशासन से भी जोडा है। 'धारणाद् धर्ममित्याहुः' के अनुसार धर्म जीवन का मूलाधार है । इसी से मनुष्य को प्रेरणा और प्रकाश उपलब्ध होता है। मनुस्मृति के अनुसार धर्म वस्तुतः संकुचित नहीं, विशद्, महान् एवं उदात्त भावना से प्रकाशमान् होता है। अतः मनुस्मृति में वर्णित धार्मिक मूल्य एवं सदाचरण की श्रेष्ठता पर प्रकाश डालना प्रासंगिक होगा।

१.२ मनुस्मृति में धार्मिक मूल्य की सनातनता एवं सदाचरण की श्रेष्ठता

मनुस्मृति में धार्मिक मूल्यों को दो पक्षों में बाँटा गया है :- (१) व्यष्टिगत धार्मिक मूल्य,(२) समष्टिगत धार्मिक मूल्य। इन दोनों ही मूल्यों का एक ही उद्देश्य है- परम पुरुषार्थ की प्राप्ति। मनु के अनुसार शौच, आचार, पंचमहायज्ञ, संध्यावंदन ये, नित्यकर्म विशिष्ट मूल्यों के अन्तर्गत आते हैं। काल एवं पात्रानुरूप मूल्यों के स्वरूप में परिवर्तन हुआ करता है परन्तु कुछ नियम, आदर्श अथवा मूल्य ऐसे हैं, जो शाश्वत् हैं, सनातन हैं, तथा सभी देशकाल और पात्रों के लिए सामान्य रूप से मान्य हैं। अहिंसा, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह, सत्य तथा शुचि आदि मूल्य इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

मनुस्मृति में 'धर्म' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। पहला चार पुरुषार्थों के एक भेद के रूप में। दूसरा कर्तव्य एवं दायित्व बोध से सम्बन्धित प्रारूप में। अतः मनुस्मृति में सत्यं, शिवं एवं सुन्दरं की वृद्धि करने वाली क्रियाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा पुरुषार्थों को ही धर्म कहा गया है ।

"वेदःस्मृति सदाचारः स्वस्थ च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥" (मनुस्मृति २/१२)

मनुस्मृति में धर्म, वेदाध्ययन, व्रतों की संकल्पमूलता, धर्म के चतुर्विध लक्षण, वेद, स्मृति, सदाचार, आत्मा का ज्ञान आदि के माध्यम से आध्यात्मिक अथवा धार्मिक मूल्यों का परिचय दिया गया है। यही नहीं समाज द्वारा मान्य 'सदाचरण' के आधारभूत नैतिक मूल्य को भी स्वीकारा गया है।

मनु की दृष्टि में सर्वोत्कृष्ट व्यक्तिगत मूल्य सदाचरण ही है चूँकि, सदाचारी व्यक्ति जिसने सद् आचरण या वेद एवं स्मृति-सम्मत शुभकर्मों को अपने व्यवहार में उतार लिया है तथा निरालस होकर उसका पालन करता है वह शारीरिक एवं बौद्धिक रूप से प्रभावशाली व्यक्तित्व का स्वामी न होते हुए भी सुखपूर्वक शतायु होकर जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार महर्षि मनु ने मनुस्मृति में सदाचरण को सर्वश्रेष्ठ व्यष्ठिगत् मूल्य के रूप में पारिभाषित किया है। मनुस्मृति के अनुसार -

"सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥"(मनु. ४/१५८)

सन्मूल्यों को धारण करके ही मनुष्य भौतिक एवं अधिभौतिक सुखों को प्राप्त कर सकता है अंतः सदाचरण की प्रशंसा करते हुए मनु कहते हैं -

"आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताःप्रजाः।
अचाराद्धनमक्षच्चमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥" (मनु. ४/१५९)

उक्त श्लोक के आधार पर स्पष्ट किया गया है कि आचार से व्यक्ति अपने अभिलिषित को प्राप्त करता है। मनुस्मृति के अनुसार मनुष्य के आचरण को सत्य, शुभ और सुन्दर बनाने वाले निम्न मूल्य हैं जिनको अपने आचरण में उतार कर व्यक्ति अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है -

"अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्म चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥" (मनु. १०/६३)

अर्थात् अहिंस, सत्य, अस्तेय, शुद्धता, इन्द्रियों का निग्रह आदि ये कुछ ऐसे सनातन नियम अथवा मूल्य हैं जो सामान्य रूप से सभी देश, काल एवं पात्रों के लिए मान्य हैं, जिन्हें सामान्यधर्म की श्रेणी के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

एक अन्य स्थान पर मनु द्वारा जीवन मूल्यों को प्रतिपादित किया गया है जिसे मनु ने 'यम' कहा है -

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अनुशंस्यं क्षमा सत्यमस्पृहा दममस्पृहा।
ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश॥" (मनु.४/१०)

अर्थात् अक्रूरता, क्षमा, सत्य, अहिंसा, इन्द्रिय दमन, अस्पृश्यता, ध्यान, प्रसन्नता और सरलता ये दश यम हैं।

इसके अतिरिक्त महर्षि मनु ने पाँच उपव्रतों के रूप में भी मूल्य दिये हैं-

"अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्पकता ।
उपस्थेयमिति पंचैके यमश्चोपव्रतानि च ॥" (मनु. ४/११)

अचार्य ये पाँच उपव्रत तथा 'यम' हैं। मनुस्मृति में आध्यात्मिक मूल्यों को 'नियम' की संज्ञा दी गई है जो निम्न श्लोक द्वारा स्पष्ट हो रहे हैं-

"शौचमिज्या तपो दानं स्वाध्यायोपस्थ निग्रहो।
व्रतोपवासौ मौनं च स्नानं च नियमा दश॥" (मनु. १०/१३)

अर्थात् पवित्रता, यज्ञ, तपस्या, दान, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, व्रत, उपवास, मौन और स्नान ये दस नियम हैं जो विशिष्ट-धर्म अथवा व्यक्तिगत मानव-मूल्य कहे जा सकते हैं।

परम्परागत चिन्तन में परमात्मा ने सृष्टि को नैतिक नियमों से पूर्व बनाया है। मनु के अनुसार नैतिकता उस चरम शक्ति से निःसृत है जो आदर्श समाज और व्यक्ति से भी ऊपर है। मनु के अनुसार एक ओर तो परमात्मा ने इस समाज की विभिन्न संस्थाओं, जड तथा चेतन तत्त्वों की रचना की है। दूसरी ओर इसकी मर्यादा का भी नियंत्रण तथा नैतिकता के लिए कुछ नियमों का निर्माण किया है जो अमूर्त हैं, जिन्हें समाजहेतु आदर्श या मूल्य की संज्ञा दी जा सकती है, जैसे गुरू की सेवा, बडों का सम्मान, परस्त्री के नामोच्चारण का निषेध, अतिथि सत्कार आदि। मनुस्मृति में मनु ने जिन नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का प्रतिपादन किया गया है वे साध्य नहीं साधन मूल्य हैं, जिनसे परमात्मा तत्त्व की अनुभूति एवं उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। विशिष्ट या व्यष्टिगत धर्म में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी हेतु पृथक्-पृथक् कर्मों के लिए नियमों के विधान मनु ने दिये हैं। वे मूल्य जिन्हें मनुस्मृति में 'नियम' की संज्ञा दी गई है व्यष्टि एवं समष्टि को ध्यान में रखकर ही दिए गये हैं, जो मानव को एक पूर्ण मानव बनाकर उसे मोक्ष का अधिकारी बनाते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि संस्थाओं की जटिलता तथा उनका प्रभाव जो मनुष्य की नैतिक भावनाओं, चरित्र तथा क्रिया का निर्माण करते हैं, वे ही धार्मिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्य हैं, जिनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ही लक्ष्य या साध्य है - मनुष्य को सच्चिदानन्द ब्रह्म की प्रथम प्रतीति देना तथा भारतीय संस्कृति के अन्तिम और प्रथम चरम लक्ष्य 'मोक्ष-प्राप्ति' हेतु दिशा निर्देश देना।

इस प्रकार महर्षि मनु द्वारा एक ओर तो वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था आदि के द्वारा पूरे समाज का तथा दूसरी ओर शौच, सदाचार, अतिथि सत्कार, संस्कारों, पंच महायज्ञों तथा निषेधों की एक बृहत् सूची द्वारा व्यक्ति के जीवन को अनुशासित कर एक ही लक्ष्य-'मोक्ष' की प्राप्ति का बिना किसी विशेष के पथ ढूँढ निकाला। इस दृष्टि से मनु के विधि तथा निषेध भी अध्यात्मवादी नीतिशास्त्र की उस श्रेणी के अन्तर्गत आ जाते हैं, जहाँ जीवन का उद्देश्य अपनी शक्तियों का समग्र विकास करना है।

मनु के अनुसार धर्म के मूल 'सदाचार'-मूल्य का व्यक्ति को आलस्य रहित होकर पालन करना चाहिये चूँकि मनुष्य को सदाचार से ही दीर्घायु, अभीष्ट संतान तथा अक्षय धन की प्राप्ति होती है। दुराचारी पुरुष दुःखी, निद्रित, रोगी तथा अल्पायु होता है। मनुस्मृतीय मूल्यव्यवस्था में मृदुभाषिता और सत्य-वादिता पर विशेष रूप से बल दिया गया है चूँकि यही सामाजिक मूल्य, सामाजिक सम्बन्धों की दृढ श्रृंखला रूप भी है। मनुस्मृति के अनुसार -

"सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥" (मनु. ४/१३८)

अर्थात् सत्य बोले, सत्य भी अप्रिय न बोले और प्रिय भी असत्य न बोले, यही सनातन धर्म है अर्थात् यही शाश्वत् या सनातन मूल्य है।

इस प्रकार मनुस्मृति में वेदसम्मत विधि एवं निषेधों, यम-नियमों, आचारगत अनुशासन द्वारा जीवन को संतुलन एवं सार्थकता प्रदान करने का प्रयास किया गया है और मनुस्मृति में इन विधि-निषेधों, यम-नियमों तथा आचारगत अनुशासन को धार्मिक मूल्य का पर्याय भी माना गया है।

अतः सारांशतः यह कहा जा सकता है कि मनुस्मृति में प्रतिपादित मूल्यों का अभिप्राय व्यक्ति को कर्तव्यों, सत्कर्मों एवं सदगुणों की ओर ले जाना है तथा उसकी आकांक्षाओं, रुचियों एवं आवश्यकताओं के मध्य संतुलन बनाकर माननीय व्यवहार का नियमन और नियंत्रण करना है।

२५, रामनगर कॉलनी,
सिविल लाईन, आगरा - २८२००२

डा. श्रीमती रमा शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देख कबीरा रोया

इसी शीर्षक से अपने पूर्व लेख (परामर्श, खण्ड - १४, अंक - ४, मार्च, १९९३) में हमने कबीर के भाषा सम्बन्धी कतिपय व्यंग को स्पष्ट करने का प्रयास किया है, जिसमें उन्होंने अर्थ के निर्देशन सिद्धान्त की आलोचना की है । उक्त लेख की तीव्र आलोचना डा. हरिहर प्रसाद गुप्त ने (परामर्श, खण्ड -१४, अंक ४, सितम्बर, १९९३) की है, जिसका समुचित उत्तर हमने (परामर्श, खण्ड -१५, अंक २, मार्च, १९९४) दिया है । मेरा वह लेख अधूरा था, जिसकी अगली कडी प्रस्तुत लेख है ।

इस सन्दर्भ में दुःखद पहलू यह है कि प्राचीन भारत में भाषा-दर्शन के क्षेत्र में जितना ही अधिक कार्य हुआ उसका चौथांश भी मध्य काल में नहीं हुआ । संभवतः इसका कारण इस्लामी आक्रांताओं द्वारा इस देश पर आधिपत्य और अन्ततः देश की गुलामी रहा है । दर्शन, धर्म और इतिहास पर इतने आक्रमण हुए कि इन सबों का विकास ही अवरुद्ध होता था । तक्षशिला का पतन, नालन्दा का विनाश और छुप-छुपकर मिथिला और मिथिला से नादिया तक इस प्राचीन उपलब्धि को संरक्षित रखना ही कठीन हो गया । यही कारण है कि भाषा के क्षेत्र में जनप्रचलन का अर्थ ही प्रचलित रहा और आम आदमी प्रायः भाषा के निर्देशन सिद्धान्त को ही अपनाता रहा । यदाकदा वे संवेगार्थ को भी प्रश्रय देते हैं । यद्यपि भारतीय भाषा में भी समादेशक तत्त्व होते हैं, परन्तु उसे भारत में उस समय तक विकसित नहीं किया जा सका था । प्राचीन सिद्धान्तकारों में न्याय, भर्तृहरि, पतंजलि आदि के सिद्धान्त भी शब्द-शक्ति-अर्थ को केन्द्र बनाकर विमर्श करते रहे । इसका साक्ष हमें आज भी उपलब्ध है (मधु कपूर, 'न्यायमतानुसार पद-पदार्थ-सम्बंध-वृत्ति स्वरूप', परामर्श, खण्ड - १४, अंक ३, जून १९९३ देखें) कबीर भी इसी अर्थ के निर्देशन सिद्धान्त के निर्बल पक्ष पर आघात कर रहे थे । वस्तुतः इसके द्वारा कहीं-कहीं अनर्थ तो होता ही है, साथ ही साथ हम उलझन में भी पडते हैं । जैसे 'हल्दी घाटी का नायक' और 'महाराणा प्रताप' दो पद हैं जबकि गुणार्थ एक ही है, ऐसे ही गुणार्थ एक और वस्त्वर्थ दो भी संभव हैं, जैसे,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मैं' । इसके अलावा कबीर भाषा में व्यक्त वैसे तथ्यों की ओर भी संकेत कर रहे थे जो उस समय के प्रचलित अर्थ-निरूपण-सिद्धान्त से विलक्षण थे, परन्तु उसे सिद्धान्त के रूप में मान्यता नहीं थी । प्रथम पुरुष के रूप में व्यक्त भाषा का अर्थ-निरूपण, सामान्य अर्थ-सिद्धान्त से संभव नहीं है ।

मूलतः हिन्दी के जिन विद्वानों ने कबीर को भक्त कवि कहा उन्होंने इनके साथ घोर अन्याय किया । इसी प्रकार जिन लोगों ने इन्हें मध्यमार्गी कहा उन्होंने भी इनकी अवहेलना की । किसी कालविशेष में जन्म लेने से उसके ऊपर काल की विशेषता को थोपना अथवा उनके काल में कतिपय प्रसिद्ध लोगों द्वारा एक विशेष क्षेत्र में लेखन कार्य करने से व्यक्तिविशेष को भी उसी क्षेत्र में घसीट लेना असंगत है । स्वतंत्रता-संग्राम में गांधी, नेहरू, पटेल आदि भी थे और सुभाष चन्द्र बोस, भगत सिंह, आजाद आदि भी थे, परन्तु ये सब समान मतावलम्बी नहीं थे । सच तो यह है कि इतिहासकार ने उस काल को भक्ति आन्दोलन कह दिया और हिन्दी साहित्य के समीक्षकों ने भी इसी पदावली के प्रभाव में आकर कबीर को भी भक्त कवि मान लिया, जबकि सूर और तुलसी की तरह उनके कोई इष्ट नहीं थे और उन्होंने 'राम' शब्द का अनेकार्थ प्रयोग करके यह संकेत भी देने का प्रयास किया है, 'एक राम घट-घट में बोले एक राम दशरथ घर डोले' 'पिया मोर राम''मैं राम की बहुरिया' आदि । मात्र काव्यात्मक अभिव्यक्ति के चलते उन्हें विशुद्ध साहित्यकार मान बैठना एक भूल है । नित्शे ने संवाद में, सार्त्र ने उपन्यास में जिन चीजों को अभिव्यक्त किया है, वे विशुद्ध साहित्य नहीं है । उसी तरह कबीर भी विशुद्ध साहित्यकार और भक्त नहीं थे, हाँ उनकी अभिव्यक्ति में ये दोनों तत्त्व अवश्य विराजमान हैं और वे काल के प्रभाव हैं और साथ ही जिन लोगों के बीच वे प्रवचन करते थे उन्हें ध्यान में रखकर ऐसा करना उनकी लाचारी थी ।

साहित्य और दर्शन बहुत दूर-दूर नहीं हैं । इस तथ्य को हम जैक्स डेरिडा की मान्यता और आधुनिकोत्तरवाद की प्रवृत्ति में आसानी से देख सकते हैं । वैसे ही टैगोर प्रभृति विचारक भी मानते हैं कि दर्शन से विलग साहित्य, साहित्य है ही नहीं और उन्हीं के समान श्री अरविन्द में भी इस तथ्य को देखा जा सकता है । आधुनिकोत्तरवादी साहित्यिक आलोचना के सिद्धान्त में इसी बात पर बल दिया गया है ।आधुनिकोत्तरवाद की ही एक विधा विखण्डवाद (डीकन्स्ट्रक्शनलिज्म) है । इस सिद्धान्त के एक समर्थक डेविड बर्च ने अपनी पुस्तक लैंग्वेज लिटरेचर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एण्ड क्रिटिकल प्रैक्टिस में लिखा है, 'विखण्डनवाद का विश्वास है कि दर्शन शास्त्र और साहित्य में एक प्रकार की अन्योन्य क्रिया होती है । वे सिद्धान्त जिनका प्रतिपादन दर्शनशास्त्र में किया जाता है उसे साहित्य में अन्य आकार में प्रयुक्त किया जाता है । दूसरे शब्दों में दर्शन और साहित्य रूपक समान है । न तो दर्शनशास्त्र का कोई रूपक मृत है और न ही साहित्य का जीवित।[१]' उपर्युक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि विचार की आपूर्ति साहित्य में दर्शन से होती है और साहित्य उसका सम्पोषण करता है । डेरिडा जैसे दार्शनिक और भाषा-वैज्ञानिक मानते हैं कि प्लेटो ने साहित्य के साथ अन्याय किया है और वस्तुतः दोनों में अवियोज्य सम्बंध है ।[२]

संभव है कबीर की यात्रा भी इसी तरह की रही हो । वे भी किसी दार्शनिक सिद्धान्त पर भाषा का मलम्मा चढाकर काव्य रचना करने का प्रयास किये होंगे और इसी प्रयास में उन्होंने एक ही साथ कई कार्य कर दिये । प्रथमतःतो वे बहुत पढे लिखे नहीं थे फिर भी इस्लामी धर्म और दर्शन तथा दूसरा हिंदुधर्म और भारतीय दर्शन । जहाँ एक ओर इस्लाम धर्म और दर्शन अवियोज्य और एकरूप था, वहीं हिन्दू धर्म में अनेक संप्रदाय और अनेक धार्मिक सिद्धान्त भी प्रचलित थे । गंगेश उपाध्याय और रघुनाथ का नव्य-न्याय और चैतन्य महाप्रभु का भक्ति-संदेश । रामानन्द का सम्प्रदाय जो आचार्य वल्लभ के प्रभाव में थे, सन्तों के बीच रहने के कारण सांख्य-वेदान्त-योग आदि से भी अवश्य ही परिचित हुए होंगे । सामाजिक स्थिति यह थी कि इस्लाम के अन्तर्गत एकता का ढिंढोरा पिटा जाता था, परन्तु उनमें भी एकता का सर्वथा अभाव था । कबीर के समय भारत पर तैमूर लंग का आक्रमण, लोदी द्वारा इटावा के सुल्तान मोहम्मद शर्की और जौनपुर के सुल्तान को इस्लाम के नाम पर हरा देना आदि ऐसी घटनाएँ थीं जिनसे उन्हें अवश्य प्रभावित किया होगा । हिन्दुओं में तो एकता थी ही नहीं । इसी परिप्रेक्ष में उन्होंने कई काम किये । प्रथम तो सनातन धर्म में व्याप्त दार्शनिक सिद्धान्त को अपने साहित्य का आधार बनाया जिसमें उन्होंने नासदीय सूक्त को अपनाते हुए 'एकोऽहं विप्रा बहुधा वदन्ति' को ही अपने काव्य में विभिन्न आकार प्रदान किया । साहित्यिक क्षेत्र में (विशेषकर हिन्दी साहित्य) इतने मौलिक स्तर पर जाकर रचनाधर्मिता को अपनाने वाले प्रथम कवि थे । सूर या तुलसी के पास कोई न कोई पूर्व ग्रंथ था, परन्तु कबीर ने इस प्रकार के किसी प्राचीन आख्यान को आधार न बनाकर सर्वथा मौलिक दार्शनिक सिद्धान्त को आधार बनाया, जिसके कारण आधुनिकोत्तरकाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भी उनके साहित्य की मौलिकता अक्षुण्ण है । पुनः वैदिक दर्शन के सिद्धान्त में और शुद्ध इस्लाम के एकेश्वरवाद में बहुत दूरी नहीं रह जाती है । मौलिक साहित्य की रचना को निकष बनाया जाय तो हम देखेंगे कि दिनकर, प्रसाद आदि भी कबीर के समान मौलिक नहीं थे, क्योंकि हिन्दी साहित्य में आज भी लोग या तो प्राचीन आख्यान, जो या तो महाभारत के होते हैं या किसी अन्य क्षेत्र के, को आधार बनाते हैं, या मार्क्सवाद को और इनसे परे किसी तटस्थ सिद्धान्त की ओर बढना वे चाहते ही नहीं हैं । कबीर के ऊपर वैदिक दर्शन से प्रभावित होने का कारण मैं पूर्व लेख में स्पष्ट कर चुका हूँ ।[३] अतः उसे पुनः उद्धृत करना समीचीन नहीं है ।

आइए अब हम विचार करें कि दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य कबीर ने क्या किया और वस्तुतः यही विचार इस लेख का केन्द्रबिन्दु है । आख्यान से हटकर काव्य रचना अथवा साहित्यरचना का कार्य आधुनिक काल में प्रेमचन्द और अज्ञेय ने किया है । ऐसी रचनाओं की प्रासंगिकता कभी समाप्त नहीं होती है और ऐसे काव्य का न तो प्रारंभ माना जाता है और न अन्त ही ।[४] दर्शनशास्त्र में जिन समस्याओं पर विचार किया जाता है वे या तो जीव होते हैं या अजीव। इन दोनों से परे न तो तत्त्वमीमांसा और न ही ज्ञानमीमांसा अपना पराश फैलाता है । तर्कशास्त्र शुद्ध आकारिक होने के चलते मात्र भाषिक-गाणितिक ताना-बाना तक सीमित रह जाता है । परन्तु जीवन में ऐसे अनेक तथ्य हैं जो न तो जीव की कोटि में आते हैं और न अजीव की कोटि में, फिर भी जीवन के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं । प्राचीन काल से लेकर आजतक वैसे तथ्यों में थोडा बहुत परिवर्तन भी हुआ है, परन्तु फिर भी अपने मौलिक स्वरूप में वे तथ्य आज भी समीचीन हैं । उन तथ्यों में से एक तथ्य प्रेम है । यहाँ तथ्य को तार्किक या ज्ञान मीमांसीय अर्थ नहीं दें, बल्कि एक समस्या मानकर चलें । प्रेम की अभिव्यक्ति कितनी कठिन है यह **बाइबिल** के 'सौंग ऑफ द माऊजेज' से भी स्पष्ट है ।[५] हाल में शायर कतील (पाकिस्तान) ने भी इस तथ्य का अनुभव करते हुए साहिर लुधियानवी के इस गीत 'एक शहंशाह ने बनवाकर हंसी ताजमहल हम गरीबों के मोहब्बत का उडाया मजाक है' का जबाब देते हुए लिखा है, 'इक शहंशाह ने इक ईट से तामीर किया ताजमहल, हमने इक बात कही, लाख फसाने निकले।'[६] अर्थात् ताजमहल प्रेम का प्रतीक है और उसका निर्माण पत्थरों से इसलिए किया गया कि वे बेजुबाँ होते हैं । यदि बोलने वाले तत्त्वों से ताजमहल का निर्माण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता तो वह महल होता, लेकिन प्रेम का प्रतीक नहीं । इसका पता इस तथ्य से भी चलता है कि यदि शाहजहाँ से पूछा जाता कि क्या आपके प्रेम की यह अभिव्यक्ति पूर्ण है तो संभवतः वे भी कहते की नहीं । यह सत्य है 'सौंग ऑफ द माऊजेज' का कि प्रेम करने से अधिक प्रेम की अभिव्यक्ति कठिन है, क्योंकि हमारे पास जानने या मापने की दो ही कोटी है - जीव, अजीव; और प्रेम इन दोनों में से किसी के अन्तर्गत नहीं आता है ।

दार्शनिक स्तर पर 'प्रेम' को एक समस्या बनाने का श्रेय अस्तित्ववादी पास्कल और किर्केगार्ड को है । वे कहते हैं, ईश्वर का ज्ञान उसके प्रेम से बहुत भिन्न है । इसमें हृदय के विवेक की आवश्यकता है ।[७] शब्द की जटिलता इसी से परिलक्षित होती है कि पुरुष-नारी का प्रेम और ईश्वर के प्रेम तथा पडोसी के प्रेम में अन्तर बतलाने वाले दो उपयुक्त शब्द हों भी तो प्रत्येक शब्द का प्रयोग भिन्न प्रकार के भावों के लिए होता जैसे - अनुरक्त हो जाना, पति-पत्नी का प्रेम, माँ-बाप और बच्चे का प्रेम, मित्रों का प्रेम, ईश्वर का प्रेम, मानव-जाति का प्रेम, पडोसी के रूप में एक व्यक्ति का प्रेम, शत्रु का प्रेम, देश प्रेम, सौंदर्य-प्रेम, किसी कृति से आदि ।[८] मार्टिन व्यूवर की सम्पूर्ण कृति **आई एण्ड दाउ** इसी समस्या से ग्रासित है । वे मानते हैं कि 'मैं' कोई समग्र सत्ता नहीं, बल्कि मैं-तू ही समग्र सत्ता है ।[९] समस्त सच्चा जीवन मिलन है ।[१०] सीधे सम्बन्ध में प्रेम अपने आप बना नहीं रहता । यह वास्तविक और सामान्य प्राणी के अन्तर-परिवर्तन में बना रहता है । प्रेम हमारे उस अस्तित्व का द्वार खोलता है जो अनुभवातीत है ।[११]

प्रेम को यही ऊँचाई कबीर भी देना चाहते हैं । ऊपर हमने दिखलाया है कि वे नासदीय सूक्त से और अद्वैतवाद से प्रभावित थे । उनकी एक साखी द्रष्टव्य है, ''एक कहौं है नहीं दौ कहूँ तो गारी, जैसे है तैसो रहै कहै कबीर विचारी'', और इस सत्ता तक प्रेम मार्ग से पहुँचना ही जीवन का ध्येय है । प्रेम पर सूर ने भी लिखा, तुलसी ने भी लिखा और मीरा ने भी लिखा, परन्तु प्रेम को दार्शनिक स्तर पर समस्या बनाकर व्याख्यायित करने का जितना प्रयास कबीर ने किया, उतना हिन्दी साहित्य में दुर्लभ है । मार्टिन व्यूवर ने प्रेम को अनुभवातीत अस्तित्व के द्वार खोलने की कुंजी कहा, कबीर ने इसे विलक्षण कहा । यह तरवार की धार पर चलने के तुल्य है, असावधानी हुई और पाँव कटा । कबीर ने इसे विलक्षण कोटि कहा । ''प्रेम न बारी ऊपजे प्रेम न हाट बिकाय, राजा परजा जेहि रूचै शीस देय लै जाय ।'' इस साखी में 'बारी' का आशय खेत या घर के बगल का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह हिस्सा है जहाँ पोधें उगाए जाते हैं । प्रेम कोई सजीव सत्त्व नहीं जिसे खेत में उपजाया जाय या एक जगह से पौधा उखाडकर दूसरे स्थान पर लगा दिया जाय । वस्तुतः प्रेम सजीव है ही नहीं । उसी तरह टेबुल, कुर्सी या अन्य वस्तु की भाँति वस्तु नहीं है, जिसे हम बाजारों में बेच सकते हैं या खरीद सकते हैं । यह तो शुद्ध भाव है जो मानवीय स्तर पर मानव के प्रति, पशु के प्रति, पेड-पौधों के प्रति, पत्नी, पुत्र, गुरु, शिष्य या ईश्वर के प्रति व्यक्त किया जाता है । यह तो ढाई अक्षर का शब्द है, जिसके साथ 'था' या 'होगा' का प्रयोग निरर्थक है । प्रेम की सही अभिव्यक्ति 'प्रेम है' ही पर्याप्त है । ऊपर किर्केगार्ड द्वारा वर्णित जिन सांसारिक और अनुभवातीतता की ओर संकेत है - वे सब कबीर की इन पंक्तियों में सामविष्ट हैं ।

आधुनिकोत्तरवाद में इस तथ्य पर जोर दिया जाता है कि जिनकी जो स्थिति है उन्हें उनकी स्थितियों में अभिव्यक्ति प्रदान करने का अधिकार दें । उन्हें अपना रास्ता बनाने दें । रुकावट मत डालें । चाहे वह नारी हो, तृतीय जगत् के मनुष्य हों, पर्यावरण हो या अन्यान्य क्षेत्र, उसे अपने स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त करने दें । यही सच्ची प्रगति है । कबीर बहुत पहले ही कह गये कि राजा और प्रजा का भेद, मानव की स्थिति और उसके पेशे का भेद रह गया तो सच्चा प्रेम नहीं पनप सकता है । प्रेम का सम्बन्ध जीवन से है । दार्शनिक प्रश्न करते हैं जीवन क्या है ? कितना निरर्थक प्रश्न है । जीवन दो शून्य के मध्य है - एक जन्म के पूर्व का शून्य और दूसरा मृत्यु के बाद शून्य और दोनों अज्ञात और अज्ञेय हैं, फिर भी जीवन से अवियोज्य है । कबीर का कहना है जीवन न 'था' न 'होगा' यह है । परन्तु 'है' की कोई कोटि नहीं होती । इसलिए दर्शन में यह बहुत दिनों तक उपेक्षित रहा । इसे तीसरे कोटि का कहना उचित है। सांख्य, वेदान्त, बुद्ध, जैन आदि का कैवल्य, मोक्ष, निर्वाण और मुक्ति सब उसी कोटि की ओर संकेत है । कैवल्य का अर्थ ही है ''कोई नहीं केवल पुरुष'' और इस अवस्था में पुरुष परमपुरुष के साथ ही होगा, कहीं अन्यत्र नहीं । यह तीसरी कोटि साहित्य की है । इसी अर्थ में डेरिडा ने साहित्य को दर्शन का पूरक अथवा अवियोज्य अंग कहा है ।

कबीर की तीसरी कोटि अथवा विलक्षण कोटि की ओर संकेत और प्रेम को इस कोटि का सदस्य मानने पर अत्यधिक बल देना सर्वथा नवीन प्रयास नहीं है । भारतीय तंत्र-मार्ग और बौद्धदर्शन में यह परम्परा प्राचीन है । एकवादी आगम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और क्षेमराज द्वारा समीचीन प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में जिस स्वच्छन्दतन्त्र पर विचार हुआ है,[१२] कबीर में उसी की प्रतिध्वनि है । स्वच्छन्दतन्त्र मूलतः एक दीक्षा से सम्बन्धित सिद्धान्त है जिसका विषय वस्तुकर्मकाण्ड और योग-ध्यान है । कबीर भी गुरुशिष्य परम्परा में प्रकट हुए थे । संभव है, रामानन्द ने लोक-लाज के भय से कबीर को प्रचारित करने से मना किया हो और उन्हें स्वच्छन्दतन्त्र के कतिपय बातों से अवगत करवाया हो । क्योंकि कबीर पर इस सिद्धान्त का भी यथेष्ट प्रभाव देखा जा सकता है ।

तन्त्रालोक में तीन भुवनों की बात की जाती है । सृष्टि का आदि कारण सूक्ष्म शिव है जिसे प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है । बिना इच्छा के ही शिव अपनी तेज से व्योम में लीला करते हैं । यही व्योमउपादान कारण है । **मैत्रायणीय उपनिषद्** में वायु और व्योम को शिव का सार और स्वतः परम तेज को सर्वोच्च ताप कहा गया है जिससे जो वर्ण 'ऊँ' के साथ प्रथम प्रकाश उत्पन्न हुआ ।[१३] कबीर भी कहते हैं - ''एक शब्द ओंकार से उपजा सकल जहान'' तथा ''भूमि बिना अरु बीच बिना तरबर एक भाई अनन्त फल प्रकाशिया गुरु दिया बताई'' । स्पष्ट है, दीक्षा के क्रम में इन्हें इनके गुरु ने स्वच्छन्दतन्त्र-दर्शन का मोटा-मोटी ज्ञान कराया था जिसमें चित् और अचित् से विलक्षण सत्ता की ओर संकेत था ।

ऊपर हमने विश्व-संरचना के क्रम में स्वच्छन्दतन्त्र के अनुसार शिव-सूक्ष्म-व्योम- 'ऊँ' को देखा । अब आगे कहा गया है कि व्योम में हलचल से शून्य की उत्पत्ति हुई - जिसे गणित का शून्य अथवा रिक्त नहीं माना जाना चाहिए, जैसा कि कैटरीना कोमियो भी मानते हैं ।[१४] और कामचलाऊ ढंग से इसे निर्वात या रिक्त मानते हैं । शून्य से स्पर्श और स्पर्श से नाद की उत्पत्ति हुई । 'शून्यात् स्पर्श समुद्भवः तस्मान् नादः समुत्पन्नः ।[१५] इस शून्य को मैत्रायणीय उपनिषद् और नृसिंम्होत्तरतापनीय उपनिषद् में 'आनन्द' कहा गया है, कहीं प्रपंचसारतंत्र में इसे बिन्दु कहा गया है जिसका प्रतीक वृत्त या रिक्त दिक् है ।[१६] यह शून्य शिव नहीं है, बल्कि एक व्युत्पन्न निर्वात या एक प्रकार का कुण्डल में स्थित रिक्त है न कि 'नाश' की स्थिति । नाद के द्वारा यही रिक्तता नाद में अवस्थित माध्यम के द्वारा सृष्टि करने में सक्षम है । इस तरह विलक्षण शून्य व्योम और स्पर्श के बीच एक कड़ी है । नाद-ध्वनि के अन्तर्गत आठ पहलुएँ हैं : घोष, राव, स्वन, शब्द, स्फोट, ध्वनि, झंकार और ध्वङ्कृत और इसके अलावा महाशब्द जो सभी चीजों को छेदने में सक्षम है और निरन्तर एवं शाश्वत ध्वनि है । कबीर के अनेक भजनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में ऐसी ध्वनियों की चर्चा है। नाद से बिन्दु की उत्पत्ति हुई जिसमें लाखों सूर्यों का विस्फोट दस पहलुओं में हुआ। परिणामस्वरूप अनेक रंग उत्पन्न हुए जिनमें, सीतम, रक्तम, पीतम्, कृष्णम्, हरित, पिंगलम्, नीलम्, विचित्रवर्णम्, स्फटिकाभम्, मनोरमम् आदि हैं। यही पृथ्वी के पूर्व सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया है जिस में शिव या ईश्वर स्वतः अपने ही स्वतंत्र-संकल्प और शुद्ध तेज का सार है। जगत् अपनी अनेकता में वैसे ही परावर्तित हुआ जैसे दर्पण में वस्तु। अतः स्वच्छन्दतन्त्रवाद और आभासवाद एक ही सिक्के के दो पहलु हैं। यह व्योमतंत्र में अनमना है जो व्यापिनी-शक्ति, समना-शक्ति होने के कारण तत्त्व है।[१७] शून्य से व्युत्पन्न स्पर्श ही शक्तितत्त्व है जो वैश्विक ऊर्जा है और इसी से संकल्प ज्ञान और क्रिया रूपी सृष्टि के सूक्ष्म पहलू उद्भूत होते हैं। ये सारे ज्ञान गुरुपरम्परा में ही अवस्थित है और दीक्षा में नाद का स्वरूप-विमर्श बतलाया जाता है। इसी विमर्श में विश्व आविर्भाव की क्षमता है और इसलिए इसे सत् का सार भी कहा जाता है। इस तरह सिद्ध होता है कि सृष्टि का आदि तत्त्व नाद है जो भाषा का आदि-स्रोत है। भाषा कोई कल्पना अथवा कृत्रिम संरचना नहीं है। क्षेमराज ने भाषा और चिंतन के बीच किसी सम्बन्ध की स्थापना नहीं की है, परन्तु इतना संकेत अवश्य दिया है कि यही सत्य का निवास है। कबीर ने स्पष्ट रूप से कहा कि भाषा और विज्ञान न केवल अवियोज्य है, बल्कि भाषा से परे सत्य संभव नहीं है - यही उसके गुरु ने उन्हें बतलाया। कबीर कहते हैं - 'हेरत हेरत से सखी रहयो कबीर हेराई'। उस बिन्दु, व्योम, स्पर्श को ढूँढना आसान नहीं है। वहाँ तक प्रेम के मार्ग से ही पहुँचा जा सकता है। साधना और योग द्वारा पहुँचने पर भी आस्था नहीं जमेगी। "अकथ कहानी प्रेम की कुछ कही न जाई। गूंगे केरि सर्करा, बैठे-बैठे मुसुकाई"।

स्वाभाविक है कि इस शुष्क सत्ता के प्रति प्राप्ति की ललक और भाषा में सत्यानुसंधान प्रेम के अभाव में असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसलिए कबीर प्रेम पर जोर देते हैं और बार-बार यह बतलाते हैं कि परमसत्ता जीव-अजीव से परे है और प्रेम भी परे है। यह विलक्षण है, जिसे हम तीसरी कोटि कह सकते हैं। बौद्धदर्शन आस्था और प्रेम के अभाव में विशुद्ध शून्यवाद में परिणत होकर परमसत् और सृष्टि के मध्य तारतम्यता के विपरीत विच्छिन्नता को प्रश्रय दे बैठे।

बौद्ध दार्शनिक चन्द्रकीर्ति **प्रसन्नपदा** में नागार्जुन द्वारा रचित **मूलमध्यमक**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारिका २,६ की समीक्षा में कहते हैं - 'नैवम। शक्तिः हि कारको न द्रव्यम् । क्रियाभेदाच्च तत्साधनेस्यापि शक्तेः सिद्ध एव भेदः । न हि स्थितिक्रियया वक्ता स्यात्। द्रव्यम्एकम् इतिचेत् भवतेवम्, न तु द्रव्यं कारकः । किं तर्हि ? शक्तिः सा च भिद्यत एव ।' चन्द्रकीर्ति के उपर्युक्त कथन में भर्तृहरि की पदावली की प्रति ध्वनि सुनाई पडती है जिसका उत्स पतंजलि के महाभाष्य में मौजूद है । चन्द्रकीर्ति के अनुसार व्याकरण में 'कारक' या 'साधन' का तात्पर्य क्रिया उत्पन्न करने वाला है - वह निश्चित द्रव्य न होकर, एक शक्ति अथवा क्षमता है जो किसी वस्तु में आवासित है और उस में अनेकता, कर्म की अनेकता के चलते संभव है । परन्तु न्यास पाणिनि पर **काशिका** में दिखलाया है, न हि द्रव्यं कारकं किं तर्हि ? शक्तिः सा चेह भिद्यते।[१९] चंद्रकीर्ति के अनुसार गति-गमन न तो गते और न आगत के परिप्रेक्ष में बल्कि गम्यमान् के परिप्रेक्ष में ही संभव है, क्योंकि प्रथम अवस्था में गति समाप्त है और दूसरे में या अभी उत्पन्न भी नहीं है । अर्थात् शक्ति के अलावा बौद्ध संप्रदाय में अन्य चीजों को स्वीकृत नहीं किया गया है और इसलिए बौद्ध स्वच्छन्दवाद के विपरीत हो ज़ाता है ।[२०]

यही कारण है कि कबीर ने स्वच्छन्द की गुरु परम्परावाली तत्त्वमीमांसीय शिक्षा को अपनाते हुए कहा - ''पहले दही जमाय के पाछे दूहा गाय । बछडू बाके पेट में मक्खन हाट बिकाय ।'' इसका साहित्य में जो भी अर्थ ले, परन्तु मक्खन नाद स्फोट से व्युत्पन्न वर्ण और ध्वनियाँ है, जबकि परमसत् शून्य (दही) है और शून्य व्योम में हलचल या स्पर्श (दूध)है । नाद (बछडा) है जिसे योगि नाभि के बीच में केन्द्रित मानते हैं । बछडा, दही, दूध परा-द्रव्य है - जबकि वर्ण और ध्वनियाँ (मक्खन) बैखरी द्रव्य है । इसलिए कबीर द्वारा पराद्रव्य का स्वरूप विलक्षण माना गया है और प्रेम भी विलक्षण मार्ग है जिससे वहाँ तक पहुँचा जा सकता है ।

यदि हम अपने चारों ओर के समाज को देखें तो प्रेम का भी निकष बनाया गया है और इसका उल्लंघन करते हैं उन्हें दण्डित भी किया जाता है । प्रेम करने की भी उम्र निर्धारित की जाती है । इसके लिए भी धर्म और समाज से अनुमति लेनी पडती है । कहा जाता है, अभी तुम प्रेम करने लायक नहीं हो, क्योंकि तुम दुनिया के ऊँच-नीच को नहीं समझते हो और एकाएक जीवन के खास मुकाम पर आकर कहा जाता है अब तुम इससे प्रेम करो, क्या यह प्रेम है ? जिससे हमारा मन नहीं मिला, प्रवृत्ति नहीं मिली, स्वभाव नहीं मिला उससे प्रेम कैसे होगा ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तो स्वतः स्फूर्त अंकुर है जो कब, कहाँ और कैसे उत्पन्न होता है हम नहीं जानते । न उम्र, न धर्म और न जाति ही इसका निकष है । प्रतीक्षा करनी चाहिए, जब यह उत्पन्न होगा तो द्वैत स्वतः समाप्त हो जाएगा । उसके पूर्व जो कुछ होता है, वह समझौता है । ''प्रेम गली अति सांकरी जामें दोऊ न समाय'' । कबीर अद्वैतवादी प्रेमी थे, जोकि विशुद्ध सनातनी प्रवृत्ति है सूफी या अन्य नहीं । ''मैं ब्रह्म या ईश्वर हूँ'' यही अद्वैत है, जिसकी मिसाल दुनिया के किसी धर्म या दर्शन में उपलब्ध नहीं । यही कहने के लिए मंसूर को जिह्वा कटवानी पडी । मार्टिन व्यूवर के प्रेमदर्शन में द्वैत है, जबकि कबीर में नहीं ।

प्रश्न उठता है कि इतने उदात्त प्रेम के पथिक की उपेक्षा क्यों ? इसका कारण हमारी सामाजिक संरचना है । अभी भी कबीर को कुछ मित्र आलोचक मार्क्सवाद के आधार पर व्याख्यायित करते हैं, लेकिन मार्क्स को कबीरवादी नहीं कहते हैं। मार्क्सवाद में प्रेम का तत्त्व नहीं है, अद्वैत का तत्त्व नहीं है, जबकि कबीर में है - फिर दोनों में समानता कैसे ? मात्र इसलिए कि कबीर उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो समाज में दबे कुचले और उपेक्षित हैं? मात्र इसलिए कि प्रेम के दर्शन को अपनाने से अभिजात वर्ग का अभिजात्यपन समाप्त हो जाएगा । जबकि ऋग्वेद तक में कहा गया है, कृण्वन्तो विश्वमार्यम्, अर्थात् जैसे तुम श्रेष्ठ बनाए गये वैसे ही, अन्यों को श्रेष्ठ बनाओ ।[२१] उन्होंने श्रमपूर्वक उक्त लेख में मानव को प्रेमभाव से अपनाने की सलाह दी है और लोगों के बीच अज्ञानता को दूर करने की सलाह दी है । प्राचीन भारत की यह सांस्कृतिक विरासत है कि दुःख जीवन का एक सत्य है और यह संसार एवं जीवन के साथ तादात्म्य है । बुद्ध ने कहा दुःखनिवारण ज्ञान से ही संभव है, परन्तु आज के राजनेता जनता को पढाते हैं कि दुःख का कारण गरीबी है। कबीर ने कहा दुःख का निवारण प्रेम द्वारा संभव है। दुःख अमीर को होता है । बिछावन है, पर नींद नहीं, भोजन है पर भूख नहीं, यह दुःख है । यानि उपभोग की इच्छा और साधन के रहते हुए भी उपभोग की क्षमता का अभाव दुःख है । इसके विपरीत नींद आ रही है, बिछावन नहीं है, भूख लगी है, भोजन नहीं है, यह दुःख नहीं कष्ट है । गरीबी की देन कष्ट है, दुःख नहीं । इसलिए कबीर ने दुःख को दूर करने का उपाय प्रेम को बतलाया तो कष्ट को दूर करने के लिए श्रम और स्वावलम्बन का उपदेश दिया और सावधान भी किया कि कष्ट-निवारण से अधिक जमा करेगा तो फिर कष्ट से तो मुक्ति मिलेगी, परन्तु दुःख उत्पन्न होगा- ''साई इतना दीजिए जामें कुटुम्ब समाय,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय'' यही श्रेष्ठ दर्शन है । यही प्रेम या साहित्य तीसरी कोटि है, एक प्रकार से इस तीसरी कोटि की ओर संकेत करके कबीर ने अत्रि ऋषि की इच्छा को पूर्ण किया। जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्चते, विद्यया याति विप्रत्वं क्षोत्रियास्त्रिभिखे च[२२] एवं जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्चते । वेदाभ्यासाद् भवेद विप्रो, ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ।[२३] कबीर ने एक प्रकार से नवीन गुरुकुल की स्थापना कर श्रमिक को कष्ट और दुःख से मुक्ति का मार्ग बतलाया है । अतः वे जीवन की समस्याओं को सुलझाने और मुक्ति के लिए प्रेमरूपी दर्शन के प्रथम और मौलिक प्रतिपादक थे और विद्वानों से अनुरोध करूँगा कि इस दिशा में उनपर अवश्य विचार करें।

रीडर, स्नातकोत्तर दर्शन शास्त्र विभाग, **डा. महेश्वर प्रसाद चौरासिया**
जयप्रकाश विश्वविद्यालय,
छपरा - ८४१३०१

टिप्पणियाँ

१. बर्च, डेविड, **लैंग्वेज लिटरेचर एण्ड क्रिटिकल प्रैक्टिस**, रॉटलेज, लन्दन, न्यूयार्क, १९८९, पृ. ११९-२०
२. डेरिडा,जैक्स, **लैंग्वेज एगेन्स्ट इटसेल्फ ,डिकन्स्ट्रक्सन : थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस**, सम्पा. क्रिस्टोफर नॉरिस, रॉटलेज, लन्दन, १९८२, पुनर्मुद्रण, १९९६, पृ. १९.
३. मेरा ही लेख,'देख कबीरा रोया' **परामर्श**, खण्ड - १४, अंक २, १९९३.
४. डेरिडा, **लिविंग ऑन**, पृ.२२-२३ एवं ज्योफरी एच. हार्टमैन एवं हेराल्ड ब्लैक, न्यूयार्क, १९७७, पृ. ९६-९७
५. मेरा ही लेख, 'गीता में आत्मा का सन्दर्भ और अर्थ' **परामर्श**, खण्ड - ६, अंक ४, १९८५, पृ. ३८९.
६. कतील, पाकिस्तानी शायर के गजल की पंक्ति ।
७. किर्केगार्ड, सोरेण, **पेंसिज**, संख्या २८० एवं २७७.
८. रुबी चेक, पॉल, **अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष** अनु. प्रभाकर माचवे, मध्य प्रदेश, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पृ. ६८.
९. व्यूवर, मार्टिन, **आई एण्ड दाउ**, एडिनबर्ग, १९३७, पृ. ११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०. **वही**, पृ. १२
११. **वही**, पृ. ६६-६७
१२. पाण्डेय, के.सी. **अभिनव गुप्त, एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलॉसोफिकल स्टडी**, वाराणसी, चौखम्बा, १९६३, पृ.१४१
१३. **मैत्रायणीय उपनिषद्**, ७.११
१४. कैतरीना कोनियो, 'दि प्रोबलम्स ऑफ कंन्टिनम एण्ड डिसकन्टिनम इन दि कासमोगोनी ऑफ स्वच्छन्दतंत्र', **इन्डोजिका हौरिनेसिया**, वोल्युम ८-९, १९८०-८१, पृ. १०४.
१५. क्षेमराज कृत **स्वच्छंदतंत्र**, ११.५
१६. वुडरॉफ्फ, जे. सी. **क्रिएशन एज एक्सप्लेंड इन दि तंत्र**, कलकत्ता, सिलवर जुबली ऑफ दि चैतन्य लायब्रेरी, १९१५, पृ. १७
१७. **स्वच्छंदतंत्र**, १०.१२.५८
१८. कैतरीना कोनियो, वही लेख, पृ.१०९
१९. कमलेश्वर भट्टाचार्य, 'दि ग्रामेटिकल बेसिस ऑफ नागार्जुन आर्ग्युमेंटस् : सम फरदर कंसिडरेशन्स' **इन्डोजिका टोरिनेसिया**, ग्रंथ ८-९, १९८०-८१, पृ. ३६.
२०. कैतरीना कोनियो, वही लेख, पृ.११०
२१. ऋग्वेद की ऋचा, प्रो. राजेन्द्र सिंह, सरसंघचालक, रा. से. सं. द्वारा **पांचजन्य** २९-१-१९९५, पृ. ८०-८४ पर उद्धृत
२२. अत्रिसंहिता
२३. ब्रज सूची उपनिषद्, आर्य समाज गंगोह पुस्तकालय, सहरनपुर, हस्त लिखित ग्रंथ, क्रमांक २१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अद्वैत वेदान्त में साक्षी

अद्वैत वेदान्त में साक्षी की अवधारणा दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। साक्षी से तात्पर्य जीव का अन्तर्यामी वह अधिष्ठान तत्त्व है जो न केवल जीव की सत्ता का आधार है अपितु जिसके प्रकाश से प्रकाशित हो उसके समस्त व्यापार संपादित होते हैं । जीव का अधिष्ठानभूत तत्त्व होने के बावजूद साक्षी जीव से विलक्षण है । जहाँ जीव कर्ता, भोक्ता व प्रमाता है साक्षी न तो कर्ता है, न भोक्ता और न ही प्रमाता । वह शुद्ध द्रष्टा मात्र है - चेतन, असंग, निष्क्रिय और निर्गुण। जीव सांसारिक विषय-भोगों में संलिप्त रहता है, संसार के प्रपञ्चों के प्रति लगाव लिए होता है, साक्षी सर्वथा निर्लिप्त और निस्संग रहता है । वह शुद्ध द्रष्टा मात्र है - तटस्थ और उदासीन द्रष्टा । वास्तव में साक्षी का लक्षण ही किया जाता है - **द्रष्टत्वे सति उदासीनत्वं साक्षित्वम्** । अर्थात् जो द्रष्टा होते हुए भी उदासीन हो। साक्षी जीव के विपरीत जगत् और प्रपञ्च से सर्वथा असंपृक्त हो अनासक्त भाव से प्रतिमुहूर्त जीव के साथ रहता हुआ इस जगत् को, जागतिक व्यापारों को और स्वयं जीव के समस्त कृत्यों को देखता रहता है । यह साक्षी जीव से सर्वथा भिन्न भी नहीं है । बल्कि यह उसका प्रत्यग्भूत अन्तरात्मा है । इसी के प्रकाश से उसके समस्त व्यापार सञ्चलित होते हैं । यह प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण इन तीनों का एक समान भाव से प्रकाशक है । पञ्चदशी में कहा गया है कि कर्ता (मैं-पन के अभिमानी जीव), क्रिया और समस्त दृश्यवर्ग को नित्य चैतन्य का जो एकरूप एकसाथ प्रकाशित करता है वही साक्षी है । नृत्यशालास्थित दीपक जैसे प्रेक्षक, सभा व नृत्यकारों को एकसाथ प्रकाशित करता है और उनमें से किसी के न रहने पर स्वयं ही प्रकाशित होता रहता है वैसे ही साक्षी कर्ता (अहमर्थ जीव), बुद्धि और विषयों को प्रकाशित करता है और उनके न रहने पर सुषुप्ति आदि में स्वयं पहले की भाँति प्रकाशित रहता है ।[1] साक्षीरूप चेतना नित्यकूटस्थ है । इसका कभी अभाव नहीं होता । ज्ञाता की स्वरूपभूत ज्ञप्ति नित्य है । सुषुप्ति में जो आत्मा शब्दादि को नहीं जानता वह जानता हुआ ही नहीं जानता है । अन्य ज्ञेय नहीं है - इसीलिए वह नहीं जानता, स्वरूपभूत ज्ञप्ति तो रहती ही है । साक्षीरूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्रष्टा की दृष्टि का कभी विपरिलोप नहीं होता, वह नित्य द्रष्टा है - **यद् वै तन्न पश्यन् वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्** ।[१] इस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों ही अवस्थाओं में अव्यभिचरित रूप से अनुवर्तमान रहने वाले जीव का जो अधिष्ठानभूत चेतन तत्त्व है वही साक्षी है । इस साक्षिचैतन्य पर अध्यस्त हो ही जीव अपनी प्रमाण वृत्तियों से जगत् का ज्ञान प्राप्त करता है । साक्षी प्रमाता का भी प्रमाता और दृष्टि का भी द्रष्टा है । समस्त ज्ञानव्यापार और स्वयं ज्ञाता को भी साक्षात् देखने वाला जो है वही साक्षी है । स्वयं जीव भी साक्षी के प्रति साक्ष्य ही है । जीव ही क्यों इस संसार में सब कुछ भाव या अभाव कोई भी वस्तु, प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण, नामरूप में अभिव्यक्त होने वाला यह सकल जगत् वास्तव में इस साक्षी के साक्ष्य होते ही सिद्ध है। यदि सकल जगत् का अवभासक यह साक्षिरूप चैतन्य न हो तो इस संसार में कुछ भी प्रकाशित नहीं हो पाएगा और जगत् घोर अन्धकार में लीन हो जाएगा । यह साक्षीरूप आत्मा जीव का अन्तरङ्गभूत उसकी प्रत्यगात्मा है और इस कारण यह नितान्त अपरोक्ष है । व्यक्ति अपने साक्षीस्वरूप आत्मा का निषेध नहीं कर सकता, सारे निषेधों और संदेहों से परे यह स्वतःसिद्ध और स्वयंप्रकाश है ।

अद्वैत चिन्तकों ने ज्ञान या चेतना के विश्लेषण द्वारा भली भाँति सिद्ध किया कि हमारा समस्त चेतनव्यापार एक नित्यकूटस्थ साक्षीस्वरूप चैतन्यतत्त्व की सत्ता को आपादित करता है । बिना साक्षीस्वरूप नित्यकूटस्थ चैतन्य की सत्ता को स्वीकार किए हमारे ज्ञान या अनुभव की व्याख्या नहीं हो सकती है। सम्पूर्ण अनुभव एक स्वयंप्रकाश चेतनतत्त्व की पूर्वापेक्षा रखता है । प्रस्तुत निबन्ध में मेरा उद्देश्य मानवीय ज्ञान या चेतना के स्वरूपविश्लेषण द्वारा उन आधारों एवं तर्कों को स्पष्ट करना है जिनके कारण अद्वैतचिन्तक यह सिद्ध करते हैं कि बिना साक्षिचैतन्यरूप नित्यकूटस्थ सत्ता को स्वीकार किए मानवीय ज्ञान और अनुभव की व्याख्या असम्भव होगी । इस सम्बन्ध में सर्व प्रथम हम चेनता या ज्ञान के स्वप्रकाश स्वरूप के सम्बन्ध में उठने वाली समस्या पर विचार से अपनी चर्चा आरम्भ करेंगे क्योंकि अद्वैतियों के लिए साक्षिचैतन्य की सत्ता की समस्या स्वयंप्रकाश चेतनतत्त्व की समस्या से जुडी हुई है । चेतना या ज्ञान की स्वप्रकाशता को लेकर विभिन्न भारतीय दर्शनों में युक्ति-प्रयुक्तियों की लम्बी शृङ्खला देखी जा सकती है । न्याय-वैशेषिक दार्शनिक ज्ञान या चेतना को स्वप्रकाश नहीं मानते हैं । उनके अनुसार ज्ञान पर-प्रकाशक होता है । ज्ञान स्वभावतः अर्थविषयक होता है[२] तथा उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य अपने से परे दूसरे पदार्थों का प्रकाशन है । जब हमें घट, पटादि किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो पहले सिर्फ 'अयं घटः' इस रूप में वस्तु का ज्ञान होता है और पश्चात् इस घटज्ञान, पटज्ञानरूप व्यवसायज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसायरूप मानसप्रत्यक्ष के द्वारा होता है जिसका रूप 'अहं घटं जानामि' इस ढङ्ग का होता है। यह बाद में होने वाला ज्ञान जिसे अनुव्यवसाय कहा जाता है वह व्यवसाय-विषयक होता है तथा वस्तुविषयक हमारा ज्ञान इसी से प्रकाशित होता है । इस तरह न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश न होकर परप्रकाश है तथा वह अनुव्यवसाय द्वारा गृहीत होता है । वस्तु का ज्ञान और स्वयं ज्ञान का ज्ञान ये वस्तुतः दो वस्तुएँ हैं । जब ज्ञाता का विषय से सम्पर्क होता है तो पहले सिर्फ वस्तु का ज्ञान होता है और उसके तुरन्त बाद इस ज्ञान का जिसे कि नैयायिक व्यवसाय कहते हैं ज्ञान दूसरे ज्ञान अनुव्यवसाय से होता है । यह अनुव्यवसाय व्यवसाय के तुरन्त बाद होता है अर्थात् वस्तु के ज्ञान के होते ही तुरन्त उस ज्ञान का भी ज्ञान हो जाता है । ये दोनों ज्ञान एक के बाद इतने झटित और स्वाभाविक रूप से होते हैं कि ऐसा लगता है कि, जैसा प्राभाकर समझ बैठते हैं, यह एक ही ज्ञान है । पर वस्तु का ज्ञान और उस ज्ञान का ज्ञान - व्यवसाय और अनुव्यवसाय अलग-अलग ज्ञान हैं । ये दोनों ज्ञान एक दूसरे से भिन्न हैं तथा उत्तरोत्तर क्रमभावी हैं। ये इतने झटित रूप से एक के बाद होते हैं कि लगता है कि ये दोनों एक ही ज्ञान हैं तथा ज्ञान न केवल विषय को अपितु स्वयं को भी प्रकाशित कर रहा है । पर वस्तुतः विषय को प्रकाशित करता है व्यवसाय और उसके ज्ञान को अनुव्यवसाय प्रकाशित करता है । सामान्यतः हर ज्ञान का अनुव्यवसाय द्वारा ग्रहण होता है, पर साथ ही यह अनिवार्य भी नहीं है कि हर ज्ञान का ज्ञान हो ही ।[४] नैयायिक इस बात को स्वीकार करते हैं कि कई एक स्थितियों में यह सम्भव हो सकता है कि कोई ज्ञान उत्पन्न हो पर प्रतिकूल प्रतिबन्धों के चलते उसका ग्रहण न हो पाए ।

न्याय के उपर्युक्त अनुव्यवसायवाद की बौद्धों ने जमकर आलोचना की है। ज्ञान का ज्ञान स्वतः नहीं बल्कि अनुव्यवसायरूप दूसरे ज्ञान से माना जाए तो सहज ही यह आपत्ति उठती है कि अनुव्यवसाय स्वयं ज्ञान है अतः इसके ज्ञान के लिए भी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता होगी । अर्थात् ज्ञान का ज्ञान यदि दूसरे ज्ञान से माना जाए तो उस दूसरे ज्ञान के ज्ञान के लिए तीसरे और फिर उसके लिए चौथे की आवश्यकता होगी और इस तरह अनवस्था दोष आपतित होगा । पुनः, यदि ज्ञान के ज्ञान के लिए ज्ञानान्तरकी कल्पना की जाए तो इसका अर्थ होगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि ज्ञान अज्ञात है और अज्ञात ज्ञान वदतोव्याघात है । यदि ज्ञान को भी अन्य वस्तुओं के समान अप्रकाशरूप मान लिया जाए और वह भी ज्ञेय हो तो फिर ज्ञान और अन्य वस्तुओं में अन्तर ही क्या रह जाएगा?और फिर, सकल ज्ञेय जगत् का भासक स्वयं ज्ञान यदि जड़ वस्तुओं के समान अपने प्रकाश के लिए अन्य पर आश्रित होगा तो इस जगत् में कुछ भी प्रकाशित नहीं होगा, जगत् घोर अन्धकार में लीन हो जाएगा, जगदान्ध्यप्रसङ्ग प्राप्त होगा । वस्तुतः नैयायिकों के मत में जो चीज़ सर्वाधिक विवादास्पद है वह यह कि वे इस बात की संभावना को स्वीकार करते हैं कि 'क' को कोई ज्ञान हो और स्वयं 'क' इस ज्ञान से अनजान रहे । अब यही व्याघाती स्थिति स्वप्रकाशवादियों के लिए सबसे बड़ा तर्क बनकर सामने आता है । बौद्ध आचार्य प्रश्न उठाते हैं कि यदि ज्ञान स्वयंज्ञात नहीं हो तो भला वह अर्थ का प्रकाशन कैसे कर सकता है - **अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति ।**[५] अप्रत्यक्षभूत विज्ञान के द्वारा अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता । यदि अनुभव स्वयं अप्रकाशित हो, अप्रकट हो, छिपा हो तो वह भला विषय का प्रकाशन कैसे कर पाएगा । किसी चीज के ज्ञान के लिए जरुरी है कि उस ज्ञान का भी ज्ञान हो । और बौद्धों का कहना है कि सही स्थिति तो यह है कि ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा होता कि वह न केवल अर्थ को प्रकाशित करता है अपितु स्वयं अपने को भी । दिङ्नाग प्रमाणसमुच्चय में कहते हैं कि प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप में अर्थाभास और स्वाभास लिए होता है ।[६] हर ज्ञान के दो पक्ष होते हैं — विषय की चेतना और उस चेतना की चेतना । वास्तव में सारे के सारे अनुभवों में यह समानता होती है कि वे स्वयं अपना मानस प्रत्यक्ष होते हैं । चित्त की कोई ऐसी अवस्था नहीं है जिसका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष न हो । सभी चित्त और चैत्तों का आत्मसंवेदन होता है - **सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्।**[७] हर संवेदन का स्वसंवेदन होता है । हमें जब भी किसी चीज का ज्ञान होता है, उस ज्ञान का भी ज्ञान होता है । जिस प्रकार दीपक प्रकाशरूप होने के कारण अपने स्वरूप को स्वयं प्रकाशित करता है तथा अपने प्रकाशन के लिए अन्य दीपक की अपेक्षा नहीं रखता उसी प्रकार विज्ञान स्वयं अपना संवेदन करता है तथा अपने को जानने के लिए विज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं रखता ।

ज्ञान को ज्ञानान्तर द्वारा गृहीत मानने वाले नैयायिकों के परप्रकाशवाद की बौद्धकृत उपर्युक्त आलोचना से अद्वैतचिन्तक सहमत हैं । ज्ञान का ज्ञान दूसरे ज्ञान से मानने पर अनवस्था अवश्यंभावी है । और फिर जो ज्ञान स्वयं अप्रकाशित हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह भला अर्थ का प्रकाशन कैसे कर सकता है ? समस्त जगत् का भासन जिस ज्ञान-ज्योति से होता है यदि उसे भी अन्य वस्तुओं के समान अप्रकाशरूप माना जाए तो जगदान्ध्य-प्रसङ्गप्रसक्त होगा । अब उपर्युक्त समस्याओं से बचने के लिए बौद्ध दार्शनिक यह मानते हैं कि ज्ञान प्रदीप की तरह स्वयंप्रकाश है । वह स्वयं अपना ग्रहण करता है । ज्ञान का स्वसंवेदन होता है । अद्वैतियों का कहना है कि बौद्ध दार्शनिक यहीं गलती कर बैठते हैं । ज्ञान का ग्रहण ज्ञानान्तर से मानने पर दोष ही दोष है । पर इसका यह अर्थ नहीं कि अनवस्था, जगदान्ध्यप्रसङ्ग अथवा अस्वप्रकाश (अप्रत्यक्षभूत) ज्ञान की अनभीप्सित सम्भावना से बचने के लिए यह मान लिया जाए कि ज्ञान का ग्रहण उसी ज्ञान से होता है । संवेदन भला स्वयं अपने को कैसे जान सकता है । जिस प्रकार अंगुली स्वयं अपने पोर को नहीं छू सकती, कुशल नर्तक भी अपने सर पर नहीं नाच सकता उसी प्रकार ज्ञान स्वयं अपने आपको नहीं जान सकता । अनवस्था प्रभृति दोषों से तो बौद्ध बच निकलते हैं पर कर्तृ-कर्म विरोध के तर्कजाल में फँस जाते हैं । वस्तुतः जैसे नैयायिक ज्ञान के स्वरूप को गलत समझते हैं वैसे ही बौद्ध । बौद्धों का स्वसंवित्वाद दोषों का पिटारा है । अद्वैतियों का कहना है कि स्वसंवेदन का अर्थ यदि पूर्व और उत्तरकाल के विज्ञानों में ग्राह्य-ग्राहक भाव है तो यह स्वयं बौद्धमत की प्रतिज्ञाओं को हानी पहुँचता है और यदि कहा जाए कि विज्ञान स्वयं ही अपने अनुभव का विषय होता है तो इससे क्रिया-कर्म विरोध प्राप्त होगा । वस्तुतः अनित्य, क्षणिक विज्ञानों से न तो वस्तु के ज्ञान की व्याख्या हो पाएगी और न स्वयं आत्म-चेतना की व्याख्या हो पाएगी । घट, पट आदि के विज्ञानों का ग्रहण न तो उन्हीं विज्ञानों से सम्भव है और न विज्ञानान्तर द्वारा । हमें अनित्य विज्ञानों को प्रकाशित करने वाले तत्त्व के रूप में एक नित्यकूटस्थ विज्ञानरूप साक्षिचैतन्य को मानना होगा जो न केवल वस्तुओं को प्रकाशित करता है अपितु उनके विज्ञानों को भी ।[८] जब हमें घट, पट आदि वस्तुओं का ज्ञान होता है तो हमें एक पल के लिए भी यह घट, पटादि का ज्ञान अज्ञात नहीं रहता । इसका कारण यह है कि ये विज्ञान सीधे साक्षिचैतन्य द्वारा भासित होते हैं । साक्षिचैतन्य द्वारा नियत-अपरोक्ष होने के कारण हमें अपने ज्ञान की अपरोक्षता की स्पष्ट अनुभूति होती है तथा हम उसके बारे में संदेह, विपर्यय आदि से युक्त नहीं होते हैं। इसी साक्षिचैतन्य के प्रकाश से न केवल घट, पटादि के विभिन्न विज्ञान जो कि वस्तुतः अन्तःकरण की वृत्तिविशेष हैं, प्रकाशित होते हैं अपितु इसी के प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण वृत्तिज्ञान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने-अपने विषयों को प्रकाशित करने में सक्षम होते हैं, अन्यथा घट, पटादि की वृत्तियाँ तो स्वयं में जड हैं।

क्षणिक विज्ञान न तो वस्तु को जान सकते हैं और न स्वयं अपने आप को । विज्ञानों को गृहीत होने के लिए साक्षीरूप नित्यकूटस्थ चेतना की अपेक्षा होती है। सही स्थिति तो यह है कि बिखरे हुए विछिन्न क्षणिक विज्ञानों को एक सूत्र में बाँधकर क्रमबद्ध करने वाला यही साक्षी तत्त्व है । यह साक्षी ही क्षणिक विज्ञानों का ग्रहीता और वास्तविक ज्ञाता है । बौद्धों का विज्ञान वस्तुतः बुद्धिवृत्तियाँ ही हैं जो नित्यकूटस्थ चैतन्यरूप साक्षी आत्मा के प्रकाश द्वारा प्रकाशित होती हैं। घट, पट आदि के विज्ञान भी घट, पट आदि वस्तुओं के समान ही साक्षीरूप वास्तविक ज्ञाता के लिए ज्ञेय हैं । विज्ञानों का भी विज्ञाता साक्षीरूप आत्मा स्वयंसिद्ध, स्वयंप्रकाश है । इसे अपने प्रकाश के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है । बौद्ध क्षणिक विज्ञानों से पृथक् कोई विज्ञाता नहीं मानते । उनका कहना है कि जैसे प्रदीप प्रदीपान्तर से निरपेक्ष स्वयं प्रकाशित होता है वैसा ही विज्ञान भी विज्ञानान्तर निरपेक्ष स्वयं प्रकाशित होता है । अब इसका यह अर्थ निकलता है कि विज्ञान प्रमाणागम्य है, उसका कोई अवगन्ता नहीं है, उनको कोई जानने वाला नहीं है । इस पर अद्वैतियों का कहना है कि अलग-अलग, अनेक, उत्पत्तिविनाशधर्मा क्षणिक विज्ञान अपनी सिद्धि एवं प्रकाश के लिए स्वयं से पृथक् नित्य विज्ञान की अपेक्षा रखते हैं । इस विज्ञाता द्वारा प्रकाशित और ज्ञात होने पर ही इनका कोई उपयोग और सार्थकता है । यदि इनको प्रकाशित करने वाला कोई साक्षीरूप विज्ञाता न हो तो फिर बिना प्रकाशित हुए उनकी स्थिति वैसे ही होगी जैसे शिलाघनमध्यस्थ सहस्र दीपप्रकाशों की ।[९] अलग-अलग, अनेक विच्छिन्न संवेदनों के द्रष्टा के रूप में नित्यसाक्षी चेतना को स्वीकार कर अद्वैती न केवल स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, प्रतिसन्धान की समुचित व्याख्या कर लेते हैं अपितु इससे लौकिक एवं वैदिक व्यवहारों के लिए अपेक्षित निखिल भोग्य एवं प्रमेय विश्व तथा भोक्ता एवं प्रमाता जीव के सम्बन्ध में होने वाले स्थायीपन की भी व्याख्या हो जाती है । क्षणिक विज्ञानों से उपर्युक्त स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि की व्याख्या नहीं हो सकती । उदहरण के लिए स्मृति का तथ्य, जैसे कि स्वयं बौद्ध स्वीकार करते हैं, यह सिद्ध करता है कि अनुभूत का ही स्मरण होता है । अब इसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि कोई एक नित्य स्थायी द्रष्टा हो जिसे पूर्वानुभूत का स्मरण हो।'सोऽहम्' यह प्रत्यभिज्ञा भी स्थायी आत्मा के बिना नहीं बन सकती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ बौद्धों का कहना है कि सादृश्य के कारण एकता की भ्रान्ति होती है । नदी प्रवाह और दीपशिखा में जैसे सादृश्य के कारण एकत्व बुद्धि होती है उसी तरह प्रत्यभिज्ञा के स्थलों में भी होता है । पर पूछा जा सकता है कि स्वयं सादृश्य का ग्रहण कैसे होता है? वास्तव में अनेक कालवर्ती पूर्वोत्तर प्रत्ययों के दर्शी एक स्थायी चेतना को मानना आवश्यक हो जाता है। बिना इसके भिन्न-भिन्न अनुभवों, घटनाओं, वस्तुओं में सादृश्य भी नहीं देखा जा सकता ।[१०] स्वयं बौद्धों का क्षणभंगवाद अपनी सिद्धि के लिए एक स्थायी तत्त्व को पूर्वकल्पित करता है । भेद का ग्रहण अभेद से ही सम्भव है। क्षण का बोध स्थायी को ही हो सकता है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मानवीय ज्ञान एवं व्यवहार की व्याख्या के लिए एक नित्य कूटस्थ चैतन्यरूप साक्षी तत्त्व को स्वीकार करना होगा। यहाँ यह धातव्य है कि न्याय-वैशेषिक, मीमांसा प्रभृति दूसरे दर्शन भी बौद्धों के क्षणिक विज्ञानवाद की आलोचना करते हुए नित्य स्थायी आत्मा की सत्ता को आवश्यक बताते हैं । पर यदि ज्ञान आत्मा का स्वरूप न होकर उसका गुण या धर्म है, जैसा कि वे मानते हैं, तो फिर 'आत्मा' उनके दर्शन में अनावश्यक कोटि विस्तार हो जाता है । और सही स्थिति तो यह है कि न्यायवैशेषिक-मीमांसा दर्शनों के और बौद्ध दर्शन के 'ज्ञान' में कोई मौलिक अन्तर नहीं है । जहाँ बौद्ध ज्ञान को एक क्षण रहनेवाला मानते हैं वहाँ न्याय-वैशेषिक, पूर्व मीमांसा उसे त्रि या चतुर्क्षण स्थायी मानते हैं । ज्ञान का स्वरूप दोनों में अनित्य और क्षणस्थायी ही रहता है । अब यहीं अद्वैतियों का इनसे वैमत्य है। हमारा सम्पूर्ण ज्ञान-व्यवहार नित्य चेतना की अपेक्षा रखता है । चेतना अनित्य न होकर नित्य है । अलग-अलग अनेक क्षणिक पारमाणिक संवेदनों के द्वारा मानवीय ज्ञान और व्यवहार की व्याख्या नहीं हो सकती, इसके लिए उसके आधार में नित्य कूटस्थ चेतना को मानना होगा । ज्ञानाधिकरणरूप नित्य और स्थायी आत्मा यह प्रयोजन पूरा नहीं कर सकता है । ज्ञान (चेतना) और आत्मा को गुण-गुणी निदर्श पर नहीं समझा जा सकता । ऐसा मानने पर अन्ततः चेतना गौण और आत्मा अचेतन होकर सामने आते हैं । वास्तव में चेतना स्वयं मौलिक है। पारिभाषिक अर्थों में भले ही वह द्रव्य न हो पर उसे गुण या धर्म के रूप में समझना अतर्कसम्मत होगा । वास्तव में अद्वैतियों के सामने समस्या दोहरी है। एक तरफ जहाँ उन्हें बौद्धों के क्षणिक विज्ञानवाद का खण्डन करना है वहीं न्यायवैशेषिक-मीमांसा परम्परा में पोषित हो रहे इस मत का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि ज्ञान या चेतना मौलिक न होकर गौण है । ज्ञान या चेतना अपने आश्रय रूप में अपने से पृथक् किसी स्थायी आत्मा की अपेक्षा नहीं रखता। अद्वैतियों का कहना है कि सही स्थिति तो यह है कि स्वयं चेतना ही आत्मा है । आत्मा, चेतना, ज्ञान, संवित्, अनुभव ये सबके सब एक दूसरे के पर्याय हैं । चेतना या ज्ञान आत्मा का गुण न होकर उसका स्वरूप है । ज्ञान या चेतना से पृथक् उसके आश्रय के रूप में नित्य स्थायी आत्मा को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। (इस दृष्टि से अद्वैती बौद्धों से एकमत हैं कि चेतना स्वयं में मौलिक है, उसे अपने से पृथक् अपने आश्रय के रूप में किसी अन्य तत्त्व की अपेक्षा नहीं है । हाँ यह अवश्य है कि चेतना जहाँ बौद्धों में क्षणिक, संवेदनरूप और असंख्य है अद्वैतियों के अनुसार यह नित्य, एक, कूटस्थ स्वरूप है । ज्ञान से पृथक् किसी ज्ञाता आत्मा को मानने की जरूरत नहीं है । ज्ञान और ज्ञाता में तादात्म्य है । जो द्रष्टा है वह दृष्टि-स्वरूप ही है। आत्मा ज्ञान-स्वरूप है । वह नित्य, कूटस्थ, चेतन है । जिस तरह सूर्य और उसके प्रकाश में कोई अन्तर नहीं होने पर भी सूर्य को प्रकाशक कहा जाता है और 'सूर्य का प्रकाश' ऐसा भाषिक व्यवहार होता है उसी प्रकार आत्मा ज्ञान या अनुभवस्वरूप होकर भी अनुभविता या ज्ञाता कहलाता है । वस्तुतः आत्मा और ज्ञान या संवित् में अभेद है । आत्मा ज्ञानस्वरूप है ।

यह ज्ञान या चेतना अद्वैतियों के अनुसार नित्य, अखण्ड और स्वयंप्रकाश है । विभिन्न घटज्ञान, पटज्ञान, रूप-स्पर्श-शब्द ज्ञानादि में ज्ञान या संवित् एक ही है, घट, पट, रूप स्पर्शादि ज्ञान के विषय हैं, ज्ञान नहीं । इसी तरह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में भिन्नता होने पर भी इनमें रहने वाली संवित् अभिन्न है । काल से संविद् का भेद नहीं सिद्ध होता बल्कि स्वयं कालभेद संविद् से ही सिद्ध होता है । कल के सूर्यप्रकाश में और आज के सूर्यप्रकाश में जैसे अन्तर नहीं होता वैसे ही कल की चेतना और आज की चेतना वस्तुतः एक है । दिन, पक्ष, वर्ष, मास, आज, कल, अतीत, अनागत आदि काल का भेद भले ही हो पर उनके बोधों में कोई भेद नहीं हैं । इसी तरह सम्यग्ज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान इत्यादि भी ज्ञान के भेद नहीं हैं, ये भेद वस्तुतः बुद्धिगत हैं। चिद्रूप संवित् तो सम्यग्ज्ञान, संशय, मिथ्या आदि सभी ज्ञानों में समान है । एक अनन्त आकाश के समान संवित् या चेतना भी अनन्त एवं एक है । जैसे एक अनन्त आकाश में घटादि उपाधि के भेद से भेद प्रतीत होता है वैसे ही घट, पटादि, शब्द-स्पर्शादि विषय एवं तदाकारित बुद्धिवृत्तियों के भेद से ही संवित् में भेद है, वास्तव में उनमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई भेद नहीं है । न केवल संवित् या चेतना अखण्ड और एक है अपितु वह अनादि और नित्य भी है । यदि संवित् अनित्य और जायमान होती तो इसका प्रागभाव होता । पर हमें संवित् के प्रागभाव का बोध नहीं होता है । यदि यह बोध हो तब तो उससे संवित् का भाव ही सिद्ध होता है अभाव नहीं। चूँकि संवित् में भेद नहीं है अतः एक संवित् का अभाव दूसरे से नहीं सिद्ध किया जा सकता । यह संवित् या चेतना साक्षात् अपरोक्ष है । नित्य प्रकाशस्वरूप होने के कारण इसकी सत्ता में कभी संदेह नहीं होता । इस संसार में जो कुछ भी है इसी के प्रकाश से वह प्रकाशित होता है । समस्त जगत् को प्रकाशित करने वाला यह संवित् भी यदि घट, पटादि वस्तुओं के समान अपने प्रकाश के लिए अन्य पर निर्भर हो तो इस जगत् में कुछ भी प्रकाशित नहीं होगा और जगदान्ध्यप्रसङ्ग प्रसक्त होगा। इस प्रकार अद्वैतियों के अनुसार ज्ञान नित्य, अखण्ड, एक, स्वयंप्रकाश रूप चैतन्य तत्त्व है । यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि ज्ञान अपने मौलिक स्वरूप में ऐसा है तो घट, पट आदि अलग-अलग विषयां वाले उत्पत्ति विनाश से युक्त विच्छिन्न क्रमिक और खण्डरूप में ज्ञान की दैनिक जीवन जो प्रतीति होती है उसकी व्याख्या कैसे होगी ? इस पर अद्वैतियों का कहना है कि जैसे एक अखण्ड आकाश में घट-पटादि के उपाधि भेद से भेद प्रतीत है वैसे ही आकाशवत् अनन्त, अखण्ड नित्य ज्ञान में घट, पट आदि विषय एवं तदाकारित बुद्धिवृत्ति आदि उपाधि से भेद प्रतीत होता है । ज्ञान में दिखने वाला सादित्व, सान्तत्व और अनेकत्व बुद्धिवृत्तियों की उपाधि के कारण होता है जो वस्तुतः औपधिक ही है । स्वभावतः तो चेतना जन्मादि विकार से रहित स्वप्रकाश, नित्य और अखण्ड है। यहाँ धातव्य है कि अद्वैती ज्ञान शब्द के द्विविध अर्थों में भेद करते हैं ।[११] ज्ञान शब्द का मुख्य अर्थ चैतन्य मात्र है जो वस्तुतः आत्मा का स्वरूप है। यह नित्य, अजन्य,अखण्ड और स्वयंप्रकाश है। अपने मुख्य अर्थ में ऐसा प्रयुक्त होने पर भी ज्ञानव्यवहार में घट, पट आदि पृथक्-पृथक् विषयों के खण्ड और अनित्यज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। घट, पटादि के जायमान अनित्य ज्ञान को वृत्ति ज्ञान भी कहा जाता है । अद्वैतियों के अनुसार अंतःकरण जो कि तैजस द्रव्य है वह इन्द्रियादि द्वारों से बाहर निकलकर घट, पट आदि विषयों के पास जाकर तद् तद् आकार में परिणत हो जाता है । अन्तःकरण की यह विषयाकार परिणति ही वृत्ति है । घट, पटादि के अनित्य जायमान ज्ञान का अर्थ है इन घट, पटादि के आकार में आकारित अन्तःकरण वृत्ति में ज्ञान का प्रतिबिम्बित होना । अब चूँकि बुद्धिवृत्तियाँ उत्पन्न,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नष्ट होती रहती हैं और उनके विषय बदलते रहते हैं अतः ज्ञान में साहित्व, सान्तत्व और वैभिन्न होता है । गौण या उपचरित अर्थ में ही ज्ञान कहे जाने वाले इस अनित्य, खण्ड या वृत्तिज्ञान का एक विषय होता है और एक आश्रय होता है । उत्पत्ति-विनाशशील और अन्तःकरण का परिणाम होने से विक्रियारूप इस ज्ञान का आश्रय न तो चैतन्यरूप आत्मा हो सकता है जो कि निर्गुण निष्क्रिय और अविकारी है न अन्तःकरण जो कि जड है । चैतन्य आत्मा और अन्तःकरण के तादात्म्याध्यास से आकलित चिदचिद्-ग्रन्थि रूप अहमर्थ जीव ही क्रियाविशेषपरक ज्ञान का आश्रय है। सारा ज्ञान इसी जीव को होता है । अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाता या जीव है । विषय के आकार में आकारित अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य ही ज्ञान या प्रमाण है । अब यह प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय ये तीनों जिसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं वही साक्षिचैतन्य है । यह अन्तःकरण, उसकी वृत्तियों और विषयों को एक साथ भावित करता है। यह प्रमाता का भी प्रमाता और ज्ञान का भी ग्रहीता है ।

प्रमाता जीव जिसके ज्योति से यावत् प्रमेय-जगत् को प्रकाशित करता है वह उसका मूलभूत तत्त्व उसका प्रत्यगात्मरूप साक्षिचैतन्यतत्त्व है । अपने अधिष्ठानभूत इसी स्वयंप्रकाश साक्षिचैतन्य पर अध्यस्त हो प्रमाता अपनी प्रमाणवृत्तियों से प्रमेयरूप जागतिक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है । अर्थात् न तो प्रमाता में और न प्रमाण में स्वयं की ज्योति होती है । वस्तुतः ज्ञाता और ज्ञान, बुद्धि और बुद्धिवृत्तियाँ, प्रत्ययी और प्रत्यय ये सब के सब चेतना के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं । बुद्धि और बुद्धिवृत्तियाँ स्वयं में जड हैं, चिदाभासहीन बुद्धि से घटादि में ज्ञातता नहीं उत्पन्न हो सकती । चैतन्य के परस्पराध्यास से ही बुद्धि में ज्ञातृत्व आता है और बुद्धिवृत्तियाँ उसके प्रतिबिम्ब से युक्त हो घट आदि में ज्ञातता उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं । यहाँ एक बात महत्त्वपूर्ण है । न्याय-वैशेषिक-मीमांसा-बौद्ध आदि के विपरित अद्वैत चिन्तकों ने चेतना के सम्बन्ध में इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन किया कि चेतना बुद्धि से भी सूक्ष्म तत्त्व है और बुद्धि में अपना प्रकाशकत्व नहीं है । चैतन्याभास से युक्त हो ही बुद्धिवृत्तियाँ विषय प्रकाशन में समर्थ होती हैं । अर्थात् जहाँ अद्वैत (सांख्य भी)-इतर परम्परा में बुद्धि, ज्ञान, संवित्, चेतना ये समानार्थक हैं। अद्वैत चिन्तकों ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन किया कि चेतना और बुद्धि भिन्न-भिन्न हैं । वास्तविक अर्थों में ज्ञान बुद्धि से अलग है । बुद्धि का भी ग्राहक और प्रकाशक जो तत्त्व है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसके प्रकाश से बुद्धि तदवत् (चेतन) प्रतीत होती है वह चैतन्य तत्त्व भिन्न है । वास्तविक ज्ञान शुद्धचैतन्य है । चिदाभासयुक्त बुद्धि में ज्ञान शब्द का प्रयोग उपचारतः ही होता है । जैसे जल में सूर्य का बिम्ब एवं उष्णता प्रतीत होने पर भी वह जल का धर्म नहीं है वैसे ही बुद्धि में बोध या स्फुरण प्रतीत होने पर भी वस्तुतः वह आत्मा का ही स्वरूप है ।

प्रमाता का स्वयंसिद्ध अस्तित्व भी इस साक्षी की सत्ता को सिद्ध करता है। प्रमाता स्वयं अपने अस्तित्व के बारे में कभी भी संदेह, विपर्यय आदि से युक्त नहीं होता । हम कभी भी स्वयं अपने अस्तित्व के बारे में संदेह से युक्त नहीं होते। इसका कारण यह है कि अहंकारात्मक वृत्ति साक्षिचैतन्य के प्रकाश से निरन्तर प्रकाशित होती रहती है। प्रमाता को साक्षिचेतना द्वारा भासित मानने से और साक्षिचेतना को स्वयं को स्वयं प्रकाश मानकर अद्वैती बौद्धमत में प्रसक्त होने वाले अनवस्था और जगदान्ध्यप्रसङ्ग के दोष से बच निकलते हैं । प्रमाता को अवभासित करने वाले साक्षी का ज्ञान कैसे होता है, यह प्रश्न नहीं किया जा सकता क्योंकि साक्षी स्वयंसिद्ध, स्वयंप्रकाश, स्वयंज्योतिरूप है । जिसके प्रकाश से सभी कुछ प्रकाशित होता है उसे भला कैसे प्रकाशित किया जा सकता है । जो दृष्टि का भी द्रष्टा, श्रुति का भी श्रोता और मति का भी मन्ता है उसे भला कैसे देखा, सुना जा सकता है ।[१२] अद्वैती चेतना के इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का प्रतिपादन करते हैं कि यह शुद्ध द्रष्टा या विषयीरूप है । चेतना स्वयं को विषयताया नहीं जान सकती । यदि वह ऐसा प्रयास करती है तो भी विषयितया यह अवशिष्ट ही रहती है । चेतना यद्यपि विषयतया वेद्य नहीं होती है पर देखा जाए तो इस तरह जानने की आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि अवेद्य होने के बावजूद वह नितान्त अपरोक्ष है । वह अपनी सत्ता में कभी भी प्रकाश से विरहित नहीं होती । वह शाश्वत अपरोक्ष है और इसीलिए स्वयंप्रकाश है ।

न केवल प्रमाता के प्रकाशन के लिए अपितु प्रमाता के अवस्थाभूत ज्ञान, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष आदि में होने वाली नित्य अपरोक्षता की व्याख्या के लिए भी हमें प्रमाता के अन्तर्भूत एक स्वयंप्रकाश साक्षिचैतन्य तत्त्व को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है । पीछे हम लोगों ने विस्तार से ज्ञान के ग्रहण की समस्या को उठाकर यह भलीभाँति देखा कि ज्ञान में होने वाली अपरोक्षता की व्याख्या के लिए एक साक्षीरूप स्वयंप्रकाश चेतनतत्त्व को मापना अनिवार्य हो जाता है। न केवल ज्ञान अपितु सुख-दुःख, इच्छा आदि के ज्ञान की व्याख्या के लिए भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साक्षी को मानना होगा । नैयायिक सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष आदि को आत्मा का गुण मानते हैं । ज्ञान भी उनके अनुसार आत्मा का गुण है ।अब आत्मगत ज्ञान से भला आत्मगत सुख-दुःख, इच्छा आदि कैसे विदित हो सकते हैं ? सुख एवं ज्ञान दोनों आत्मा में एक काल में समवेत नहीं हो सकते क्योंकि आत्ममनःसंयोग दोनों का ही हेतु है । एक असमवायिकारण आत्ममनःसंयोग से एक ही कार्य उत्पन्न हो सकता है । सुख के असमवायिकारण आत्ममनःसंयोग के नाश से सुख का नाश होगा । संयोगान्तर से जन्य ज्ञान द्वारा उसका ग्रहण कथमपि बन नहीं सकेगा । एक आत्ममनःसंयोग से युगपत् अनेक कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती, अतः ज्ञान और सुख दोनों युगपत् हो नहीं सकते । वस्तुतः एक आश्रय वालों का विषय-विषयिभाव नहीं बन सकता है अतः आत्माश्रित सुख का आत्माश्रित ज्ञान से ग्रहण नहीं हो सकता ।

वास्तव में प्रमाता और उसकी अवस्थाभूत सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष आदि का ग्रहण स्वयं प्रमाता द्वारा नहीं हो सकता । प्रमाता और उसकी अवस्थाओं को अवभासित करने वाला कोई और तत्त्व ही होना चाहिए । यही साक्षी है । यहाँ यह धातव्य है कि अद्वैतियों के अनुसार ज्ञान, सुख, इच्छा, द्वेष आदि आत्मा के धर्म न होकर अन्तःकरण के धर्म हैं । काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, धी, ये सभी अन्तःकरण के ही रूप कहे गये हैं– **कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्हीर्धीर्भीरित्येत्सर्वं मन एव ।** जब भी हमें किसी घट, पट आदि का ज्ञान होता है, हमें कोई सुख उत्पन्न होता है या कोई इच्छा उत्पन्न होती है तो इस ज्ञान, सुख, इच्छा के ग्रहण के लिए किसी अन्य बुद्धिवृत्ति की आवश्यकता नहीं होती । इनके ग्रहण के लिए किसी अन्य इन्द्रिय, लिङ्ग ज्ञान आदि प्रमाण व्यापारों की अपेक्षा नहीं होती, बिना इनकी अपेक्षा के ही ये सीधे साक्षी द्वारा भासित होते हैं। इस प्रकार अन्तःकरण और उसके परिणाम सीधे साक्षी द्वारा प्रकाशित होते हैं। साक्षिचेतना द्वारा प्रकाशित होने से हो उनके प्रति अपरोक्षता का भाव रहता है। न तो सुख, दुःख आदि और न ही (घट, पटादि का) ज्ञान स्वयंप्रकाश है, जैसा कि बौद्ध समझते हैं । ये चूँकि साक्षिचेतना द्वारा निरन्तर भासित होते रहते हैं इसीलिए ये नियत प्रत्यक्ष होते हैं। यहाँ धातव्य है कि घट, पट आदि बाह्य विषयों के विपरीत ज्ञान, सुख आदि मानसिक हैं और मन एवं मानसिक अवस्थाओं की यह विशेषता होती है कि वे नियत प्रत्यक्ष होते हैं । ज्ञान कभी भी अज्ञात नहीं रहता । सुख कभी भी अननुभूत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं होता । हमें दर्द हो और उसकी अनुभूति न हो यह असम्भव है। ये नित्य अपरोक्ष हैं और ऐसा इसलिए है क्योंकि अन्तःकरण सात्त्विक और तैजस स्वभाव का होता है । सात्त्विक और तैजस होने से वह इतना स्वच्छ होता है कि साक्षिचैतन्य के प्रतिबिम्ब से नियत युक्त ही रहता है । साक्षिचेतना असंग होने के बावजूद अन्तःकरण से सम्बन्धित रहती है । अतः साक्षिचेतना के प्रकाश से विरहित न होने के कारण अन्तःकरण और उसकी वृत्तियाँ सर्वदा भासित रहते हैं ।

प्रमाता जीव का अन्तर्भूत उसके समस्त व्यापारों को प्रतिपल प्रकाशित करने वाले साक्षी की सत्ता एक अन्य दृष्टि से भी सिद्ध होती है । प्रमाता को हमेशा किसी न किसी विषय का ज्ञान होता रहता है । एक के बाद दूसरा और फिर तीसरा, चौथा – इस तरह उसे विभिन्न वस्तुओं का ज्ञान होता रहता है । पर कई एक स्थिति में पाते हैं कि आवश्यक नहीं कि किसी विषय का ज्ञान ज्ञाता को हो ही । अब ऐसी स्थिति में क्या ज्ञाता ज्ञानशून्य हो जाता है? ज्ञान को आत्मा का गुण मानने वाले न्यायवैशेषिक, पूर्व मीमांसा प्रभृति दर्शनों के लिए यह समस्या इतनी गम्भीर होकर आती है जिसका समाधान देने में वे अन्ततः असफल ही रहते हैं । इस सम्बन्ध में अद्वैतियों का कहना है कि ऐसे समय भी प्रमाता अचेतन नहीं रहता । साक्षी चैतन्य उसे प्रकाशित करता रहाता है। जब हमें घट, पट आदि विशेष ज्ञान नहीं होता, बुद्धि वृत्तियाँ नहीं होती ऐसे समय भी अर्थात् बुद्धिवृत्तियों के अन्तराल में भी स्वयंप्रकाश बोधरूप सामान्य चैतन्य अपने नित्य प्रकाश के साथ जैविक संस्थान को प्रकाशित करता हुआ रहता है । यह न केवल बुद्धिवृत्तियों का अपितु उनकी संधियों और अन्तरालों को भी भासित करता है। यही बुद्धिवृत्तियों की उत्पत्ति और विनाश को भी प्रकाशित करता है । बुद्धिवृत्तियाँ तो उत्पन्न होती हैं और नष्ट हो जाती हैं । हम देखते हैं कि कभी हमें घट का ज्ञान होता है तो कभी पटज्ञान । कभी किसी विषय का ज्ञान होता है तो कभी किसी विषय का । घट, पटादि वृत्ति ज्ञानों के उत्पन्न नष्ट होने का तथ्य स्पष्टतः अनुभूत होता है। अब यह तथ्य सिद्ध करता है कि कोई स्वयंप्रकाश बोधरूप नित्य चैतन्य साक्षी है जो हमारे ज्ञान को उत्पन्न नष्ट होते देखता है । वृत्तिज्ञान के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव को कोई नित्य साक्षीस्वरूप चैतन्यतत्त्व ही प्रकाशित कर सकता है ।

यहाँ यह महत्त्वपूर्ण है कि जाग्रत् काल में बुद्धिवृत्तियों में अन्तराल भले ही हो पर बुद्धिवृत्तियों का सर्वथा अभाव नहीं होता । लेकिन सुषुप्ति में तो बुद्धिवृत्तियों का सर्वथा अभाव हो जाता है । अब बुद्धिवृत्तियों के इस अभाव को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशित करने वाला कोई स्वयंप्रकाश सामान्य बोधरूप चैतन्य होना चाहिए। जो इन बुद्धिवृत्तियों के अभाव को प्रकाशित करे । बुद्धिवृत्तियों के अभाव को प्रकाशित करने वाला साक्षिचैतन्य है । इस साक्षिचैतन्य के सामान्यानुभव का कभी अभाव नहीं होता । यदि सुषुप्ति में साक्षिचैतन रूप सामान्य बोध का भी अभाव हो तो सुप्तोस्थित को **मैंने कुछ नहीं जाना** इस तरह का विमर्श ही नहीं हो पाएगा। सुषुप्ति में घट, पटादि के विशेष अनुभव का ही अभाव होता है । साक्षिरूप सामान्यानुभव का अभाव नहीं होता । विशेषानुभव के अभाव को भासित करने वाला तत्त्व साक्षिचेतना है । यह चेतना नित्यकूटस्थ है । इसका कभी अभाव नहीं होता । ज्ञाता की स्वरूपभूता ज्ञप्ति नित्य है । जैसे नृत्यशालास्थित दीपक प्रमुख प्रेक्षक, सभा व नृत्यकारों को एक साथ प्रकाशित करता है और उनके अभाव में स्वयं प्रकाशित होता है उसी तरह साक्षी आत्मा अहंकार, बुद्धि एवं सभी विषयों को प्रकाशित करता है और उनके न रहने पर उनके अभाव को प्रकाशित करता हुआ स्वयं प्रकाशित होता है । अद्वैतियों के अनुसार सुषुप्ति अनुभवों का अभाव नहीं है अपितु वह स्वयं एक अनुभव है। सुषुप्ति का तथ्य एक नित्य साक्षीचेतना के अस्तित्व को सिद्ध करता है । सोकर जागने के पश्चात् सुप्तोस्थित प्राणी को सुषुप्ति-अवस्था के सुख और अज्ञान का स्मरण होता है तभी वह **सुखमहस्वाप्यम्, नाहं किंचिदवेदिषम्** इस तरह का कथन करता है । अब चूँकि स्मृति अनुभवपूर्वक ही होती है अतः सुषुप्ति काल में सुख एवं अज्ञान का अनुभव मानना उचित ही होगा । अब प्रश्न है सुषुप्तिकालीन सूज्ञ तथा अज्ञान का भासक कौन है ? यह प्रमाता तो हो नहीं सकता क्योंकि वह तो सोया हुआ रहता है । साक्षी अविद्यावृत्ति से सुषुप्ति में इन दोनों का ग्रहण करता है । सुषुप्ति में अहम् का बोध नहीं होता, पर इसका अर्थ नहीं है कि वहाँ चेतना नहीं रहती। अहम् प्रतीति के न रहने का कारण यह है कि चेतना का उपाधिभूत अतःकरण अपने कारणभूत अज्ञान में लय हो जाता है । उपाधिभूत अज्ञान अब भी साक्ष्य रूप में बना रहता है । इसी कारण सुषुप्तिकालीन चेतना निरुपाधिक नहीं होती । अन्तःकरण के कारणभूत भावरूप अज्ञान को भासित करते हुए साक्षिचेतना सुषुप्ति में अपने स्वरूप में स्थित रहती है ।

साक्षी जैसे वस्तुओं के ज्ञान का भासक है वैसे ही अज्ञान भी साक्षी द्वारा भासित होता है । **मैंने कुछ भी नहीं जाना** इस तरह का विमर्श अज्ञान के ज्ञान का सूचक है । अब अज्ञान का ज्ञान प्रमाता जीव को सम्भव नहीं है क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाता तो वृत्तियों द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करता है और समस्या यह है कि वृत्ति एवं अज्ञान दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते क्योंकि वृत्ति तो अज्ञानावरण नष्ट करती हैं। इसीलिए अज्ञान को सीधे साक्षी द्वारा भासित मानना पडता है । यहाँ सहज ही प्रश्न उठता है कि साक्षीरूप चेतना तो विज्ञानस्वरूप है वह भला अज्ञान का भासक कैसे हो सकती है ? अज्ञान और ज्ञान जो कि तमःप्रकाशवत् एक दूसरे के विरोधी हैं वे भला एक साथ कैसे हो सकते हैं ? भावरूप अज्ञान ज्ञानस्वरूप आत्मचेतना पर आश्रित हुई कैसे रह सकती हैं ? इस पर अद्वैतियों का कहना है कि अज्ञान का विरोध विशुद्धज्ञान से न होकर वृत्तिज्ञान से ही है । अज्ञान का शुद्ध चेतना से कोई विरोध नहीं है । वास्तव में चेतना जब अज्ञान को भासित करती हुयी अपनी ज्योति में प्रकाशित होती है तो यही चेतना साक्षिचेतना कहलाती है । अज्ञान के संदर्भ में देखी जाती हुयी चेतना ही साक्षिचेतना है । इस सन्दर्भ से परे तो वह विशुद्ध आत्मा या ब्रह्म है । इसलिए साक्षी को अद्वैती अज्ञानोपहित चेतना कहते हैं।

चूँकि साक्षी अज्ञान का भासक है अतः अज्ञानवृत यावत् वस्तुएँ साक्षी द्वारा भासित होती हैं । अर्थात् अज्ञात वस्तुएँ भी साक्षी द्वारा प्रकाशित होती हैं। जब कोई वस्तु चिदाभासयुक्त बुद्धिवृत्ति से व्याप्त होती है तो वह ज्ञात कहलाती है । ज्ञात होने सेपहले वस्तुओं पर अज्ञानावरण पडा होता है और वे अज्ञात होती हैं। साक्षी अज्ञात रूप भें भी वस्तुओं को प्रकाशित करता है । इसलिए कहा जाता है कि साक्षिचेतना द्वारा ज्ञात-अज्ञान सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं - **सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव ।**[१४] चूँकि साक्षिचेतना रूप सामान्यानुभव द्वारा वस्तुएँ अज्ञातावस्था में भी प्रकाशित होती रहती हैं इसीलिए जब उनका प्रमाता को ज्ञान होता है तब उसे ऐसा नहीं लगता कि वह उनको उत्पन्न कर रहा है । वास्तव में हमारा समस्त व्यवहार चाहे वह ज्ञानपरक हो या अन्य, एक तरह के वस्तुवादी विश्वास को लेकर चलता है । हम जब किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो हमें इस बात का स्पष्ट भान होता है कि हम उसको उत्पन्न नहीं कर रहे हैं और कि हमारे ज्ञान से पूर्व भी वस्तु अज्ञात रूप में विद्यमान थी। किसी वस्तु के ज्ञात होने का तात्पर्य पहले से ही विद्यमान वस्तु का अज्ञात से ज्ञात होना है । इस तरह ज्ञान कोई नई सृष्टी नहीं है, वह सिद्धवस्तुविषयक होता है । अब ज्ञान का यह स्वरूप यह सिद्ध करता है कि वस्तुएँ ज्ञात रहने से पूर्व अज्ञात रूप में विद्यमान रहती हैं । वस्तुओं के इसी अज्ञातता को प्रकाशित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने वाला चैतन्य साक्षी है जो न केवल वस्तुओं की ज्ञातता को अपितु उनकी अज्ञातता को भी प्रकाशित करता है । प्रमाता द्वारा अज्ञात वस्तुएँ भी चूँकि साक्षी को प्रकाशित होती रहती हैं, इसीलिए जब प्रमाता को उनका ज्ञान होता है तो उसे ऐसा नहीं लगता कि वह वस्तुओं को उत्पन्न कर रहा है । अद्वैतियों का तर्क बहुत स्पष्ट है । हमारा समस्त प्रमाण-प्रमेय व्यवहार चाहे वह लौकिक हो या वैदिक एक तरह की वस्तुवादी मान्यता को लेकर चलता है। वस्तुवाद की यह मूल मान्यता है कि वस्तुओं की ज्ञातावस्था से अतिरिक्त उसकी अज्ञातावस्था भी होती है। अब इस अज्ञातावस्था का प्रमाता को ज्ञान नहीं होता, जिसके आधार पर विज्ञानवादी सोचते हैं कि वस्तुओं की कोई अज्ञातावस्था है ही नहीं । सही स्थिति यह है कि एक स्वयंसिद्ध चैतन्यरूप साक्षी तत्त्व है जो वस्तुओं की अज्ञातावस्था को भी प्रकाशित करता रहता है ।

इस स्वयंप्रकाश साक्षी चैतन्य द्वारा प्रकाशित होता हुआ ही अनेक कर्ता, भोक्ता से उक्त विभिन्न वस्तुओं, वनस्पतियों और प्राणियों वाला यह सकल संसार सिद्ध होता है। सभी कुछ ज्ञान-अज्ञात, भाव-अभाव यावत् वस्तुएँ, प्रमाता, प्रमेय, नामरूप में अभिव्यक्त होने वाला यह सकल जगत् साक्षी का साक्ष्य होते हुए ही सिद्ध है । सभी कुछ को साक्ष्य प्रदान करता हुआ यह साक्षी स्वयं अपनी सिद्धी के लिए अन्य पर आश्रित नहीं होता । यह स्वतःसिद्ध एवं स्वयंप्रकाश है । यदि यह स्वतःसिद्ध और स्वयंप्रकाश चैतन्य रूप साक्षी न हो तो इस जगत् में किसी चीज की सिद्धी नहीं हो पाएगी और जगत् घोर अन्धकार में विलीन हो जाएगा ।

अन्त में यहाँ एक महत्त्वपूर्ण समस्या पर चर्चा अपेक्षित होगी। समस्या इस रूप में सामने आती है कि यदि सामान्य बोधरूप नित्यकूटस्थ साक्षिचैतन्य से यावत् वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं तो फिर वृत्तिज्ञानरूप खण्ड या अनित्यज्ञान द्वारा वस्तुओं के प्रकाशन का क्या अर्थ है ? यदि स्वयं सूर्य के प्रकाश से वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं तो फिर दर्पण में प्रतिबिम्बित सूर्यप्रकाश से उसको प्रकाशित करने का क्या अर्थ? इसके उत्तर में अद्वैतियों का कहना है कि यद्यपि अखण्ड बोधरूप सामान्यानुभव से चिदाभास, प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण ये सबके सब प्रकाशित होते हैं फिर भी **यह घट है, यह पट है** इस प्रकार के विशेष ज्ञान के लिए सामान्यानुभव के अतिरिक्त विशेषानुभव की अपेक्षा होती हैं क्योंकि सामान्यानुभव से वस्तुएँ अज्ञात रूप भें भी भासित होती रहती हैं । अब, वस्तुओं का विशेष ज्ञान बिना तदाकारित अन्तःकरणवृत्ति में चैतन्य के प्रतिबिम्बित हुए संभव नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। यहाँ विदित हो कि अन्तःकरण तैजस द्रव्य होने के कारण अत्यन्त स्वच्छ है अतः स्वभावतः चैतन्य को अभिव्यक्त करने में सक्षम है, किन्तु घट, पटादि अस्वच्छ होने के कारण चैतन्य के प्रतिबिम्ब को धारण नहीं कर पाते । जब घटाकार वृत्ति द्वारा घट का अन्तःकरण से सम्बन्ध होता है तो (१) वृत्ति घट की जडता को दूर कर देती है और (२) अन्तःकरण अपने समान अपने से संयुक्त घट में भी चैतन्य को अभिव्यक्त करने की योग्यता ला देता है। इस प्रकार घट, पट आदि के विशेष ज्ञान के लिए उनका साक्षिचैतन्य से सम्बद्ध होना ही आवश्यक नहीं है बल्कि इस चेतना और वस्तु के व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्धरूप विशेष सम्बन्ध का होना भी आवश्यक होता है । घट, पट आदि के ज्ञान में हम कह सकते हैं कि द्विगुण ज्ञान प्रकाश होता है । सामान्य नित्यबोध रूप साक्षी से वे प्रमाण-प्रवृत्ति से पूर्व ही भासित होते रहते हैं, जब वे चित्प्रतिबिम्बियुक्त वृत्ति से व्याप्त होते हैं तो ज्ञात कहालाते हैं ।

दर्शन विभाग, **डा. आनंद मिश्र**
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

टिप्पणियाँ

१. कर्तारं च क्रियां तद्वद् व्यावृतविषयानपि ।
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः ॥
नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम् ।
दीपयेदविशेषण तदभावेऽपि दीप्यते ॥
अहङ्कार धियं साक्षी विषयानपि भासयेत ।
अहङ्काराद्यभावोऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत् ॥
- विद्यारण्य स्वामी, **पञ्चदशी**, १०/९, ११, १२

२. **बृहदारण्यक उपनिषद्**, ४/३/२३

३. अर्थप्रकाशत्वमैव खलूपलभ्यः । - जयन्तभट्ट, **न्यायमञ्जरी**, (तृतीय भाग), संपा. गौरीनाथ शास्त्री, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८४, पृ. ५१

४. वित्तेरवश्यवेद्यत्वाभावेनानवस्थाविगमात् । - गंगेश, **तत्त्वचिन्तामणि**, प्रत्यक्षखण्ड, अनुव्यवसायवाद, दिल्ली, चौखम्भा, संस्कृत प्रतिष्ठान,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९९०, पृ. ७९८

५. धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय की यह पंक्ति बौद्ध और बौद्धेतर परम्पराओं में बहुशः उद्धरित होती है । द्रष्टव्य, **न्यायभूषण**, सं. स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९६८, पृ. १३३

६. एम. हट्टोरी, **दिङ्नाग ऑन परसेप्शन**, कैम्ब्रिज, : हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९६८, पृ. २९-३०

७. धर्मकीर्ति, **न्यायबिन्द**, १/१०

८. देखें, शङ्कराचार्य, **ब्रह्मसूत्रभाष्य**, २/२/२८ और शङ्कराचार्य, **बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य**, ४/३/७

९. प्रदीपवद्विज्ञानमवभासकान्तरनिरपेक्षं स्वयमेव प्रथत इति ब्रुवताऽप्रमाणगम्यं विज्ञानमनवगन्तृकमित्युक्तं स्यात्, शिलाघनमध्यस्थ प्रदीपसहस्रप्रथनवत् । शङ्कराचार्य, **ब्रह्मसूत्रभाष्य**, २/२/२८

१०. ततः सादृश्यप्रत्ययानुपपत्तिस्तेनेदं सदृशमिति अनेकदर्शिन एकस्याभावात्। शङ्कराचार्य, **बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य**, ४/३/७

११. दृष्टिरिति द्विविधा भवति - लौकिकी पारमार्थिकी चेति तत्र लौकिकी चक्षुसंयुक्ता अन्तःकरणावृत्तिः, सा क्रियत इति जायते विनश्यति च, या त्वात्मनो दृष्टिःअग्न्युष्णप्रकाशादिवत्, सा च द्रष्टुः स्वरूवान्न जायते न विनश्यति च । शङ्कराचार्य, **बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य**, ४/३/७

१२. न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं श्रुणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः । **बृहदारण्यक उपनिषद्**, ३/४/२

१३. **बृहदारण्यक उपनिषद्**, १/५/३

१४. प्रकाशात्मन्, पञ्चपादिकाविवरणम्, मद्रास गर्वनमेण्ट ओरिएण्टल मेनुसिक्रप्ट लाइब्रेरी, १९६८, पृ. ८३-८४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाणिनीय अनुनासिक तथा सवर्ण सञ्ज्ञा विचार

आचार्य पाणिनि संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में युगपुरुष के रूप में अवतरित हुए । उन्होंने अष्टाध्यायी नामक स्वरचित व्याकरण ग्रन्थ को इतने सुव्यवस्थित तथा वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया कि जिससे संस्कृत भाषा का परिष्कृत रूप चिरस्थायी बन गया । सम्प्रति पाणिनीय व्याकरण ही विश्व का सर्वाधिक प्रौढ एवं प्रामाणिक व्याकरण ग्रन्थ है । अष्टाध्यायी के आठ अध्यायों में से प्रथम अध्याय में शास्त्रीय व्यवहारोपयोगी सञ्ज्ञा सूत्रों का संकलन है । ये सञ्ज्ञा सूत्र पाणिनीय व्याकरण के मेरूदण्ड हैं । इन्हीं सूत्रों के कारण यह व्याकरण अल्पाक्षरों में भी पूर्णता को प्राप्त कर गया । आचार्य पाणिनि ने मुख्य रूप से अनुनासिक सञ्ज्ञा के लिए 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः'[१] सूत्र तथा सवर्ण सञ्ज्ञा के लिए 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्'[२] सूत्र दिया है ।

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः = मुख सहित नासिका से उच्चारण किये जाने वाले वर्ण की अनुनासिक सञ्ज्ञा होती है - मुखसहिता नासिका मुखनासिका तथा च उच्चार्यते वर्णःज्ञोऽनुनासिकसञ्ज्ञो भवति ।[३] अनुनासिक वर्ण में कुछ मुख से बोले जाते हैं तथा कुछ नासिका से - किञ्चिन्मुखवचनं किञ्चिन्नासिकावचनम् ।[४] 'मुखनासिकावचनः' पद में द्वन्द्वगर्भ वाला बहुव्रीहि समास है - मुखं च नासिका चेति मुखनासिकम् । मुखनासिकं वचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः ।[५]

'अनुनासिक' पद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - 'नासिकामनु(अनुगत= पश्चात्) प्राप्तः-' अर्थात् नासिका द्वार से उच्चारित । वर्णों का उच्चारण तो मुख से ही होता है, किन्तु उसकी परिणति जब नासिका द्वार की सहायता से की जाय, तब वह अनुनासिक कहलाता है । जैसे 'ञम्' प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले प्रत्येक वर्ग के अन्तिम पाँचों वर्ण ङ्, ञ्, ण्, न् और म् अनुनासिक हैं ।

सूत्र में 'मुख' पद न रहने पर केवल नासिका से उच्चारित वर्ण की ही अनुनासिक सञ्ज्ञा होगी । तदनुसार अनुस्वार के अतिरिक्त वर्गों के पञ्चम वर्णों की अनुनासिक सञ्ज्ञा नहीं होगी, क्योंकि अनुस्वार का ही केवल नासिका स्थान है - मुखग्रहणं किम्? अनुस्वारस्यैव हि स्यात् ।[६] इसी प्रकार यदि सूत्र में 'नासिका' पद नहीं रखेंगे तो केवल मुख से उच्चारित वर्णों की ही अनुनासिक सञ्ज्ञा होगी । ऐसा होने पर क च ट त प

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि वर्ण अनुनासिक होने लगेंगे - नासिकाग्रहणं किम् ? कचटतपानां मा भूत् ।[७] सूत्रस्थ 'वचन' पद उच्चारण के साधनरूप में प्रयुक्त हुआ है ।

'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि'[८] इस सूत्र के अनुसार वेद में अच् के परे रहते आङ् को अनुनासिक आदेश हो जाता है; यथा - अग्र आँ अपः[९], गंभीर आँ उग्रपुत्रे ।[१०] यहाँ एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि शाब्दिकों के अनुसार शब्द नित्य है । नित्य शब्दों में अनादि काल से ही अनुनासिक वर्ण विद्यामान हैं । उनको विद्यमान मानकर अनुनासिक सञ्ज्ञा हो जायेगी, क्योंकि अनुनासिक सञ्ज्ञा द्वारा नया अनुनासिक वर्ण विधान नहीं किया जाता तो फिर अनुनासिक सञ्ज्ञा द्वारा अनुनासिक विधान शास्त्र किस लिये है ? इसके उत्तर में आचार्य पतञ्जलि का कहना हैं कि नित्य शब्दों में अनुनासिक विधान शास्त्र अभीष्ट विषय में अनुनासिक के अभाव को निवृत्त करने के लिए है । जैसे 'आङोऽनुनासिकन्दस्रि'[११] यह अनुनासिक विधान शास्त्र 'आङ्' शब्द को अनुनासिक विधान करता है। उस विधानशास्त्र से पूर्व 'आङ्' शब्द अध्येता के लिए सामान्य रूप से अनुनासिक रहित उपदिष्ट है, अर्थात् उस आङ् को वह अध्येता सर्वत्र अनुनासिक रहित समझता है, किन्तु अनुनासिक विधान शास्त्र उसकी इस बुद्धि को अभीष्ट विषय में निवृत्त कर देता है जिससे वह यह समझ जाता है कि छन्द में अच् के परे रहते 'आङ्' को अनुनासिक प्रयुक्त करना साधु है । वहाँ अनुनासिक रहित प्रयोग असाधु है । इस प्रकार नित्य शब्द रहते हुए भी शास्त्र का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है - निवर्तकं हि शास्त्रम् । कथम् । आङस्मायविशेषेणोपदिष्टोऽ नुनासिकस्तस्य सर्वत्राननुनासिकबुद्धिः प्रसक्ता । तत्रानेन निवृत्तिः क्रियते । छन्दस्यचि परत आङोऽननुनासिकस्य प्रसङ्गेऽनुनासिकः साधुर्भवतीति ।[१२]

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्[१३] = जिस वर्णसमूह का पारस्पारिक ताल्वादि स्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न तुल्य हो उस वर्णसमूह की परस्पर सवर्ण सञ्ज्ञा होती है ।

प्रकृत सूत्र में 'तुल्यास्यप्रयत्नम्' पद में बहुव्रीहि समास है - तुल्य आस्यप्रयत्नो यस्य तुल्यास्यप्रयत्नम् । यहाँ 'तुल्य' शब्द 'सदृश' का पर्याय है । महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि के अनुसार जो तुला अर्थात् तराजू से ठीक तुला हुआ है वह तुल्य होता है - तुलया संमितं तुल्यम् ।[१४]

'आस्य'अर्थात् मुख में होने वाले ताल्वादि स्थान आस्य कहालाते हैं । लोकप्रसिद्ध मुख को आस्य कहते हैं जो ओष्ठ से लेकर काकलक से पूर्व तक शरीर का अवयव है । मुख से वर्णों को फेंकते हैं, उच्चारण करते हैं तथा बाहर निकालते हैं अथवा खाया जाता अन्न इस मुख को गीला करता है इसलिए भी मुख को आस्य कहते हैं -किं पुनरास्यम्? लौकिकमास्यम् । ओष्ठात्प्रभृति प्राक्काफलकात् । कथं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनरास्यम्? अस्यन्त्यनेन वर्णानिति आस्यम् । अन्नमेतदास्यन्दते इति वा आस्यम् ।[१५]

प्रकृष्ट यत्न को प्रयत्न कहते हैं । महाभाष्यकार के अनुसार वर्णों के उच्चारण में जो जिह्वा के अग्रउपाग्र आदि भागों से स्पर्श या हरकत होती है उसे प्रयत्न कहते हैं - अथ कः प्रयत्नः ? प्रयतनं प्रयत्नः । प्रपूर्वाद्यततेर्भावसाधनो नङ् प्रत्ययः ।[१६]

स्पृष्टता आदि वर्णों के गुण हैं । जिस वर्ण का जिस वर्ण के साथ मुख में होने वाला स्थान तथा प्रयत्न समान हो वह वर्ण समान जातीय वर्ण के प्रति सवर्णसञ्ज्ञक कहलाता है - तुल्यशब्दः सदृशपर्याय । आस्ये भवमास्यं ताल्वादिस्थानम् । प्रयतनं प्रयत्न स्पृष्टतादिर्वर्णगुणः । तुल्य आस्ये प्रयत्नो यस्य वर्णस्य येन वर्णेण सह स समानजातीयं प्रति सवर्णसञ्ज्ञो भवति ।

लोक में आभन्तर और बाह्य यत्नों के लिए सामान्यतया 'प्रयत्न' शब्द प्रयुक्त होता है, किन्तु शास्त्र में इन दोनों के लिए 'यत्न' शब्द का ही प्रयोग होता है । प्रकृत सूत्र में 'यत्न' शब्द के साथ 'प्र' उपसर्ग जुडा हुआ है जो बाह्य यत्न को हटा कर आभ्यन्तर यान का ही बोध करता है; यथा - 'प्राक्तनो यत्नः प्रयत्नः।' अथवा 'प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः।' जो पहला यत्न अथवा उत्कृष्ट यत्न हो उसे प्रयत्न कहते हैं। इस रीति से आभ्यन्तर यत्न ही प्रयत्न कहलाता है, क्योंकि वह वर्णोत्पत्ति से पूर्ण होता है तथा वर्णोत्पत्ति का कारण होने से उत्कृष्ट है बाह्य यत्न वर्णोत्पत्ति के पश्चातथ होने तथा वर्णोत्पत्ति में कारण न होने से वैसा नहीं है ।

जब तक सम्पूर्ण स्थान और सम्पूर्ण प्रयत्न तुल्य न हो तब सवर्ण सञ्ज्ञा नहीं होती । यथा इ और ए वर्णों का प्रयत्न तुल्य है, तालु स्थान भी तुल्य है, परन्तु ए का इ से कण्ठ स्थान अधिक है, अतः इन दोनों की सवर्ण सञ्ज्ञा नहीं होगी । सवर्ण सञ्ज्ञा न होने से भवति + एव इत्यादि स्थलों में अनिष्ट सवर्ण दीर्घ की निवृत्ति हो जाती है ।

प्रश्न यह भी है कि यदि सम्पूर्ण स्थान और सम्पूर्ण प्रयत्न के साम्य होने से ही सावर्ण्य माना जायेगा तो क् और ङ् की सवर्ण सञ्ज्ञा न हो सकेगी, क्योंकि कण्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न के तुल्य होने पर भी ङकार का नासिका स्थान अधिक होता है और यदि वर्णों की सवर्ण सञ्ज्ञा नहीं होगी तो 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः'[१८] सूत्र में ककार ङकार का ग्रहण नहीं करवायेगा । इससे प्राङ् आदि प्रयोगों में नकार को ङकार न होकर अनिष्ट प्रयोग निष्पन्न होंगे । इसका समाधान यह है कि में आस्य तथा प्रयत्न के तुल्य होने का उल्लेख है । आस्य का अर्थ 'मुख में होने वाला स्थान' है । ककार और ङकार का मुख में होने वाला स्थान 'कण्ठ' तुल्य ही है । 'नासिका' तो मुख से बाहर का स्थान है, फिर चाहे वह तुल्य हो या न हो चिन्ता नहीं, सवर्ण सञ्ज्ञा हो जाती है ।

ए और ऐ तथा ओ और औ के सम्पूर्ण स्थान और प्रयत्न के साम्य होने पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी सवर्ण सञ्ज्ञा नहीं होती, क्योंकि मुनिवर पाणिनि ने 'एओङ्' और 'ऐ औच्' सूत्रों में दोनों का पृथक्-पृथक् निर्देश किया है ।

'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्'[१९] सूत्रानुसार ऋकार और लृकार की परस्पर सवर्ण सञ्ज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि ऋकार का स्थान मूर्धा तथा लृकार का स्थान दन्त है, परन्तु 'तवल्कारः' आदि प्रयोगों के लिए इन दोनों वर्णों की सवर्ण सञ्ज्ञा करना अत्यावश्यक है । इस त्रुटि की पूर्ति मुनिवर कात्यायन ने 'ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्य वाच्यम्'[२०] वार्त्तिक द्वारा की है । इस प्रकार ऋकार और लृकार वर्णों की परस्पर सवर्ण सञ्ज्ञा हो जाती है - ऋकारलृकारयोः सवर्णसञ्ज्ञा विधेया । होतृ-लृकारः होतृकार इति। किं प्रयोजनम् ? अकः सवर्णे दीर्घ इति दीर्घत्वं यथा स्यात् ।[२१]

पाणिनीय शिक्षाकार ने वर्णों के आठ उच्चारण स्थान माने हैं वक्षःस्थल, कण्ठ, मूर्धा, तालु, जिह्वामूल, नासिका, अधर और दन्त-

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥[२२]

अठारह प्रकार के अवर्ण, कवर्ग, हकार तथा विसर्ग का कण्ठ स्थान होता है। विसर्ग कहो या विसर्जनीय एक ही बात है, क्योंकि ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं । विसर्ग का कण्ठ स्थान तभी होता है जब वह अकाराश्रित (अकार ये परे) होता है - अयोगवाहः विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः ।[२३] अयोगवाहों में यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय की गणना होती है । ओकार हो जाना, सन्ध्यभाव हो जाना, शकार, षकार, सकार में परिणत हो जाना, रेफ का ऊर्ध्वगमन होना, जिह्वामूलीय होना और उपध्मानीय होना - ये विसर्ग की आठ प्रकार की गतियाँ होती हैं । यदि उकारादि पदपर में हो तथा उसे पूर्व ओकार की सत्ता दृष्टिगोचर हो जाय उस प्रकार के ओकार को स्वर स्थानिक जानना चाहिये । इसके विपरीत उकारादि पद का पर में अभाव रहने पर उसके पूर्वओकार की विसर्ग स्थानिक सञ्ज्ञा होती है -

ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च । जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः ॥
यद्योभावप्रसन्धानमुकारादि परं पदम् । स्वरान्त तादृशं विद्याद्यदन्यद्व्यक्तमूष्मणः ॥[२४]

अठारह प्रकार के इवर्ण, चवर्ग, अनुनासिक तथा अननुनासिक ये दोनों यकार तथा शकार का 'तालु' (मुखविवर की उपरि गोल छत) स्थान होता है । अठारह प्रकार के ऋवर्ण, टवर्ग, रेफ तथा षकार का मूर्धा (तालु के पिछे मुख की छत का कोमल भाग) स्थान होता हैं । बारह प्रकार के लृकार, तवर्ग, दो प्रकार के लकार तथा सकार का दन्त स्थान होता है । अठारह प्रकारके उकार, पवर्ग तथा उपध्मानीय (-- प --फ) का ओष्ठ स्थान होता है। अ् म् ण् न् इन पाँच वर्णों का अपने-अपने वर्गों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थान के अतिरिक्त नासिका स्थान भी होता है । बारह प्रकार के एकार तथा ऐकार का कण्ठ और तालु स्थान होता है बारह प्रकार के ओकार तथा औकार का कण्ठ और ओष्ठ स्थान होता है । वकार का दन्त और ओष्ठ स्थान होता है । जिह्वामूलीय (-क -ख) का स्थान जिह्वा की जड होता है । जिह्वा का मूल स्थान प्रायः कण्ठ के ही निकट होता है । अनुस्वार (ं)का नासिका स्थान होता है । पाणिनीय शिक्षाकार ने वर्णों के उच्चारण स्थानों का एकत्र वर्णन इस प्रकार किया है -

कण्ठ्यावहाविचुयशास्तालव्या ओष्ठजावुपू ।
स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः ॥
जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः ।
एऐ तु कण्ठतालव्या ओऔ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ ॥
अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारैकारयोर्त्रवेत् ।
ओकारौकारयोर्मात्रा तयोर्विवृत्तसंवृतम् ॥
संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं विवृतं तु द्विमात्रिकम् ।
घोषा वा संवृताः सर्वे अघोषा विवृताः स्मृताः ॥
स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम् ।
तेभ्योऽपि विवृतावेङो ताभ्यामेचौ तथैव च ।
अनुस्वारयमानाञ्च नासिकास्थानमुच्यते ॥[२५]

यत्न दो प्रकार का होता है । पहला आभ्यन्तर यत्न होता है जो वर्णोत्पत्ति से पूर्व किया जाता है । दूसरा यत्न बाह्य होता है जो वर्णोत्पत्ति के अनन्तर किया जाता है । आभ्यन्तर यत्न के पाँच भेद हैं - स्पृष्ट (जिह्वा का स्थान को छूना), ईषत्स्पृष्ट (जिह्वा का स्थान को थोडा छूना), ईषद्विवृत (जिह्वा का स्थान से थोडा दूर रहना), विवृत (जिह्वा का स्थान से दूर रहना), संवृत (जिह्वा का स्थान से समीप रहना) । स्पृष्ट प्रयत्न स्पर्श अक्षरों से (क् से लेकर म् पर्यन्त पच्चीस वर्ण) का होता है । ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न अन्तःस्थ अक्षरों (य्, व्, र्, ल्) का होता है । ईषद् विवृत प्रयत्न ऊष्म अक्षरों (श्, ष्, स्, ह्) का होता है । विवृत प्रयत्न स्वरों (अ से औ तक के तेरह वर्ण) का होता है । ह्रस्व अवर्ण का उच्चारण काल में संवृत प्रयत्न तथा प्रयोग सिद्धि के समय केवल विवृत प्रयत्न होता है ।

डा. मंगलराम
सहाय्यक आचार्य, संस्कृत विभाग,
जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय,
जोधपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

१. पाणिनि, **अष्टाध्यायी** (प्रथम संस्करण, अनीता आर्ष प्रकाशन, पानीपत, १९९०) १.१.८
२. **वही**, १.१.९
३. जयादित्यवामन, **काशिकावृत्ति** (रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९८५, प्रथम भाग) १.१.८
४. पतञ्जलि, **व्याकरणमहाभाष्य** (मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८) १.१.८
५. **वही**, १.१.८
६. **काशिकावृत्ति**, १.१.८
७. **वही**, १.१.८
८. **अष्टाध्यायी**, ६.१.१२६
९. **ऋग्वेद**, ५.४८.१
१०. **वही**, ५.४८.१
११. **अष्टाध्यायी**, ६.१.१२६
१२. **व्याकरणमहाभाष्य**, १.१.८
१३. **अष्टाध्यायी**, १.१.९
१४. **व्याकरणमहाभाष्य**, १.१.९
१५. **वही**, १.१.९
१६. **वही**, १.१.९
१७. **काशिकावृत्ति**, १.१.९
१८. **अष्टाध्यायी**, ८.२.६२
१९. **वही**, १.१.९
२०. कात्यायन, १.१.९, वार्त्तिक १
२१. **व्याकरणमहाभाष्य**, १.१.९
२२. पाणिनीयशिक्षा (महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा-२, १९९१)कारिका १३
२३. **वही**, कारिका २२
२४. **वही**, कारिका १४-१५
२५. **वही**, कारिका १७-२२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचर्चा में

-१-

परामर्श (हिन्दी) मार्च - मई २००० पृ. '७७-९० में प्रकाशित 'राष्ट्रवाद एवं धर्म-निरपेक्षता का अन्तर्विरोध' नामक मेरे निबन्ध पर परमार्श (हिन्दी) जून-अगस्त २००० पृ. ८५-८८ में प्रकाशित 'परिचर्चा में-', डॉ. वी. कामेश्वरराव ने जो विचार प्रस्तुत किये हैं वे मुख्य रूप से मेरे निम्नांकित दो विचारों के विरोध में हैं। पहला यह कि भारतीय राष्ट्र की विचारधारा राष्ट्रवादी नहीं है और दूसरा यह कि राष्ट्रवाद और धर्म-निरपेक्षता में अन्तर्द्वन्द्व होता है।

चिंतकों का एक दूसरे के विचारों से असहमत होना, किसी स्तर तक विरोध करना प्रजातान्त्रिक मर्यादाओं के अनुकूल होता है क्योंकि इसमें विरोध विचारों को तिरस्कृत करने के लिए न होकर उन्हें गति देने, चिन्तकों के विचार भूमियों को विषय के प्रति संवेदनशील बनाने में अत्यन्त उपयोगी होता है।

अपने पहले विचार के संदर्भ में मेरा यह सुविचारित मत है कि हमारी राष्ट्रीय चिन्तनधारा राष्ट्रवादी नहीं है यद्यपि राष्ट्रवादी विचारधारा वाले लोग एवं दल इसमें रहते हैं जो नस्ल,जाति, क्षेत्र, भाषा और धर्म के आधार पर राष्ट्र के अन्दर और बाहर गुटबन्द होकर अपनी पृथक् पहचान के लिए अलग राज्य, प्रदेश की माँग उठाते हैं। दो तरह के राष्ट्रवादी विचारधारा वाले राजनीतिक दलों की चर्चा डॉ. राव ने दिसम्बर १९९३ में प्रकाशित अपने लेख में की है। वे हैं १) सेक्युलर राष्ट्रवादी और २) हिंदु राष्ट्रवादी। इस सम्बंध में मेरा कहना है कि सेक्यूलर राष्ट्रवाद एक आत्मघाती विचार है। सेक्युलरवाद और राष्ट्रवाद दोनों परस्पर विरोधी विचारधाराएँ हैं। दोनों साथ साथ चलने की स्थिति में नहीं हैं। अतः सेक्युलर राष्ट्रवाद एक अविचारित स्वविरोधी अवधारणा है और हिन्दु राष्ट्रवाद भारत जैसे बहुलवादी राष्ट्र के लिए अत्यन्त संकीर्ण, सतही और अस्वभाविक है।

विश्व के सभी राष्ट्रों को राष्ट्रवादी एवं अन्तर्राष्ट्रवादी कोटियों में रखकर उन्हें समझने का प्रयास कहाँ तक उचित है - यह एक अलग चर्चा का विषय है। कम से कम भारतीय राष्ट्र की पहचान राष्ट्रवादी अथवा अन्तर्राष्ट्रवादी विचारधाराओं में से किसी एक अथवा दोनों को एक साथ स्वीकारने अथवा तिरस्कृत करने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रीति से नहीं है। राष्ट्रप्रेम, देशप्रेम एवं उसके लिए बलिदान में हमारा इतिहास किसी से भी आगे रहा है। हम ऊँचे नस्ल की परम्परा से हैं फिर भी नस्लवाद, जातिवाद को गलत समझते हैं। हम अनेक, धर्म, भाषा, क्षेत्र के लोग हैं किन्तु उनके आधार पर राष्ट्रीय अलगाव को कभी स्वीकृति नहीं देते।

आजादी के बाद भारतीय राष्ट्र की अन्दर और बाहर के राष्ट्रों में जो छवि है वह इन दोनों कोटियों से भिन्न धर्म-निरपेक्ष प्रजातांत्रिक मानवतावादी राष्ट्र की है और इसी का प्रतिनिधित्व हमारा राज्य करता है। भारत राष्ट्र और राज्य दोनों रूपों में व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्वतंत्रता को एक नहीं समझता। यहाँ दोनों प्रकार की स्वतंत्रता परिभाषित है। व्यक्तिगत मामलों (यथा धर्म, कर्मकाण्ड, भाषा आदि) में व्यक्ति इस हद तक स्वतन्त्र है कि राष्ट्र का कोई सदस्य, किसी दूसरे सदस्य के इन मामलों को उसका सर्वथा वैयक्तिक मामला समझता है और ऐसी समझ को अपनी संस्कृति की विशेषता समझता है। राज्य भी इन मामलों को अपने अधिकार क्षेत्र से परे समझता है।

बहुलवादी राष्ट्र में धर्म आदि के क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रजातांत्रिक धर्मनिरपेक्ष मानवतावादी राष्ट्र के चरित्र के सर्वथा अनुकूल ही नहीं बल्कि असकी स्वभाविक उपज है। विभिन्नताओं, विषमताओं की उपस्थिति में एकता के तत्त्व को सामने रखकर सुगठित बने रहने एवं प्रगति पथ पर अग्रसर होते रहने की प्रवृति ऐसे राष्ट्र का प्राण-तत्त्व होता है। इससे भिन्न राष्ट्रवाद व्यक्ति के इन मामलों (धर्म, आदि) में भी दखलंदाजी करता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को उसी सीमा तक सही मानता है जिस सीमा तक वह उस राष्ट्रवादी विचारधारा के विरोध में न जाय। यदि वह ऐसा न करे तो राष्ट्रवाद पनपेगा ही नहीं। विरोधों का आदर उनका सामंजस्य राष्ट्रवाद के तत्त्व नहीं बन सकते और यदि वे बन जाये तो राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद ही नहीं रह पाएगा। उसे पुनः परिभाषित करना पडेगा तथा जो भी परिभाषा बनेगी वह स्वविरोधी होगी। किसी नस्ल, जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र की श्रेष्ठता, उसके अतीत के गौरव, उसके इतिहास की श्रेष्ठता की सुरक्षा, संवर्धन आदि को केन्द्र में रखकर भारतीय राष्ट्र को उस राष्ट्रवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाला राष्ट्र कहना चिन्तन और विचार की प्रक्रिया के लिए सर्वथा अक्षम व्यक्तियों का अनर्गल प्रलाप होगा क्योंकि इस बहुलवादी राष्ट्र में वैसा सम्भव ही नहीं है और कुछ क्षण के लिए सम्भव मान भी लें तो अनेक तरह के राष्ट्रवादी समुदायों में अनेक तरह के राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों के उत्पन्न होने के खतरे बढेगें। उनमें वर्चस्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए हिंसक विरोध होगा और तब सारा परिदृश्य हमारे धर्मनिरपेक्ष चरित्र को ही नहीं बल्कि राष्ट्र को भी विकृत करेगा । विखण्डन की प्रवृत्तियाँ स्वयं किसी विशेष प्रकार के राष्ट्रवादी समाज को भी (उन्हीं आधारों पर जिन पर राष्ट्रवाद खडा होता है) विखण्डित करेगी। उसमें किसी धर्म के उपभेद, क्षेत्र-भेद आदि के आधार पर फूटपरस्ती बढेगी। समानान्तर राष्ट्रवादी गुट पनपेंगें अर्थात् वह स्वयं अस्थिर हो जाएगा। राष्ट्रप्रेमी और राष्ट्रीयता गुट प्रेम और गुटीय आत्मा के स्तर तक सिमट जाएँगे, उनका कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। जिन दो प्रकार के राष्ट्रवादी विचारधारा वाले राजनीतिक दलों की चर्चा डॉ. कामेश्वर राव ने अपने परामर्श दिसम्बर १९९३ के में किया है उसके संदर्भ में मेरा यह कहना है कि राजनीतिक दलों में तुलनात्मक दृष्टि से हमने कभी किसी राष्ट्रवादी विचार धारा को सत्ता पर आसीन किया तो कभी उसे नकारा भी है और वर्तमान में जो राजनीतिक परिदृश्य है उसमें हमने दोनों प्रकार के राष्ट्रवादी विचारों को तिरस्कृत किया है।

राष्ट्रवादी संकल्पना में राष्ट्र की विशेषताएँ बहुलवादी राष्ट्रीय चरित्र के विरुद्ध होती है अथवा हो सकती है। डॉ. राव ने इस बात पर बल दिया है कि राष्ट्र में परिवार, राज्य, भूमि, साहित्य, धर्म, दर्शन, परम्परा, आदि को किसी समुदाय से प्राप्त विशेषताओं के अनुरूप चलाने का संकल्प राष्ट्रवाद है। इस तरह की अवधारणा धर्म निरपेक्षता के साथ द्वंद्व को अपने से मुक्त नहीं कर पाती। अतीत से भिन्न वर्तमान में हमारे परिवार विघटित हुए हैं, साम्राज्यवाद एवं जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हुआ है। भूमि का भी व्यवसायीकरण हो गया है। जातियों को विशेषाधिकार समाप्त हो चुका है। अब तो धर्म, भाषा, जाति, राष्ट्र के निर्णायक तत्त्व भी नहीं हैं। शिक्षा और आर्थिक मामलों में भारतीय राष्ट्र धर्म निरपेक्ष-लोकतांत्रिक चरित्र का प्रतिनिधित्व कर रहा है। व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राष्ट्रीय कर्तव्यों के भेद की सुस्पष्ट आवधारणा व्यवहार में विकसित हो चुकी है। ऐसी स्थिति में किसी समुदाय के अतीत से प्राप्त विशिष्टताओं के अनुरूप राष्ट्र को चलाने का संकल्प कुछ लोगों के लिए एक सराहनीय बात लग सकती है किन्तु बहुलवादी भारतीय राष्ट्र के निरपेक्ष लोकतांत्रिक चरित्र से इसका द्वन्द्व रहेगा।

डॉ. राव की यह धारणा कि 'कोई भी जनसमुदाय अतीतमूलक ऐक्य एवं भविष्योन्मुख वर्तमान ऐक्ययुक्त होने पर राष्ट्र हो जाता है' भारतीय संदर्भ में उचित प्रतीत नहीं होती क्योंकि जनसमुदाय उसी स्थिति में राष्ट्र हो सकता है जब वह कोई एक धर्म, जाति, भाषा प्रधान हो जैसे पाकिस्तान, इरान, इराक, आदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी स्थिति में वह राष्ट्रवादी विचारधारा का सम्पोषक, संवर्धक भी हो सकता है किन्तु भारत में एक जनसमुदाय की स्थिति न होकर अनेक जनमसुदाय की स्थिति है और वे सब जन-समुदाय, विभिन्न धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा आदि से संबंधित हैं। इस स्थिति में एक राष्ट्रवाद न होकर अनेक तरह के राष्ट्रवाद की स्वाभाविक स्थिति बनती है और बहुलवादी भारतीय राष्ट्र के संदर्भ में यह कहना कि यहाँ अनेक राष्ट्रवाद हैं और यह कहने के बराबर है कि यहाँ राष्ट्रवाद नहीं है और इसी तर्क से अखण्ड राष्ट्र के विशाल स्वरूप, जिसमें अनेक समुदाओं का सम्मिलन है, की संगत व्याख्या की जा सकती है। भारत के संदर्भ में तो धर्म जाति, भाषा, और क्षेत्रों की विविधता राष्ट्र के आवश्यक तत्त्व भी नहीं है। अतः यह कहना निर्विवाद है कि भारत एक अखण्ड राष्ट्र है जिसकी अखण्डता जन समुदायों के प्रजातांत्रिक एवं धर्म-निरपेक्ष मानवतावादी दृष्टि के कारण है। जनसमुदायों की सांस्कृतिक एकता जिसमें भाईचारा, एक दूसरे के व्यक्तिगत मामलों की स्वतन्त्रता का स्पष्ट विचार, सामाजिक मामलों में आन्तरिक अंकुश, देशप्रेम, शिक्षा का दायित्व, अतीत का ऐक्य एवं भविष्योन्मुख वर्तमान का ऐक्य निहित है, उसमें कोई वाद नहीं है बल्कि उपरोक्त मूल्यों के प्रति जन समुदायों की सामूहिक प्रतिबद्धता है।

दर्शनशास्त्र विभाग,
ल.ना. मि. विश्वविद्यालय,
दरभंगा ८४६००४.

देवेन्द्र नाथ तिवारी

- २ -

मैंने डॉ आलोक टंडन का लेख 'मित्रता एक : दार्शनिक विवेचन' पढा। इस दुरूह तथा विवादास्पद विषय पर यह लेख ऐसे समय में प्रकाशित हुआ है जबकि इसकी बहुत आवश्यकता थी। मेरी समझ में यह विषय इसलिये विवादास्पद है क्योंकि यह वस्तुनिष्ठ से ज्यादा आत्मनिष्ठ है। मानवीय जीवन के तीन सम्बन्धों को मैं महत्त्वपूर्ण श्रेणी में रखता हूँ : पहला व्यक्ति का अपने परिवार के साथ सम्बन्ध होता है, दूसरा व्यक्ति का गुरू के साथ सम्बन्ध होता है तथा तीसरा व्यक्ति का व्यक्ति के साथ सम्बन्ध होता है जिसे मित्रता कहते हैं। पहले दो प्रकार के जो संबंध होते हैं उससे व्यक्ति का संस्कार बनता है, वे संस्कार जो संसर्गता से बनते हैं। (वे संस्कार नहीं जो आनुवंशिक होते हैं)। इसके अतिरिक्त इन (पहले दो) सम्बन्धों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अपनी सीमायें होती हैं इसलिये वह उन सीमाओं से परे नहीं जा सकता। मानवीय जीवन में कई प्रकार के अनुभव व कई प्रकार की जटिलताएँ होती हैं जिसे व्यक्ति पहले दो प्रकार के संबद्ध व्यक्तियों के बीच नहीं बाँट पाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को एक अन्य व्यक्ति की आवश्यकता होती जिसे मित्र कहते हैं, जिसके साथ व्यक्ति अपने चरित्र के उनके पहलुओं को expose करता है, share करता है या फिर बाँटता है।

डॉ. आलोक ने अपने निबंध के प्रथम अंश में मित्रता के जिन अनेक आयामों के संदर्भ में जो प्रश्न उठाये हैं उनमें से कुछ मेरी दृष्टि में अति महत्त्वपूर्ण हैं। यथा '...जिन पर हम भावात्मक समझदारी, सहयोग और सहारे के लिये निर्भर करते हैं।','...मित्रता को एक नैतिक परिघटना माना जा सकता है...", "क्या आधुनिक समाज और संस्कृति में मित्रता का स्वरूप और महत्त्व वही है जो पहले था या युगानुरूप उसमें परिवर्तन आया है" इत्यादि।

मेरी समझ में मित्रता को परिभाषित करना उतना दुरुह नहीं है जितना कि सुकरात समझता था। किसी भी विचार या संवेदना को परिभाषित करने में कठिनाई तब होती है जब हम उसकी वस्तुनिष्ठ परिभाषा देना चाहते हैं। पर जब हम किसी संवेदना या वस्तु को आत्मनिष्ठ रूप में परिभाषित करना चाहते हैं तब हमें ज्यादा कठिनाई का सामना नहीं करना पडता है। मैं अरस्तु द्वारा प्रस्तुत परिभाषा से पूर्णतः सहमत हूँ। परन्तु मित्रता का उसके द्वारा किया गया यह विश्लेषण कि "व्यक्तियों के बीच गुण, उम्र, शिक्षा आदि में जितनी भिन्नता या दूरी होगी, उसके बीच मित्रता पनपना और बने रहना उतना ही कठिन होगा" से मैं पूर्णतः सहमत नहीं हूँ। क्योंकि बचपन में मैंने जिसके साथ एक पाठशाला में पढा था और जिसके साथ मेरे भावनात्मक सम्बन्ध थे, आज भले ही वह दैनिक मजदूरी कर रहा हो, पर आज भी मेरे लिये वह उतना ही महत्त्व रखता है। क्योंकि मित्रता को मैं एक भावनात्मक और नैतिक मूल्यों पर आधारित सम्बन्ध मानता हूँ। मानवीय जीवन में सम्बन्धों के चाहे जितने भी आयाम हो, यदि उसका आधार नैतिक मूल्य नहीं है तब वैसे सम्बन्धों की लम्बाई सीमित या फिर अस्थाई होती ही है।

मैं लेखक के इस विचार से सहमत नहीं हूँ कि एक मित्र दूसरे मित्र की इच्छाओं का सम्मान भर करते हैं उसे नियंत्रित करने का कोई प्रयास नहीं करते। कई बार जब हम यह महसूस करते हैं कि मेरा मित्र कुछ गलत कर रहा है तब हम उसे वह सब कुछ करने से रोकते हैं।

मेरी समझ में दो मित्रों का आचरण और स्वभाव का समान होना आवश्यक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है पर यदि कभी ऐसा देखने को नहीं मिलता है तब उसका अवश्य ही कोई अस्वाभाविक आधार होता है। जैसे कि कर्ण और दुर्योधन की मित्रता का आधार वस्तुतःएक भावनात्मक शोषण (emotional exploitation) है।

मित्रता का एक अन्य प्रारूप जो आधुनिक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अतिमहत्त्वपूर्ण है वह है स्त्री-पुरुष के बीच मित्रता। मित्रता के इस प्रारूप को मैं आधुनिक जीवनशैली के परिणाम से अधिक मानव जीवन की भावात्मक उपलब्धि के सशक्त माध्यम के रूप में देखता हूँ। दूसरे शब्दों में मैत्री का यह प्रारूप व्यक्ति के भावात्मक उत्प्रेरणा का सशक्त माध्यम है। अतः मेरी दृष्टि में स्त्री-पुरुष मैत्री एक सफल सामाजिक सहपेशेवर जीवन के लिये आवश्यक है बशर्ते कि उनके बीच के सम्बन्धों में पारदर्शिता और एक सीमा हो (जैसा कि आपने उल्लेख किया है)।

प्रस्तुत निबंध में आपने अपने विचारों की सशक्ताता के साथ-साथ सशक्त भाषा का प्रयोज किया है। मुझे आशा है मेरे तरह आम पाठक जिन्दगी की आपाधापी से कुछ क्षण निकाल कर मानवीय संबंधों के इस आयाम को समझने, बनाने व उससे जीवन शैली को एक नया आयाम देने का प्रयास करेंगे साथ ही साथ आधुनिक विचारक भी इस लेख को पढकर आगे मार्गदर्शन करने की चेष्टा करेंगे।

४०२, आशीश कुटीर अपार्टमेंट
कवि रमन पथ, नागेश्वर कालोनी,
बेरिंग रोड, पटना - ८००००१

डा. प्रमोद कुमार

ग्रंथसमीक्षा

बांदिवडेकर, चंद्रकांत, मराठी साहित्य : परिदृश्य, संपादन सहयोग डॉ. राम पंडित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली - ११०००२, १९९७, पृ. ४८६, मूल्य रु. ३९५.

हिंदी भाषा का साहित्य काफी विस्तृत एवं संपन्न है। इस के बहुत कारण हैं। उन में से महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि हिंदी भाषा में अन्य भाषाओं के साहित्य एवं विचारों को स्थान मिला है। हिंदी भाषा का राष्ट्र-भाषा होना ऐसी वृत्तियों से संभव होता है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक मराठी भाषक होने के बावजूद भी वे हिंदीके जानेमाने मूर्धन्य समीक्षक हैं। समीक्षा के लिए किसी एक पैनी दृष्टि का होना जरूरी है। डॉ. बांदिवडेकरजी ने यह साबित कर दिया है कि उन के पास वह पैनी दृष्टि है और उस दृष्टि के कारण उन्होंने केवल हिंदी साहित्य में ही विचरण किया है ऐसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बात नहीं है, बल्कि मराठी भाषा के साहित्य में भी उन्होंने उतनी ही सामर्थ्य से विचरण किया है। प्रस्तुत पुस्तक डॉ. बांदिवडेकरजी के समीक्षापरक लिखे कुल ५३ लेखों का संकलन है। ये लेख उन्होंने करीब ३५ सालों के अर्से में लिखे हैं और डॉ. राम पंडित ने उन्हें संकलित एवं संपादित किया है।

पुस्तक की रचना चार खंडों में की गई है - (१) मराठी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, संदर्भ, स्थिति और गति, (२) साहित्यिक व्यक्तित्व एवं कृतित्व, (३) साहित्यिक रचनाएँः अंतर्दर्शन, (४) समीक्षा और सौंदर्यशास्त्र । मराठी साहित्य का आरंभकाल भक्तकवि, संतकवि इन की रचनाओं से समृद्ध था। भक्तिधारा का एक विशेष रूप मराठी साहित्य में प्रबल रहा है। इस पुस्तक का पहला लेख मराठी के भक्तिसाहित्य का ब्यौरा प्रस्तुत करता है। यह लेख पढतेही लेखक के हस्ताक्षर स्पष्ट रूप से उभर आते हैं कि लेखक की गहरी पैंठ हिंदी साहित्यमें रह चुकी है। भक्ति के मूल जो दिव्य प्रेम की भावन है उस के पहलुओं को स्पष्ट करने के लिए लेखक हिंदी साहित्य के भक्तिकाव्य का निचोड एक ही परिच्छेद में हमारे सामने रखते हैं और भक्ति का अर्थ अपने आप स्पष्ट हो जाता है (पृ. ४)। मराठी साहित्य में भक्तिधारा केवल संत कवियोंतक मर्यादित नहीं है, वह आधुनिक, सामाजिक, सौंदर्यविषय आदि काव्यकर्त्ताओं के काव्य में भी किस तरह प्रकट होती है इस बात को लेखक ने इस लेख में स्पष्ट किया है। इसी भक्तिधाराविषयक चिंतन को हम इस पुस्तक के अन्य लेखों में पाते हैं जिस में लेखक का विश्लेषण भावुकता के बजाय सहृयता से किया हुआ प्रतीत होता है। वास्तव में डॉ. बांदिवडेकरजी का वैशिष्ट्य यह रहा है कि वे आधुनिक साहित्य की समीक्षा बडी सहजता से तथा उतनी ही ऊँचाई पर उठकर कर पाते हैं। अतः उन के चयनित विषयों में ऐसीही साहित्यिक तथा रचनाएँ अधिक मात्रा में पायी जाती हैं। आधुनिकता को समझना वाकई असिधाराव्रत जैसा कठीन काम है। क्योंकि आधुनिकता सनातनता की वह शृंखला है जो प्राचीनता से जुडी है फिर भी वह प्राचीनता से आमूलाग्र भिन्न है। ऐसी शृंखला से तो बडी नजाकतसे ही पेश आना जरूरी है। यह नजाकत और सामर्थ्य दोनों गुण लेखक में पाये जाते हैं। इस का महत्त्वपूर्ण कारण है कि लेखक ने मूल्यदर्शी दृष्टि से अपनी समीक्षा को बढाय है। मूल्यों के आविष्कार भिन्न या नवीन होने के बावजूद भी उन के मूलरूप की सनातनता निरंतर रहती है। उनका एक प्रदीर्घ लेख 'मराठी उपन्यासः दशा और दिशा' वास्तव में एक ऐतिहासिक आलेख प्रस्तुत करता है जिस से मराठी से अधिक अन्यभाषिक पाठकों का उद्बोधन अधिक होता है। यह परिचय देना अन्य भाषा के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान है जिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के आधार पर समीक्षा आगे बढती है। इस पार्श्वभूमी पर तृतीय खंड के लेख विशेष प्रस्तुत बन जाते हैं। रचनाओं की समीक्षा यह भी डॉ. बांदिवडेकरजी की एक विशेषता रही है। जब वे किसी रचना पर समीक्षा प्रस्तुत करने हैं तब ऐसा लगता है कि मूल रचना के रचनाकार का अंतर्मन ही हम से खुलकर बातें कर रहा हो। ययाति, मृत्युंजय, कोसला, कन्यादान जैसी रचनाओं की समीक्षा इस बात के मुखर साक्षी हैं। डॉ. बांदिवडेकरजी जब रचनाकार के साहित्यिक व्यक्तित्व के साथ उस की रचना की समीक्षा प्रस्तुत करते हैं तब उन में एक तटस्थ वृत्ति आ जाती है जो रचनाकार तथा रचना दोनों का उचित न्याय करती है। उदाहरण के लिए 'के.ज. पुरोहित की कहानी' इस लेख को ही हम ले सकते हैं। के. ज. पुरोहित डॉ. बांदिवडेकर के निकट मित्र रहे हैं। मित्रता में जो घनिष्ठता होती है उसे न्याय-अन्याय के बारे में कुछ लेना-देना नहीं होता है। उस घनिष्ठता के कारण मित्र एकदूसरे से सहूलतें ही अधिक लेते हैं। लेकिन डॉ. बांदिवडेकरजी जैसे समीक्षक अपनी समीक्षा में किसी से भी कोई सहूलतें नहीं लेते हैं, चाहे वे उन के मित्र या आदरणीय व्यक्ति भी क्यों न हों। समीक्षक की इस मर्यादा का उल्लंघन उन्होंने कभी किया है या होगा ऐसा नहीं लगता है। अंतिम खंड में जो शास्त्रीय विचार प्रस्तुत किये हैं उन से इस पुस्तक का महत्त्व विशेष वृद्धिंगत हुआ है। मराठी साहित्य में सौंदर्यमीमांसा के बारे में हमेशा सजगता रही है। उस में मराठी का अपना योगदान भी रहा है। उस बात को डॉ. बांदिवडेकरजीने संक्षेप में प्रस्तुत किया है।

यह पुस्तक सभी भाषिक साहित्यिकों एवं अभ्यासकों के लिए पथप्रदर्शक साबित होगी। इस का कारण मराठी भाषा की महत्ता को प्रस्थापित करता नहीं है बल्कि एक समाज के सांस्कृतिक इतिहास का अंतर्दर्शन हमें इस पुस्तक में तटस्थरूप से मिलता है। पुस्तक की रचना, संपादन एवं प्रस्तुतीकरण प्रशंसनीय होने के कारण इस के संपादक भी प्रशंसा के पात्र हैं। लेकिन अंत में कुछ सुझाव भी मननीय होगें, जैसे कि मराठी भाषा में ळ अक्षर का प्रयोग है जो हिंदी में नहीं है, फिर भी ऐसी पुस्तकों में ळ को ल में रूपांतरित किये बिना मूलरूप में रखना बेहतर होगा। पुस्तक के अक्षरों का टाईप फॉंट नेत्र-सुखद नहीं है इस बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट करना जरूरी है। पुस्तक का बाहरी रूप सुंदर होने के बावजूद इस में काफी गलतियाँ हैं। इन सुझावों से पुस्तक के योगदान पर कुछ भी प्रभाव नहीं पडना। डॉ. बांदिवडेकरजी की इस पुस्तक ने राष्ट्रभाषा हिंदी की जो सेवा की है वह विशेष रूप से प्रशंसित होती रहेगी।

डॉ. सुभाषचंद्र भेलके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

प्रायः ऐसा माना जाता है और कहा भी जाता है कि मानवी व्यवहार सप्रयोजन एवं सोद्देश्य होते हैं। वस्तुतः सप्रयोजन होना तथा सोद्देश्य होना इस बात का अर्थ भी समझना चाहिए। प्रयोजन तथा उद्देश्य से संदर्भ की सीमा बनती है और संदर्भक्षेत्र मर्यादित एवं निश्चित हो जाता है। जो कोई प्रयोजन है तथा उद्देश्य है वह उन सीमाओं में ही अर्थपूर्ण है, अन्यथा उसका कोई भी मतलब नहीं होता है। यह सीमा केवल संदर्भक्षेत्र की ही नहीं होती है बल्कि वह द्रष्टा तथा कर्ता की दृष्टि की होती है। जो द्रष्टा एवं कर्ता है वह अपने द्रष्टुरूप तथा कर्तृरूप में सीमित इकाई होने के कारण उसकी दृष्टि सीमित ही होती है। उस की सीमाओं के प्रतिबिंब से संदर्भक्षेत्र सीमित बन जाता है। चैतन्य के संकोच में ही आत्म का निर्माण है। सीमित संदर्भक्षेत्र का कोई आरंभबिंदु होता है और कोई अंतिमबिंदु। इन के आधार पर ही प्रयोजन तथा उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं। मनुष्य का कोई भी व्यवहार इसी संदर्भक्षेत्र में देखा जाता है और उस संदर्भक्षेत्र की सीमाओं की तहत परखा जाता है। जैसे किसी गवाक्ष से आसमान तो अवश्य दिखाई देता है, लेकिन पूरा आसमान दिखाई नहीं देता, गवाक्ष की सीमाओं में कटे विस्तृत आसमान का सीमित टुकडा ही दिखाई देता है। ठीक उसी तरह मानवी व्यवहार को संदर्भक्षेत्र की सीमाओं में बाँधकर, उन टुकडों में बाँट कर समझा जाता है। अतः उन मानवी व्यवहारों में कोई न कोई प्रयोजन तथा उद्देश्य झलकता है जो उस व्यवहार पर अंकित सीमाओं से बनता है।

मानवी जीवन, मानवी व्यवहार, चैतन्य इस में कोई भी चीज मर्यादित एवं सांत नहीं है। जो है वह अमर्याद एवं अनंत है। अपने मूल रूप में दृष्टि भी अनंत ही होनी चाहिए। लेकिन जब दृष्टि एवं सत्ता का संकोच होता है, उन पर सीमाएँ पडती हैं तब उन का विशिष्ट एवं सीमित रूप ही प्रतीत होता है। प्रतीयमान रूप तक ही असलीयत को स्वीकार किया जाता है। कोई भी व्यवहार जो अपने मूल रूप में अमर्याद एवं अनंत है, भले उस का प्रतीयमान अंश मर्यादित एवं सांत क्यों न हो, न किसी प्रयोजन से होता है न किसी उद्देश्य से। लेकिन जब वह सांत होता है तो उसके सांत रूपों की संभावनाएँ भी अनंत होती हैं और उस में प्रत्येक रूप का प्रयोजन तथा उद्देश्य दूसरे रूप के प्रयोजन तथा उद्देश्य से भिन्न होता है। कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी संदर्भक्षेत्र छायारूप प्रतिबिंब होते के कारण उसका रूप, उसके आकार, उस की व्याप्ति बदलती रहती है। द्रष्टा की दृष्टि में जब वह संदर्भक्षेत्र प्रतीत होता है तब क्षेत्रमर्यादाओं से उस में प्रयोजन तथा उद्देश्य प्रतीत होता है। हरेक द्रष्टा की दृष्टि बदलती है, हर द्रष्टा की अनेक दृष्टियाँ होती हैं। अतः एक ही व्यवहार के अनंत संदर्भक्षेत्र संभव होते हैं और हर संदर्भक्षेत्र के मुताबिक उस व्यवहार के प्रयोजन एवं उद्देश्य बदलते जाते हैं। अगर प्रयोजन और उद्देश्य के आधारपर किसी व्यवहार को समझा एवं परखा जाता है तो हर व्यवहार की समझ एवं परख भी अनंत होती है और उन में किसी भी दो समझ एवं परख में कोई समानता नहीं रहती है। इसलिए समझना एवं परखना ये मानवी व्यवहार दृष्टिसापेक्ष, सीमासापेक्ष होने के कारण अर्थहीन माने जा सकते हैं। जब दो व्यक्तियों में परस्पर व्यवहार होता है तो एक ही व्यवहार के प्रयोजन, उद्देश्य एवं अर्थ भी भिन्न होते हैं। इस भिन्नता में समानता या समान सूत्र स्थापित करने के लिए असल में एक ही मार्ग होना उचित होगा और वह है सीमामुक्त, संदर्भमुक्त, दृष्टिमुक्त परिवेश में व्यवहार को स्वीकारना। जब तक मनुष्य किसी न किसी सीमा के आधार से अपनी पहचान बनाता है, तब तक उसका सीमामुक्त और दृष्टिमुक्त होना संभव नहीं है।

प्राप्त जीवन को उसके असली रूप में समझना आसान नहीं है फिर भी असंभव भी नहीं है। अपनी सीमाओं के प्रतिबिंबों से संदर्भक्षेत्र बनाते रहने के बजाय अपनी सीमाओं को लाँघ कर जीवन में प्रवेश करने से जीवन की समझ बन जाएगी। इस जीवन का न तो कोई प्रयोजन होगा न उद्देश्य। फिर भी यह जीवन अर्थहीन नहीं होगा। यह जीवन व्यक्ति का हो सकता है, समाज का हो सकता है, संस्था का हो सकता है, या अन्य किसी इकाई का हो सकता है। शायद अपने कमरे के ऊपरी हिस्से में बने गवाक्ष को लाँघना हमारे लिए प्रत्यक्ष रूप से संभव न भी हो, उस गवाक्ष की सीमाओं को लाँघकर हम उस से दिखाई देनेवाले आसमान के अनंत रूप का ग्रहण अवश्य कर सकते हैं। उन सीमाओं को लाँघने की हरेक की अपनी अपनी विधा हो सकती है, लेकिन अपनेपन की सीमा से मुक्त विधा। क्यों न हम इन सीमाओं को लाँघ कर हमारे व्यवहार तथा जीवन को समझें और परखें ?

– सुभाषचन्द्र भेलके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम्परागत तर्कशास्त्र और आधुनिक तर्कशास्त्र

दर्शन का मुख्य लक्ष्य यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति करना है। साधारणतः यह देखा जाता है कि साधारण जीवन में मनुष्य को जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे ही यथार्थ समझ लिया जाता है । लेकिन साधारण ज्ञान को वस्तुतः वास्तविक नहीं माना जा सकता है क्योंकि यह ज्ञान दोषयुक्त है। इसमें मुख्यतः तीन दोष पाये जाते हैं - संदिग्ध, अस्पष्ट तथा आत्म-विरोधी। इसलिये जब तक किसी ज्ञान से इन दोषों को दूर किया नहीं जाएगा, तब तक ज्ञान को यथार्थ ज्ञान कहा नहीं जा सकता है। दर्शन का कार्य है ज्ञान में निहित इन दोषों को दूर कर यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना। पाश्चात्य दार्शनिकों ने दर्शन के इस कार्यहेतु तर्कशास्त्र का सहारा लिया क्योंकि तर्कशास्त्र के माध्यम से किसी विचार को भाषा में अभिव्यक्त किया जाता है और भाषा में व्यवहृत प्रतिज्ञप्तियों या प्रकथनों के वैधता तथा अवैधता का निर्धारण किया जाता है। भाषा दर्शन का एक अभिन्न अंग है। अतः हम कह सकते हैं कि दर्शन तर्कशास्त्र के अभाव में पंगु है। हंस राइशेन्बाक (Hans Reichenbach) ने ठीक ही कहा है - "तर्कशास्त्र दर्शन का एक तकनीकी अंग है।"[१] अतः दर्शन को ठीक से समझने के लिये तर्कशास्त्र को समझना आवश्यक है। इसी बात को ध्यान में रख कर मैंने इस शीर्षक को अपने आलेख के लिए चुना। प्रस्तुत आलेख में परम्परागत तर्कशास्त्र और आधुनिक तर्कशास्त्र दोनों के स्वरूप के सम्बन्ध में चर्चा की जायेगी।

भाषा में जो प्रतिज्ञाप्तियाँ व्यवहार में लायी जाती हैं, वे दो प्रकार की होती हैं - सरल और श्लिष्ट प्रतिज्ञाप्तियाँ। साधारण भाषा श्लिष्ट प्रतिज्ञाप्ति की होती है। तर्कशास्त्र में साधारणतः इसी श्लिष्ट प्रतिज्ञप्तियों का प्रयोग किया जाता है जिनके अन्तर्गत कई सरल प्रतिज्ञप्तियाँ होती हैं और ये 'या', 'यदि', 'और' आदि संयोजकों से जुडी रहती हैं। इन्हें तार्किक संयोजक कहा जाता है। श्लिष्ट प्रतिज्ञप्तियों की बनावट इस प्रकार का होता है कि उन्हें व्याख्या या परिभाषा से समझा नहीं जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण के लिये 'लाल' शब्द सरल पद है, लेकिन 'यह लाल है' श्लिष्ट प्रतिज्ञप्ति है। 'यह लाल है' प्रतिज्ञप्ति के अर्थ को व्याख्या या परिभाषा से स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। इसका अर्थ तभी स्पष्ट होगा जब लाल वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करेंगे। कहने का तात्पर्य है कि श्लिष्ट प्रतिज्ञप्ति व्यापार (Propositional function) से सम्बन्धित रहता है। प्रतिज्ञप्ति व्यापार में एक अनिश्चित पद रहता है जिसे परिवर्तनीय (variable) कहा जाता है। इस पद का मूल्य निश्चित नहीं होता है। उदाहरण के लिये "एक लेखक ने गोदान लिखा", इसमें 'एक लेखक' अनिश्चित पद है। 'एक लेखंक' किस व्यक्ति के लिये प्रयोग किया गया है, यह निश्चित नहीं होता है। इसलिये तर्कशास्त्र में जब इस श्लिष्ट प्रतिज्ञप्ति का प्रयोग किया जाता है, तो प्रतिज्ञप्तियों की वैधता-अवैधता के सम्बन्ध में अनिश्चिता का माहौल उपस्थित हो जाता है और दर्शन भाषायी मायाजाल में फँस कर समस्याओं से घिर जाता है। इस भाषायी मायाजाल को विटगेन्स्टाइन[२] ने दार्शनिक पहेली (Philosophical Puzzlement) और राइल[३] ने श्रेणी भूल (Category mistake) कहा है। वास्तव में परम्परागत तर्कशास्त्र ने भाषा दुरुहता के कारण दर्शन को इतना जटिल कर दिया है कि वह विषय न रह कर प्रविधि बन गया है। वस्तुतः दार्शनिकों ने प्राचीन तर्कशास्त्र का सहारा यह उद्देश्य को ध्यान में रखकर लिया था कि इसके माध्यम से दर्शन किसी बात को स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त कर सके, परन्तु प्राचीन तर्कशास्त्र इस उद्देश्य की पूर्ति करने में असमर्थ है।

आधुनिक दार्शनिकों ने परम्परागत तर्कशास्त्र की इसी कमी को महसूस किया और विचार किया कि भाषायी मोहजाल को हटाने के पश्चात् ही दर्शन को सुग्राह्य बनाया जा सकता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए लगभग १९०० ई. में जब पेरिस में अन्तर्राष्ट्रीय दार्शनिक काँग्रेस का अधिवेशन हुई तो परम्परागत तर्कशास्त्र को एक नये रूप में पेश करने के सम्बन्ध में चर्चा हुई जिसमें फ्रेग (Frege) पिआनो (Peano) पियर्स (Pierce) आदि ने भाग लिया। इस अधिवेशन में यह तय किया गया कि परम्परागत तर्कशास्त्र को एक नयी तकनीकी प्रदान किया जाय, इसे विज्ञान की तरह बनाया जाय तभी हम निश्चात्मक निष्कर्ष की स्थापना कर सकते हैं।

आधुनिक दार्शनिकों की यह धारणा थी कि श्लिष्ट प्रतिज्ञप्तियों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्लेषण कर देने से हम एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। अब प्रश्न उठता है कि श्लिष्ट प्रतिज्ञप्तियों का विश्लेषण कैसे किया जा सकता है, इसके लिये कौन सी विधि नियोजित की जा सकती है? देकार्त ने इसके लिये गणितात्मक सन्देह (Mathematical doubt) की विधि को अपनाया था और कहा था कि दर्शन में गणितात्मक सन्देह की विधि का प्रयोग कर आसानी से किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। मैं समझता हूँ कि देकार्त का पूरा दार्शनिक विचार गणित पर ही आधारित है। कुछ इसी प्रकार की झलक कान्ट के दर्शन में भी मिलती है। बाद में दार्शनिकों ने शायद उन्हीं दार्शनिकों (देकार्त और कान्ट) के विचारों को विकसित करते हुए कहा है कि इसके लिये प्रतीकात्मक विधि को अपनाना चाहिये, जो गणित की विधि के समान है। जिस प्रकार गणित में प्रतीकों का प्रयोग कर आसानी से किसी निष्कर्ष की वैधता-अवैधता निर्धारित कर लिया जाता है, उसी प्रकार तर्कशास्त्र में भाषायी पदों या प्रतिज्ञप्तियों के स्थान पर प्रतीकों का प्रयोग कर किसी भी प्रतिज्ञप्ति को आसानी से समझा जा सकता है और किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। उदाहरण के लिये, गणित में यह कहा जाता है कि यदि किसी भी संख्या को किसी दूसरे संख्या से जोडा या गुणा किया जाय, तो इसका परिणाम वहीं होगा जो उस दूसरे संख्या को उसी पहले संख्या से जोडा या गुणा किया जाय। इस प्रतिज्ञप्ति या निष्कर्ष को समझने में कठिनाई हो सकती है, लेकिन इसी बात को यदि प्रतीकात्मक रूप में कहें कि

$$क + ख = ख + क \quad \text{या} \quad क \cdot ख = ख \cdot क$$

तो उसे समझने में कठिनाई नहीं होती है। इस तार्किक योग या तार्किक गुण को बतलाने के लिये नये प्रतीक क्रमश 'U' तथा '∩' का व्यवहार होता है। उसी प्रकार यदि हम कहें कि दो संख्याओं का योग तथा अन्तर का गुणनफल उनके वर्ग के अन्तर के बराबर होता है, उसे समझने में अधिक मानसिक चेष्टा करनी पडती है, लेकिन इसी बात को यदि इस प्रकार कहें कि

$$(क + ख)\ (क - ख) = क^२ - ख^२$$

तो निश्चित रूप से इसे समझने में मानसिक चेष्टा की आवश्यकता नहीं होती है और इसे आसानी से समझ लेते हैं। उसी प्रकार तर्कशास्त्र में यदि कहा जाय कि "ऐसा नहीं हो सकता कि मनुष्य मेहनत करे और उसे सफलता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न मिले।'' तो इसे समझने में कठिनाइयाँ हो सकती हैं, लेकिन इसी बात को यदि प्रतीकों की सहायता से इस प्रकार कहा जाय कि ~ (प . ~ फ), तो इसे समझने में कठिनाई नहीं होती है और इसकी वैधता या अवैधता आसानी पूर्वक निर्धारित हो जाती है। अतः प्रतीकों को उपकरण बना कर आधुनिक दार्शनिकों की दार्शनिक समस्याओं को समझने का प्रयास किया। इसलिये हंस राइशेन्बाक (Hans Reichenbach) ने कहा है कि दिक् और काल के दर्शन की तरह नये तर्कशास्त्र का उद्भव परम्परागत तर्कशास्त्र से न होकर गणितशास्त्र के गर्भ से हुआ है।[४]

यहाँ हम कह सकते हैं कि आधुनिक तर्कशास्त्र एक खेल की तरह है। जिस प्रकार किसी भी खेल खेलने के लिये उसके कुछ नियमों से परिचित होना पडता है और उन्हीं नियमों के आधार पर हम खेल खेलते हैं, उसी प्रकार नवीन तर्कशास्त्र को भाषा सम्बन्धी खेल खेलने के लिये कुछ प्रतीकों से परिचित होना पडता है और उन्हीं प्रतीकों के आधार पर भाषा को कुछ इस सरल ढंग से आकार दिया जाता है कि साधारण भाषा या बोलचाल की भाषा को समझने में अधिक मानसिक चेष्टा की आवश्यकता नहीं पडती है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि आधुनिक तर्कशास्त्र में प्रतीकों की अधिक महत्ता है। जिस प्रकार गुण के बिना द्रव्य को नहीं समझा जा सकता है, पिता के बिना पुत्र का अस्तित्व नहीं हो सकता है, उसी प्रकार प्रतीकों के बिना तर्कशास्त्र को समझा नहीं जा सकता। इसलिये आधुनिक तर्कशास्त्र को 'प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र' (Symbolic Logic) की संज्ञा दी जाती है।

प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र, जिसकी झलक सर्व प्रथम लाइबनिज के दर्शन में मिलती है, रसेल को इतना अधिक प्रभावित किया कि उन्होंने व्हाईटहेड के साथ मिल कर इसी तर्कशास्त्र के आधार पर गणित को एक नया दृष्टिकोण दिया, एक नये आयाम तक पहुँचाया। उन्होंने गणित को तर्कशास्त्र का समुच्चय माना है। इसलिये उन्होंने अपने दर्शन सम्बन्धी विचार को गणितात्मक तर्कशास्त्र (Mathematical Logic) कहा है।

आधुनिक तर्कशास्त्रियों का कहना है कि श्लिष्ट प्रतिज्ञप्तियों के साथ-साथ सामान्य प्रतिज्ञप्तियों का विश्लेषण करके उसको सरल प्रतिज्ञप्तियों में परिणत किया जा सकता है। ये सरल प्रतिज्ञप्तियाँ तथ्य के अनुरूप होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। ये तथ्य हमारे अनुभव जगत् के ही होते हैं, इसलिये सरल प्रतिज्ञप्तियाँ अनुभव में आनेवाले तथ्यों का चित्रण करती हैं। कहने का तात्पर्य है कि भाषा की सीमाएँ हैं। चूँकि तथ्यों से संसार की रचना होती है, इसलिये भाषा की सीमाएँ हमारे संसार की सीमाएँ निश्चित करती हैं। अतः हम कह सकते हैं कि भाषा अनुभूत तथ्यों की प्रतीकात्मक प्रतिनिधि है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता अनुभूत तथ्यों से प्रमाणीकरण पर निर्भर करती है। अतः जिस प्रतिज्ञप्ति की वैधता अनुभव जगत् के तथ्यों से प्रमाणित नहीं किया जा सकती, वह प्रतिज्ञप्ति मिथ्या-प्रतिज्ञप्ति (Pseudo-Proposition) कहलाती है।

ऐसे तो प्राचीन परम्परावादी तर्कशास्त्र में भी प्रतिज्ञप्तियों के विश्लेषण पर विचार किया गया है, लेकिन उसका विश्लेषण आधुनिक तर्कशास्त्र के विश्लेषण से भिन्न है। वस्तुतः परम्परागत तर्कशास्त्र में जो तार्किक विश्लेषण किया गया है, वह अर्थहीन है। उदाहरण के लिए "सभी वस्तुएँ नाशवान हैं।" " 'ब' एक वस्तु है और वह नाशवान् है।" " 'त' एक वस्तु है और वह नाशवान है" और इस तरह हम गणना करते जाते हैं लेकिन इसकी पूर्ण गणना सम्भव नहीं है क्योंकि यह एक खास वर्ग से सम्बन्धित है। ऐसी प्रतिज्ञप्ति में आगमन उछाल (Inductive leap) की जाती है। अतः उस स्थिति में सामान्य (Universal) प्रतिज्ञप्ति या प्रकथन को किसी प्रकार से अनुभव द्वारा प्रमाणीकृत नहीं किया जा सकता है।

दरअसल बात यह है कि परम्परावादी तर्कशास्त्रियों के मन में यह विचार था कि पूर्ण आगमन (Complete Induction) विधि से सामान्य प्रकथन पर पहुँचा जा सकता है, अब यह बिल्कुल निराधार सिद्ध हो गया है। उन लोगों का ऐसा विचार रखने का कारण यह था कि सामान्य प्रकथन में सत्ता का भाव निहित रहता है। यही वजह थी कि जब यह कहा जाता है कि "सभी वस्तुएँ नाशवान् हैं" तो इस प्रकथन से यह समझ लिया जाता था कि इसका अस्तित्व भी है अर्थात् इस प्रकथन के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया जाता है। वस्तुतः इन प्रकथनों में अस्तित्व का भाव निहित नहीं रहता है। इसी धारणा के कारण परम्परावादी तर्कशास्त्रियों को असुविधा का सामना करना पडा। इस असुविधा से बचने के लिये आधुनिक तर्कशास्त्रियों ने तर्कशास्त्र से आगमन विधि को निकाल दिया और निश्चयात्मक प्रकथन प्रस्तुत करने के लिये निगमन विधि पर बल दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन लोगों का विचार है कि ''सभी वस्तुएँ नाशवान् हैं'' जैसी सामान्य प्रकथन की निश्चितता स्पष्ट करने के लिये निष्कर्ष के पहले ''यह सम्भव है कि'' जोडा जा सकता है, अर्थात् ''सभी वस्तुएँ नाशवान हैं'' को स्पष्ट करने के लिये यह कहना होगा कि ''यह सम्भव है कि सभी वस्तुएँ नाशवान हैं।'' ऐसे कथन से यह बोध होता है कि वस्तुओं का अस्तित्व है। कुछ प्राचीन तर्कशास्त्रियों ने सामान्य प्रकथन को निश्चित करने के लिये कहा है कि सामान्य प्रकथन में ''और प्रकथन का अस्तित्व है'' को जोड देना चाहिए। उदाहरण के लिये, ''सभी वस्तुएँ नाशवान हैं और वस्तुओं का अस्तित्व है'', लेकिन साधारण भाषा में इतना लम्बा वाक्य कहना सम्भव नहीं है। अतः आधुनिक तर्कशास्त्री विवरणात्मक प्रतिज्ञप्तियों का अध्ययन ही तर्कशास्त्र का विषय मानते हैं।

चूँकि विवरणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ तथ्य के अनुकूल होने के कारण सत्य हैं और उनमें पुनरुक्ति (Tautology) होती है, इसलिये आधुनिक तर्कशास्त्र के सब सत्य पुनरुक्ति ही होते हैं। कहने का तात्पर्य है कि निष्कर्ष में वही कहा जाता है जो आधारवाक्य में कहा जाता है, लेकिन उसका आकार भिन्न-भिन्न होता है। उदाहरण स्वरूप, मान लिया जाय कि 'प' और 'फ' दो प्रतिज्ञप्तियाँ हैं। चूँकि 'प' और 'फ' प्रतिज्ञप्तियाँ अपने आकार के चलते सत्य फलित प्रतिज्ञप्तियाँ हैं, इसलिये इनमें चार सम्भावनाएँ हो सकती हैं - (१) 'प' और 'फ' सत्य है, (२) 'प' और 'फ' में से 'प' सत्य है और 'फ' असत्य है, (३) 'प' असत्य और 'फ' सत्य है, तथा (४) 'प' और 'फ' दोनों असत्य हैं। संक्षेप में उपरोक्त चार सम्भवनाओं को निम्न प्रकार से लिख सकते हैं -

(१) 'प' और 'फ' सत्य है।
(२) 'प' सत्य और 'फ' असत्य है।
(३) 'प' असत्य है और 'फ' सत्य है।
(४) 'प' और 'फ' दोनों असत्य हैं।

'प' और 'फ' के सत्य-मूल्यों के लिये इन चार सम्भवनाओं में हम देखते हैं कि 'प' या 'फ' तीन स्थितियों में सत्य हैं। 'प' तीसरी और चौथी स्थिति में सत्य नहीं है अर्थात् तीसरी और चौथी स्थिति में 'प', '~ प' के रूप में है तथा 'फ' दूसरी तथा चौथी स्थिति में सत्य नहीं है अर्थात् इन स्थितियों में 'फ', '~ फ' के रूप में हैं। कहने का तात्पर्य है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'~ प' और '~ फ' केवल चौथी स्थिति में ही सत्य है। अतः पूरी प्रतिज्ञप्ति, अर्थात् (~ प और ~ फ) प्रत्येक स्थिति में सत्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि उपरोक्त प्रतिज्ञप्ति-आकार पुनरुक्ति है। पुनरुक्ति सम्बन्धी प्रतिज्ञप्तियों से कोई नया ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। मैं तो कहूँगा कि पुनरुक्ति ही भाषाई विश्लेषण का आधार है।

इसे एक उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है। "यदि वर्षा होती है तो भूमि भीगती है। परन्तु भूमि भीगी नहीं हैं। अतएव वर्षा नहीं हुई है।" यह प्रतिज्ञप्ति ऐसी है जो अनिवार्य रूप से सत्य है। इसे अनुभव द्वारा असत्य ठहरा ही नहीं सकते। इसलिये यह पुनरुक्ति-वाक्य है। यदि "वर्षा होती है" का प्रतीक 'प' मानें और "भूमि भीगती है" का प्रतीक 'फ' मानें, तो इसका आकार प्रतीकों के द्वारा इस प्रकार होगा

$$[(प \supset फ) \cdot \sim फ] \supset \sim प$$

जब हम कहते हैं कि अमुक प्रकथन पुनरुक्ति-योग्य है, तो इसका तात्पर्य है कि उस प्रकथन के आधार-वाक्य और निष्कर्ष के बीच ऐसा सम्बन्ध पाया जाता है कि इसमें आधार-वाक्य को निष्कर्ष-वाक्य से पृथक् देखा जा सकता है, अर्थात् आधार-वाक्य की जगह निष्कर्ष और निष्कर्ष की जगह आधार-वाक्य को रखा जा सकता है। ऐसे सम्बन्ध को विलोमात्मक सम्बन्ध (Relation of converse) कहा जाता है। इसे एक उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है। 'प' तथा 'फ' के बीच जो सम्बन्ध है उसे 'फ' तथा 'प' के रूप में भी सम्बन्ध देख सकते हैं। इसे निम्न प्रकार से लिख सकते हैं -

$$प \cdot फ = फ \cdot प$$

जहाँतक परम्परा तर्कशास्त्र की बात है इसमें जो सम्बन्ध पाया जाता है वह विधेयात्मक (Predicative) रूप में रहता है। यह सम्बन्ध ऐसा होता है कि विधेय के बिना उद्देश्य को नहीं जाना जा सकता है, अर्थात् उद्देश्य के स्थान पर विधेय और विधेय के स्थान पर उद्देश्य को रख कर देखा नहीं जा सकता है। उदाहरण के लिये, "सुकरात एक मनुष्य है।", "सोना चाँदी से महँगा है।" इन दोनों उदाहरणों में 'मनुष्य' तथा 'चाँदी से महँगा' को उद्देश्य के स्थान पर रखकर देखा नहीं जा सकता है। इस सम्बन्ध में आधार-वाक्य और निष्कर्ष अभिन्न नहीं हो सकते क्योंकि निष्कर्ष-वाक्य का वर्ग आधार-वाक्य से भिन्न होता है। उदाहरण के लिये, निष्कर्ष-वाक्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

''सभी मनुष्य मरणशील हैं'' एक वर्ग से सम्बन्धित है और दूसरी तरफ, आधार-वाक्य ''सुकरात एक मनुष्य है'' एक दृष्टान्त है। फिर वर्ग कोई वस्तु नहीं है, जिसको हम इन्द्रियों द्वारा देख सकते हैं। परम्परागत तर्कशास्त्र में आधार-वाक्य और निष्कर्ष-वाक्य को अभिन्न मानने का कारण है कि वर्ग और दृष्टान्त को एक समझ लिया जाता है जो पूर्णतः गलत है। विलोमात्मक सम्बन्ध को ही तार्किक सम्बन्ध कहा जाता है।

यह ठीक है कि परम्परागत तर्कशास्त्र में तार्किक कठोरता पायी जाती है क्योंकि इसमें प्राथमिक पदों के आधार पर अन्य प्रतिज्ञप्तियों को निगमित किया जाता है, फिर भी इसमें तार्किक कठोरता का ठीक से और पूर्ण रूप से पालन नहीं किया जाता है। इसमें प्राथमिक पदों के रूप में जो भाषायी धारणाओं का व्यवहार किया जाता है, उनमें मनमाने प्रतीकों का प्रयोग प्राथमिक पदों के रूप में नहीं किया जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि वाक्यों में जो पद है वह अनेकार्थक वाला होता है। ऐसी स्थिति में प्रतिज्ञप्तियों का विश्लेषण नहीं हो सकता है, अर्थात् एक प्रतिज्ञप्ति को दूसरी प्रतिज्ञप्ति में परिणत नहीं किया जा सकता है और तब प्रतिज्ञप्तियों के अर्थ को स्पष्टतः समझने में कठिनाई होती है। इसी के कारण कभी-कभी परम्परागत तर्कशास्त्र में आत्म-विरोधी या विरोधाभास प्रतिज्ञप्ति देखने को मिलती है, दूसरी तरफ आधुनिक तर्कशास्त्र में प्राथमिक पदों के आधार पर अन्य प्रतिज्ञप्तियों को निगमित किया ही जाता है, साथ-साथ मनमाने प्रतीकों का प्रयोग भी किया जाता है। मनमाने प्रतीकों का प्रयोग प्राथमिक पदों के रूप में होने से सभी परिभाषाएँ, पूर्वमान्यताएँ आदि प्रतिज्ञप्तियों के रूप में हमारे समक्ष नहीं आते हैं, बल्कि इसमें ''सभी प फ हैं'', ''यदि प फ है, तो ब भ है'', आदि अनर्थित प्रतीकों (Uninterpreted symbols) का प्रयोग किया जाता है। इन अनर्थित प्रतीकों का व्यवहार ऐसे किया जाता है, मानो उनसे हमारा कोई परिचय नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि साधारण ज्ञान या सूझ, सुपरिचित आदि के द्वारा प्रभावित होने की कोई सम्भावना नहीं रह जाती। तर्कवाक्य में अनर्थित प्रतीकों का प्रयोग करने से निष्कर्ष पूर्ण तथा तर्कसंगत होता है। इस तरह हम देखते हैं कि आधुनिक तर्कशास्त्र में परम्परागत तर्कशास्त्र की अपेक्षा अधिक तार्किक कठोरता पायी जाती है। आधुनिक तर्कशास्त्र की इस महत्ता को देखते हुए वैज्ञानिकों ने आधुनिक तर्कशास्त्र को भौतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तर्कशास्त्र में अपनाया और अपने विचारों एवं सिद्धान्तों को प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र के आधार पर प्रस्तुत किया। उदाहरण के रूप में वैज्ञानिक आइन्स्टीन (Einstein) को लिया जा सकता है जिन्होंने अपने "सापेक्षता का सिद्धान्त" (Theory of relativity) को प्रतीकात्मक तर्क-वाक्य पर आधारित किया है।

आधुनिक तर्कशास्त्रियों ने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि पुनरुक्ति-योग्य प्रकथन का निष्कर्ष आकारिक होता है और अनिवार्यतः सत्य होता है। वाक्य का अर्थ उनका प्रयोजन नहीं होता है। सच पूछा जाए तो अधिकांश दार्शनिक विवाद प्रायः भाषा के आकार की समस्या को लेकर ही उठ खडे होते हैं। अतः आधुनिक दार्शनिकों के सामने यह प्रश्न था कि यदि तर्कशास्त्र का सम्बन्ध केवल आकारिक तथा अनुभव में आने वाले प्रकथनों से है, तो तर्कशास्त्र का कार्यक्षेत्र ही क्या रह गया है ? यदि ऐसी बात है तो क्यों नहीं दार्शनिक चिन्तन ही समाप्त कर दिया जाय ? इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढने के लिये तर्कशास्त्रियों ने यह निश्चय किया कि तर्कशास्त्र का कार्य कुछ नहीं है, बल्कि वैज्ञानिक द्वारा दिये गये प्रथकनों का विश्लेषण करना है। सच पूछा जाय, तो आधुनिक तर्कशास्त्र तार्किक विन्यास (Logical Syntax) के अतिरिक्त कुछ नहीं है। आधुनिक तर्कशास्त्री प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र का सहारा लेते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विज्ञान एक है और ज्ञान मूलरूप से एक ही प्रकार का है। विज्ञान की जो विभिन्न शाखाएँ विश्व में देखने को मिलती हैं, वे व्यवहारिक उद्देश्य के कारण बँटी हुई हैं, किन्तु मूल में वे सब एकीकृत विज्ञान की समाष्टि के विभिन्न अंग हैं।[५] इस तरह हम देखते हैं कि तर्कशास्त्र को एकीकृत विज्ञान बनाने के क्रम में सामाजिक विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान के रूप में समझा जाने लगा, अर्थात् समाज में जो कुछ भी है वह वस्तुतः प्रकृति अर्थात् भौतिक जगत् का ही एक अंग है। इसलिये विश्लेषक दार्शनिकों ने एकीकृत विज्ञान (Unified Science) पर बल दिया और कहा है कि एकीकृत विज्ञान के बिना दार्शनिक तथा वैज्ञानिक समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता है। जिस तर्कशास्त्र से आधुनिक तर्कशास्त्रियों ने विज्ञान और दर्शन की समस्याओं का अध्ययन किया, उसे कार्नप "विज्ञान का तर्कशास्त्र" (Logic of Science) कहता है जिसका अर्थ विज्ञान के भाषा का विन्यास (Syntax) करना है।[६] कार्नप का यह विचार विन्टगेन्स्टाइन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विचार से मिलता-जुलता है जब वह (विटगेन्स्टाइन) कहता है कि दर्शन के समस्याओं का समाधान तभी हो सकता है जब भाषा की समालोचना की जाय। यहाँ हम कह सकते हैं कि आधुनिक तर्कशास्त्र विज्ञान का विवरणात्मक विश्लेषण मात्र है। एक अर्थ में यही कहा जा सकता है कि तर्कशास्त्र का विज्ञान में समावेश कर दिया गया।

उपरोक्त विवेचना से यही विदित होता है कि दोनों परम्परागत और आधुनिक तर्कशास्त्र प्रतिज्ञप्ति के अर्थ-निर्धारण पर विशेष ध्यान देते हैं। इस तरह दोनों तर्कशास्त्र में समानता दिखाई देती है, लेकिन दोनों ने अर्थ निर्धारण के लिये जो आधार माना है, वह अलग-अलग है। परम्परागत तर्कशास्त्र में प्रतिज्ञप्ति का अर्थ उसके सामान्य और अनिवार्य गुणों के द्वारा निर्धारित किया गया है। उदाहरण के लिये, जब हम कहते हैं कि सभी "मनुष्य विवेकशाली प्राणी हैं" तो इस प्रतिज्ञप्ति के अर्थ का निर्धारण 'विवेकशीलता' के आधार पर किया गया कि सभी मनुष्यों में विवेकशीलता एक ऐसा सामान्य और अनिवार्य गुण है जिसके कारण सभी मनुष्य विवेकशील हैं, लेकिन आधुनिक तर्कशास्त्र में इसे अस्वीकार किया गया है और कहा गया है कि किसी भी शब्द या प्रतिज्ञप्ति के गुणवाचकता के आधार पर उसके अर्थ का निर्धारण करना एक बहुत बडी तार्किक भूल (a gross logical blunder) के सिवा कुछ नहीं है। आधुनिक तर्कशास्त्रियों का विचार है कि चूँकि प्रतिज्ञप्ति "सभी मनुष्य विवेकशील हैं" का इन्द्रिय के द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता है, हम सभी मनुष्यों का निरीक्षण नहीं कर सकते हैं कि वे विवेकशील हैं या नहीं, इसलिये यह प्रतिज्ञप्ति अर्थपूर्ण नहीं हो सकती। अतः आधुनिक तर्कशास्त्र के अनुसार वही प्रतिज्ञप्ति अर्थपूर्ण है जिसका इन्द्रिय के द्वारा निरीक्षण हो सकता है, अर्थात् अर्थपूर्ण प्रतिज्ञप्तियों का सम्बन्ध अनुभवगत तथ्य से होता है। यही कारण है कि आधुनिक तर्कशास्त्र में तत्त्व-मीमांसा सम्बन्धी या अधिभौतिक वस्तुओं सम्बन्धी प्रतिज्ञप्तियों को मिथ्या प्रतिज्ञप्तियाँ (Pseudo-Sentence) कहा जाता है, क्योंकि ऐसी प्रतिज्ञप्तियों का कोई अर्थ नहीं होता है। ये अर्थहीन इसलिये हैं कि ऐसी प्रतिज्ञप्तियों की उत्पत्ति भाषा का दुरुपयोग करके की जाती है। कहने का तात्पर्य है कि ऐसी प्रतिज्ञप्तियों सरल प्रतिज्ञप्तियाँ से कदापि निर्मित नहीं होती हैं और उनका अनुभवगत तथ्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। कार्नप ने ऐसी प्रतिज्ञप्तियों को बंजर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Sterile) प्रतिज्ञप्तियों की संज्ञा दी है।

यहाँ पर मुख्यतः तीन बातें देखने को मिलती हैं। पहली बात यह है कि परम्परागत तर्कशास्त्र में अर्थ को प्रत्यय (Idea) का पर्याय माना गया है जो वक्ताओं और श्रोताओं के मन में रहता है अर्थात् परम्परागत तर्कशास्त्र के अनुसार प्रतिज्ञप्ति का अर्थ सर्वथा एक रहता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है, जबकि आधुनिक तर्कशास्त्र के अनुसार, प्रतिज्ञप्ति का अर्थ एक नहीं रहता, समय के साथ-साथ बदलता रहता है। यहाँ आधुनिक तर्कशास्त्र के कहने का तात्पर्य है कि सन्दर्भ (context) के अनुसार किसी भी प्रतिज्ञप्ति का अर्थ निर्धारित होता है। दूसरे शब्दों में किसी भी प्रतिज्ञप्ति को अर्थपूर्ण नहीं कहा जा सकता यदि प्रतिज्ञप्ति का अर्थ सन्दर्भ से सम्बन्धित न हो। इसे एक उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है। जब हम कहते हैं कि "सैन्धव लाओ", तो उस प्रतिज्ञप्ति का अर्थ उसके सन्दर्भ के आधार पर भिन्न-भिन्न है। यदि भोजन के समय "सैन्धव" शब्द का प्रयोग किया जाता है, तब उसका अर्थ "नमक" होगा और यदि "सैन्धव" शब्द का प्रयोग यात्रा प्रारम्भ करते समय किया जाता है, तब उसका अर्थ "घोडा" होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि एकही शब्द "सैन्धव" का अर्थ सन्दर्भ के अनुसार परिवर्तनशील है। अतः आधुनिक तर्कशास्त्र के अनुसार शब्द या नाम का अर्थ किसी प्रतिज्ञप्ति के सन्दर्भ में ही होता है जैसा कि विटगेन्स्टाइ ने ट्रैक्टेटस में कहा है कि केवल प्रतिज्ञप्ति का ही तात्पर्य होता है, नाम का अर्थ किसी प्रतिज्ञप्ति के संदर्भ में ही होता है।[६] आगे चल कर आधुनिक तर्कशास्त्र में कहा गया है कि किसी शब्द का अर्थ उसके उपयोग (use) पर निर्भर करता है। कहने का तात्पर्य है कि भाषा में जिस शब्द का प्रयोग जैसा होगा, उस शब्द का अर्थ वैसा ही होगा। राइल ने अपने शोध-पत्र "दी थ्योरी ऑफ मीनिंग" में कहा है कि शब्दों का अर्थ कार्यवाही तत्त्व (functional factor) या सम्भावित कथनों, प्रश्नों, आदेशों आदि का क्षेत्र है।[७]

फिर आधुनिक तर्कशास्त्र में यह भी कहा गया है कि दो पदों या चिह्नों का एक ही अर्थ होता है यदि और सिर्फ यदि वे एक ही वस्तु की ओर संकेत (referece) करता है। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक वस्तु में अर्थ और संकेत (reference) दोनों पाये जाते हैं और दोनों अभिन्न (identical) होते हैं। अतः एक पद को दूसरे पद, जो एक ही वस्तु का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संकेत करता है, के द्वारा सत्य मूल्यों में परिवर्तन किये बिना पुनः स्थापित (replacement) किया जा सकता है। इसे एक उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है। ''श्रीमती इन्दिरा गाँधी दिल्ली में मारी गई'' और ''भारत वर्ष की प्रथम महिला प्रधान मंत्री दिल्ली में मारी गई।'' दोनों पदों का एक ही अर्थ है क्योंकि दोनों पदों का सत्य-मूल्य एकसमान है। यदि पहले पद को 'प' और दूसरे पद को 'फ' मान लिया जाय, तो इसे प्रतीकात्मक रूप में निम्न प्रकार लिखा जा सकता है -

$$(प \equiv फ) = (प \supset फ) \cdot (फ \supset प)$$

या

$$(प \equiv फ) = (प \cdot फ) \vee (\sim प \cdot \sim फ)$$

जहाँतक परम्परागत तर्कशास्त्र का सम्बन्ध है, इसमें ऐसी कोई बात नहीं पायी जाती है। इसके अनुसार किसी पद का अर्थ अपरिवर्तनीय है। यहाँ हम देखते हैं कि परम्परागत तर्कशास्त्रियों की धारणा थी कि अर्थ वस्तु वाचकता को निर्धारित करता है जबकि आधुनिक तर्कशास्त्रियों के अनुसार वस्तुवाचकता अर्थ को निर्धारित करता है। अतः परम्परागत तर्कशास्त्र में किसी पद के सम्बन्ध में वस्तुवाचकता को गौण कर दिया गया है, जबकि आधुनिक तर्कशास्त्र में वस्तुवाचकता को प्राथमिकता दी गयी है।

दूसरी बात यह है कि परम्परागत तर्कशास्त्र के अनुसार सामान्य (General) प्रतिज्ञप्तियाँ अर्थात् ''ए'' और ''ई'' प्रतिज्ञप्तियाँ निरपेक्ष (Categorical) होती हैं जिसके कारण इन प्रतिज्ञप्तियों में अस्तित्व-सूचक प्रतिबन्धता (existential commitment) दिखाई पडती है । कहने का तात्पर्य है कि ''ए'' और ''इ'' प्रतिज्ञाप्तियाँ निपरेक्ष होने के कारण अस्तित्व-सूचक आशय (existential import) होता है। और इसलिये ये सत्य होते हैं। उदाहरण के लिये ''सभी अप्सराएँ सुन्दर होती हैं।'' तथा ''कोई भी अप्सरा सुन्दर नहीं होती है।'' ''सभी चौकोरवृत्त आकृतियाँ हैं'' तथा ''कोई भी चौकोरवृत्त आकृति नहीं है।'' दोनों ''ए'' तथा ''ई'' प्रतिज्ञप्तियाँ अस्तित्व-सूचक आशय है क्योंकि निरपेक्ष है। लेकिन आधुनिक तर्कशास्त्र में इसे स्वीकार नहीं किया गया है। इस तर्कशास्त्र के अनुसार ''ए'' तथा ''ई'' प्रतिज्ञप्तियों का अस्तित्व नहीं होता है क्योंकि इन प्रतिज्ञप्तियों का उद्देश्यपद (subject term) शून्य वर्ग होते हैं। और शून्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ग का पद अनिवार्यतः अस्तित्व का आपादन नहीं करते। ऊपर के उदाहरणों में ''अप्सरा'' या ''चौकोर वृत्त'' जो उद्देश्य पद है, एक शून्य वर्ग है। अतः ''ए'' तथा ''इ'' प्रतिज्ञप्तियाँ असत्य होती हैं। आधुनिक तर्कशास्त्रियों का कहना है कि वस्तुतः ''ए'' और ''ई'' प्रतिज्ञप्तियाँ हेत्वाश्रित (hypothetical) होती हैं तथा ''आई'' और ''ओ'' प्रतिज्ञप्तियाँ निरपेक्ष होती हैं। ''ए'' तथा ''ई'' प्रतिज्ञप्तियों को हेत्वाश्रित कहने का अर्थ है कि ये पूर्ववर्ती (antecedent) तथा अनुवर्ती (consequent) दोनों में सत्य हैं, अर्थात् यदि ''ए'' तथा ''ई'' प्रतिज्ञप्तियों का पूर्ववर्ती सत्य है, तो उसका अनुवर्ती भी सत्य होगा। स्पष्टता ''ए'' तथा ''ई'' प्रतिज्ञप्तियों का सत्यता पूर्ववर्ती तथा अनुवर्ती दोनों की सत्यता पर निर्भर करता है जिसका प्रतीकात्मक सूत्र इस प्रकार है -

$$(ष)\ (पष \supset फष)$$

तथा

$$(ष)\ (पष \supset \sim फष)$$

उसी प्रकार ''आई'' तथा ''ओ'' प्रतिज्ञप्तियों के सत्यता को प्रतीकात्मक रूप में इस प्रकार लिखा जाता है -

$$(\exists ष)\ (पष \cdot फष)$$

तथा

$$(\exists ष)\ (पष \cdot \sim फष)$$

ऐसी स्थिति में प्रतिज्ञप्तियों के बीच सिर्फ विरोधी सम्बन्ध (contradictory relation) पाया जाता है, विपरीत (contrary) उप-विपरीत (sub-contrary) तथा उपस्थित (subalternation) सम्बन्धों का कोई अस्तित्व नहीं रहता है। इसे एक चित्र के माध्यम से इस प्रकार दिखलाया जा सकता है -

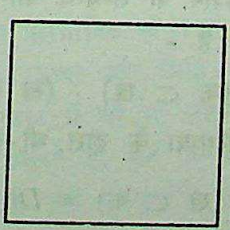

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक तर्कशास्त्र में प्रतिज्ञप्तियों का "अस्तित्वसूचक आशय का सिद्धान्त" (the theory of existential import of propositions) तथा "प्रतिज्ञप्तियों का विपरीत सिद्धान्त" (the theory of opposition of propositions) को अस्वीकार किया गया है जबकि परम्परागत तर्कशास्त्र इन दो सिद्धान्तों का पक्षधर है। अतः परम्परागत और आधुनिक तर्कशास्त्र में "ए" और "ई" प्रतिज्ञप्तियों के सम्बन्ध में भिन्नता है, लेकिन "आई" तथा "ओ" प्रतिज्ञप्तियों के सम्बन्ध में समानता दिखाई पडती है।

परम्परागत और आधुनिक तर्कशास्त्र में इस बात को भी लेकर भिन्नता है कि परम्परागत तर्कशास्त्र में व्यक्ति या वस्तु से सम्बन्धित प्रतिज्ञप्ति (a singular proposition) को सर्वव्यापी (Universal) माना गया है, इसलिये ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ निरपेक्ष होती हैं। "प्रेमचन्द एक लेखक है" या "यह मनुष्य एक लेखक है" सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्ति है। परम्परागत तर्कशास्त्र में ऐसे पद या प्रतिज्ञप्ति को सर्वव्यापी या निरपेक्ष इसलिये कहा जाता है क्योंकि एक सदस्य को वर्ग के रूप में मान लिया गया है और यह सदस्य दूसरे वर्ग में समावेशित होता है। ऊपर के उदाहरण में पद "प्रेमचन्द्र" या "यह मनुष्य" एक सदस्य है जिसे एक वर्ग के रूप में मान कर दूसरे वर्ग में समावेशित किया गया है। जहाँतक आधुनिक तर्कशास्त्रियों का सम्बन्ध है, उन लोगों ने इस प्रकार की धारणा को अस्वीकार कर लिया है और कहा है कि सदस्य का वर्ग में समावेश कैसे किया जा सकता है ? क्योंकि दोनों दो विभिन्न तार्किक प्रकार हैं और इसलिये उन दोनों के लिये एक ही सम्बन्ध, समावेशित, को मानना प्रकार दोष है। समावेशन का सम्बन्ध (inclusion relation) केवल वर्गो के बीच पाया जाता है।

यदि एक वर्ग का प्रतीक "क" और दूसरे वर्ग का प्रतीक "ख" मान लिया जाय, तो समावेशन के सम्बन्ध को प्रतीकात्मक रूप में निम्न प्रकार दिखलाया जा सकता है -

$$(क = ख) = (क \subset ख) \cdot (ख \subset क)$$

इसे निम्नलिखित परिभाषा के द्वारा भी दर्शाया जा सकता है -

$$(क \subset ख) \cdot (ख \subset क) = Df$$ "क" और "ख"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी सत्यता के लिये एक दूसरे पर आश्रित है जो तार्किक रूप से अनिवार्य है।

प्रेमचन्द्र ''लेखकों'' के वर्ग के सदस्य हैं और इसलिये ''साहित्यकारों'' के वर्ग के सदस्य। इस उदाहरण में ''लेखकों'' के वर्ग ''साहित्यकारों'' के वर्ग में समावेशित है, न कि उसके सदस्य। उनको सदस्य मानना अर्थहीन है, क्योंकि लेखकों का वर्ग साहित्यिक नहीं हो सकता। वस्तुतः समावेशन का सम्बन्ध संचारी (transitive) तथा स्ववाचक (reflexive) होता है, जबकि सदस्य का सम्बन्ध (membership relation) असंचारी (intransitive) तथा अस्ववाचक (irreflexive) होता है। अतः आधुनिक तर्कशास्त्र के अनुसार एक व्यक्ति या वस्तु से सम्बन्धित प्रतिज्ञप्ति को सर्वव्यापी तथा निरपेक्ष कहना भ्रामक है।

तीसरी बात यह है कि परम्परा तर्कशास्त्र साधारण भाषा (ordinary language) पर आधारित है, जबकि आधुनिक तर्कशास्त्रियों ने अति-भाषा (Meta-language) के प्रयोग पर बल दिया है। अति-भाषा को रसेल, विटगेन्टाइन और कार्नप ने क्रमशः तार्किक भाषा (logical language), आदर्श भाषा (Ideal language) और भौतिकीय भाषा (Physicalistic language) कहा है। आदर्श भाषा को विटगेन्स्टाइन ने आगे चल कर भाषा-खेल (language-game) कहा है। साधारण भाषा वह है जो किसी वस्तु या विषय के बारे में कुछ कहती है। इसलिये साधारण भाषा को विषय-भाषा (object-language) भी कहा जाता है, जबकि अति-भाषा विषय-भाषा के बारे में कुछ कहती है। अतः विषय-भाषा अतिभाषा का ही एक अंग है। वस्तुतः भाषा और अति-भाषा सापेक्ष पद है। मॅक्स ब्लैक ने विषय-भाषों को प्राथमिक प्रथकन (Primary statement) तथा अति-भाषा को गौण-प्रकथन (Secondary statement) की संज्ञा दी है। चूँकि विषय-भाषा अपरिभाषित (Uniterpreted) अर्थात् अर्थहीन भाषा रहती है, इसलिए विषय-भाषा को अति-भाषा जैसा प्रयोग नहीं कर सकते हैं, लेकिन जब विषय-भाषा परिभाषित हो जाती है या अर्थपूर्ण भाषा रहती है, तो एक ही भाषा विषय-भाषा और अति-भाषा जैसा कार्य करती है।

मैं समझता हूँ कि दर्शन में जो भी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं या जो भी विरोधाभास देखने को मिलते हैं, वह विषय-भाषा और अति-भाषा के बीच अन्तर को स्पष्ट रूप से नहीं समझने के कारण होते हैं। इसलिये यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहना अनुचित नहीं होगा कि दार्शनिक समस्याएँ या प्रकथनीय भ्रम के मूल में विषय और अति-भाषा की समस्याएँ हैं। इसलिये आधुनिक तर्कशास्त्रियों एवं भाषायी दार्शनिकों ने विषय और अति-भाषा के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा कि अतिभाषा में ही एक ऐसी तार्किक विशेषता है कि इसके द्वारा भाषा का विश्लेषण करने के लिये भाषा के चिह्न और उसके प्रयोग को निर्धारित करते हुए भाषा और तथ्यों के बीच सम्बन्ध का विवेचन किया जाता है अर्थात् अतिभाषा के अन्तर्गत वही प्रतिज्ञप्ति अर्थपूर्ण होती है, जो वर्णित तथ्यों के अनुकूल होती है। अतः भाषा और तथ्य एक ही होते हैं। इसी बात का समर्थन करते हुए रसेल ने कहा है कि "भाषा का सारभूत कार्य तथ्यों का प्रतिपादन या निषेध हैं" ।[१०] न्यूटन ने तो यहाँ तक कहा है कि भाषा भी संसार के बीच एक तथ्य ही है। चूँकि जगत् समस्त तथ्यों द्वारा निर्धारित होता है ।[११] इसलिये हम कह सकते हैं कि भाषा और जगत् एक ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक तर्कशास्त्र में अतिभाषा के माध्यम से समस्त जगत् का चित्रण किया जाता है। अतः आधुनिक तर्कशास्त्र अनुभवातिक्रमी (Transcendental) है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक तर्कशास्त्र की रचना इसलिये की गयी थी कि यह बतलाया जा सके कि भाषा के अतिरिक्त कुछ नहीं होता है और जो कुछ भाषा के सीमा के अन्दर रहता है, वे ही अर्थपूर्ण होते हैं। अतः इस तर्कशास्त्र ने भाषाई अहंमात्रवाद (Linguistic solipsism) को जन्म दिया और दर्शन के क्षेत्र में क्रांति ला दी। मै तो कहूँगा कि आधुनिक तर्कशास्त्र के उदय के कारण दार्शनिकता में तीव्र गति आयी है जिसकी झलक भारत में भी देखी जा सकती है। इस तर्कशास्त्र के कारण ही आज हम यह जानने में समर्थ हो पाये हैं कि दर्शन, विज्ञान तथा गणित में कितना गहरा सम्बन्ध है।

परम्परागत और आधुनिक तर्कशास्त्र का सिंहावलोकन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परम्परागत तर्कशास्त्र में अनुमान एक आवश्यक उपकरण है जो किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता प्रमाणित करने में सहायक होता है, जबकि आधुनिक तर्कशास्त्र में अनुमान की कोई आवश्यकता नहीं है, बल्कि जैसा सन्दर्भ होता है उसी के अनुसार दिये गये प्रतिज्ञप्ति का अर्थ निकाला जाता है। अतः आधुनिक तर्कशास्त्र परम्परागत तर्कशास्त्र से अधिक व्यापक और श्रेष्ठ है। आधुनिक तर्कशास्त्र एक शुद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकारिक विज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है। आधुनिक तर्कशास्त्र में दर्शन को भाषा-विश्लेषण का पर्याय माना गया है और कहा गया है कि इसी के द्वारा जीवन के व्यावहारिक पक्ष को मजबूत बनाया जा सकता है, लेकिन मैं समझता हूँ कि परम्परागत तर्कशास्त्र को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता क्योंकि आधुनिक तर्कशास्त्र में वैज्ञानिक प्रतिज्ञप्तियों को ही सार्थक माना गया है, जबकि मानव के व्यवहारिक जीवन के लिये भौतिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक इत्यादि पहलुओं पर भी विचार करना आवश्यक है। इसके लिये परम्परागत तर्कशास्त्र अधिक सहायक सिद्ध होगा। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि यदि मनुष्य का एक हाथ कट जाय तो वह अपने आप को असहाय समझता है, उसी प्रकार परम्परागत तर्कशास्त्र के अभाव में आधुनिक तर्कशास्त्र पंगु है। सच पूछा जाय, तो दोनों तर्कशास्त्र ज्ञानार्जन के मूल्यवान् उपकरण हैं। इस सन्दर्भ में स्ट्रासन (Strawson) का कहना है कि परम्परागत तर्कशास्त्र की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि उसमें कोई त्रुटि है तो उसे "पूर्वधारणा सिद्धान्त" (Presupposition theory) के द्वारा दूर किया जा सकता है।[१२] उनके कहने का तात्पर्य है कि परम्परागत तर्कशास्त्र में यदि "पूर्वधारणा सिद्धान्त" को अपनाया जाय तो यह भी आधुनिक तर्कशास्त्र की तरह व्यवहारिक हो सकता है।

विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र, डा. गोपाल कृष्ण
मार्खम कॉलेज आफ कॉमर्स,
हजारीबाग- ८२५३०१

टिप्पणियाँ

१. हंस राइशेन्बाक, **दी राइज ऑफ साइंटिफिक फिलासफी**, लन्दन, १९५४, पृ. २२८.
२. एल. विटगेन्स्टाइन, **ट्रेक्टेटस् लॉजिको फिलसफीक्स**, लन्दन, १९६१
३. जी. रायल, **दी कन्सेप्ट ऑफ माइन्ड**, लन्दन, १९४९ प्रथम अध्याय
४. हंस राईशेन्बाक, **दी राइज ऑफ साइंटिफिक फिलासपी**, पृ. २१९
५. देखें, पी. ए. श्लिप्, **दी फिलासफी ऑफ कार्नप**, लन्दन १९३४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६. आर. कार्नप, **दी लॉजिकल सिन्टैक्स ऑफ लेंग्वेज**, लन्दन १९३७. पृ. २७९-२८१

७. एल. विटगेन्स्टाइन, **ट्रैक्टेटस**, ३.३

८. सी. ए. मेक्क (सम्पादन), **ब्रिटिश फिलासफी इन दी मिड् सेन्चुरी**, जार्ज एल्लेन एण्ड अनविन, लन्दन, पृ. २४८.

९. मॅक्स ब्लैक, **लेंग्वेज एण्ड फिलासफी**, न्यूयार्क, १९४८, चौथा अध्याय

१०. बी. रसेल, "भूमिका" विटगेन्स्टाइन के ट्रैक्टेटस में पृ. ८

११. एल. विटगेंन्स्टाइन, **ट्रैक्टेटस**, १.११

१२. देखें पी. एफ. स्ट्रासन, **इन्ट्रोडक्सन टू लाजिकल थ्योरी**, मेथून एण्ड कम्पनी, लन्दन, १९५२.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरुपाधिक तर्कवाक्यों की आधुनिक बूलीय व्याख्या पर पुनर्विचार

परम्परागत निरूपाधिक तर्कवाक्यों की आधुनिक बूलीय व्याख्या (अंग्रेज तर्कशास्त्री जॉर्ज बूल के नाम के आधार पर) के अनुसार सत्तात्मक तात्पर्य (Existential import) को इस रूप में परिभाषित किया गया है कि यदि कोई तर्कवाक्य विशिष्ट प्रकार के पदार्थों की सत्ता का कथन करता है तो उसमें सत्तात्मक तात्पर्य है जैसे I और O तर्कवाक्य अर्थात् अंशव्यापी विध्यात्मक और अंशव्यापी निषेधात्मक तर्कवाक्य यह बताते हैं कि उनके उद्देश्यपद द्वारा अभिहित वर्ग रिक्त या शून्य नहीं है, उनके कुछ सदस्य अवश्य (या कम से कम एक सदस्य अवश्य) होते हैं। विचारणीय प्रश्न यह है कि केवल I तथा O ही क्यों, सर्वव्यापी विध्यात्मक A तर्कवाक्य तथा सर्वव्यापी निषेधात्मक तर्कवाक्य E में भी सत्तात्मक तात्पर्य होता है क्योंकि उनके उद्देश्यपद द्वारा द्योतित वर्ग भी रिक्त या शून्य नहीं होता है। A तथा E तर्कवाक्यों के उद्देश्य भी I तथा O की ही भाँति एक विशिष्ट प्रकार की वस्तुओं के वर्ग द्योतन करते हैं। जैसा कि निरुपाधिक तर्कवाक्यों (categorical propositions) की व्याख्या में कहा गया है -

A - सभी मनुष्य मरणशील हैं।

B - कोई भी मनुष्य अमर नहीं है।

I - कुछ राजनेता भ्रष्ट हैं।

O - कुछ खिलाडी शाकाहारी नहीं हैं।

उपरोक्त प्रत्येक निरूपाधिक तर्कवाक्य अपने उद्देश्य तथा विधेय द्वारा दो वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध का अभिधान करता है कि अमुक वर्ग के सदस्य अमुक वर्ग में अंशतः या पूर्णतः समाहित हैं या नहीं हैं। ऐसे में यह तो पूर्वस्वीकृत है कि प्रत्येक निरूपाधिक तर्कवाक्य के उद्देश्य वर्ग के सदस्य (सम्पूर्णतः या अंशतः) सत्तावान् हैं अन्यथा उनका विधेय वर्ग के साथ सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि A और E तर्कवाक्यों में भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्तात्मक अर्थ होता है परन्तु यह निष्कर्ष इस आधार पर निगमित नहीं किया जा सकता कि 'यदि I तर्कवाक्य वैध ढंग से उपाश्रयण द्वारा तत्संगत A से निःसृत होता है और I सत्ता का कथन करता है तो A भी अवश्य ही सत्ता का कथन करेगा।' या यदि O में सत्तात्मक तात्पर्य होता है तो E में भी होना चाहिये (इरविंग एम. कोपी की पुस्तक 'Introduction to Logic' का हिन्दी अनुवाद 'तर्कशास्त्र की रूपरेखा', प्रथम संस्करण के पृष्ठ नं. १३०-१३१ से उद्धृत)। ऐसा निगमन इसलिये असंगत है क्योंकि 'उपाश्रयण' में उपाश्रयण (A, E) उपाश्रित (I, O) को अपने में अन्तर्भूत किये रहता है परन्तु इसका विलोम सन्दिग्ध या अनिश्चित (Contingent) होता है। उदाहरणार्थ, हम A तर्कवाक्य- 'सभी दार्शनिक वैज्ञानिक हैं' की सत्यता के आधार पर तर्कवाक्य 'कुछ दार्शनिक वैज्ञानिक हैं' के निगमन को 'उपाश्रयण' (Subalternation) के आधार पर सत्य सिद्ध कर सकते हैं । परन्तु I तर्कवाक्य की सत्यता के आधार पर A की सत्यता का निगमन नहीं कर सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में A अनिश्चित होगा। अतः उपरोक्त चर्चा में यदि I तथा O में सत्तात्मक तात्पर्य है तो इस आधार पर A और E में सत्तात्मक तात्पर्य का होना अनिश्चित है।

स्पष्ट है कि A, E, I तथा O चारों तर्कवाक्यों में सत्तात्मक अर्थ होता है परन्तु उपरोक्त आधार पर नहीं। अतः चारों तर्कवाक्यों में सत्तात्मक तात्पर्य की स्वीकृति मानक आकार के निरूपाधिक तर्कवाक्य की आधुनिक बूलीय व्याख्या का उल्लंघन कर रहा है जिसके अनुसार केवल I तथा O तर्कवाक्यों में सत्तात्मक तात्पर्य है। बूलीय व्याख्या में यदि 'उ' वर्ग शून्य है तो I तर्कवाक्य 'कुछ उ वि है' और O तर्कवाक्य 'कुछ उ वि नहीं हैं।' ये दोनों तर्कवाक्य असत्य होंगे। A और E क्रमशः O और I के व्याघाती माने जाते हैं। अतः यदि उ एक शून्य वर्ग है तो I, O तर्कवाक्य असत्य होंगे और उनके व्याघाती A तथा E तर्कवाक्य, 'सभी उ वि हैं' तथा 'कोई उ वि नहीं हैं' दोनों सत्य होंगे। A तथा E दोनों एक साथ सत्य हो सकते हैं अतः विपरीत (Contrary) नहीं हैं तथा I और O दोनों असत्य हो सकते हैं अतः विरुद्ध (Sub-contrary) नहीं हैं। A तथा E के सत्य तथा I और O के असत्य होने से उपाश्रयण (Sub-alternation) पर आधारित अनुमान भी असफल हो जाता है। ऐसे में बूलीय व्याख्या के अनुसार पारस्परिक विरोध वर्ग का केवल व्याघाती सम्बन्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Contradiction) ही स्वीकार करने योग्य बचता है।

यदि इस बूलीय व्याख्या पर पुनर्विचार किया जाये तो इसका सर्वाधिक आपत्तिजनक पक्ष तो यही है कि केवल I और O तर्क वाक्यों में ही सत्तात्मक तात्पर्य क्यों माना जाये, A और E में क्यों नहीं ? यदि मंगलग्रह पर कोई निवासी है ही नहीं, मंगल ग्रह निर्जन है तो केवल I, O ही क्यों, में चारों निरूपाधिक तर्कवाक्य समान रूप से असत्य सिद्ध होंगे

A - मंगलग्रह के सभी निवासी गोरे हैं।

B - मंगलग्रह का कोई निवासी गोरा नहीं है।

I - मंगलग्रह के कुछ निवासी गोरे हैं।

O - मंगल ग्रह के कुछ निवासी गोरे नहीं हैं।

यदि मंगल ग्रह निर्जन है तो उपरोक्त चारों निरूपाधिक तर्कवाक्यों द्वारा द्योतित उद्देश्य वर्ग असत्य कथन करने के कारण असत्य है। अतः यह अनुचित है कि हम केवल I तथा O में सत्तात्मक तात्पर्य मानते हुए उन्हें असत्य मानकर उनके व्याघाती E तथा A तर्कवाक्य को सत्य मान लें और इसी आधार पर उपाश्रयण, विरोध और विपरीत सम्बन्ध को ही अवैध ठहरायें।

वस्तुतः पारस्परिक विरोध-वर्ग का उद्देश्य दो गुणगत भिन्न या दो परिमाणगत भिन्न या गुणगत-परिमाणगत दोनों प्रकार से भिन्न निरूपाधिक तर्कवाक्य के पारस्परिक सम्बन्ध का अनुमान करना है, उनके उद्देश्य-विधेय वर्ग द्वारा द्योतित वस्तुओं की तथ्यात्मक स्थिति या वस्तुगत सत्यता का निर्धारण करना नहीं है, उदाहरणार्थ -

A - सभी मत्स्यकन्यायें सुन्दर हैं।

E - कोई मत्स्यकन्यायें सुन्दर नहीं हैं। (A के साथ विपरीत संबन्ध)

I - कुछ मत्स्यकन्यायें सुन्दर हैं। (A के साथ उपाश्रयण)

O - कुछ मत्स्यकन्यायें सुन्दर नहीं हैं। (A के साथ व्याघात)

उपरोक्त निरूपधिक तर्कवाक्यों के उद्देश्य द्वारा द्योतित मत्स्य-कन्या वर्ग का वस्तुगत अनस्तित्व (कि वास्तव में मत्स्य कन्या का अस्तित्व है ही नहीं) उनके पारस्परिक चतुर्विध विरोधात्मक सम्बन्धों का खण्डन नहीं कर सकता। पारम्परिक विरोध वर्ग का उद्देश्य यह प्रदर्शित करना मात्र है कि यह एक ऐसा अव्यवहत अनुमान है जिसमें यदि इस आकार का तर्कवाक्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तो उसकी सत्यता/असत्यता के आधार पर हम अमुक आकार के तर्कवाक्यों की सत्यता/असत्यता के विषय में क्या अनुमान कर सकते हैं। इस प्रकार सिद्ध होता है कि पारम्परिक विरोध-वर्ग के चारों सम्बन्ध वैध हैं क्योंकि वैधता का प्रश्न वर्गविशेष की वस्तु के यथार्थ अस्तित्व के साथ प्रासंगिक नहीं है।

यह सिद्ध हो जाने पर कि न केवल अंशव्यापी तर्कवाक्यों वरन् सर्वव्यापी तर्कवाक्यों में भी सत्तात्मक अर्थ होता है, वैध मानक निरपेक्ष न्यायवाक्य का छठाँ नियम भी असंगत सिद्ध हो जाता है जिसके अनुसार 'यदि किसी वैद्य निरुपाधिक न्यायवाक्य में निष्कर्ष विशिष्ट होगा, उसके दोनों आधार-वाक्य सामान्य नहीं हो सकते।' इस नियम के उल्लंघन से ऐसा माना जाता है कि, बिना सत्तात्मक अर्थ वाले आधारवाक्यों से एक ऐसा निष्कर्ष निकालते हैं जिसमें सत्तात्मक अर्थ होता है। अतः सत्तात्मक दोष (Existemtial) उत्पन्न होता है परन्तु यदि पुनर्विचार किया जाये तो दो सर्वव्यापी आधारवाक्यों के आधार पर निगमित अंशव्यापी निष्कर्ष वाला निरपेक्ष न्यायवाक्य भी अन्ततोगत्वा वैध ही सिद्ध होता है। कारण स्पष्ट है, सत्तात्मक तात्पर्य तो चारों निरूपाधिक तर्कवाक्यों में अन्तर्निहित है। यही कारण है कुल उन्नीस सम्भव वैध निरपेक्ष न्यायवाक्य की अवस्थायें (moods) मानी गयी थी। इन्हीं में से चार अवस्थाओं को, कालान्तर में सत्तात्मक दोष के कारण अवैध माना गया जो मध्यम पद की तृतीय और चतुर्थ आकृति (Third and Fourth figure) से संबन्धित थी। ये अवस्थायें हैं -

IIIrd Figure - DARAPTI DISAMIS, DATISI, FELAPTON, BOCARDO, FERISON

IVth Figure - BRAMANTIP, CAMENES, DIMARIS, FESAPO, FRESISON.

तृतीय और चतुर्थ आकृति की ये चार, रेखांकित अवस्थायें निरपेक्ष न्यायवाक्य की आधुनिक व्याख्या के कारण अवैध और अमान्य सिद्ध हो गयीं। जबकि यदि इन अवस्थाओं को प्रतीकात्मक रूप से अभिव्यक्त करके उनके लिए वैधता के आकारगत प्रमाण (Formal proof of validity) की रचना की जाये तो एक ओर तो उन्हें वैध सिद्ध किया जा सकता है दूसरी ओर प्रसंगानुमान-विधि (Reduction-ad-absurdum method) से निष्कर्ष के निषेध के आधार पर व्याघात (Contradiction) निगमित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करके यह सिद्ध किया जा सकता है कि ये अवस्थायें मानक निरपेक्ष न्यायवाक्य की वैध अवस्थायें (Valid moods) हैं।

तृतीय आकृति की अवस्था A A I - III के लिये वैधता का आकारगत प्रमाण इस प्रकार है -

A - सभी राक्षस असुन्दर हैं ।

A - सभी राक्षस बलशाली हैं।

I - कुछ बलशाली असुन्दर हैं।

प्रतीकात्मक रूप से अभिव्यक्त करने पर -

1.	(x) (Rs ⊃ Ax)	
2.	(x) (Rx ⊃Bx)/ ∴ (∃x) (Bx . Ax)	
3.	~ (∃x) (Bx. Ax)	
4.	(x) ~ (Bx.Ax)	3. Q. N.
5.	~ (Bx . Ax)	4 U. I.
6.	~ Bx v ~Ax	5 De. Morgan
7.	Rx	
8.	Rx ⊃ Ax	1. U. I.
9.	Rx ⊃ Bx	2 U. I.
10.	Ax	8, 7 M. P.
11.	Bx	9, 7 M. P.
12.	~~ Bx	11. D. N.
13.	~ Ax	6, 12 D. S.
14.	Ax . ~ Ax	10, 13 Conj.
15.	Rx ⊃ (Ax . ~Ax)	7. 14 C. P.
16.	~ Rx v (Ax . ~ Ax)	15 Imp.
17.	~~ Rx	7. D. N.
18.	Ax . ~Ax	16, 17 D.S.

(Contradiction derived through the method of reductio-ad-absurdum).

AAI. III की वैधता का आकारगत प्रमाण -

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1.	(x) (Rx ⊃ Ax)	
2.	(x) (Rx ⊃ Bx) / ∴ (∃x) (Bx · Ax)	
3.	~ (∃x) (Bx · Ax)	
4.	(x) ~ (Bx · Ax)	3 Q. N.
5.	~ Bx v ~Ax	4,U.I. De Morgan
6.	Rx	
7.	Rx ⊃ Ax	I. U. I.
8.	Rx ⊃ Bx	2 U. I.
9.	Ax	7, 6 M. P.
10.	Bx	8, 6 M. P.
11.	Ax · Bx	9, 10 Conj.
12.	Rx ⊃ (Ax · Bx)	6.11 C. P.
13.	~ Rx v (Ax · Bx)	12 Imp.
14.	~~ Rx	6 D. N.
15.	Ax · Bx	14 Disj. Syllogism
16.	Bx · Ax	15 Com.
17.	(∃x) (Bx · Ax)	16 E. G.
18.	~ (∃x) (Bx · Ax) ⊃ (∃x) (Bx · Ax)	3.17, C. P.
19.	~~ (∃x) (Bx · Ax) v (∃x) (Bx · Ax)	18 Imp.
20.	(∃x) (Bx · Ax) v (∃x) (Bx · Ax)	19 D. N.
21.	(∃x) (Bx · Ax)	20 Taut.

तृतीय आकृति की अवस्था FELAPTON (E A O III) का उदाहरण इस प्रकार है -

E - कोई राक्षस सुन्दर नहीं है।

A - सब राक्षस बलशाली हैं।

O - कुछ बलशाली सुन्दर नहीं हैं।

प्रतीकात्मक रूप में -

EAO- III की वैधता का आकारगत प्रमाण -

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1.	(x) (Rx ⊃ ~ Sx)	
2.	(x) (Rx ⊃ Bx) / ∴(∃x) (Bx . ~ Sx)	
→ 3.	~ (∃x) (Bx . ~ Sx)	
4.	(x) ~ (Bx . ~ Sx)	3. Q. N.
5.	~ (Bx . ~ Sx)	4 U. I.
6.	~ Bx v Sx	5 De Morgan,D. N.
7.	Rx ⊃ ~ Sx	1 U. I.
8.	Rx ⊃ Bx	2 U. I.
→ 9.	Rx	
10.	Bx	8,9 M. P.
11.	~ Sx	7, 9 M. P.
12.	Bx . ~ Sx	10.11 Conj.
13.	Rx ⊃ (Bx . ~ Sx)	9,12 C. P.
14.	~Rx v (Bx . ~ Sx)	3 Imp.
15.	~~ Rx	9 D. N.
16.	Bx . ~ Sx	14, 15 D. S.
17.	(∃x) (Bx . ~ Sx)	16 E. G.
18.	~ (∃x) (Bx . ~ Sx) ⊃ (∃x) Bx . ~ Sx)	3, 17 C. P.
19.	~~ (∃x) (Bx . ~ Sx) v (∃x) (Bx . ~ Sx)	18 Imp.
20.	(∃x) (Bx . ~ Sx) v (∃x) (Bx . ~ Sx)	19 D. N.
21.	(∃x) (Bx . ~ Sx)	20 Taut

प्रसंगानुमान का प्रयोग करने पर भी E A O - III वैध है -

1.	(x) (Rx ⊃ ~ Sx)	
2.	(x) (Rx ⊃ Bx) / ∴ (∃x) (Bx . ~ Sx)	
3.	~ (∃x) (Bx . ~ Sx)	(Negation of the conclusion)
4.	(x) ~ (Bx . ~ Sx)	3 Q. N.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5.	~ (Bx . ~ Sx)	4.3 U. I.
6.	~ Bx v ~~ Sx	5 De. Morg.
7.	Rx ⊃ ~ Sx	1, U. I.
8.	Rx ⊃ Bx	3, U. I.
9.	Rx	
10.	Bx	8, 9 M. P.
11.	~ Sx	7, 9 M. P.
12.	~~ Bx	10 D. N.
13.	~ Bx v Sx	6 D. N.
14.	Sx	13, 12 D. S.
15.	Sx . ~ Sx	14, 11 Conj.
16.	Rx ⊃ (Sx . ~ Sx)	9.15 C. P.
17.	~ Rx v (Sx . ~ Sx)	16 Imp.
18.	~~ Rx	9 D. N.
19.	Sx . ~ Sx	17, 18 D. S.

(Contradiction derived through the method of reductio-ad-absurdum).

चतुर्थ आकृति की अवस्था FESAPO (E A O - IV) के लिये वैधता का आकारगत प्रमाण इस प्रकार है -

E - कोई भी मनुष्य अमर प्राणी नहीं है।

A - सभी अमर प्राणी दिव्यलोकवासी हैं।

O - कुछ दिव्यलोकवासी मनुष्य नहीं हैं।

प्रतीकात्मक रूप में -

1.	(x) (Px ⊃ ~ Mx)	
2.	(x) (Mx ⊃ Sx) / ∴ (∃x) (Sx . ~ Px)	
3.	Mx	
4.	Mx ⊃ Sx	2 U. I.
5.	Sx	4, 3 M. P.
6.	Px ⊃ ~ Mx	1 U. I.
7.	~~ Mx	3 D. N.
8.	~ Px	6, 7 M. T.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9.	Sx . ~ Px	5, 8 Conj.
10.	Mx ⊃ (Sx . ~ Px)	3, 9 C. P.
11.	~ Mx v (Sx . ~Px)	10 Imp.
12.	Sx . ~ Px	11, 7 D. S.
13.	(∃x) (Sx . ~ Px)	12 E. G.

इसी प्रकार चतुर्थ आकृति की BRAMANTIP (AAI -IV) की वैधता भी सिद्ध की जा सकती है -

A - सभी मनुष्य मरणशील प्राणी हैं।
A - सभी मरणशील प्राणी पृथ्वीलोकवासी हैं।
I - कुछ पृथ्वीलोकवासी मनुष्य हैं।

1.	(x) (Px ⊃ Mx)	
2.	(x) (Mx ⊃ Sx) / ∴ (∃x) (Sx . Px)	
3.	Px ⊃ Mx	1 U. I.
4.	Mx ⊃ Sx	2 U. I.
5.	Px ⊃ Sx	3, 4 H. S.
6.	Px	
7.	Px ⊃ (Px . Sx)	5 Absorption
8.	Px . Sx	7. 6 M. P.
9.	Sx . Px	8 Com.
10.	Px ⊃ (Sx . Px)	6.9 C. P.
11.	~ Px v (Sx . Px)	10 Imp.
12.	~~ Px	6 D. N.
13.	Sx . Px	11, 12 D. S.
14.	(∃x) (Sx . Px)	13 E. G.

सिद्ध हो जाता है कि ये अवस्थायें मानक निरपेक्ष न्यायवाक्य की वैध अवस्थायें हैं। वस्तुतः निरूपाधिक तर्कवाक्यों की आधुनिक बूलीय व्याख्या की यह असंगति इस कारण प्रतीत होती है कि यह आकारिक सत्य (Formal Truth) और वस्तुगत सत्य (Real Truth) के सम्प्रत्ययों को सम्मिश्रित करने का उपक्रम कर रही है। पारम्परिक विरोध वर्ग तथा निरूपाधिक तर्कवाक्यों की अवधारणा निगमनात्मक अनुमान से संबन्धित है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो केवल आकारिक सत्य पर आश्रित है। वस्तु की तथ्यात्मक स्थिति या वस्तुगत सत्यता आगमनात्मक अनुमान से संबन्धित है, निगमनात्मक अनुमान का विषय नहीं है। परम्परागत निरूपाधिक तर्कवाक्यों में सत्तात्मक अर्थ की स्वीकृति या अस्वीकृति (बूलीय व्याख्या के अनुसार) निगमन और आगमन को, आकारिक सत्य और वस्तुगत सत्य को मिलाने की अनर्थक चेष्टा है। परम्परागत अरस्तूकृत निरूपाधिक तर्कवाक्यों की व्याख्या के संबन्ध में सत्तात्मक तात्पर्य का प्रश्न उठाना उनके वस्तुगत सत्यता की और इंगित कर रहा है जो अप्रासंगिक है।

व्याख्याता — डा. सुस्मिता भट्टाचार्य
दर्शन विभाग
एम्. एम्. एच.महाविद्यालय
गाझियाबाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार्मिक कथनों की अर्थवत्ता एवं ह्यूम

उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व का काल दर्शन के क्षेत्र में व्यक्ति, सृष्टि आदि प्रश्नों के उत्तर देने तथा जगत् के विषय में सत्य उद्घाटन करने की दृष्टि से एक शान्त युग कहा जा सकता है। परन्तु १९वीं शताब्दी में ऐसे विचारकों का उदय हुआ जिन्होंने सत्यज्ञानप्राप्ति का आधार अनुभव को बनाया। इन्होंने दर्शन की उन समस्याओं, अवधारणाओं तथा प्रस्थापनाओं को असत्य अथवा अर्थहीन घोषित कर दिया, जिन्हें अत्यधिक अमूर्तता के कारण न तो हल किया जा सकता है और ना ही अनुभव के आधार पर परखा जा सकता है। यदि एक व्यक्ति कहे कि ''ईश्वर एक है'' और दूसरा कहे ''ईश्वर अनेक हैं'' तो अनुभववाद को इनका उत्तर देने के लिये परेशान होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वस्तुतः ये दोनों ही स्थापनाएँ अनुभव द्वारा सत्यापित नहीं हैं।

अपने पूर्ववर्ती की ही भाँति ह्यूम अनुभववादी हैं। अपने दर्शन में इस अनुभववाद को उन्होंने अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है। अनुभववाद दो प्रकार का होता है, प्रत्यय अनुभववाद और प्रतिज्ञप्ति अनुभववाद। प्रत्यय अनुभववाद प्रत्ययों की उत्पत्ति से सम्बद्ध है जबकि प्रतिज्ञप्ति अनुभववाद प्रतिज्ञप्तियों के सत्यापन से सम्बन्धित है। जो यह मानता है कि कुछ ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ अथवा कथन होते हैं जो अनुभव अथवा तथ्य जगत् के विषय में होते हैं और जिनका सत्यापन अनुभव द्वारा ही संभव है, ह्यूम इन दोनों ही प्रकार के अनुभववाद को मानता है। मेरा प्रयत्न ह्यूम के द्वारा समर्थित अनुभववाद की कसौटी पर उनके धार्मिक कथनों की अर्थवत्ता को स्पष्ट करने का है।

यह बात ध्यातव्य है कि ह्यूम ईसाई थे और ईसाईयत में ईश्वर और उससे सम्बन्धित विचारों का विशेष महत्त्व होता है। अतः वे सीधे-सीधे इन विचारों को नकारने का साहस नहीं करते। पर अनुभववाद की दृढ वैचारिक पृष्ठभूमि के कारण अनुभव की सीमा को लाँघने को तैयार भी नहीं दिखते। उनका यही द्वन्द्व उनके विचारों में भी देखने को मिलता है।

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २२ अंक ४, सितम्बर २००१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्यूम अपनी पुस्तक ''डायलाग्स कंसर्निंग नेचुरल रिलीजन'' में अपने विचारों की अभिव्यक्ति तीन पात्रों के माध्यम से करते हैं। पहला व्यक्ति डेमिया है जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है और उसका मानना है कि ईश्वर की सत्ता को प्रागनुभव द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। डेमिया यह भी स्वीकार करता है कि हम ईश्वर की प्रकृति का भेदन करने में असमर्थ हैं।

डेमिया जो कि ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है, तथा उसे अनेक गुणों एवं शक्तियों से युक्त मानता है, का तर्क है कि ''माना परम सत्ता में अनेक गुण एवं शक्तियाँ हैं जिनके विषय में हमें कोई स्पष्ट अवधारणा या बोध नहीं होता है। परन्तु जहाँ तक हमारे प्रत्यय जाते हैं ये गुण ना तो न्यायसंगत होते हैं ना ही इन गुणों व शक्तियों का वास्तविक संवाद है।'' क्लीन्थ्स कहते हैं कि ''मेरे विचार में ईश्वर अति अल्प महत्त्व का एक नाम मात्र है। जिसका कोई अर्थ नहीं।''[१]

इस प्रकार ह्यूम के ''डायलाग'' में दूसरा विचारक क्लीन्थ्स है जो ईश्वर की सत्ता को प्रयोजनमूलक तर्क द्वारा सत्यापित मानता है परन्तु उसके गुणों एवं शक्तियों के विषय में संशय रखता है। संशयवादी फिलो ह्यूम के विचारों का सच्चा प्रतिनिधि है। दरअसल ह्यूम के डायलाग्स का अध्ययन करने पर पता चलता है कि क्लीन्थ्स जब डेमिया के विरुद्ध फिलो के विचारों से सहमति रखता है तो वह फिलो से वैचारिक निकटता रखता है।[२]

धार्मिक कथनों के विषय में महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों में ह्यूम कहता है कि दिव्यता या तत्त्वमीमांसीय सम्प्रदाय ये कुतर्कीय या मिथ्यातर्कीय हैं क्योंकि ये ना तो वस्तुस्थिति से सम्बद्ध हैं और ना ही ये अमूर्त का प्रदर्शन करते हैं। ह्यूम का विचार है कि ईश्वर की प्रकृति के विषय में प्रदत्त तर्क अथवा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के विषय में सम्बन्धित तर्क हमारी (बौद्धिक) क्षमताओं से अत्यंत परे की बाते हैं।[३]

ह्यूम के इन धार्मिक कथनों की अर्थवत्ता को जानने के लिये यहाँ प्रासंगिक है यदि हम ह्यूम के अनुभववादी विचार को संक्षेप में जाने। ह्यूम के अनुसार ज्ञान के दो मूल घटक हैं एक सरल प्रत्यय व दूसरा प्रत्यक्षानुभव। प्रत्येक प्रत्यय का कोई ना कोई प्रत्यक्षानुभव अवश्य होता है। प्रत्यक्षानुभव की तुलना में प्रत्यय अस्पष्ट, दुर्बल, छाया या प्रत्यक्षानुभव की प्रतिलिपि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते हैं। इन दोनों के अन्तर को रेखांकित करते हुए ह्यूम कहते हैं कि रसगुल्ले की मिठास प्रत्यक्षानुभव है जबकि उसको खाये बिना उसका विचार प्रत्यय है। इसीलिये जब हम यह जानना चाहते हैं कि कोई प्रत्यय वास्तव में सच्चा प्रत्यय है उसके लिये यह देखना होगा कि उसके मूल में कोई प्रत्यक्षानुभव है अथवा नहीं ? यदि किसी प्रत्यक्षानुभव को इस का जनक कहना असम्भव है तो हमें उस पद को निरर्थक करार देना चाहिये।[४]

"ह्यूम का विश्वास है कि इस मत के व्यावहारिक प्रयोग से अनेक दार्शनिक गुत्थियों को एवं झमेलों को सरलता से सुलझाया जा सकता है। अति गूढ प्रतीत होने वाली तत्त्वमीमांसीय समस्याओं और उनके तथाकथित समाधानों को निरर्थक सिद्ध कर दर्शन को स्वस्थ बनाया जा सकता है।[५] कुछ प्रत्यय विशेषकर अमूर्त प्रत्यय अत्यंत ही घूमिल एवं अस्पष्ट होते हैं और इसीलिये उन प्रत्ययों को उनसे कुछ मिलते जुलते वास्तविकता में उनसे अलग अन्य प्रत्ययों से अभिन्न समझने की भूल हम आसानी से कर जाते हैं और उनके वाचक पदों का गलत अर्थ प्रयुक्त होने लगता है। जब हम किसी पद के व्यवहार में अभ्यस्त हो जाते हैं तो कभी-कभी यह भी होता है कि उसके अर्थहीन होने पर भी सोचते हैं कि अवश्य ही कोई प्रत्यय विशेष उसके द्वारा निर्दिष्ट होता होगा। इस प्रकार प्रत्ययों के विषय में भूल करना सहज है।

ह्यूम के विचारों पर दृष्टिपात करने के पश्चात् उनके धार्मिक कथनों और उनकी अर्थवत्ता के विषय में निम्न स्थिति होगी।

हमारी समझ सीमित है। ये सीमाएँ अनुभव से ही निगमित हैं। हमें अपनी सीमाओं को समझना एवं स्वीकारना चाहिये।

कोई भी प्रत्यय तभी और केवल तभी अर्थपूर्ण है जबकि उसको निर्देश करते हुए कोई प्रत्यक्षानुभव हो।

दैवीय सत्ता की प्रकृति, उद्गम एवं उसकी विशेषता हमारी समझ की सीमा रेखा से परे है। ऐसा कोई भी प्रत्यय अनुभव की परिधि में नहीं।

अतः धार्मिक विचारों को अभिव्यक्त करने वाले कथन निरर्थक हैं।

परन्तु यदि निष्कर्ष का विश्लेषण करते तो दो बातें सामने आती हैं पहली यह कि क्या ह्यूम वास्तव में ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते इसलिये धार्मिक कथनों को निरर्थक कहते हैं, या फिर उनका अनुभववादी दृष्टिकोन उन्हें ऐसा करने से रोकता है ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे विचार में ईश्वर की सत्ता को लेकर कोई संदेह नहीं है। एक स्थान पर ह्यूम अपने इसी संदेह का निराकरण ''डायलाग्स'' में फिलो के माध्यम से कराते हैं, ''निश्चय ही विचारशील व्यक्ति तर्कसंगत रूप से जब ईश्वर के विषय पर विचार करते हैं तो उनके सम्मुख प्रश्न ईश्वर के अस्तित्व का नहीं अपितु उसके स्वरूप का ही होता है। ईश्वर के अस्तित्व के विषय में प्रश्न उठाया ही नहीं जा सकता क्योंकि वह स्वतः सिद्ध है।[५]

ह्यूम द्वारा धार्मिक भाषा को निरर्थक (या मिथ्या तर्क) कहने का एक प्रमुख कारण ह्यूम द्वारा मानवीय उद्देश्य को निर्धारित करना है। जिसके अनुसार यह उद्देश्य मानवीय प्रकृति के बारे में गंभीरतापूर्वक खोज करना, उसकी प्रकृति की शक्तियों एवं क्षमताओं द्वारा इस मानवीय प्रकृति के बारे में गभीरतापूर्वक खोज करना, उसकी प्रकृति की शक्तियों एवं क्षमताओं द्वारा इस मानवीय प्रकृति का सटीक विश्लेषण करना है। इसीलिये ह्यूम के अनुसार कोई सूक्ष्म अथवा गूढ विषय मानवीय प्रकृति में अवस्थित नहीं हो सकता। इस प्रकार के विषय महत्त्वपूर्ण रूप से तत्त्वमीमांसा से होता है।

परन्तु धार्मिक कथनों को निरर्थक साबित करने सम्बन्धी इस तर्क को स्वीकार करना इसलिये कठिन जान पडता है जब मैं यह विचार करता हूँ कि ईश्वर की अवधारणा का प्रत्यय मेरे पास मौजूद है जबकि उससे संवादिता रखता हुआ कोई प्रत्यक्षानुभव ह्यूम के अनुसार मेरे पास है ही नहीं। प्रत्युत्तर में ह्यूम कहेंगे कि प्रत्येक सरल प्रत्यय सरल प्रत्यक्षानुभव से प्राप्त होता है और बहुत से सरल प्रत्यय मिल कर एक जटिल प्रत्यय का निर्माण कर सकते हैं। उदाहरण के लिये मैं स्वयं एक ऐसे शहर न्यू जैरूसलम की कल्पना कर सकता हूँ जिसकी दीवार रूबी की, सडके सोने की हैं। हालाँकि इस तरह का जटिल प्रत्यय तो मेरे पास हैं परन्तु ऐसा कोई जटिल प्रत्यक्षानुभव मेरे पास नहीं है। सोना, रूबी, दीवार, सडक आदि के प्रत्यय व प्रत्यक्षानुभव दोनों मेरे पास हैं और इन सभी को एक सार्थ रखने पर बिना किसी पूर्व अनुभव के मैं एक ऐसे शहर न्यू जैरूसलम का निर्माण कर सकता हूं।[६]

तब क्या ईश्वर केवल प्रेम, प्यार, सहानुभूति, विशालता, शक्तिमान आदि जैसे सरल प्रत्ययों का जटिल संग्रहण मात्र है, जिनके प्रत्यक्षानुभव हमारे पास मौजूद है पर उसकी अपरिमितता, अनन्तता, विशिष्टता के लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई प्रत्यक्षानुभव है ही नहीं तब उसके प्रत्यय की कल्पना कैसे साकार होगी ?

वास्तव में ह्यूम के दर्शन में समस्या यह नहीं है कि धर्म के महत्त्वपूर्ण घटक ईश्वर को मानते हैं अथवा नहीं। समस्या यह है कि ह्यूम ''ईश्वर अस्तित्ववान् है'' इस कथन की अर्थवत्ता को अनुभव की कसौटी पर जाँचने का प्रयत्न करते हैं और इसीलिये उनका यह सिद्धान्त बोधगम्य होते हुए भी निर्दोष नहीं है। कारण, जिस तरह वे किसी प्रत्यय के अर्थवान् होने के लिये उससे सम्बन्धित प्रत्यक्षानुभव की जाँच करने को कहते हैं, उचित नहीं प्रतीत होता है ऐसा कह कर किसी वस्तु या पद के अर्थवान् होने के अर्थ को अत्यंत संकुचित अर्थ में ग्रहण कर रहे हैं। यह भी संभव नहीं कि प्रत्येक प्रत्यय का निर्देश कोई पद ही करें। काले रंग के प्रत्यय का निर्देश करने वाला कोई काला प्रत्यक्षानुभव स्वतंत्र रूप से किसी पद का निर्देश नहीं करता पर काली वस्तु का अवश्य करता है। तो भी कालेपन की हमें समझ अवश्य है।

अतः ''ईश्वर शक्तिमान् है'', ''ईश्वर दयालु है'' आदि जैसे कथन अनुभव की परिधि में रह कर भले ही नहीं जाँचे जा सकते हों। पर इन्हें निरर्थक कह कर ह्यूम ज्ञान की परिधि को सीमित ही करते हैं।

मानवीय ज्ञान के उन विस्तारों को संकुचित कर रहे हैं जो उसके अनुभव की अतीन्द्रिय सीमाओं ने पवित्र पुस्तकों के रूप में संरक्षित कर रखा है। ह्यूम की समस्या ठीक वैसी है जैसे सडक की लम्बाई को वजन के पैमाने से तौलना हो। ह्यूम यदि अनुभव की सीमाओं का विस्तार अतीन्द्रिय अनुभव तक करे तो उनके दर्शन में धर्म सम्बन्धी कथनों को अर्थवान् कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

ई - ३२९ **डा. श्रीमती अजन्ता गहलोत**
जय नारायण व्यास कॉलोनी,
बीकानेर

टिप्पणियाँ

१. ए. जे. एयर, **ह्यूम**, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, वाल्टन, लंदन, १९८० पृ. ९३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. वही, ९३-९४
३. गस्किन, जे. सी. ए., **ह्यूम्स फिलॉसफी ऑफ रिलीजन,** दी मेकमिलन प्रेस लि., लंदन, १९७८, पृ. ७४
४. एल. ए. सेबी-बैगी, **एन एन्क्वायरी कन्सर्निंग अण्डरस्टैडिंग,** ऑक्सफोर्ड क्लैरडिंग प्रेस, १९०२, पृ.२२
५. हेनरी डी. एकिन्स, **डायलाग्स कन्सर्निंग नेचुरल रिलीजन,** १९९५, भाग १०, पृ. ६६
६. **ए. ट्रिटाइज ऑन ह्यूमन नेचर,** पृ. ३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काण्ट का ज्ञानमीमांसीय पलायनवाद

काण्ट का ज्ञानमीमांसीय पलायनवाद एक तरह का संशयवाद ही है। काण्ट की मान्यता है कि ह्यूम ने मुझको अन्धविश्वास की मोह-निद्रा से जगाया। उसका यह जागरण व्यवहार जगत् तक की सीमित रहा। ज्ञान के उच्च स्तरीय आयाम की दृष्टि से तो वह प्रसुप्त ही रहा। यानी ज्ञान की बौद्धिक चेतना के आगे वह सम्बोधिक चेतना के स्तर पर नहीं पहुँच सका। बुद्धि के स्तर पर जो ज्ञेय है, वह ज्ञान की अन्तिमता नहीं है। परमार्थ बौद्धिक स्तर पर एक विशेष अर्थ में भले ही 'अज्ञेय' हो किन्तु उसकी उपस्थिति की बोध हमें स्पष्ट रूप से होता है। अतः, वह नितान्त अज्ञेय नहीं है। राधाकृष्णन् की दृष्टि में, "एक विशेष सन्दर्भ में परमसत्ता को अज्ञेय कहना भी उसके उच्च स्तरीय ज्ञान का स्वीकारण है, जो सामान्य ज्ञान के आयाम से भिन्न सम्बोधिक ज्ञान के आयाम में साक्षात् अनुभूत होता है।[१] परम सत्ता की अज्ञेयता इस बात की चुनौती है कि हम अपनी बुद्धि की सीमा पहचाने और स्वातिक्रमण की प्रक्रिया से ज्ञान के उस बन्द आयाम को खोल दें, जिसमें प्रवेश करते ही परम तत्त्व अनुभूत होने लगता है। काण्ट के अज्ञेयवाद के खण्डन में कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य का तर्क है : "सत्ता की अचिन्त्यता इस बात की स्पष्ट चुनौती है कि हम उस आयाम का पता लगायें, जिसमें उसका साक्षात्कार किया जात सके।"[२]

काण्ट का अज्ञेयवाद अन्तर्विरोधों से ग्रस्त है। यदि परमार्थ अज्ञेय है तो वह किस आधार पर अज्ञेय कहा जा सकता है ? तत्त्व को अज्ञेय कहने का आशय है कि हमें उसके बारे में कम-से-कम इतना ज्ञान अवश्य है कि वह है। एक ओर काण्ट यह दावा करता है कि स्वलक्षण वस्तुएँ (Things in themselves) अज्ञेय हैं और दूसरी ओर वह यह स्वीकार करता है कि स्वलक्षण वस्तुएँ स्वसंवेदनों के कारण हैं। यह कथन आत्मविरोधी है। अतः काण्ट के आलोचकों के इस तर्क में बल है कि पारमार्थिक स्वलक्षण सन्देहास्पद नहीं हैं, अपितु, उनका बौद्धिक प्रतिमान (Intellectual Intuition) संभव है। हेगल का तर्क है कि परमसत् को अज्ञेय कहने का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ है कि 'अज्ञेय' में अस्तित्व की कोटि को काम में लाया गया है। इस दृष्टि से अज्ञेय भी ज्ञेय हो जाता है। काण्ट का यह बचाव असंगत है कि 'अज्ञेयवाद' मानव ज्ञान की सीमा की ओर निर्देश है। यहाँ ज्ञान नहीं, अपितु ज्ञान की सीमा का बोध कराया जा रहा है। इसके प्रत्युत्तर में हेगल का कहना है कि 'ज्ञानसीमा' भी सीमा का ज्ञान है, न कि ज्ञान का अभाव। सीमा को जानने से ध्वनित होता है कि सीमा के परे भी कोई चीज है : "To know the limit is to know what is beyond the limit." 'अज्ञान' और 'अज्ञेय' में अन्तर है। 'अज्ञान' सिद्धान्ततः ज्ञेय है। यथा : मंगल ग्रह पर जीव हो सकते हैं। कैन्सर के रोग का उपचार अज्ञात है किन्तु अज्ञेय नहीं है। यदि तत्त्व है तो वह सिद्धान्ततः ज्ञेय है, वह भलेही अभी अज्ञात है। जो है, उसे अज्ञेय कहना असंगत है। चूँकि परम सत् के प्रति संभावना-असंभावना या अनस्तित्व की कोटि काम में लायी जा रही है, अतः वह संदिग्ध न होकर ज्ञेय है। जो चिन्त्य है, वह ज्ञेय भी है : "Thought and thing, knowing and being are identical."

यदि काण्ट ने अनुभवातीत तत्त्व को स्वीकार किया है और साथ ही यह अनुभव भी किया है कि वह सामान्य ज्ञान की दृष्टि से 'अज्ञेय' है तो उसे केवल अज्ञेय मान लेना ही पर्याप्त नहीं है। वस्तुतः इस स्थिति को हमें एक चुनौती के रूप में स्वीकार करना चाहिए और इस बात के लिए प्रतिबद्ध होना चाहिए कि हम बोध के उस आयाम को जान लें, जिसके अन्तर्गत यह अभिगम्य होगा। दुर्भाग्यवश काण्ट ने इस चुनौती को स्वीकार नहीं किया। परन्तु इस चुनौती को स्वीकार करते हुए भट्टाचार्य ने काण्ट की ज्ञानमीमांसा को एक नया मोड देने का प्रयास किया है। भट्टाचार्य विषयनिष्ठ बोध को ही अन्तिम नहीं मानते। इस बोध का अपना स्वभाव है और इस स्वभाव से उद्भूत सीमाएँ भी हैं। यहाँ प्रामाणिकता का एक निश्चित अर्थ होता है। इसे व्यावहारिक जीवन में हम अन्तिम मान लेते हैं और प्रमाणातीत बोध को संशय की परिधि में बन्द करके पलायन कर जाते हैं। तर्कशास्त्र इसी प्रामाणिकता से सम्बद्ध है। परन्तु तर्कशास्त्रीय प्रामाणिकता से भिन्न प्रामाणिकता का एक अन्य रूप भी है, जो स्वतःसिद्ध सत्यों में अभिव्यक्त होता है। प्रामाणिकता का यह स्वतःसिद्ध रूप तार्किक प्रामाणिकता से श्रेष्ठ है, क्योंकि जिस सत् को वह अपनी परिधि में लाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, उसका निराकरण संभव नहीं है। इस सन्दर्भ में भट्टाचार्य का कथन है : "जब तक किसी भी वस्तु के बारे में वार्तालाप सम्भव है और उसमें विश्वास व्यक्त किया जा सकता है तब तक उसे केवल इस कारण नितान्त अज्ञेय नहीं कहा जा सकता है कि वहाँ पर यथार्थ ज्ञान की किसी अनिवार्य स्थिति का अभाव है।"[३] पुनश्च, "जो ज्ञान प्राप्त है, उसमें संदेह व्यक्त करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। यानी 'अज्ञेय' की ज्ञेयता के विषय में संदेह व्यक्त करने का हमें कोई अधिकार नहीं है।"[४] किसी भी वस्तु को अज्ञेय जानने का अर्थ यह है कि हम उसकी ज्ञेयता की स्थितियों को मालूम करें। यदि इन स्थितियों का वहाँ अभाव है तो वह वस्तुतः हमारे लिए एक चुनौती है कि हम अपनी ज्ञानमीमांसा को दोहराए। इसका यह आशय कदापि नहीं है कि हम अज्ञेय के उस ज्ञान को ही संशयात्मक मानना अस्वीकार कर दें, जिसने उस चुनौती को प्रस्तुत किया है। अनुभवातीत तत्त्व को बोध की व्यापक परिधि में लाने का प्रयास करना चाहिए। अज्ञेय होते हुए भी ऐसे तत्त्व हैं, जिनमें 'विश्वास' करना हमारी ज्ञानमीमांसीय विवशता है। दुर्भाग्यवश काण्ट 'विश्वास' को बोध के उच्च आयाम के रूप में अंगीकार नहीं कर सके। एक यथार्थवादी की भाँति उन्होंने इन्द्रियानुभविक ज्ञान को ही बोध के एकमात्र आयाम के रूप में स्वीकार किया। यही कारण है कि जो तथ्य इस आयाम के अन्तर्गत स्वीकृत न हो सके, उन्हें काण्ट ने 'अज्ञेय' घोषित कर दिया। यही काण्ट का ज्ञानमीमांसीय पलायनवाद है।

यथार्थवादी केवल विषयनिष्ठ और विषयिनिष्ठ ज्ञेयता को ही एकमात्र ज्ञेयता स्वीकार करता है। परन्तु अध्यात्मवादी दृष्टिकोण इससे भी आगे जागतिक ज्ञान की पृष्ठभूमि में विद्यमान तथ्यों को अनावृत्त करने में ज्ञान की श्रेष्ठता मानता है। इन तथ्यों के अभिगम्य होने से यथार्थवादी दृष्टिकोण नये अर्थ में अभिरंजित हो उठता है। परन्तु इस विशेष अर्थ एवं ध्वनि को पूर्वाग्रहों के कारण काण्ट उसकी समग्रता में ग्रहण नहीं कर सके। ये तथ्य सामान्य बोध के अर्थ में ज्ञेय न होते हुए भी बोध के एक भिन्न आयाम में अनुभूत होते हैं। विषयों में संशय की संभावना है। परन्तु उनकी पृष्ठभूमि के रूप में मूल सत्ता के विषय में चिह्नन करने से संशय की तनिक भी गुंजाइश नहीं रह जाती। ज्ञान तभी असंदिग्ध हो सकता है, जब विषयों के मूल का बोध हो जाय। सभी विषयों के ज्ञान की पृष्ठभूमि के रूप में वह सत्ता है, जिसकी ओर हमारी दृष्टि ही नहीं जाती। इसका कारण है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम ज्ञान के सतही धरातल पर ही संतुष्ट रहते हैं और ज्ञान के इस निम्न आयाम का हम अतिक्रमण ही नहीं करना चाहते। ब्रैडले का यह कथन एक सीमा तक उपयुक्त है कि 'पूर्ण ज्ञान' बनने के लिए विचार को आत्महत्या करनी होगी : "Thought must commit suicide in order to become whole." साधना के माध्यम से जब हम सम्बोधित चेतना के स्तर पर पहुँचते हैं तो परम अनुभूति में सभी संशय शान्त हो जाते हैं। ''उसको जानने के बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता है''[५] यह समस्त आनुभविक चिन्तन का आधारभूत सत् है। इसीलिए भट्टाचार्य ''वर्तमान सन्दर्भ में एक 'नवीन तर्कशास्त्र' (Logic of the Infinity) की संभावना को स्वीकार करते हैं। उनका विश्वास है कि तर्कशास्त्रीय जगत् में यह स्वीकृति क्रान्ति स्वरूप है। पाश्चात्य चिह्नन में इस प्रकार की संभावना को किसी भी दार्शनिक ने इतनी स्पष्टता से स्वीकार नहीं किया है।''[६]

काण्ट की धारणा है कि सामान्य ज्ञान की परिधि में आने के कारण 'संवृत्ति सत्ता' ज्ञेय है और सामान्य ज्ञान की परिधि में न आने के कारण 'पारमार्थिक सत्ता' अज्ञेय है। ज्ञान के इस साधारण आयाम में जो सत्ता अपने की व्यक्त न कर सके, वह एक सार्थक अर्थ में अज्ञेय है। परन्तु ज्ञान के चेतना के साधारण आयाम से भिन्न अन्य आयामों की संभावना को नकारा नहीं जा सकता। इसकी उपेक्षा करके काण्ट ने अपनी ज्ञानमीमांसा को अपूर्ण बना दिया है। ज्ञान की पूर्णता के लिए जरूरी है कि अद्वैतवाद के आधार पर इन्द्रियानुभूतिक सीमाओं को प्रकाशित किया जाय और अपरोक्षानुभूति की महत्ता के विषय में समझ विकसित की जाय। अपरोक्षानुभूति 'सत्' का सही प्रकाशन है - सत् और अनुभूति का अद्वैत है। यह निर्विकल्पक अनुभूति सामान्य ज्ञान की भाषा में अनभिव्यक्त है। ज्ञान और अनुभूति का अद्वैत न स्वीकार करने के कारण काण्ट ने परमार्थ की यथार्थता को सन्दिग्ध बना दिया है। वास्तविकता यही है कि पारमार्थिक सत्ता की अभिगम्यता ज्ञान की चेतना के साधारण धरातल पर संभव नहीं है।

काण्ट की दृष्टि में ज्ञाता और ज्ञेय की विशेषताएँ परिभाष्य हैं। संवृत्तिशास्त्र में ज्ञान की इस चेतना को 'चेतना की विषयापेक्षा' कहते हैं। आन्तरिक अनुभूति की ओर उन्मुख होने पर ज्ञान की सामान्य विशेषता से भिन्न एक अन्य विशेषता उभरती दिखायी देती है, जिसे राग-द्वेष या हर्ष-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषाद के रूप में देखा जा सकता है। क्रोचे ने ठीक ही कहा है : "अपूर्व का बोध बुद्धि नहीं करा सकती। सर्जनात्मक या सौन्दर्यात्मक अनुभूति में उस अपूर्व का सीधे साक्षात्कार होता है और एहसास तक नहीं होता कि हम कुछ जान भी रहे हैं।" जैसे-जैसे हम अन्तर्मुखी होते जाते हैं वैसे-वैसे 'ज्ञाता-ज्ञेय' की पारदर्शिता बढने लगती है। फिर उनकी सीमा-रेखा बनाये रखना कठिन हो जाता है। अतिशय प्रेम में प्रेयसी-प्रियतम दोनों घुल कर एक हो जाते हैं : "प्रेम गली अति साँकरी तामे दो न समाय।" अन्तस् तक हिला देने वाली यह अनुभूति एक अपूर्व अद्वैत में रूपान्तरित हो जाती है, जहाँ ज्ञान और सत् एक हो जाते हैं : "एक मूर्ति आधे में राधा आधे में हरि पूरे।" फिर कौन ज्ञाता और कौन ज्ञेय ? यदि जीवन के अनुभूति प्रधान पक्ष का अध्ययन गहराई से किया जाय तो 'ज्ञाता-ज्ञेय' की सीमा-रेखा स्वतः तिरोहित होती जाती है। ज्ञान की दृष्टि से मनुष्य में अपरिमित क्षमता है जो उसे बुद्धि के आगे बोधि तक पहुँचा देती है।

ज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था में सर्वप्रथम विषय का ज्ञान होता है। तत्पश्चात् 'विषय की संभावना' के स्वरूप पर विचार होता है और अन्त में सारे विषयों से हटकर 'विषयी' पर विचार केन्द्रित होता है। इस दृष्टि से यथार्थवाद और प्रत्ययवाद दोनों गलत हैं, क्योंकि वे किसी-न-किसी रूप में 'ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत' को बनाये रखना चाहते हैं। सर्वप्रथम यह द्वैत शरीर के स्तर पर व्यञ्जित होता है। अपने प्रथम रूप में वह अन्य विषयों की भाँति एक विषय मात्र है और द्वितीय रूप में वह ज्ञाता बनकर स्वयं अपने वस्तु रूप से अपने को पृथक् कर लेता है। ज्ञाता की इस प्रथम अभिव्यक्ति को भट्टाचार्य 'दैहिक विषयिनिष्ठता'(Bodily Subjectivity) कहते हैं। तत्पश्चात् चेतना मानसिक वृत्तियों के संघात से ज्ञाता रूप में एकीकृत हो जाती है। ज्ञाता के इस स्वरूप को भट्टाचार्य 'मानसिकीय विषयिनिष्ठता' (Psychical Subjectivity) कहते हैं। ह्यूम ने ज्ञाता के इसी रूप को अन्तिम माना है और आत्मा को मात्र मनःवृत्तियों का संघात कहा है। इन मनःस्थितियों की पृष्ठभूमि में उन्होंने किसी स्थायी तत्त्व की कल्पना अनुचित माना है। वास्तव में चेतना का यह अन्तिम रूप नहीं है। यहाँ ज्ञाता ज्ञेय की अपेक्षा करता है। परस्परापेक्षी होने के नाते ज्ञाता-ज्ञेय में से कोई भी एक तत्त्व अन्तिम नहीं हो सकता। अधिष्ठान स्वरूप वह तत्त्व न तो ज्ञाता है और न ही ज्ञेय। वह वास्तव में 'विषयिनिष्ठ विषयनिष्ठ चेतना'(Trans-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Subjectivity-Objectivity) का अतिक्रमण करने वाली आध्यात्मिक चेतना है, जिसे भट्टाचार्य ने 'आध्यात्मिक विषयनिष्ठता' की संज्ञा दी है। इस परम तत्त्व का निषेध कथमपि संभव नहीं है। यह प्रश्न उठ सकता है कि वह क्यों असंदिग्ध है ? प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि निषेधकर्ता के विलय के पश्चात् कौन संदेह करेगा और किस वस्तु पर संदेह करेगा ? चेतना विषयों से और अन्ततः अपने ज्ञाता स्वरूप से भी अपने को मुक्त कर लेती ही है और इस विमुक्ति में ही उसकी स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता चेतना या आत्मा की स्थायी प्रकृति है।

यथार्थवादी और प्रत्ययवादी दोनों परम सत् के स्वरूप के साथ न्याय नहीं कर पाते हैं, क्योंकि वे 'ज्ञाता-ज्ञेय' के द्वैत को ही अन्तिम मानते हैं। यथार्थवादी विषयों में केन्द्रित रहता है और प्रत्ययवादी चेतना के ज्ञाता स्वरूप को ही अन्तिम मान लेता है। परम सत् इन दोनों रूपों से भिन्न है। अतः सम्बन्धात्मक चेतना के माध्यम से उसे अभिव्यक्त करना उचित नहीं है। हेगल का परम चैतन्य भी किसी-न-किसी रूप में 'ज्ञाता-ज्ञेय' की सम्बन्धात्मक चेतना की ओर निर्देश करता है। जो सम्बन्धात्मक चेतना के माध्यम से ज्ञेय है, वह अन्तिम सत् नहीं है। परम सत् का एहसास तभी होगा, जब व्यावहारिक दृष्टि का परित्याग होगा। संबधात्मक चेतना ही ज्ञान का सर्वस्व नहीं है। यह दुर्भाग्य है कि ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा दोनों 'ज्ञाता-ज्ञेय' की सम्बन्धात्मक चेतना को छोडने के लिए तैयार नहीं है। परम सत्ता किसी भी रूप में बौद्धिक प्रक्रिया के अन्तर्गत नहीं आ सकती। आखिर विषयों को अर्थ प्रदान करने वाला 'विषयी' अर्थहीन कैसे हो सकता है ? वह एक सार्थक व्याख्येय है और स-अर्थक सत्ता से भिन्न है। इसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति सर्वनामों (मैं, तुम तथा वह) के माध्यम से संभव है। इसके अर्थ की सार्थक चर्चा संभव नहीं है। यह एक ऐसी अपूर्ण सत्ता है, जिसे अर्थों का बाना पहनाया ही नहीं जा सकता। तब क्या यह सत्ता अज्ञेय है ? प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि सामान्य अर्थों में ज्ञेय एवं स-अर्थक न होते हुए भी यह एक अनुभूत सत्ता है, जिसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ही संभव है। वस्तुतः वह एक ऐसी सत्ता है, जो मूलतः अविशिष्ट (Unspecified) है। वह अनभिव्यक्त इस अर्थ में कि जिन प्रतीकों में उसकी अभिव्यक्ति होती है, उनसे वह अपना पार्थक्य सदैव बनाये रहती है। 'विषयी' एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में 'विषयों का अधिष्ठान' है। विषयों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को अर्थ से संयुक्त करने वाला 'तत्त्व' उन विषयों के समकक्ष कैसे हो सकता है? काण्ट ने इस अपूर्व तत्त्व को 'अनुभवातीत आधार' शब्द से व्यक्त किया है। वस्तुतः 'विषयी' स्वयं अपने में ही 'ज्ञेय' है। अर्थात् वह सामान्य अर्थ में 'ज्ञेय' न होते हुए भी सर्वथा अनुभूत है और प्रक्षेपित सत्ताओं से तटस्थता की अनुभूति में ही उसकी तात्त्विक यथार्थता है।

विषयों की सत्ता में संदेह किया जा सकता है और उसका निराकरण संभव है, किन्तु 'विषयी' की सत्ता का निराकरण किसी भी स्थिति में संभव नहीं है। 'स्वीकरण-निराकरण' शब्द की सार्थकता 'विषय-जगत्' में ही संभव है। परन्तु वह तत्त्व, जो निराकरण की पृष्ठभूमि में विद्यमान् है, उसका निराकरण किस प्रकार और किसके द्वारा संभव है ? उसे 'अचिन्त्य' कहना भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि 'अचिन्त्य' शब्द का प्रयोग उस सत्ता के लिए किया जा सकता है, जिसमें निराकरण का प्रयास संभव है और जो इस प्रयास के पश्चात् ही 'अचिन्त्य' ठहराई गयी है। परन्तु 'विषयी तो एक ऐसी सत्ता है, जिसके निराकरण की कल्पना और प्रयास दोनों ही असंभव है। वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण के परित्याग के उपरान्त ही यह आशा की जा सकती है कि हम 'अन्तर्निरीक्षण' द्वारा सत् का यथार्थ स्वरूप प्राप्त कर सकेंगे। वस्तुवादियों के 'अर्थबोध' और रहस्यवादियों के 'अन्तर्बोध' दोनों से यह अनुभूति निश्चित ही भिन्न है। इन दोनों के मध्य आने वाला वह विशेष बोध है, जिसे 'विश्वास' शब्द से व्यक्त किया जा सकता है। 'विश्वास की विश्वसनीयता' सामान्य बोध की विश्वसनीयता से श्रेष्ठ है। वह एक ऐसी विश्वसनीयता को व्यञ्जित करता है, जो अखण्डनीय है और तार्किक प्रामाणिकता के अन्तर्गत आनेवाला तथ्य नहीं है। इस सन्दर्भ में भट्टाचार्य का कथन है : "वह एक व्याख्येय अन्तर्विषय में विश्वास रखनेवाली चेतना है, जिसका निषेध कोई अर्थ नहीं रखता और इसी कारण जो स्वयं कोई अर्थ नहीं है।"[७] यह ऐसा सौम्य विश्वास है, जिस की सर्जना अपरिमित और आशा अमर है।

अनुभवातीत तत्त्वों की ओर उन्मुख होते हुए भी काण्ट उन तत्त्वों और उनसे सम्बद्ध तथ्यों को उचित रूप में प्रस्तुत नहीं कर सके। अनुभवातीत तत्त्वों में अतिशय महत्त्वपूर्ण 'विषयी' को उन्होंने 'अज्ञेय' घोषित कर दिया। यही उनमें दर्शन की सबसे बडी भूल थी। काण्ट विषयानिष्ठ दृष्टिकोण का सम्पूर्णतः परित्याग करने में सफल नहीं हुए। उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञानमीमांसा आध्यात्मिक मनोविज्ञान की एक भूमिका मात्र बनकर रह गयी। भट्टाचार्य की दृष्टि में, ''काण्ट की रुचि मूलतः 'नालेज ऑव आब्जेक्ट' में प्रयुक्त 'ऑव' शब्द के अर्थ में ही केन्द्रित रह गयी। सामान्य रूप से ज्ञेय न होते हुए भी काण्ट ने उन्हें बोध की व्यापक परिधि में लाने का प्रयास नहीं किया। अनुभवातीत तत्त्वों को बोध की व्यापक परिधि में लाया जा सकता है, जिसे 'विश्वास का सम्बोधिक आयाम' कहना सार्थक होगा। 'अज्ञेय' कह देना अपने आप में ज्ञानमीमांसीय पलायनवाद है। काण्ट को इसके लिए प्रतिबद्ध होना चाहिए था और बोध के उस उच्च आयाम को खोलना चाहिए था, जिसमें उसकी अभिगम्यता संभव है। रचनात्मक प्रक्रिया के माध्यम से प्रत्येक विषय आन्तरिक रूप से विषयी से सम्बद्ध रहता है। इस आन्तरिक सम्बद्धता के पक्ष को विषयों के ज्ञेय पक्ष की भाँति जाना नहीं जा सकता। परन्तु इस अर्थ में ज्ञेय न होते हुए भी उसकी तथ्यात्मकता के विषय में संशय नहीं है। 'अज्ञेय' होना ही उसकी ज्ञेयता है। यह विशुद्ध विचार (Pure Thought) है। विश्वास के पश्चात् जिस ज्ञान का अवतरण होता है, वहाँ विषयी में 'शुद्ध विचार' का बोध होता है। यह विश्वास परिभाषा में अपरिभाष्य और अभिव्यक्त में अनभिव्यक्त है। 'विशुद्ध विचार' विषयनिष्ठ न होने पाये, एतदर्थ सजग रहने की जरूरत है।

सत्तात्मक अनुभूति भावात्मक है, किन्तु उसमें विषयनिष्ठता का नितान्त अभाव है। इस अनुभूति के अन्तर्विषय को किसी भी रूप में अर्थ नहीं प्रदान किया जा सकता है। अनुभूति और उसके विषय में एक अपूर्व तादात्म्य है। वह वैधता का एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में अतिक्रमण करनेवाली सत्ता है। यह वह अन्तर्निरीक्षण है, जिसका पुनः अन्तर्निरीक्षण नहीं किया जा सकता। वह स्वतःसिद्ध सत् है, जिसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति सर्वनामों के माध्यम से होती है। वह सर्वनामों की अर्थवत्ता से भी असम्बद्ध है। सर्वनाम 'सत्' को केवल व्यञ्जित करता है, उसको कोई अर्थ नहीं प्रदान करता। सर्वनाम का सम्बन्ध अर्थवत्ता से न होकर 'अर्थ कार्य' से है। अर्थवत्ता से मुक्त होकर ही वह सत्ता की प्रतीतात्मक अभिव्यक्ति करने में सफल होता है। सर्वनाम में सत्ता स्वतः मूर्तिमान हो उठती है और सत्ता की उपस्थिति से सर्वनाम सजीव हो उठता है। इस सन्दर्भ में भट्टाचार्य का कथन है : ''अपने को 'मैं' कहने वाला वक्ता शब्द के अर्थ से नहीं, अपितु, स्वयं उस शब्द से समझा जाता है।''[८] 'मैं' सर्वनाम अपनी अर्थवत्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के समर्पण के पश्चात् ही सार्थक बनता है। जब शब्द प्रतीक तथा सत्ता में तादात्म्य स्थापित हो जाता है तो ज्ञानमीमांसीय द्वैत अपूर्व अद्वैत में परिणत हो जाता है। साधारण ज्ञान के अर्थ में 'निर्विकल्प' में कभी भी सुनिश्चिता नहीं आती है। परन्तु इस कारण से निर्विकल्प महत्त्वहीन नहीं हो जाता। वह सुनिश्चित बोध का अनुभवातीत निर्धारक है और इसी कारण स्वतः सिद्ध सत्यों के रूप में उसकी गणना की जाती है। साधारण स्तर पर सत्यापनीय न होते हुए भी वह अज्ञेय की भाँति ज्ञेय और अनिश्चित की भाँति निश्चित है : "Known as unknown and definite as indefinite"

डा. दुर्गादत्त पाण्डेय
रीडर
दर्शन विभाग
ग. स. पी. जी. कॉलेज
सुलतानपुर (उ.प्र.)

टिप्पणियाँ

१. राधाकृष्णन्, **आइडियलिस्ट व्यू ऑव लाइफ**, पृ. ४५
२. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, **सब्जेक्ट एज फ्रीडम**, पृ. ४६
३. वही, पृ. ७९
४. वही, पृ. ७९
५. **बृहदारण्यक उपनिषद्** २/४/१३
६. **समकालीन भारतीय दर्शन**, सं. श्रीमती लक्ष्मी सक्सेना, उ.प्र. हिन्दीसंस्थान, लखनऊ, पृ. २६२
७. "It is the believing awareness of a speakable content, the negation of which is unmeaning and which therefore is not a meaning" - **Subject as Freedom**, p. 18
८. वही, p. 172

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY PUBLICATIONS

Daya Krishna, A. M. Ghose (eds), Contemporary Philosophical Problems: Some Classical Indian Perspectives, Rs. 10/-

S. V. Bokil (Tran.) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A. P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi(ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A. M. Ghose and P. K. Srivastav (eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale (eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs. 50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs. 25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs. 30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs. 100/-

Contact:

The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Pune,
Pune - 411007

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्ववाद, सार्त्र और मानव-व्यक्ति

अस्तित्ववाद समकालीन चिन्तन की एक महत्त्वपूर्ण विचारधारा है जो एक ऐसी मिश्रित चिन्तनधारा का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें दार्शनिकों, मनोविज्ञानिकों, साहित्यकारों, तथा अन्य कोई विधाओं में संवेदनशील चिन्तकों ने योगदान दिया है। अस्तित्ववाद की यह विविधता ही इसकी जीवन्तता का प्रमाण है। विश्वयुद्धों के बाद तत्कालीन चिन्तनधारा में मानव अस्तित्व के प्रति एक ममत्व का उभार देखने को मिलता है। यह अमूर्तवादी, निरपेक्षवादी चिन्तनधारा के विरोध का प्रतिफलित रूप है। ऐसा विरोध दर्शन, धर्म, साहित्य तथा चिन्तन की अन्य विधाओं में भी मुखर प्रतीत होता है। वैयक्तिक सत्ता पर बल, व्यक्ति की अस्तित्ववादी परिस्थितियों के बोधक कारक, मानव अस्तित्व की मूल संरचना का मूल स्वर, वैयक्तिक अस्तित्व की चेतना एवं व्यक्ति की अनिवार्य स्वतंत्रता में निहित होना, स्वेच्छाचारिता और बौद्धिक एवं सामाजिक शक्तियों से उत्पन्न स्वतंत्रता की आपतिकता का विरोध एवं मानव व्यक्ति द्वारा स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन जीने को अस्तित्ववाद रूपायित करता है।[1] इसकी मान्यता है कि स्वेच्छाचारी दबाव के कारण व्यक्ति-व्यक्ति के भाव विनष्ट हो जाते हैं एवं अस्तित्व की अनुभूति में अर्थहीनता का भाव होने लगता है। दर्शन का वास्तविक रूप यहाँ व्यक्ति के जीवन एवं अनुभूति की व्याख्या में निहित माना गया है। इस दृष्टि से अस्तित्ववाद एक जीवनदर्शन का प्रतीक है एवं विश्वासयोग्य है। अस्तित्ववाद मानव जीवन में व्याप्त वैसे समस्त विचारों का विरोध करता है जो मूर्त से दूर कोरी तार्किकता में आस्था रखते हैं तथा व्यक्ति के महत्त्व को महत्त्वहीन कर देते हैं। यह मानव अस्तित्व, मनुष्य की स्वतंत्रता तथा उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन की वापसी में आस्था रखता है। इस दृष्टि से यह जीवन के सम्बन्ध में बातें करने की अपेक्षा जीवन जीने की प्रेरणा देता है।

अस्तित्ववाद का विचार विभिन्नताओं का केन्द्र बना हुआ है। इसे एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में बाँधना अत्यन्त ही कठिन है फिर भी अस्तित्ववादी चिन्तनधारा में कुछ ऐसे सामान्य विचार देखने को मिलते हैं

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २२ अंक ४, सितम्बर २००१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिनके आधार पर अस्तित्ववाद के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं की सार्थक व्याख्या की जा सकती है। अस्तित्ववाद समकालीन युग की असुरक्षा एवं नैराश्य के वातावरण में मानवअस्तित्व को पुनर्स्थापित करने का एक क्रान्तिकारी और भावात्मक प्रयास है। जे. सी. मिद्वालिच ने अस्तित्ववाद को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यह व्यक्ति के वैयक्तिक स्वरूप पर बल देता है तथा यह बताता है कि सत् का साक्षात्कार व्यक्ति अपनी आशाओं, आकांक्षाओं तथा समस्याओं के बीच ही कर पाता है।[३] फर्नान्डो मोलिन्स ने अस्तित्ववाद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि इसका उद्देश्य मनुष्य को जगत् में साक्षीदार बनाकर उसकी अनुभूति कराना है, इसलिए अस्तित्ववादी दर्शन का मुख्य प्रयोजन "मनुष्य के अस्तित्व की मूल संरचना की व्याख्या करना तथा मूलतः उसके स्वतंत्र अस्तित्व का बोध कराना है।"[४] डेविड ई. राबर्ट के अनुसार, "यह विचारधारा उन बौद्धिक तथा सामाजिक शक्तियों के विरुद्ध एक संघर्ष है जो मानव स्वतंत्रता को बाधित और विनष्ट करती है।"[५]

उपर्युक्त सभी विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्ववाद सभी प्रकार के अमूर्त चिन्तन का विरोधी विचार है। यह इस बात पर बल देता है कि दर्शन को व्यक्ति के जीवन तथा अनुभवों से सम्बन्धित होना चाहिये जिन ऐतिहासिक परिस्थितियों में वह अपने आपको पाता है। यह अमूर्त चिन्तन के बजाय जीवनपद्धति है। दर्शन को ऐसा होना चाहिए जो जीवन्त रह सके।[६] अस्तित्ववाद मानवीय वास्तविकता का दर्शन है। इसके अनुसार मानव-वैशिष्ट्य का, उसके जगत् से अलगाव का किसी सामान्य सूत्र में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। सिद्धान्तों के माध्यम से मानवीय अस्तित्व की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास मताग्रह है, मानवीय वास्तविकता का मिथ्याकरण है। वस्तुतः मानवीय व्यवहार को किसी सामान्य सूत्र द्वारा सीमित अथवा नियंत्रित नहीं किया जा सकता। उसका अपना व्यवहार भी उसकी वास्तविकता को परिसीमित नहीं कर सकता क्योंकि मनुष्य अपने ही व्यवहार द्वारा निरन्तर अपना निर्माण करता रहता है।

दर्शन का इतिहास मनुष्य के जीवन में सम्बद्ध प्रश्नों का वस्तुगत, सामान्य तथा सुनिश्चित उत्तर की तलाश का इतिहास है, किन्तु अस्तित्ववाद के अनुसार दर्शन का मुख्य कार्य सुनिश्चित उत्तर की खोज नहीं है। दर्शन का मुख्य कार्य मनुष्य को अपने अस्तित्वगत समस्या के प्रति सचेत करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तथा उसकी वस्तुगत उत्तरों की भ्रामक तलाश करने की प्रवृत्ति को रोकना है। अस्तित्ववाद के अनुसार दर्शन का कार्य विज्ञानवाद, वस्तुवाद तथा भौतिकवाद की तरह न तो जगत् की व्याख्या करना है और न मार्क्सवाद की तरह उसमें परिवर्तन लाना है। इसका उद्देश्य मनुष्य को जगत् में साक्षीदार बनाकर उसकी अनुभूति कराना है, इसीलिये अस्तित्व की मूल संरचना की व्याख्या करना तथा मूलतः उसके स्वतंत्र अस्तित्व का बोध कराना है। इसके अनुसार अस्तित्वगत समस्यायें विचार की समस्यायें नहीं वरन् क्रिया के विषय हैं। क्रिया के द्वारा ही मनुष्य इन समस्याओं का सामना करता है, उनको रूपान्तरित करता है। अपनी क्रियाओं द्वारा व्यक्ति एक संश्लेषण मूर्त, सामान्य एवं अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है। किन्तु वह अन्तिम लक्ष्य उसकी क्रियाओं का परिणाम है। वह पूर्व विद्यमान् नहीं है और न ही भविष्य का नियामक। उसका क्षेत्र हमेशा एक खुली संभावना है। एक क्षितिज के बाद दूसरा क्षितिज विद्यमान् होता है। मनुष्य अपने प्रयासों द्वारा निरंतर नये मूल्यों एवं लक्ष्यों की खोज करता रहता है। ऐसी कोई स्थिति नहीं है जहाँ पहुँचकर समस्त संभावनाओं की इति हो जाय।

अस्तित्ववाद को प्रायः व्यष्टिवादी दर्शन के रूप में ग्रहण किया जाता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इसका सामान्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। अलबर्ट कामू अपनी समस्त अतर्कबुद्धिपरता के बावजूद अपने असंगत तर्कों के लिये तर्क बुद्धि का सहारा भी लेते हैं। मार्ल पोन्टी हेगेल की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं।[७] सार्त्र भी अपनी अतर्क बुद्धिपरता तथा व्यष्टिवादिता के बावजूद "मनुष्य की एक सामान्यता" को स्वीकार करते हैं।[८] उनके अनुसार अपने कार्यों द्वारा मनुष्य अपने सार को निर्धारित तो करता ही है, साथ ही दूसरों का सार भी निर्धारित करता है। अपने व्यवहारों द्वारा व्यक्ति अपनी जो प्रतिमा बनाता है वह उसकी सर्वथा निजी प्रतिमा नहीं होती, वह सभी मनुष्यों की प्रतिमा होती है। यह मनुष्य का महान् अस्तित्वपरक उत्तरदायित्व है, इससे वह बच नहीं सकता।[९] किन्तु मनुष्य अपनी जो प्रतिमा बनाता है, उसका प्रत्याख्यान करने में भी वह समर्थ होता है। मनुष्य की यह विशिष्ट निषेधात्मक क्षमता है। वह जो कुछ है, उसने अपने को जो कुछ बनाया है, उससे वह अलग हो सकता है। अपने द्वारा अपने लिये निर्धारित सार का वह परित्याग कर सकता है। मनुष्य की यह निषेधात्मक क्षमता उसके स्वरूप की आन्तरिक संरचना में निहित है। इसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण मनुष्य निरंतर एक प्रश्न बना रहता है।

अस्तित्ववाद मुख्यतः व्यक्ति की निजता तथा स्वतंत्रता का दर्शन है। यह ज्ञान का नहीं क्रिया का दर्शन है। यह जीवन को सैद्धान्तिक कोटियों में बाँधने का नहीं अपितु उसे ''जीने'' का दर्शन है। यह व्यक्ति और उसके जीवन, उसकी कठिनाइयों और संघर्ष को समझने का प्रयास है। यह व्यक्ति के अस्तित्व और इसकी स्वतंत्रता को पहचानने का प्रयास है। अस्तित्ववाद को एक प्रतिक्रियात्मक सिद्धान्त के रूप में समझने का प्रयास यह स्पष्ट करता है कि यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसने विषम परिस्थितियों में व्यक्ति की मूक वेदना का अनुभव किया तथा उसे स्वर देने का समयोचित प्रयास किया। इसने प्रभुत्व एवं बाह्य अंकुशों का विरोध किया तथा बतलाया कि व्यक्ति अपने राजनैतिक, धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि सम्बन्धों में स्वतंत्रता और दायित्व से युक्त है। इसने विश्व के युवा वर्ग को अपनी स्वतंत्रता और दायित्व के सिद्धान्त से युक्त व्यक्ति के अन्दर पैठी हुई रिक्तता, अकेलापन, परायापन, आत्म-अलगाव, असुरक्षा, भय, पीडा, त्रास, मृत्यु, निराशा आदि की भावनाओं द्वारा इतनी गहनता और अधिकार के साथ प्रभावित किया की लेखकों, विचारकों तथा विद्यार्थियों को लगने लगा कि उनके जीवन की पीडा और रहस्य को इस दर्शन ने उद्घाटित कर दिया है। यह नई पीढी का दर्शन बन गया और इस नये जीवन दर्शन का जिस व्यक्ति-विशेष से नाम जुड गया उनमें सर्व प्रमुख हैं - ज्याँ-पाल सार्त्र।

सार्त्र के चिन्तन में हमें आधुनिक फ्रांसीसी बुद्धिजीवी का प्रतिरूप और उनकी तीक्ष्ण प्रतिभा का परिचय मिलता है। सार्त्र ने अपनी समकालीन स्थिति का अनुभव किया, उसे देखा, समझा और परखा तथा उसका विश्लेषण किया। परिणामतः उन्हें मानव समाज की ध्वंसात्मक और निषेधात्मक शक्तियों का परिचय मिला। सार्त्र जिस युग के फ्रांसीसी जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं और जिसके कारण अस्तित्ववाद के इतिहास में उनका विशिष्ट स्थान है, वह है आत्म-अलगाव का युग। फ्रांस के लोगों, विशेषकर बुद्धिजीवियों ने जिस संघर्ष, यातना और त्रास का जीवन जिया, वह अपने आपमें एक गाथा है। तानाशाहों के अमानवीय राज्य में क्रूरता और नृशंसता ने फ्रांस के लोगों को मृत्यु से साक्षात्कार करा दिया था। प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रत्येक क्षण मृत्यु का संदेशवाहक था। विश्वयुद्ध द्वारा उत्पन्न ऐसी परिस्थिति में आत्म-अलगाव अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति के लिये यह स्थिति ही स्वाभाविक स्थिति हो गई थी। वह स्वयं अपने प्रति पराया हो गया। यह आत्म-अलगाव की असह्य स्थिती थी जिसने सार्त्र के दर्शन को अस्तित्ववाद में एक विशिष्ट स्थान प्रदान कर दिया। सार्त्र के लिये आत्म-अलगाव भोगा हुआ कटुतम सत्य है। यह उनके दर्शन में जीवन्त अनुभव है, चिन्तन अथवा बौद्धिक विश्लेषण द्वारा प्राप्त तत्त्व नहीं है।

सार्त्र ने अपने अस्तित्ववादी दर्शन को स्वयं ही साँचे में ढाला। अपने प्रतिपाद्य का प्राध्यापकीय गम्भीरता के साथ विवेचन किया। उन्हें यह भी श्रेय देना होगा कि उन्होंने अस्तित्ववाद के तात्त्विक एवं मूलगत सिद्धान्त को सुसम्बद्ध रूप से समझाने का प्रयास किया है। निःसंदेह वे अस्पष्ट और अपरिचित शब्दावली का प्रयोग करते हैं, किन्तु उनके प्रतिपादन का ढंग ऐसा है कि उनका दर्शन सुगम हो जाता है। साथ ही सार्त्र ने अस्तित्ववाद का इतने जीवन्त और प्रभावशाली विधि से प्रतिपादन किया कि वह अत्यधिक लोकप्रिय बन गया तथा शिक्षित वर्ग इसके प्रति वेगपूर्वक आकर्षित हो गया। सार्त्र अपने युग की फ्रांसीसी युवा पीढी की अभिरुचि और वाद-विवाद का केन्द्र रहे हैं। यदि उनके कुछ प्रशंसक और भक्त हैं तो कुछ निन्दक एवं आलोचक। सार्त्र की विचारधारा को उपेक्षणीय सिद्ध करने के लिये इन आलोचकों ने उन्हें 'कॉफी हाउस का चिन्तक' तथा उनके दर्शन को 'कैफे फिलासफी' भी कहा। किन्तु सार्त्र की विचारधारा की इस भाँति उपेक्षा करना सम्भव नहीं था। यदि किसी विचारधारा का चिन्तन पुष्ट हो, उसमें मनुष्य के लिए दृढ अवलम्ब हो अथवा वह जीवन को प्रतिबिम्बित करता हो तो वह चिन्तन के इतिहास में अक्षुण्ण रहेगी। यही कारण है कि सार्त्र के चिन्तन को पर्याप्त स्वीकृति प्राप्त हुई है। वस्तुतः सार्त्र फ्रांसीसी परम्परा के एक प्रखर बुद्धिजीवी हैं। वे दार्शनिक हैं, मनोवैज्ञानिक हैं, नाटककार तथा उपन्यासकार हैं। इन सभी विषयों पर उनका समान अधिकार है। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसमें अर्थ और उद्देश्य की एकता है तथा "दर्शन" उस एकता का सूत्र है।

सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन के प्रथम केन्द्रीय विचारों में मानव अस्तित्व की प्राथमिकता के विवेचन का भाव है। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में 'मानव', 'व्यक्ति' तथा 'पुरुष' जैसे शब्दों का प्रयोग कर मनुष्य की व्याख्या का भरपूर प्रयास किया गया है। किन्तु अस्तित्ववादी विचारधारा में इसे और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुनिश्चित रूप देने के क्रम में 'मानव-व्यक्ति' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'मानव-व्यक्ति' शब्द 'मानव' तथा 'व्यक्ति' दो शब्दों से बना हुआ है। यहाँ 'व्यक्ति' शब्द का अर्थ 'वैयक्तिक सत्ता' से है जो सप्राण आत्मा या आत्म-चेतन सत्ता का बोधक है। इसी प्रकार 'मानव' शब्द उस आत्म-चेतन सत्ता के गुणों का बोधक है जो स्वभाव रूप में उनमें निहित है। अतः 'मानव-व्यक्ति' वैयक्तिक सत्ता के सम्पूर्ण स्वभाव का संकेतक है जो मनुष्य को समग्रता में उपस्थित करने में सक्षम है। सार्त्र ने मानव-व्यक्ति का जो स्वरूप निर्धारित किया है उसमें सार की अपेक्षा अस्तित्व की प्रधानता है। मनुष्य का सार या बुद्धिगम्य प्रकृति अस्तित्व से उत्पन्न होता है। अस्तित्व का साधारण-सा अर्थ है उपस्थित होना। उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती है। सार या प्रकृति उसी पर आधारित है। अस्तित्व ही उसे यथार्थता प्रदान करता है। मनुष्य की प्रकृति एक रहस्य-सा है। इसलिये मनुष्य की प्रकृति और उसका उद्देश्य स्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता है।[१०]

सार्त्र के अनुसार मानव-व्यक्ति का अस्तित्व संभावनाओं के कारण गतिशीलता और अपूर्णता एवं अधूरेपन को अपनाये हैं। मनुष्य तथा जगत् के सम्बन्ध को लेकर पारम्परिक दर्शन में दो विपरीत दृष्टिकोण पाये जाते हैं। एक दृष्टिकोण मनुष्य को भौतिक, सामाजिक तथा शारीरिक परिस्थितियों का परिणाम मानता है। यह दृष्टिकोण प्रकृतिवादी दृष्टिकोण है जिसे मुख्य रूप से प्राकृतिक विज्ञानों की मान्यता प्राप्त है। इसके अनुसार मानव जीवन पूर्णतया बाह्य कारणों द्वारा नियंत्रित है। इस प्रकृतिवादी दर्शन के विपरीत विज्ञानवाद में मनुष्य को वस्तु-योजना के केन्द्रीभूत सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मूल वास्तविकता भौतिक नहीं अपितु आध्यात्मिक है। चेतना का आविर्भाव भौतिक सत्ता से नहीं हुआ है अपितु उसकी एक स्वतंत्र कोटि है, अन्ततः वही सत् है। चेतना से ही समस्त जगत् निर्मित है तथा जो कुछ चेतनेत्तर है, वह आभास है। इस प्रकार प्रकृतिवाद तथा विज्ञानवाद दोनों ही में या तो वास्तविक मानवीय अस्तित्व पर विचार ही नहीं किया गया है अथवा उसको विकृत एवं मिथ्या रूप में प्रस्तुत किया गया है। दर्शन की वास्तविक समस्या व्यक्ति के वास्तविक अस्तित्व तथा अस्तित्वगत प्रश्नों के सम्मुख खडा करना है। इस दृष्टि से प्रकृतिवाद और विज्ञानवाद दोनों ही असंतोषप्रद सिद्धान्त हैं। सार्त्र वास्तविक मानव अस्तित्व पर बल देते हैं। वास्तविक मानव अस्तित्व का तात्पर्य जगत् में स्थित मानव अस्तित्व से है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य और जगत् का सम्बन्ध एक विषय और दूसरे विषय का सम्बन्ध नहीं है (प्रकृतिवाद)और न ही यह विषय और विषयी का सम्बन्ध है जिसमें विषय विषयी की रचना है (विज्ञानवाद), यह सम्बन्ध उस सत्ता का सम्बन्ध है जिसमें विषयी अपना शरीर है, अपना जगत् है तथा अपनी परिस्थिति है।[११] सार्त्र के अनुसार चेतना तथा उसके विषय मूलतः अस्तित्व के ही दो रूप हैं किन्तु उनमें एकता या संगति नहीं, पूर्ण पार्थक्य है। ज्ञान के स्वरूप की व्याख्या करते हुए सार्त्र चेतन विषयी और चेतना के विषय के भेद पर प्रकाश डालते हैं। एक ओर चेतन विषयी है और उसके साथ सहवर्ती आत्म-चेतना तथा दूसरी ओर विषय है। ज्ञान की दृष्टि से चेतन विषयी 'पोरसोई' है क्योंकि वह प्रत्येक चिन्तनशील आत्म-चेतना के प्रत्येक कर्म में अपने लिये अस्तित्व रखता है। यदि विषय को उन समस्त अर्थों, व्याख्याओं और संदर्भों से अलग कर दें जिनसे विषयी ने उसको युक्त किया है तो विषय एवं सत्ता स्वयं में 'एबसर्ड' है, निराधार, निरर्थक प्रलाप है। विषयी और विषय में मूलगत ध्रुवता का कारण निषेध का तत्त्व है। यदि विषय और विषयी में पूर्ण पार्थक्य है तो ज्ञान अथवा कर्म संभव नहीं है, अथवा किसी भी प्रकार की परात्परता सम्भव नहीं है तो फिर क्या सत्ता एक ऐसा द्वैत है जो असमाधेय है, जिसके एक ओर परिपूर्णता है और दूसरी ओर कोरा निषेध? सार्त्र के दर्शन में ऐसी कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती क्योंकि उनके अनुसार जो कुछ भी है, वह अस्तित्व है, सर्वत्र अस्तित्व ही है, हम स्वयं भी अस्तित्व है। न हमें जगत् की सत्ता सिद्ध करने की आवश्यकता है और न ज्ञान की प्रामाणिकता को सिद्ध करने की। ऐसे प्रयास निरर्थक होते हैं। मूलगत सत्य यह है कि अस्तित्व है, और दार्शनिक के रूप में हमारा कर्तव्य उसका अनुभव करना तथा उसकी सम्भावनाओं को स्पष्ट करना है।

सार्त्र के विचार का केन्द्र 'मानव-व्यक्ति अस्तित्व' है तथा उसका प्रारम्भिक बिन्दु अस्तित्व की प्रथम चेतना है। यह चेतना कोई सार्वभौम चेतना नहीं बल्कि हर व्यक्ति की अपनी चेतना है। इनके अनुसार मानव-अस्तित्व का अर्थ है - अस्तित्व की अनुभूति के साथ जीना। अतः स्वाभाविक रूप से इस प्रकार के विचार का ध्यान 'व्यक्ति' पर केन्द्रित है क्योंकि इस प्रकार की 'सामान्य' अनुभूति सम्भव नहीं है। अस्तित्व की प्रथम अनुभूति के साथ ही व्यक्ति को यह अनुभूति भी होती है कि वह एक 'परिस्थिति' (सिचुएशन) में है। यह प्राथमिक अनुभूति होती है कि उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी वैयक्तिकता का विकास भी उसकी 'वस्तुओं' की अनुभूति तथा उसकी 'अन्य की अनुभूति' से प्रभावित है। इस प्रकार उसके लिये अस्तित्व के तीन आयाम स्पष्ट होते हैं - वस्तु, वह स्वयं तथा अन्य। इन्हीं तीनों आयामों को ध्यान में रखते हुए सार्त्र मानव-व्यक्ति के अस्तित्व का विवेचन करते हैं।

सार्त्र के अस्तित्ववाद का केन्द्र मानव - अस्तित्ववान् व्यक्ति है। उनका अस्तित्ववाद अस्तित्वान् व्यक्ति की अनुभूतियों के माध्यम से मानव अस्तित्व की व्याख्या करता है। यह व्याख्या मानव की आत्मपरकता की व्याख्या है। उनके अनुसार मनुष्य पहले है, उसे आत्म-अस्तित्व की चेतना पहले होती है। इस चेतना के बाद उसमें भाव बनने की क्षमता आती है और तब वह मानव-भाव भी बना लेता है। किन्तु किसी भी प्रकार के भाव के पहले प्राथमिक रूप में उसे अस्तित्व की ही चेतना होती है। मानव ही एकमात्र सत्ता है जो हर प्रकर के भाव, विचार आदि से पहले है। वही एक सत्ता है जिसे अस्तित्व की पहले अनुभूति होती है तथा उसके बाद ही, इसी अनुभूति के अनुरूप, वह अपने को जीवन की योजनाओं में लगाता है। इस प्रकार जब सार्त्र अस्तित्व को भाव से पहले कहते हैं तो उनका तात्पर्य है कि वे अस्तित्व की अनुभूति को प्राथमिकता प्रदान कर रहे हैं। आत्मपरकता में विकसित यह अनुभूति वह प्राथमिक और प्रारम्भिक बिन्दु है जिसे वे अपने अस्तित्ववादी मानव चित्रण का आधार बनाते हैं। उनके अनुसार आत्मपरक चिन्तन में ही, मानवीय अस्तित्व की वास्तविक अनुभूति हो पाती है। इस आत्मपरकता में मानव अस्तित्व के उन पहलुओं का साक्षात्कार हो पाता है जो उसके अस्तित्व के अंग हैं।

सार्त्र के अनुसार आत्मपरक चिन्तन के फलस्वरूप मनुष्य के अन्तर में कुछ भावनात्मक स्व-वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं जो उसके जीवन, उसके अस्तित्व के अनिवार्य अंग के रूप में उभरती हैं। ऐसी स्ववृत्तियाँ, मनोदशाओं में कुत्सा (नासिया), असहायता या निरावलम्बता, नैराश्य, चिन्ता, परिताप, शून्यता,[१३] आत्म-प्रवंचना[१४] आदि हैं। सार्त्र के अनुसार ये सभी जीवन के वास्तविक तथ्य हैं जिनसे पलायन सम्भव नहीं है। ये सभी मानव अस्तित्व के अनिवार्य अंग हैं जिसकी अनुभूति आत्मपरकता में ही हो पाती है। मानव अस्तित्व में समाविष्ट इन सारे तथ्यों की अनुभूति मनुष्य की प्रामाणिकता, उसकी विशिष्ट मानवीयता के अनिवार्य उपकरण हैं। उनके दर्शन में ये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूतियाँ नकारात्मक नहीं हैं क्योंकि इन्ही अनुभूतियों के माध्यम से मानव का विशिष्ट मानवीय रूप निखरता है।

सार्त्र आत्मपरकता को मानव-व्यक्ति का सारतत्त्व मानते हैं। ये व्यक्ति को सच्चाई का सन्देश देते हैं। व्यक्ति को अपने यथार्थ में जीना चाहिये। उसे जो वह नहीं है, उसका दिखावा नहीं करना चाहिये। वर्तमान युग की औद्योगिक सभ्यता ने व्यक्ति को कृत्रिम यन्त्र बना डाला है। ऐसे व्यक्तियों को सार्त्र सच्चाई के जीवन पर चलने को प्रेरित करते हैं। ऐसा जीवन वही व्यक्ति जी पाता है जो आत्मपरकता में जी पाता है, जो आत्मपरकता में जीता है। सत्य, शुभ और सौन्दर्य से उच्चतर नहीं है किन्तु सत्य, शुभ और सौन्दर्य अनिवार्यतः प्रत्येक मानव अस्तित्व से सम्बन्धित है और अस्तित्ववान् व्यक्ति के अस्तित्व में ये मिले हुये हैं। अनिवार्य सत्य आत्मपरक है एवं सत्य आत्मपरकता में निहित है। वास्तविक अस्तित्व आत्मपरक, व्यक्तिगत एवं विषयीनिष्ठ है। अतः आत्मपरकता को प्राप्त करना सम्भावनाओं के क्षेत्र से वास्तविकता के क्षेत्र में वापस लौटना है।

अपने अस्तित्ववादी विचारों में सार्त्र आत्मपरकता को मानव-व्यक्ति का सारतत्त्व मानते हैं तथा स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व को आत्मपरकता का सार तत्त्व स्वीकार करते हैं। वस्तुतः आत्मपरकता में ही व्यक्ति को कुत्सा, असहायता, नैराश्य, शून्यता, आत्म-प्रवंचना, चिन्ता, परिताप इत्यादि जीवन के वास्तविक तथ्यों की अनुभूति होती है जो अस्तित्व के अनिवार्य अंग हैं। इन सारी अनुभूतियों का मूल कारण मानव स्वतंत्रता और उसको बाधित करने वाले तत्त्वों के बीच का संघर्ष है। उदाहरण के लिये चिन्ता की दशा में मनुष्य को अपनी स्वतंत्रता की स्पष्ट चेतना होती है।[५] चिन्ता की अवस्था में व्यक्ति को अपने उत्तरदायित्व का बोध होता है। यह विचार कि मैं अपने व्यवहार, अपने मूल्यों के लिये उत्तरदायी हूँ मेरे मन में चिन्ता उत्पन्न करती है। चिन्ता से उत्पन्न मानसिक क्लेश से मुक्त होने के लिये मनुष्य चिन्ता से दूर भागना चाहता है तथा अपने कार्यों, निर्णयों एवं चुनावों के लिये बहानों की तलाश करता है जिससे वह यह दिखा सके कि उसने जो कुछ किया, अन्य कारणों से किया न कि स्वेच्छा से। वह अपनी स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व को सीमित करने वाले कारणों की खोज करता रहता है। अपने कार्यों के लिये कारणों के तलाश की यह प्रवृत्ति मनुष्य की दुरास्था है। दुरास्था का सहारा लेकर मनुष्य स्वतंत्रता तथा उत्तरदायित्व से उत्पन्न चिन्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा उस चिन्ताजन्य क्लेश से मुक्त होना चाहता है। इसके लिए वह बहानों की तलाश करता है। अपनी स्वतंत्रता को सीमित करने वाले कारणों की खोज करता है। बहानों की यह तलाश एक प्रकार की रक्षा प्रविधि है जिसे सार्त्र दुरास्था (बैड-फेथ) की संज्ञा देते हैं। सार्त्र के अनुसार मानव अस्तित्व की अनुभूति का अर्थ है मानव की मौलिक स्वतंत्रता की अनुभूति। मानव को अस्तित्व की प्रथम अनुभूति में ही अपने एकाकीपन की अनुभूति होती है। वह अपने को एक स्थिति में, वस्तुओं तथा अन्यों से घिरा पाता है तथा उसे यह भी भान होता है कि कोई अन्य सहारा नहीं है जिस पर वह झुक सके। अतः वह क्या बनेगा, किस दिशा में उसका अस्तित्व प्रवाहित होगा - यह सब उसीके निर्णय-निश्चय पर निर्भर करता है। यही स्वतंत्रता की प्राथमिक अनुभूति है। स्वतंत्रता विषयिता का लक्षण है, किन्तु उसकी संभावना विषयगत पर ही निर्भर करती है।[१६] किन्तु स्वतंत्रता को, जो मानव-अस्तित्व की प्राथमिक अनुभूति है दुरास्था के द्वारा बाधित किये जाने का प्रयास किया जाता है। सार्त्र के अनुसार मनुष्य का सारा जीवन दुरास्था पर आधारित जीवन है। धार्मिक व्यवहार आत्म-पलायन पर आधारित होता है। ईश्वर की धारणा मनुष्य की अतार्किक इच्छा है जिसके द्वारा वह वस्तुओं का स्थायित्व एवं असंदिग्धता तथा मनुष्य की स्वतंत्रता— दोनों को एक साथ प्राप्त करना चाहता है। वह मनुष्य उत्तरदायित्व से तो बचना चाहता है किन्तु स्वयं में सत्ता से श्रेष्ठ सत्ता भी प्राप्त करना चाहता है। वह चेतना वस्तु (इन इटसेल्फ - फॉर इटसेल्फ) होना चाहता है। किन्तु यह सर्वथा एक असंगत कल्पना है, मानवीय वास्तविकता के प्रतिकूल है। ऐसी इच्छा समस्त मानवीय सम्भावनाओं को समाप्त कर देती है। सार्त्र कहते हैं - ईश्वर की अस्वीकृति मानव-स्वातंत्र्य, एवं उत्तरदायित्व की स्वीकृति है[१७] और इसके विपरीत ईश्वर की स्वीकृति मानव-स्वातंत्र्य की अस्वीकृति एवं उस स्वतंत्रता से उत्पन्न उत्तरदायित्व के भार से बचने का कल्पित उपाय दुरास्था है। यद्यपि सार्त्र यह मानते हैं कि अधिकांश मानव व्यवहार दुरास्था पर आधारित होता है किन्तु उनका यह विश्वास नहीं है कि सदास्था (गुड फेथ) सम्भव नहीं है। उनका विश्वास है कि मनुष्य बिना भ्रान्तियों के भी रह सकता है। उसकी यह स्वीकृति कि वह केवल मनुष्य है - मानवीय सम्भावनाओं की स्वीकृति है। मनुष्य का मनुष्य के रूप में बोध उसकी स्वतंत्रता की खोज है। मनुष्य की यह स्वतंत्रता उसके भविष्य का उद्घाटन करती है जो केवल मनुष्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा निर्मित एवं नियंत्रित है।

सार्त्र के अनुसार स्वतंत्रता के बाधक तत्त्व मनुष्य की स्वतंत्रता के प्रमाण हैं। वस्तुतः मनुष्य की स्वतंत्रता ही उसकी स्वतंत्रता की सीमाओं एवं बाधाओं को परिभाषित करती है। बाधा इसलिए बाधा होती है क्योंकि हमने ऐसा कुछ करने का निर्णय लिया है जिसे हम नहीं कर सकते। इस प्रकार मनुष्य की स्वतंत्रता ही बाधाओं का भी चुनाव करती है।[१८] सार्त्र के अनुसार मानव-स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं है कि वह अपनी स्थूल भौतिक परिस्थिति को परिवर्तित कर सकता है अथवा अपनी सभी वांछित इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है। चुनाव की स्वतंत्रता उपलब्धि की स्वतंत्रता नहीं है। उपलब्धि भौतिक परिस्थितियों द्वारा परिसीमित होती है। हर परिस्थिति में चुनाव-स्वातंत्र्य एक सा नहीं होता। स्वतंत्रता का महत्त्वपूर्ण परिणाम पूर्ण उत्तरदायित्व है। मेरा चुनाव केवल मेरा अपना है किसी अन्य द्वारा नियंत्रित नहीं है किन्तु मेरे चुनाव का सम्बन्ध केवल मुझसे नहीं है उसका सम्बन्ध सम्पूर्ण मानवता से है। अपने चुनावों द्वारा मैं मूल्यों की रचना करता हूँ जिसके लिये उत्तरदायित्व केवल मेरा है।[१९]

स्वतंत्रता सार्त्र के चिन्तन का मुख्य बिन्दु है, क्योंकि मनुष्य का अस्तित्व स्वतंत्रता के साथ अभिन्न है, यह उसकी संरचना में निहित है। अतः मनुष्य की स्वतंत्रता परम है। मनुष्य और उसकी स्वतंत्रता में विशेष्य और विशेषण का सम्बन्ध नहीं है। मानव के सन्दर्भ में अस्तित्व और सार तत्त्व के भेद पर प्रकाश डालते हुए वे बतलाते हैं कि विषय जगत् की संज्ञायें अपने सार तत्त्व के माध्यम से जानी जाती हैं क्योंकि उनके अस्तित्व को उनका सार तत्त्व निर्धारित करता है अथवा उनका सार तत्त्व उनके अस्तित्व से पहले है। परन्तु मानव या मूर्त मानव व्यक्तित्व का अस्तित्व उसके सार तत्त्व से पहले अर्थात् मानव कुछ भी होने के लिए स्वतंत्र है। उसकी स्वतंत्रता ही उसका लक्षण है। इस कारण स्वतंत्रता उसका गुण या सार तत्त्व नहीं है, यह उसका अस्तित्व है।

सार्त्र की स्वतंत्रता की अवधारणा के सम्बन्ध में एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठ सकता है कि क्या यह इच्छा की स्वतंत्रता है ? वास्तव में सार्त्र इच्छा की स्वतंत्रता से स्वतंत्रता की धारणा को युक्त नहीं करते हैं। वे स्वतंत्रता को तथ्यात्मकता एवं परिस्थिति के आधार पर समझाते हैं। यदि तथ्यात्मकता न हो तो स्वतंत्रता या मानव कुम्हला जायेगा। मनुष्य की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति, उसका विगत, उसका परिवेश, साथी, मृत्यु यह सब मनुष्य की तथ्यात्मकता को निर्धारित करते हैं। यही परिस्थिति मनुष्य की स्वतंत्रता को संभाव्यता प्रदान करती है। अथवा परिस्थिति वह है जिसमें स्वतंत्रता जन्म लेती है, पनपती है। इसलिए तथ्यात्मकता स्वतंत्रता को समाप्त नहीं करती है, वरन् उसे प्रश्रय देती है। स्वतंत्रता उच्छृंखलता का पर्यायवाची भी नहीं है क्योंकि यह दायित्व से युक्त है। स्वतंत्र होने के कारण मैं अपने सभी कर्मों के लिये उत्तरदायी हूँ।[२०] स्वतंत्रता को मेरे चाहने या न चाहने से कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं स्वतंत्र हूँ ही, क्योंकि मानव की स्वतंत्रता और उसकी सत्ता एक ही है - स्वतंत्रता मानव सत्ता की अनिवार्यता है।

सार्त्र द्वारा समर्थित-व्यक्ति की अवधारणा इसी मानव स्वतंत्रता के चरम उत्कर्ष को प्रतिबिम्बित करती है। यह मानव-व्यक्ति मानव स्वतंत्रता के उत्स का परिचायक है। मानव-व्यक्ति वैयक्तिक सत्ता के सम्पूर्ण स्वभाव का संकेतक है जो मनुष्य को समग्रता में उपस्थित करने में सक्षम है। वस्तुतः मानव-व्यक्ति की अवधारणा अस्तित्ववाद का केन्द्रस्थल कहा जा सकता है। प्रायः सभी अस्तित्ववादी चिन्तकों ने अपने दर्शन में मानव-व्यक्ति को ही अपने चिन्तन का केन्द्रबिन्दु बनाया है। किर्केगार्ड के चिन्तन से प्रारम्भ होकर मानव-व्यक्ति की अवधारणा सार्त्र के अस्तित्ववाद में अपने चरम रूप में दीख पडती है। व्यक्ति को सार्त्र अपने लिए सत् कहते हैं तथा वस्तु को अपने में सत्। वे मनुष्य को इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि मानव से परे सत्ता को ये अस्तित्ववादी दर्शन का विषय ही नहीं मानते हैं। उनके अनुसार हर सत् और मानव-व्यवहार में मनुष्य की आत्मनिष्ठा और मानव-व्यवहार दोनों सम्मिलित हैं। उनका मुख्य उद्देश्य आधुनिक युग में व्याप्त मानव-व्यक्ति को तुच्छ समझने की प्रवृत्ति का विरोध करना है। इन्होंने स्पष्टतः यह देखा कि तर्कणावादी विचारकों ने मानव-व्यक्ति के महत्त्व को अस्वीकार किया है। उनकी बौद्धिक क्रियायें, उनकी क्षमतायें, उनकी इच्छायें तथा उनके अन्तर्सूझों को अमहत्त्वपूर्ण माना है। ऐसे विचार के विरोध में मानव-व्यक्ति के अस्तित्व पर जोर देकर सार्त्र मानव-स्वतंत्रता को नये अर्थ में उपस्थित करते हैं। इन्होंने मानव-व्यक्ति को मानवीय परिस्थिति जिसे हम जगत् की संज्ञा देते हैं के बीच आँकने का प्रयास किया है जिसकी गोद में मानव-व्यक्ति जन्म लेता है, समृद्ध होता है तथा विकसित होता रहता है।

सार्त्र के अनुसार अस्तित्व का अर्थ 'संसार में मानव-व्यक्ति' या सत्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही है। मनुष्य और संसार के संयोग से ही अस्तित्ववाद की चिन्तन प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। चेतना को एक संसार की सामान्य रूप से आवश्यकता होने के कारण मनुष्य आवश्यक रूप से संसार से आवृत है। उनके अनुसार चेतना चाहे जितनी शुद्ध और स्वतंत्र हो, वह अचेतन सत् के गर्भ से इस प्रकार उत्पन्न होती है जो बुद्धिगम्य नहीं है। चेतना उत्पन्न होकर सत् की सतह पर एक संसार की रचना करती है। मानव चेतना की अर्थों का उत्प्रेक्षक होता है जिससे संसार की व्यवस्था का निर्देश मिलता है। सार्त्र के लिये एक सर्वमान्य संसार की व्याख्या करना कठिन है। उनके अनुसार मानव की व्यक्तिगत सत्ता है, इसलिए चेतना के व्यक्तिगत केन्द्र हैं। सार के अस्तित्व को महत्त्वपूर्ण मानते हुए सार्त्र का कहना है कि अस्तित्व ही गुण का कारण है इसीलिये मनुष्य एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। वह जो कुछ भी है अपनी कृति है। सार्त्र के मानव-व्यक्ति की अवधारणा भी उनकी अन्य मान्यताओं की तरह उनके अनीश्वरवादी पृष्ठभूमि में विकसित हुई है। वे कहते हैं कि मनुष्य स्वतंत्र होने के लिये अभिशप्त है। वह निर्मित नहीं है, प्रत्यत् वह स्वयं का निर्माण करता है। अतः मनुष्य को समझने के लिये हमें स्वतंत्रता से प्रारम्भ करना होगा। सार्त्र किसी विश्वव्यापी नैतिक नियम और निरपेक्ष तथा निश्चित मूल्यों को स्वीकार नहीं करते। यह मनुष्य पर ही निर्भर करता है कि वह स्वयं अपने आदर्शों एवं मूल्यों का चयन करे। अतः सार्त्र के मानव-स्वतंत्रता के विचार में ही मानव-व्यक्ति का स्वरूप स्पष्ट होता है। उनके अनुसार मानव-व्यक्ति वह है जिसमें संकल्प और स्वातंत्र्य के साथ विवेक भी हो। अपने सारे कार्यों के लिये, वैसे कार्यों के लिये भी जो वासना या भावना पर आधारित हैं, मनुष्य स्वयं ही उत्तरदायी है। इस प्रकार सार्त्र के दर्शन में स्वतंत्रता तथा स्वतंत्रतापूर्वक निर्णय एवं चयन का अत्यधिक महत्त्व है। उनके दर्शन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष मानव-व्यक्ति की अवधारणा उनके मानव-स्वातंत्र्य के विचार में ही निहित है। उनके अनुसार वही व्यक्ति मानव-व्यक्ति कहलाने का अधिकारी है जो अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग निर्णय लेने के क्रम में करता है तथा अपनी स्वतंत्रता की सहज अभिव्यक्ति कर पाता है। इस प्रकार सार्त्र द्वारा समर्थित मानव-व्यक्ति की अवधारणा वैसे स्वतंत्र मानव का विचार है जो इस जगत् में अपने मूल्यों का सृष्टिकर्ता है। उनके जीवन सम्भावनाओं से भरे हुये हैं। अतः ऐसा मानव-व्यक्ति वातावरण में, परिस्थिति में अपनी रचना स्वयं करता है जहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह अनेक मनुष्यों के बीच 'एक' मनुष्य है।

आज मानव सभ्यता एक क्रान्तिकारी दौर से गुजर रही है। वैज्ञानिक प्रगति के कारण विज्ञान की शक्ति का विस्फोट स्वयं मानव की शक्ति से परे हो गया है। किन्तु आज की प्रगति किसी संस्कृति का बोधक नहीं बल्कि आर्थिक बर्बरता बन गई है जिसका आदर्श सुसंस्कृत, चिन्तनशील मानव नहीं बल्कि एक शक्ति-सम्पन्न मानव है जिसका लक्ष्य उन्मुक्त इच्छाओं की संतुष्टि और असीमित सम्पत्ति संग्रह है। आज की वैज्ञानिक प्रगति ने एक ऐसे आर्थिक मानव को जन्म दिया है जिसके लिए भौतिक सुखों के अतिरिक्त सब कुछ गौण है। अतः आज के मनुष्य पर आसन्न दिशाहीनता के इस संकट को दूर करने के लिये सार्त्र का मानव-व्यक्ति एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर सकता है। आज विश्व के समस्त मानवों को मानव-व्यक्ति के आदर्शों को आत्मसात् कर स्वयं मानव-व्यक्ति बन जाने की अपरिहार्य आवश्यकता है। इसी स्थिति में मानव, मानवता एवं विश्व-जीवन का मार्ग सफलतापूर्वक प्रशस्त हो सकता है। हालाँकि उपर्युक्त आदर्श सदिच्छा मात्र भी हो सकता है क्योंकि अस्तित्ववादी स्थिति के लिये मानव-व्यक्ति होना अपरिहार्य है।

डा. ललित किशोर गुप्त

रीडर,
विश्वविद्यालय दर्शनशास्त्र विभाग
ल. ना. मिथिला विश्वविद्यालय,
दरभंगा - ८४६००४ (बिहार)

टिप्पणियाँ

१. **दी इनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना**, खण्ड- १०,पृ.६३९.
२. पॉल रॉबिक जेक, **एक्जिसटेंसियलिज्म फॉर एण्ड एगेन्स्ट**, पृ.१०.
३. जे. सी. मिद्रालिच, **एक्जिसटेंसियलिज्म एण्ड फिलासॉफी**, पृ. २.
४. फर्नान्डो मोलिन्स, **एक्जिसटेंसियलिज्म ऐज फिलासॉफी**, पृ. २
५. डेविड ई. राबर्ट, **एक्जिसटेंसियलिज्म एण्ड रिलिजियस बिलीफ**, पृ.४.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६. पॉल रॉबिजेक, **एक्जिसटेंसियलिज्म फॉर एण्ड एगेन्स्ट**, पृ. १०.
७. मार्ल पोन्टी, **फ्रॉम रैसनलिज्म टु एक्जिसटेंसियलिज्म**, पृ. २४९.
८. ज्यॉ-पाल सार्त्र, **एक्जिसटेंसियलिज्म एण्ड ह्यूमेन इमोसन्स**, पृ. ३३.
९. वही, पृ. १७-१८.
१०. ज्यॉ-पाल सार्त्र, **एक्जिसटेंसियलिज्म एण्ड ह्यूमेनिज्म**, पृ. २७.
११. मार्ल पोन्टी, **सेन्स एण्ड नॉनसेन्स**, पृ. ७१-७३ (आर. सी. सोलोमन द्वारा फेनोमेनोलॉजी एण्ड एक्जिसटेंसियलिज्म में उद्धृत, पृ. २९८).
१२. ज्यॉ-पाल सार्त्र, **बीइंग एण्ड नथिंगनेस**
१३. वही, पृ.३२.
१४. वही, पृ.४९.
१५. वही, पृ.२९.
१६. ऐन्टनी मैन्सर, सार्त्र - **ए फिलासॉफिकल स्टडी**,पृ. १००.
१७. हैगेल बैर्न्स, **दि लिटरेचर ऑफ पॉसिबिलिटी**, पृ. १०६.
१८. ज्यॉ-पाल सार्त्र, **बीइंग एण्ड नथिंगनेस**, पृ. ४६४.
१९. वही, पृ.५३१-५३२.
२०. वही.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिंदी)

(त्रैमासिक पत्रिका)

दर्शन एवं साहित्य पर वैचारिक चिंतन प्रस्तुत करनेवाली पत्रिका दर्शन, साहित्यशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान के अध्यापक, संशोधक, छात्र एवं प्रेमी पढते हैं।

विज्ञापन की दरें

१/८ डिमाई साईज	एक अंक के लिए	चार अंकों के लिए
	रु.	रु.
१/४ पृष्ठ	१२०/-	४२०/-
१/२ पृष्ठ	२००/-	७००/-
पूर्ण पृष्ठ	४००/-	१४००/-
कव्हर पृष्ठ ३	६००/-	२१००/-
कव्हर पृष्ठ ४	८००/-	२८००/-

आप आपकी संस्था / प्रकाशन / उत्पादन का 'परामर्श (हिं)' में विज्ञापन देकर पत्रिका की मदत कर सकते हैं ।

विज्ञापन की प्रति एवं शुल्क मनीऑर्डर या बँक ड्राफ्ट से निम्नंकित पते पर भेजें -

प्रधान संपादक,
परामर्श (हिंदी)
दर्शन-विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे - ४११००७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर-आधुनिकतावाद : एक सम्प्रत्ययात्मक विवेचन

आजकल बौद्धिक वार्तालापों से लेकर विज्ञापनों की नई दुनिया या साइबर स्पेस तक सर्वत्र उत्तर-आधुनिकता को इस रूप में देखा जा रहा है जैसे कि 'आधुनिक' के स्थान पर 'उत्तर-आधुनिक' विशेषण का प्रयोग व्यक्ति, वस्तु या विचार को अधिक सम्पूर्णता एवं नवीनता में प्रस्तुत करता हो। उत्तर-आधुनिकतावाद से तात्पर्य दर्शन, साहित्य, कला, स्थापत्य इत्यादि क्षेत्रों की उस विचारधारा से है जिसका प्रादुर्भाव मूलतः आधुनिकतावाद की आलोचनात्मक व्याख्या के फलस्वरूप १९६० के दशक में हुआ। शाब्दिक अर्थ के दृष्टिकोण से भी उत्तर-आधुनिकतावाद, आधुनिकतावाद के बाद की विचारधारा है। किसी एक क्षेत्र-विशेष की विचारधारा न होने के कारण 'उत्तर-आधुनिक' पद का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है। इस पद के प्रयोग के बहुआयामी होने के कारण इसके अर्थ का निर्धारण बहुत हद तक सन्दर्भाश्रित होता है।

'आधुनिक' का अर्थ है, वह जो कि अब फैशन में है। 'आधुनिक' शब्द को उन सभी वस्तुओं, क्रियाओं और व्यवस्थाओं के विशेषण के रूप में प्रयोग में लाया जाता रहा है जिनमें समसामयिकता एवं नवीनता हो। दर्शन के क्षेत्र में 'आधुनिक' से तात्पर्य पुनर्जागरण एवं उसके पश्चात् के विचारों से है। इस प्रकार वास्तववाद, प्रजातंत्र, मानवतावाद, अनुभववाद, तार्किक-अनुभववाद इत्यादि आधुनिक विचारधाराएँ हैं जिनका प्रचार, प्रसार युरोप में १७वीं शताब्दी के पुनर्जागरण के बाद हुआ। उत्तर-आधुनिकतावाद इन विचारों का दर्शन, कला, विज्ञान, राजनीतिविज्ञान, समाजशास्त्र आदि सभी विषयों में खंडन करता है।

पाश्चात्य उत्तर-आधुनिकतावादी विचारकों में जान बाड्रीलार्ड, जैक्स डेरीडा, माइकेल फूको, लूम इरीगरी, रिचर्ड रोर्टी, गिडेन्स प्रमुख हैं।

जान फ्रैन्कोस ल्योटार्ड अपनी पुस्तक *द पोस्टमॉर्डन कन्डीशनः ए रिपोर्ट आन नालेज* (उत्तर-आधुनिक स्थितिः ज्ञान पर प्रतिवेदन) में उत्तर-आधुनिकतावाद को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि उत्तर-आधुनिकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महान् विवरणों या *ग्रैन्ड नैरेटिव्स* के *कोलैप्स* या समाप्त हो जाने पर बल देती है।[1] महान विवरणों या *गैन्ड नैरेटिक्स* से ल्योटार्ड का तात्पर्य मार्क्सवाद से है। उनके अनुसार उत्तर-आधुनिकता महान विवरणों की जगह लघु विवरणों या *लिटिल नैरेटिक्स* को प्रतिस्थापित करती है। उत्तर-आधुनिकता में लघु विवरणों के द्वारा महान् विवरणों का प्रतिस्थापन तकनीकी विकास के कारण इसलिए संभव हुआ क्योंकि तकनीकी विकास ने हमारे ज्ञानके संप्रत्यय को बदल डाला। ल्योटार्ड ने अपने निबन्ध 'आन्सरिन्ग द क्वेश्चनः व्हाट इज द पोस्टमॉडर्न' (उत्तर-आधुनिकता क्या है ?: प्रश्न का उत्तर) में उत्तर-आधुनिकता को इमैनुएल काण्ट के परम या *सब्लाइम* के सम्प्रत्यय के आधार पर व्याख्यायित करने का प्रयास किया है।[2] काण्ट के अनुसार परम या *सब्लाइम* एक ऐसा अनुभव है जो कि दर्शकों में तब उत्पन्न होता है जब उसका किसी ऐसी वस्तु से साक्षात्कार होता है जिसे कि संप्रत्ययों में नहीं बाँधा जा सकता। ल्योटार्ड यह स्वीकार करते हैं कि काण्ट के परम या *सब्लाइम* के अव्यक्त अनुभव से उत्तर-आधुनिकता का वही सम्बन्ध है जो कि अव्यक्त और अव्यक्त को अभिव्यक्त करने की विधा के बीच में होता है। ल्योटार्ड के अनुसार उत्तर-आधुनिकता एक ऐसी विशिष्ट व्याख्या है जो कि परम या *सब्लाइम* अनुभव को अभिव्यक्त करने की नई विधा को खोजने का प्रयास करती है। दूसरे शब्दों में, उत्तर-आधुनिकतावाद अनुभव की व्याख्या और विश्लेषण को अभिव्यक्त करने की ऐसी नई तकनीकों की खोज का नाम है जो पारम्परिक व्याख्या की कमियों को दूर करने का प्रयास करती है। उत्तर-आधुनिकतावाद अपनी पूर्ववर्ती दार्शनिक प्रणालियों की इस आधार पर आलोचना करता है कि इनके द्वारा की गयी अनुभव की व्याख्या और वास्तविक अनुभव में अन्तराल होता है। इसी अर्थ में परम्परागत अनुभव की व्याख्या को उत्तर-आधुनिकतावाद अपूर्ण मानता है। उत्तर-आधुनिकतावाद अधिक स्पष्ट अनुभव की व्याख्या का प्रयास करता है और अपने इस प्रयास में वह नयी तकनीकों एवं आविष्कारों का सहारा लेता है। ल्योटार्ड की इस व्याख्या को आगे बढाते हुए नियाल रुसी के इस मत को स्वीकार किया जा सकता है कि उत्तर-आधुनिकता कुछ विशिष्ट क्रियाओं जैसे ई-मेल के संदेश का तुरंत प्रभाव, इंटरनेट कनेक्शन का देश और काल, विभिन्न टी.वी. प्रोग्राम, टेलिफोन वार्तालाप, सैटेलाइट प्रसारण इत्यादि को अपने में समेटे होता है।[3] उत्तर-आधुनिकतावाद संवादहीनता की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्या को समाप्त करने का वैज्ञानिक प्रयास करता है। यही कारण है कि पारम्परिक कला और दर्शन में जिसे अनभिव्यक्त अनुभूति कहा जाता है उसपर उत्तर-आधुनिकतावाद अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। कला के क्षेत्र में उत्तर-आधुनिकतावाद अत्यन्त मुखरित होता है। उत्तर-आधुनिक कला विशेष रूप से पेंटिंग में पारम्परिक पेंटिंग की सुन्दरता के स्थान पर बेढंगे आकारहीन और विचित्र ढंग के चित्रों के आधार पर अनभिव्यक्त को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार ल्योटार्ड की इस व्याख्या के अनुसार उत्तर-आधुनिक संप्रत्यय की शुरुआत वास्तव में ज्ञान के आधुनिक संप्रत्ययों के आधार पर सत् की पर्याप्त और वस्तुनिष्ठ व्याख्या करने की समस्या के कारण हुई। विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि उत्तर-आधुनिकता का सम्बध मुख्य रूप से ज्ञानमीमांसा से है।

डेविड हार्वे ने अपनी पुस्तक *द कन्डिशन ऑफ़ पोस्टमॉडर्निटी* (उत्तर-आधुनिकता की स्थिति) में आधुनिकता के सम्प्रत्यय की तत्त्वमीमांसीय व्याख्या की है। उन्होंने उत्तर-आधुनिकता को सामाजिक और आर्थिक सन्दर्भों में व्याख्यायित किया। हार्वे के अनुसार उत्तर-आधुनिकता वास्तव में उन सामाजिक प्रक्रियाओं का विस्तार है जिन्हें मार्क्स ने पूँजीवादी समाज के तर्कशास्त्र की विशेषता कहा।[४]

गिडेन उत्तर-आधुनिकता को मुख्यतः कला से सन्दर्भित मानते हुए दर्शन में इसकी शुरुआत नीत्शे और हाइडैगर से मानते हैं।[५]

गियानी वैटिमों अपनी पुस्तक *द एन्ड ऑफ़ मॉडर्निटी* (आधुनिकता का अन्त) में उत्तर-आधुनिकता का विवेचन करते हुए इसका सम्बन्ध दर्शन शास्त्र से स्थापित करते है।[६] वैटिमों ने हाइडैगर के *वरविन्डंग* के सम्प्रत्यय के आधार पर उत्तर-आधुनिकता सम्बन्धित अपने मत का विवेचन किया है। वैटिमों के अनुसार *वरविन्डंग* का तात्पर्य अर्थ का एक ऐसा विशेष विरूपण या *टुइस्टिंग* है जो सापेक्षिक आलोचना की आधारशिला तैयार करता है। यह सापेक्षिक आलोचन सभी प्रकार की वस्तुनिष्ठता के मिथ्याभिमान को स्पृह मानती है। वैटिमों ने *वरविन्डंग* के सम्प्रत्यय की *उबेरविन्डंग* और *वरबिन्डंग* सम्प्रत्ययों से तुलना की है। *उबेरविन्डंग* का प्रयोग तार्किक आधार पर व्याघात का समालोचनात्मक निराकरण करने के लिए किया जाता है। काण्ट का सम्प्रत्यय *वरबिन्डंग* बुद्धि और तर्क के आधारभूत सिद्धान्तों में अतीन्द्रिय आलोचना के आधार के साधन के रूप में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रागनुभविक पर्यायों के समुच्चय को स्थापित करने का प्रयास करता है। काण्ट के *वरबिन्डंग* सम्प्रत्यय के विपरीत वैटिमों का *वरविन्डंग* का सम्प्रत्यय अतीन्द्रिय आलोचना की अपेक्षा नहीं रखता। इसी कारण वैटिमों उत्तर-आधुनिकता मे 'उत्तर' की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए वस्तुनिष्ठता के मिथ्याभिमान को स्पृह मानते हैं। वैटिमों के अनुसार यद्यपि *वरविन्डंग* हुसर्ल के दर्शन का सम्प्रत्यय है फिर भी इसके वास्तविक जनक नीत्शे है। इस प्रकार वैटिमों की पुस्तक *द एन्ड ऑफ मॉडर्निटी* के अनुसार उत्तर-आधुनिकता की शुरुआत नीत्शे के दर्शन से होती है।

वैटिमों के अनुसार नीत्शे की पुस्तक *ह्यूमन, आल टू ह्यूमन* (मानवीय अतिमानवीय) आधुनिकता को निरन्तर विस्थापन की ऐसी प्रक्रिया के रूप में परिभाषित करता है जहाँ पर परम्परा का परित्याग और आधुनिकता का स्वीकरण सदैव होता रहता है। इस स्वीकृत आधुनिकता का धीरे-धीरे क्षय होता जाता है और अन्ततः इसका विस्थापन एक नई आधुनिकता के द्वारा होता है। इस प्रकार आधुनिकता की कभी समाप्ति नहीं होती क्योंकि प्रत्येक नई आधुनिकता को कालान्तर में परम्परा में परिणित होना ही है। आधुनिकता की इस व्याख्या के आधार पर, वैटिमों के अनुसार, नीत्शे आधुनिकता के बाहर की स्थिति - जैसा कि काण्ट के अतीन्द्रियवाद में है - को अस्वीकार करते हैं। वैटिमों के द्वारा नीत्शे की इस व्याख्या के अनुसार नीत्शे यह स्वीकार करते हैं कि आधुनिकता का अपनी ही जन्मजात प्रवित्तियों के कारण विलय हो जाता है। और इसके स्थान पर नयी आधुनिकता या उत्तर-आधुनिकता का प्रादुर्भाव होता है। नीत्शे का शून्यवादी निष्कर्ष, जिसके अनुसार 'ईश्वर मर गया है', आधुनिकता की समाप्ति और उत्तर-आधुनिकता के प्रादुर्भाव का मार्ग प्रशस्त करता है। इस उत्तर-आधुनिकता में ज्ञान का आधार सत्य के सम्प्रत्यय में होता है और अन्तिम सत्ता को आभास और हमारे ज्ञान में आकस्मिकता के वर्चस्व के आधार पर विस्थापित किया जाता है।

उत्तर-आधुनिकता का मुख्य आधार आधुनिकता की आलोचना के द्वारा तैयार होता है। भारतीय उत्तर-आधुनिक विचारकों ने भी आधुनिकता-वाद की आलोचना की है। दयाकृष्ण ने आन्तरिक सामंजस्यहीनता और असंसक्तता के आधार पर आधुनिकतावाद की तीखी आलोचना प्रस्तुत की है। उन्होंने आधुनिकता के मॉडल के आधारवाक्यों को आनुभविक दृष्टिकोण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से आधारहीन और तार्किक दृष्टिकोण से असंगत बताया।[७] दयाकृष्ण ने इस मिथक का कि भारतीय दर्शन आध्यात्मिक और पाश्चात्य दर्शन भौतिकवादी है, भी विरोध करते हुए इसे भारतीय दर्शन का एकांगी अवलोकन कहा है। उनके अनुसार 'सत्तात्मक रूप में भारतीय दर्शन को आध्यात्मिक कहना पूर्णतः असंगत है।'[८] दयाकृष्ण ने पाश्चात्य दार्शनिकों के द्वारा भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में स्थापित अन्य कई मिथकों का भी खंडन किया है। ऐसा ही एक मिथक यह है कि भारतीय दर्शन में सत्य के स्थान पर वैदिक ग्रंथों के अनुकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है। डालमायर के अनुसार दयाकृष्ण ने यह दर्शाया है कि भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में यह विचार आधारहीन है।[९] भारतीय दर्शन में तर्क और युक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। यदि भारतीय दर्शन को उपनिषद् पर आधारित माना जाय तो पाश्चात्य दर्शन को प्लेटो एवं अरस्तू के विचारों की पाद-टिप्पणी कहना अनुचित न होगा। इसी प्रकार दयाकृष्ण इस मिथक का भी खंडन करते हैं कि भारतीय दर्शन का सृजन मुक्ति या मोक्ष की प्राप्ति के लिए हुआ। उनके अनुसार मोक्ष भारतीय दर्शन का एकमात्र महत्त्वपूर्ण उद्देश्य नहीं है। दयाकृष्ण का यह मत विवादास्पद है। उनके इस मत से डालमायर सहमत नहीं है। डालमायर का विचार है कि प्रत्येक दर्शन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष होता है।[१०] यद्यपि मैं डालमायर के इन विचारों का समर्थन करता हूँ परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि डालमायर ने दयाकृष्ण के विचारों को समझने में भूल की। डालमायर ने जिस मोक्ष को सभी दर्शनों का मुख्य उद्देश्य माना है वह वास्तव में ज्ञानमीमांसीय मोक्ष है। दर्शन मनुष्य के समक्ष वस्तुस्थिति की सम्पूर्णता को प्रस्तुत करता है। इस अर्थ में दर्शन मनुष्य को अज्ञान से मोक्ष दिलाता है। और इस प्रकार प्रत्येक दर्शन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष होता है। परन्तु डालमायर ने दयाकृष्ण के मोक्ष संबन्धी जिस विचार का खंडन किया है वह ज्ञानमीमांसीय न होकर तत्त्वमीमांसीय है। डालमायर ने दयाकृष्ण के मोक्ष के सम्प्रत्यय को ज्ञानमीमांसीय समझने की भूल की। विश्लेषणात्मक दर्शन के समर्थक दयाकृष्ण को डालमायर के इस विचार से कोई आपत्ति नहीं होगी कि प्रत्येक दर्शन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष होता है। परन्तु यह कहना कि भारतीय दर्शन में मोक्ष और आध्यात्मिकता के सिवा और कुछ है ही नहीं, वस्तुस्थिति का वास्तविक चित्रण नहीं होगा। और इसलिए यह न केवल दयाकृष्ण बल्कि किसी भी संवेदनशील भारतीय दार्शनिक को मान्य नहीं होगा। वस्तुतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय दर्शन में मोक्ष को अन्य पुरुषार्थों अर्थात् धर्म, अर्थ और काम से असंपृक्त करके नहीं देखा जा सकता है। भारतीय दर्शन श्रेयस् और प्रेयस् के बीच अन्तर्विरोध न मानते हुए इनके समन्वय पर बल देता है। इस प्रकार दयाकृष्ण के विचार पूर्णतः तथ्यानुरूप हैं।

उत्तर-आधुनिकतावाद की उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि इसका वस्त्वर्थ बहुआयामी है। इसीलिए आजकल यह स्वीकार किया जाने लगा है कि उत्तर-आधुनिकता की ऐसी सटीक परिभाषा देना संभव नहीं जो कि इसकी सभी विशेषताओं को अपने में समेटे हो। उत्तर-आधुनिकतावाद के अर्थ निर्धारण की इस विविधता के कारण इसके सम्प्रत्ययात्मक अध्ययन के विषयक्षेत्र का रेखांकन विवादास्पद हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी कारण स्टीफन बेकर ने यह स्वीकार किया है कि उत्तर-आधुनिकता का सम्प्रत्ययात्मक अध्ययन मूलतः अपूर्ण होता है।[११] इसी प्रकार जैक्स डेरीडा और लूस इरीगरी का यह मत है कि उत्तर-आधुनिकतावाद एक ऐतिहासिक घटना न होकर ऐसी वैचारिक प्रक्रिया है जिसे केवल युरोप या अमरीका तक ही सीमित नहीं माना जा सकता। इसकी यह परिभाषा कि उत्तर-आधुनिकतावाद आधुनिकतावाद के बाद की विचारधारा है, इसलिए अपर्याप्त है क्योंकि 'आधुनिकतावाद' का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। इस प्रकार कला और साहित्य के क्षेत्रों में न केवल उत्तर-आधुनिकतावाद बल्कि आधुनिकतावाद के अर्थ भी अलग-अलग हैं। स्थापत्य में उत्तर-आधुनिकता का अर्थ पूर्व स्थापित अनम्य या *रिजिड* परम्परा की समाप्ति से है जबकि साहित्य की उपन्यास-विधा में इसका तात्पर्य ऐसे प्रयोगों और विवेचनाओं से होता है जिसका उद्देश्य स्थापित परम्पराओं का सुदृढीकरण या नवीनीकरण होता है।

उत्तर-आधुनिकतावाद के प्रयोग की विविधता को देखते हुए इसके विभिन्न आयामों के विश्लेषण या इसको परिभाषित करने के प्रयास के बजाय इसकी कतिपय मुखरित प्रवृत्तियों की व्याख्या इसके सम्प्रत्ययात्मक अध्ययन को आसान बना देती है। इन प्रमुख उत्तर-आधुनिक प्रवृत्तियों में उत्तर-नारीवाद, उत्तर-मार्क्सवाद, उत्तर-संरचनावाद दार्शनिक जगत् में विशेष रूप से चर्चा का विषय बने रहे हैं। इसीलिए इनका संक्षिप्त विवेचन द्रष्टव्य है।

नारीवाद की मुख्य प्रतिज्ञप्ति ऐसे विश्वास का विरोध करती है जो नारी को पुरुष पर आश्रित मानती है। यह नारी की पुरुष पर निर्भरता से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्ति दिलाकर समाज के इस प्रकार के पुनर्निमाण का प्रयास करती है जिसमें पुरुषप्रधानता न हो। इसका उद्देश्य एक ऐसी संस्कृति का निर्माण है जिसमें नारी की आकांक्षाओं, आशाओं और उद्देश्यों को स्वतन्त्र और विशिष्ट स्थान प्राप्त हो। यद्यपि नारीवाद के कई सिद्धान्त हैं परन्तु सभी उपर्युक्त बातों को स्वीकार करते हैं। विभिन्न नारीवादी सिद्धान्त इस अर्थ में एक दूसरे से भिन्न हैं कि वे इन प्रश्नों का भिन्न-भिन्न उत्तर देते हैं कि पुनर्निर्मित नारीवादी संस्कृतिवाला समाज कैसा होगा ? और इस समाज के पुनर्निर्माण के लिए किन प्राविधियों को प्रयोग में लाया जाएगा ?

विभिन्न नारीवादी सिद्धान्तों में मार्क्सवादी नारीवाद, स्वच्छन्द नारीवाद, मनोविश्लेषणात्मक नारीवाद और समाजवादी नारीवाद प्रमुख हैं। मार्क्सवादी नारीवाद नारी शोषण को पूँजीवादी सामाजिक और आर्थिक संरचना का परिणाम मानता है। स्वच्छन्द नारीवाद के अनुसार लैंगिक शोषण का अर्थ पुरुष के छद्म व्यवहार के द्वारा नारी की कामभावना का शोषण है। यह इस संभावना को अस्वीकार करता है कि नारी के द्वारा भी पुरुष की कामभावना का भी शोषण हो सकता है। मनोविश्लेषणात्मक नारीवाद का उद्देश्य लैंगिक संस्कृति में नारी की वैयक्तिकता की संरचना करना है। समाजवादी नारीवाद पुरुषप्रधान पूँजीवाद में नारी के निरन्तर शोषण को पूँजीवाद के विकास में सहायक मानता है।

इस प्रकार नारीवाद नारी और पुरुष की समानता एवं नारी की विशिष्ट पहचान पर बल देता है। इसके विपरीत उत्तर-नारीवाद इस विचार का विरोध करता है कि नारी का कोई विशिष्ट व्यक्तित्व होता है। इसके अनुसार नारी की समस्यायों को अन्तरलैंगिक न कि अन्तरालैंगिक परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए । क्योंकि, उदाहरण के लिए, रंगभेद की समस्या में संघर्ष पुरुष और नारी के बीच में नहीं बल्कि नारी और नारी के बीच में भी होता है। उत्तर-नारीवाद यह नहीं मानता है कि नारी पुरुष की *एंटीथेसिस* नहीं है (अर्थात् उत्तर-नारीवाद की यह मान्यता है कि पुरुष पूर्णतया नारी विरोधी नहीं है)। यह नारी की समस्यायों को अधिक समग्रता में देखने का प्रयास करते हुए नारी की सभी समस्यायों की जड पुरुष को ही नहीं मानता है। यह नारी की समस्या को एक समुदाय-विशेष की समस्या न मानते हुए विभिन्न नारियों की समस्यायों के अलग-अलग समाधान पर बल देता है।

उत्तर-मार्क्सवाद एक उत्तर-आधुनिक प्रवृत्ति है। यह मार्क्सवाद के वर्ग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभाजन एवं वर्ग संघर्ष के सिद्धान्तों को अस्वीकार करता है। इसके अनुसार शास्त्रीय मार्क्सवाद का यह विचार कि इसके सिद्धान्त ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित हैं, अधिविवेचनात्मक या *'मेटानैरेटिव'* विभ्रम है। इसके विपरीत उत्तर-मार्क्सवाद के अनुसार हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि एक व्यक्ति विशेष किसी एक जगह में संकुचित न होकर विभिन्न स्थितियों एवं संघर्षों में बँटा होता है और इसी कारण यह कहना कि कोई वर्गविशेष शोषित है, तर्कसंगत नहीं होगा।

उत्तर-आधुनिकतावाद की तरह संरचनावाद केवल दर्शन तक ही सीमित नहीं बल्कि इसका क्षेत्र दर्शन, कला, साहित्य, समाजशास्त्र आदि विधाओं तक है। यह २०वीं शताब्दी के शुरू की वह फ्रेंच विचारधारा है जो सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों के अध्ययन के लिए संरचनात्मक भाषाविज्ञान की पद्धति को प्रयोग में लाती है। संरचनावाद का आधार सउसरे की भाषावैज्ञानिक पद्धति थी। सउसरे ने भाषावैज्ञानिक पद्धति के आधार पर संरचनावाद विभिन्न क्षेत्रों, उदाहरण के लिए अनुष्ठानों, मिथकों, विचारधाराओं इत्यादि की तत्कालीन आनुभविक व्याख्या को नकारकर इनकी ऐसी संरचनात्मक या तर्कशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की जिसका उद्देश्य एक सामान्य लाक्षिणिकी की स्थापना करना था। दूसरे शब्दों में, संरचनावाद सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों की आनुभविक एवं कारण-कार्य-सम्बन्ध पर आधारित व्याख्या को अस्वीकार करता है। और इसके स्थान पर उन अन्तः संरचनाओं का अध्ययन करता है जो विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों को संभव बनाते हैं। इन अन्तः एवं वस्तुनिष्ठ संरचनाओं के अध्ययन के लिए संरचनावाद जिन सिद्धान्तों की रचना करता है उनका विवेचन करना यहाँ पर अप्रासंगिक होगा। संक्षेप में यह कहना पर्याप्त होगा कि उत्तर-संरचनावाद इनका विरोध करता है। उत्तर-संरचनावादी विचारकों में बार्थ, लूकन और फूको प्रमुख हैं। उत्तर-संरचनावाद उन संरचनात्मक तत्त्वों, जो सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों को संभव बनाता है, के अध्ययन के स्थान पर उन व्याख्यायों एवं विश्लेषणों को अपनाता है जिनके विरोध स्वरूप संरचनावाद का जन्म हुआ था। उत्तर-संरचनावाद जिन दो बातों में संरचनावाद से भिन्न है उनमें से प्रथम उत्तर-संरचनावादी यह विचार है कि किसी भी *टेक्स्ट* या मूल ग्रंथ में उन परम्पराओं, जिन्हें संरचनावादी विश्लेषण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थापित करता है, के उल्लंघन से *टेक्स्ट* के नये अर्थ की संभावना उत्पन्न होती है। और द्वितीय उत्तर-संरचनावाद के द्वारा संरचनावाद की एक पूर्ण प्रणाली की स्थापना के प्रयास को अनौचित्यपूर्ण इस आधार पर बताया कि प्रणालियाँ सदैव परिवर्तनशील होती रहती हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना प्रासंगिक प्रतीत होता है कि उत्तर-आधुनिकता और उत्तर-संरचनावाद के सम्बन्ध को लेकर कई मत व्यक्त किए गये हैं। ल्योटार्ड जैसे कतिपय दार्शनिकों का यह मत है कि उत्तर-संरचनावाद के सैद्धान्तिक विवेचन वाले पक्ष को उत्तर-आधुनिकतावाद कहा जा सकता है। रोसेनउ ने अपनी पुस्तक *पोस्ट मॉर्डनिज्म एण्ड सोशल साइंसेज* (उत्तर-आधुनिकता और सामाजिक विज्ञान) में यह स्वीकार किया है कि यद्यपि उत्तर-आधुनिकता और उत्तर-संरचनावाद दोनों एक समान विचारधारा नहीं हैं फिर भी दोनों का प्रयोग प्रायः पर्यायवाची शब्द की तरह ही किया जाता है क्योंकि दोनों के बीच का अन्तर 'अत्यल्प परिणामी प्रतीत होता है।' इसी प्रकार विलियम डनिंग अपनी पुस्तक *द रूटस ऑफ पोस्ट मॉर्डनिज्म* (उत्तर-आधुनिकता की जडें) में यह मत व्यक्त करते हैं कि उत्तर-संरचनावाद वास्तव में एक अमरीकन पद है जिसका प्रयोग कतिपय फ्रेंच लेखकों, उदाहरण के लिए डेल्यूज, बार्थ्स, ल्योटार्ड लैकन, बाड्रीलार्ड, डेरिडा, फूको के लिए किया जाता है।[१२] इन विचारों से यह स्पष्ट है कि उत्तर-संरचनावाद और उत्तर-आधुनिकतावाद की सैद्धान्तिक मान्यताएँ एक जैसी हैं।

निष्कर्ष स्वरूप, उत्तर-आधुनिकतावाद के प्रमुख विचार बिन्दु इस प्रकार हैं : १. उत्तर-आधुनिकता के सम्प्रत्यय का प्रयोग बहुआयामी होने के कारण इसके अर्थ का निर्धारण किसी एक विशेष क्षेत्र तक सीमित करना युक्तिसंगत नहीं। २. उत्तर-आधुनिकता का क्षेत्र दर्शन ही नहीं बल्कि कला, साहित्य, समाजशास्त्र, राजनीतिविज्ञान आदि हैं। ३. आधुनिकतावाद की आलोचना के द्वारा उत्तर-आधुनिकतावाद अपनी विषय सामग्री का आधार तैयार करता है। ४. उत्तर-आधुनिकता के द्वारा आधुनिकता की आलोचना का आधार मुख्यतः ज्ञानमीमांसीय है। ५. उत्तर-आधुनिक प्रवृत्तियों, उदाहरण के लिए उत्तर-मार्क्सवाद, और उत्तर-संरचनावाद या अध्ययन उत्तर-आधुनिकतावाद के अर्थ का स्पष्टीकरण करता है।

विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र - विभाग, **काली चरण पाण्डेय**
गवर्न्मेंट पोस्टग्रॅज्युएट कॉलेज, धरमशाला, हिमाचलप्रदेश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

१. J. F. Lyotard, **The Post Modern Condition : A Report on Knowledge**, Tr, Goeff Bennington, Manchester University Press, Manchester, 1989.

२. *Ibid.* Lyotard's article 'Answering the Question : What is Post Modern ?' constitutes the last part of his book **The Post Modern Condition : A Report on Knowledge.**

३. Niall Lucy (ed.) **Post Modern Literary Theory,** Blackwell, U. K, 2000, p. 9.

४. D. Harvery, **The Condition of Postmodernity : An Enquiry Into the Origins of Cultural Change,** Blackwell, Oxford.

५. A. Giddens, **Modernity and Self Idenity,** Polity Press, Cambridge, 1991.

६. G. Vattimo, **The End of Modernity : Nihilism and Hermeneutics in Post Modern Culture,** Tr. John R Snyder, Polity Press, Cambridge, 1988.

७. Frd Dallmyr, **Beyond Orientalism : Essays on Cross Cultural Encounter**, State University of New York Press, 1996, p. 156.

८. Daya Krishna, Quoted in Fred Dallmyr, *Op. Cit.*, p. 139.

९. Fred Dallmyr, *Op. Cit.*, p. 139.

१०. *Ibid.*

११. Stephen Baker, **The Fiction of Postmodernity,** Edinburgh University Press, U. K., 2000, p. 199.

१२. William V. Dunning, **The Roots of Postmodernism,** Prentice Hall, New Jersey, USA, 1995, p. 2.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञान, अध्यात्म का निषेध अथवा पूरक

महात्मा बुद्ध द्वारा बोधिसत्व प्राप्ति के पश्चात् भिक्षुओं ने उनसे पूछा गुरूवर ! आत्मा का अस्तित्व है अथवा नहीं ? बुद्ध ने इसका उत्तर 'अव्यक्तानि' कहकर टाल दिया, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उसने आत्मा के नित्य स्वरूप का खण्डन क्षणिकवाद के आधार पर किया। आज भी जब मनुष्य ने ब्रह्माण्ड व जीवन के उद्भव एवं संचालन के बहुत सारे नियमों को जान व समझ लिया है फिर भी इस प्रश्न से मुक्त नहीं हो पाया है कि ईश्वर है या नहीं। स्टीफेन हाकिंग जहाँ कहीं जाते हैं उनसे यह प्रश्न जरूर किया जाता है कि आपके दर्शन में ईश्वर का क्या स्थान है ? जब भी कोई वैज्ञानिक सृष्टि के किसी आयाम को रहस्यपूर्ण क्षेत्र से बाहर निकालकर 'मानवीय ज्ञेय' क्षेत्र में लाता है तो ईश्वर के अस्तित्व का प्रश्न यकायक चिन्तन का केन्द्रीय सम्प्रत्यय बन जाना इस बात का द्योतक है कि विज्ञान जिस विश्वदृष्टि को लेकर घटनाओं, स्थितियों एवं वस्तुओं की व्याख्या करता है, वह ईश्वरवादी जीवनदर्शन से तादात्म्य नहीं रखती है।

ईश्वरवाद, जिसका अध्यात्म आभा-मण्डल है और धर्म उसकी जीवन-शैली एक ऐसी जीवन दृष्टि है जिसमें कोई अतीन्द्रिय, अलौकिक सत्ता व शक्ति ही समस्त चराचर जगत् का मूल निमित्तोपादान कारण है। यह सत्ता स्वरूपतः नित्य, निरपेक्ष, सर्वज्ञ, सार्वभौम, अपरिवर्तन, चेतन, सर्व व्यापक, देशकालातीत, अजर एवं अमर है। यही परम सत्ता मनुष्य का मुक्तिदाता व कर्मफलदाता है। यद्यपि मनुष्य इस अदृश्य सत्ता को देखने में असमर्थ था फिर भी उसने स्वयं अपने स्वभाव तथा स्वरूप के अनुसार उसकी परिकल्पना की और उसे प्रसन्न करने के लिए वह अनेक प्रकार के पदार्थ भेंट स्वरूप भोग लगाने लगा। ऐसे दर्शन में परमसत्ता के ज्ञान का आधार श्रद्धा, विश्वास, आस्था, उपवास, समर्पण व भक्ति जैसे धार्मिक कर्मकाण्ड होते हैं। किन्तु ज्ञान तो शक्ति है जिसको प्राप्त करने की क्षमता मनुष्य में है। अतः वैज्ञानिकों द्वारा जब तर्क, बुद्धि, विवेक, वस्तुगत नियम एवं इतिहास के आधार पर वस्तुओं के मूल उत्स को जानने, समझने का प्रयास किया है तो अतीन्द्रिय सत्ता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरपेक्ष अस्तित्व पर प्रश्न खडे होने लगते हैं। चार्ल्स डार्विन का विकासवाद पृथ्वी पर जीव के उद्भव एवं विकास की हमारी इस परिकल्पना पर आघात पहुँचाता है कि प्रजापति जब वायु बनकर कमलदल पर क्षिप्रगति से निमग्न हो जल विहार में विचरण कर रहे थे तब उनके मन में प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा बलवती हुई और उसे फलदायी बनाने हेतु उन्होंने तप करना प्रारम्भ किया। फलतः देवों, असुरों, मनुष्यों एवं अन्य चेतन वस्तुओं की रचना हुई। अथवा इस धारणा पर कि आरम्भ में पुरुष के रूप में केवल आत्मा थी। वह अकेली थी। अकेली होने के कारण उनका मन नहीं लग रहा था, उसे किसी अन्य साथी की आवश्यकता महसूस हो रही थी। इस अपेक्षापूर्ति हेतु उसने कामना की। उसकी कामना के प्रतिफल के रूप में उसने आलिंगनबद्ध एक पुरुष एवं नारी के रूप को प्राप्त किया। उसने इसी आत्मा को दो भागों में अलग-अलग हो जाने दिया जो पति व पत्नी बन गए। इनके मिलन से मनुष्य की उत्पत्ति हुई और उस पुरुष ने विश्व में पाये जाने वाले सभी प्रकार के जीवों को उत्पन्न किया। आधुनिक जैव-वैज्ञानिकों द्वारा 'जीन ड्राफ्ट' तैयार कर मनुष्य के नाना स्वरूपात्मक स्वभाव के कारण को स्पष्ट कर दिया। इससे यह भी समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि भेड एक भेड को ही क्यों जन्म देती है या बेर के फल पर बेर ही क्यों होते हैं। जैव विविधता के आधार एवं कारण विज्ञान के निश्चित वस्तुनिष्ठ नियम व सिद्धान्त हैं न कि किसी परम सत्ता की लीला या क्रीडा के ऐच्छिक परिणाम। भौतिकविदों द्वारा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एवं विकास सम्बन्धी अवधारणा की जो तस्वीर हमारे सामने रखी है वह निश्चित रूप से इस मान्यता का निषेध करती है कि ईश्वर ने सात दिनों में इस सृष्टि की रचना की या पृथ्वी एक साप के फन पर टिकी हुई है और जब वह फन बदलता है या देवी माँ गुस्से में होती है तो बाढ, भूकम्प व तूफान जैसी प्राकृतिक आपदाएँ आती हैं।

वस्तुतः अध्यात्म की उत्पत्ति के गर्भ में मूल-कारण मनुष्य की अज्ञानता एवं उससे जनित भय व असुरक्षा की भावना है। जब व्यक्ति का ज्ञानात्मक जगत् अपनी शैशवावस्था में था तो मानव भयग्रस्त करने वाली अत्यन्त प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों के वैज्ञानिक नियमों को समझने में सर्वथा अनभिज्ञ था। यह मानवीय चिन्तन की वह अवस्था थी जिसमें वह नहीं जान पाता था कि आँधी, तूफान जैसी प्राकृतिक आपदाओं एवं प्रकृति की नानाविध घटनाओं व स्थितियों के क्या आधार व कारण हैं। इन्हीं प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में उसने अपने जीवन की सुरक्षा, सुख, समृद्धि तथा शांति के लिए विभिन्न देवी-देवताओं की परिकल्पना की तथा उन्हें खुश करने हेतु आहुति, बलि दी। किन्तु ज्ञान के लिए अभिशप्त मनुष्य जब घटनाओं के वास्तविक कारण को वैज्ञानिक आधारों पर जान जाता है तो वह इन घटनाओं व स्थितियों से भयभीत नहीं होता। विज्ञान जिस दर्शन व विश्वदृष्टि को लेकर अपने निष्कर्ष निकालता है उसके मूल में मनुष्य का भय नहीं अपितु नैसर्गिक ज्ञानपिपासा है जो मनुष्य की सर्जनात्मक योग्यता, उसकी तार्किक क्षमता एवं विवेक पर विश्वास कर आगे बढती है जिसमें कोई रहस्यात्मकता व अलौकिकता नहीं होती है। २१वीं सदी में प्रवेश करते-करते मनुष्य ने जिस ज्ञानात्मक जगत् को रचा, जीवन को अधिक सरल व सुखद बनाया, अपने आपको अधिक सुरक्षित किया तथा विश्वग्राम, औद्योगिकीकरण, सूचनाक्रांति जैसी ढेर सारी उपलब्धियों को हासिल किया, उनके मूल में विज्ञान की खोजें एवं वैज्ञानिक दृष्टि ही रहा है। विज्ञान मानव-इतिहास व प्राकृतिक इतिहास को अपने विश्लेषण का आधार बनाता है। वस्तुओं की सापेक्षिक अवस्था, उनका द्वन्द्वात्मक स्वरूप एवं उनकी परस्पर निर्भरता के आधार पर समग्रता को समझने पर अपने आपको केन्द्रित करती है। जबकि अध्यात्म का कोई इतिहास नहीं, विकास के मूल में कोई द्वन्द्वात्मकता नहीं, मनुष्य के पूर्व अनुभव का कोई महत्त्व नहीं। इस दर्शन में अतीत का ज्ञान वर्तमान व भविष्य की समझ को बढाने के लिए कोई आधार नहीं बनता। अध्यात्म बडे ही सरल ढंग से वस्तुओं के विकास के कारणों को वस्तुओं के बाहर ढूँढता है और भौतिकवादी द्वन्द्ववाद द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त को ठुकरा देता है कि वस्तुओं की भीतर विद्यमान अन्तर्विरोध ही उनके बदलाव का मूल कारण है।

अध्यात्म परिवर्तन को अस्वीकार करता है क्योंकि परम सत्ता में परिवर्तन की कोई गुंजाइश नहीं होती, वह अपरिवर्तनीय है। अतः अध्यात्म में जो भी परिवर्तन वस्तुओं एवं घटनाओं के स्वरूप एवं कार्य में परिलक्षित होता है वह अविद्याजनित ही होगा। यही कारण है कि कुछ अध्यात्मवेत्ता विज्ञान के निष्कर्षों में बदलाव को उसकी कमजोरी के रूप में रेखांकित करते हुए करते हैं। जहाँ परिवर्तन है वहाँ नित्यता नहीं और जहाँ नित्यता नहीं वहाँ यथार्थ ज्ञान सम्भव नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक सच्चा वैज्ञानिक अपने निष्कर्षों में अन्तिम सत्यता व निश्चितता का दावा नहीं करता। वह सदैव आगे के बदलाव को स्वीकृति देता है क्योंकि वह अपनी क्षमता की सीमाओं को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानता है और साथ ही यह भी जानता है कि पदार्थ-जगत् की सत्ता इतनी व्यापक है कि हम अभी तक ब्रह्माण्ड के खर्ववें हिस्से को भी नहीं समझ पाये हैं और इसलिए इस बात की सदैव सम्भावना बनी रहती है कि आज जो निष्कर्ष सही लगता है कल उसमें कोई परिवर्तन हो जाए या उसका और अधिक ज्ञान प्राप्त कर लिया जाये। इस अर्थ में वैज्ञानिक ज्ञान सम्भाव्य होता है। क्वांटम भौतिकी ने कणाद सिद्धान्त द्वारा दी गयी परमाणु की परिभाषा को भटका दिया क्योंकि क्वांटम भौतिकी में पहले जिसे कण समझा जाता था उसे अब एक तरंग के रूप में देखा जाता है। इसी प्रकार आईन्स्टाइन के सापेक्षता सिद्धान्त को स्टीफेन हाकिंग के अनिश्चितता सिद्धान्त से एक तरह की चुनौती मिली है। हाकिंग कहते हैं कि यदि हर वस्तु सापेक्षिक अवस्था में है और गति उसका स्वभाव है तो किसी भी कण की वास्तविक स्थिति को जानना सम्भव नहीं है। हाकिंग ने स्पष्ट किया है कि किसी भी कण के दो गुण होते हैं। एक उसकी स्थिति (पोजिशन) और दूसरा उसकी गति। समस्या यह है कि गतिशीलता के कारण हम उसकी पोजिशन को नहीं जान सकते। यदि पोजिशन जानना चाहें तो उसकी गति थामनी पडेगी। किन्तु यह अवस्था काल व समय की अवधारणा को बदल सकती है। वैज्ञानिक एडवर्ड विटन एवं स्टीफेन हाकिंग द्वारा परिकल्पित स्ट्रिंग सिद्धान्त में क्वांटम भौतिकी एवं सापेक्षिक के सिद्धान्त को जोडकर ब्रह्माण्ड की नयी तस्वीर सामने रखने की कोशिश हो रही है। स्ट्रिंग सिद्धान्त पदार्थ की इकाई परमाणु को नहीं मानता अपितु बारीक तंतुओं को मानता है, जो अतंरिक्ष में कोई निश्चित स्थान नहीं घेरते। उनमें केवल लम्बाई होती है। १९वीं व २०वीं शताब्दी के भौतिक दार्शनिक हाईजनबर्ग, डेविड बोम, फ्रीडमैन, चार्डिन, जे.एस. बेल द्वारा पदार्थ का जो सूक्ष्म रूप हमारे सामने रखा है, उससे पदार्थ की प्रारम्भिक परिभाषा में बदलाव हो सकता है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इससे हमारी प्रकृति सम्बन्धि भौतिक अवधारणा में परिवर्तन हुआ है या पदार्थ की प्राथमिकता से सम्बन्धित हमारे विचारों व मान्यताओं में कोई मूलभूत परिवर्तन आया। ये सभी सिद्धान्त पदार्थ के वस्तुगत यथार्थ को ही प्रतिबिम्बित करते हैं। इनके सम्बन्ध में नई जानकारियाँ यह सिद्ध करती हैं कि भौतिक ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि हुई है तथा उसका ज्ञान और भी समृद्ध हुआ है। वैज्ञानिक ज्ञान का अपना एक इतिहास होता है जिसको वह अपने वर्तमान शोध व निष्कर्षों का आधार बनाता है और ज्ञान की संश्लेषणात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रक्रिया को आगे बढाता है। अध्यात्म क्योंकि परम सत्ता को ज्ञान स्वरूप घोषित करता है इसलिए उसमें संश्लेषणात्मक प्रक्रिया के लिए कोई जगह नहीं होती उसकी मात्र अभिव्यक्ति पर जोर देता है।

विज्ञान व अध्यात्म के बीच जो वैचारिक विरोध बना हुआ है, उसका कारण दो विश्व-दृष्टियों की भिन्नता है जिसके मूल में पदार्थ एवं विचार की प्राथमिकता के निर्धारण का प्रश्न है। इसे सर्वप्रथम देकार्त ने मनस् व शरीर के बीच सम्बन्ध की समस्या के रूप में मानव-चिन्तन-पटल पर रखा था। बाद में बर्कले ने दृष्टि ही सृष्टि है के माध्यम से विचार की प्राथमिकी को अपनी दार्शनिक विवेचनाओं का आधार बनाया। कालान्तर में इसी दर्शन को हेगेल ने बहुत ही परिष्कृत ढंग से 'बौद्धिकता वास्तविकता है और वास्तविकता बौद्धिकता है' के रूप में प्रतिष्ठित किया था। हेगेलीय अध्यत्मवाद को १९वीं शताब्दी के अस्तित्ववादी एवं व्यवहारवादी दर्शन ने चुनौती दी। ए.जे. एयर ने तत्त्वमीमांसा का निराकरण करते हुए किसी भी विचार व घटना की सत्यता का आधार प्रमाणीकरण के सिद्धान्त को माना। दीगर बात है कि ईश्वर को अभी तक हम प्रमाणीत नहीं कर पाये हैं इसलिए एयर के दर्शन में ईश्वर विचार अर्थहीन है। जॉन ड्यूई ने व्यवहारवाद के आधार पर ज्ञान की सत्यता की कसौटी उसका व्यवहार साफल्य माना। कोई भी वस्तु, घटना, स्थिति, विचार, सिद्धान्त यदि जीवन व्यवहार में कोई परिणाम उत्पन्न करता है तो वह सत्य है। यही सिद्धान्त छठी शताब्दी में बुद्ध ने अर्थक्रियाकारित्व के रूप में घटनाओं की यथार्थता के मापदण्ड के रूप में स्वीकार किया था।

स्पष्टतः इन दो शताब्दियों में संरचित ज्ञानमीमांसा ने जिस दृष्टि को अपना आधार बनाया है वह अध्यात्म के लिए नकारात्मक वातावरण ही पैदा करती है। आज अध्यात्म की सबसे बडी विडम्बना यह है कि एक ओर वह अपनी संकल्पनाओं को प्रमाणित नहीं कर सकता है तथा दूसरी ओर विज्ञान की उपलब्धियों को जीवन से निकाल भी नहीं रहा है। ऐसी स्थिति में अध्यात्मवेत्ता धर्म को ही वैज्ञानिक बनाने पर जोर देते हैं और हर वैज्ञानिक उपलब्धि को धार्मिक स्वरूप प्रदान कर जनता के सामने रखते हैं। साथ ही अपने मूल स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए विज्ञान के साथ ताल-मेल बिठाने हेतु समय-समय पर वितर्क देते हैं। एक पादरी से जब यह पूछा गया कि विज्ञान की खोज ने क्या अध्यात्म के अस्तित्व को चुनौती दी है? तो इसके जवाब में उसने कहा अध्यात्म व विज्ञान में कोई विरोधाभास नहीं है। ये दोनों ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवनदृष्टियाँ मूल उत्स की खोज में लगी हुई हैं और सत्य का साक्षात्कार करना अपना साध्य-बिन्दु मानती हैं; इसलिए ये दोनों ही जीवनदर्शन मनुष्य के व्यक्तित्व व घटनाओं की समग्रता का ज्ञान कराते हैं। अध्यात्म घटनाओं के आन्तरिक स्वरूप को अपने अध्ययन का विषयक्षेत्र बनाता है जबकि विज्ञान उनके बाह्य तथ्यात्मक स्वरूप पर अपने आपको संगठित करती है। अध्यात्म मानव के आन्तरिक व्यक्तित्व (आत्मसाक्षात्कार) की शुचिता पर जोर देता है जबकि विज्ञान मनुष्य के शारीरिक व्यक्तित्व का विवरणात्मक विश्लेषण करती है। अतः ये दोनों ही समग्रता की प्राप्ति के आधार है।

अध्यात्म मनुष्य की आन्तरिक शुचिता को महत्त्वपूर्ण मानता है क्योंकि बाह्य व्यक्तित्व तथा उससे सम्बद्ध सुख व आनन्द परिवर्तनशील, क्षणिक एवं अस्थायी होते हैं। यह मानसिकता व्यक्ति को राग, द्वेष, मोह, लालच जैसी कुप्रवृतियों की ओर ले जाती है जो उसके पुनर्जन्म का कारण बनती है; इसलिए आत्मसाक्षात्कार ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए क्योंकि इसी मार्ग से जीव को पुनर्जन्म के कुचक्र से मुक्ति मिलती है। आज का व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप 'स्व' से विलग होकर बाह्य व्यक्तित्व को सजाने, सँवारने में लगा हुआ है जिसके कारण समाज परिग्रह, हिंसा, धोखा, चोरी जैसी मूल्यहीन एवं चरित्रहीन विकृतियों से त्रस्त है।

किन्तु यहाँ महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मानवव्यक्तित्व की आन्तरिक शुचिता, शुद्धता, आत्मबोध, स्व साक्षात्कार जैसी स्थितियाँ हैं क्या ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य के शारीरिक अस्तित्व के साथ-साथ उसका एक संवेदनात्मक जगत् भी होता है जो उसकी अनुभूतियाँ, दृष्टि विचारों, इच्छाओं, आकांक्षाओं एवं भावनाओं से संरचित होता है। जीवन का यह भावात्मक पक्ष ही मनुष्य को मनुष्य के साथ जोडता है व उसे एक सामाजिक सत्ता के रूप में परिभाषित करता है जिसमें उसकी चेतना महत्त्वपूर्ण वाहक होती है। किन्तु अध्यात्म जिस आन्तरिकता की प्राप्ति पर जोर देता है वह मनुष्य के इस संवेगात्मक जगत् से नितान्त भिन्न किसी नित्य आत्मा तत्त्व के अस्तित्व की स्वीकृति पर मंडित है। जिसमें मनुष्य के बाह्य व्यक्तित्व को अविद्या एवं कर्मबन्ध का परिणाम मानकर उसके 'अस्तित्व' को गौण करके देखा जाता है। यह दृष्टि स्थापित करती है कि 'चेतना' पदार्थ से प्राथमिक है। वह अपने शुद्धतम रूप में अशरीरीअवस्था में रहती है। धर्मग्रन्थों में परमसत् को निराकार, निर्विकार एवं अशरीरी रूप में परिभाषित किया गया है। इससे यह निगमित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होंता है कि अध्यात्म में विचार प्राथमिक है और पदार्थ उसका उप-उत्पात एवं आभासित रूप है। किन्तु जैव-वैज्ञानिकों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि चेतना पदार्थ की ऐतिहासिक विकासप्रक्रिया में उत्पन्न उसका ही एक विशिष्ट आगन्तुक गुण है जिसको जीवन्त बनाये रखने हेतु अनुकूल भौतिक व सामाजिक परिस्थितियों एवं शारीरिक संरचना की आवश्यकता है। जब ये अनुकूल परिस्थितियाँ विद्यमान नहीं रहती हैं तो चेतना भी तिरोहित हो जाती है जिसे हम मृत्यु कहते हैं। ऐसी चेतना में अलौकिकता एवं नित्यता जैसी अवधारणा जगह नहीं बना पाती है। डेविड ह्यूम ने कहा था कि जब मैं मेरे अन्दर झाँकता हूँ तो मेरी अनुभूतियों, भावनाओं, इच्छाओं एवं संवेदनाओं के अतिरिक्त ऐसे किसी नित्य तत्त्व को नहीं पकड पाता हूँ जिसे में आत्मा नाम दे सकूँ। इन अनुभूतियों का भी जब मैं विश्लेषण करता हूँ तो पाता हूँ कि मेरा यह संवेदनात्मक जगत्, बाह्य जगत् से जो कुछ भी प्राप्त किया जाता है, उसी से जनित एवं संरचित होता है। लेनिन ने भी कहा था कि आन्तरिकता मनुष्य के मस्तिष्क में बाह्यजगत् व जीवन के प्रतिबिम्बन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। एक गरीब व भूखे व्यक्ति के लिए यह दुनिया नर्क हो सकती है क्योंकि उसने यही अनुभव किया किन्तु एक रईस के लिए यही दुनिया स्वर्ग बन जाती है। आधुनिक समय में योग की अवधारणा को और अधिक वैज्ञानिक बनाने पर जोर दिया जा रहा है किन्तु यहाँ हमें यह समझ लेना चाहिए कि योगविद्या मनुष्य के मस्तिष्क की ही क्षमता को और अधिक विकसित करने की प्रणाली है जिसका निरन्तर अभ्यास करने पर मस्तिष्क की एकाग्रता बढती है किन्तु इससे अलौकिकता व नित्यता जैसी दिव्य सत्ता का जामा पहनाना होगा। समाज की वर्तमान विकृतियों व अमानवीय कृत्यों के मूल कारण का ठीक से विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यदि समाज की विद्यमान् आर्थिक व सामाजिक व्यवस्थाएँ असमान, भेदभावपूर्ण एवं गैर-बराबरी जैसी स्थितियों पर संरचित एवं संचालित ही रही हों तो एक स्वस्थ समाज की परिकल्पना कभी भी यथार्थ नहीं बन सकती। ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक उपलब्धियाँ भी शासक वर्ग के लिए शोषण का माध्यम बन जाती हैं। एक वैज्ञानिक समाज को अपनी खोज के माध्यम से प्रकृति के किसी आयाम का ज्ञान व जीवन के वैविध्य को समझने की वस्तुगत दृष्टि दे सकता है। किन्तु इसका उपयोग कैसे होगा? यह उस समाज की राजनैतिक व आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर करता है। हिन्दुदर्शन व संस्कृति मूलतः अध्यात्म साधनावाली सांस्कृतिक संरचना है जिसमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मसिद्धि, आत्मसाक्षात्कार एवं अद्वैत की अनुभूति जैसी सद्घोषणाएँ की गयी हैं जहाँ मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई अन्तर नहीं रह जाता है। किन्तु व्यवहार में वर्णव्यवस्था ने समाज के बहुत बडे समुदाय को शूद्र कहकर उसे मानव की श्रेणी में रखने से ही मना कर दिया। शंबूक-वध-प्रकरण इसी मानसिकता का द्योतक है। अतः किसी भी समाज में जब आदर्श एवं व्यवहार के बीच इतनी गहरी खाईं हो तो वहाँ मूल्यात्मक जीवन एवं मानवीय गरिमा को संरचित एवं विकसित करने वाली मान्यताओं का बने रहना असम्भव हो जाता है। अध्यात्म इस खाईं को और अधिक गहरा करने का ही औजार रहा है। यह इसके मानव समाज में रही भूमिका में देखा जा सकता है। अध्यात्म शोषित वर्ग को 'आन्तरिक नित्यता के दर्शन करो' के नाम पर ऐसे आदर्श लोक में पहुँचा देता है जिसमें वे सभी पूर्णताएँ हैं जिन्हें वे इस जीवन में अपूर्णता के रूप में भोगता है। मनुष्य इस काल्पनिक सुख में अपने वास्तविक दुःख को भूल जाता है। उसके मूल कारण को पहचान ही नहीं पाता है और पुनर्जन्म, भाग्यवाद जैसी अवधारणाएँ उसकी संघर्षात्मक क्षमता को कुंद व दिशाविमुख कर देती हैं। यही कारण है कि नीत्शे द्वारा 'ईश्वर मर चुका है' की घोषणा कर देने पर भी मनुष्य ईश्वर के अस्तित्व को लेकर ऊहापोह में रहता है। आज के मनुष्य के पास एक ओर नीत्शे जैसे दार्शनिकों की दृष्टि है तो दूसरी ओर जिस आर्थिक-सामजिक व्यवस्था में वह जीता व रहता है, वे 'ईश्वर है' की मान्यता को और अधिक मजबूत बना रही हैं। अन्यथा ईश्वर की अवधारणा को जिन दो कारणों - एक ब्रह्माण्ड का उत्पन्नकर्ता एवं दूसरा मनुष्य का कर्मफल दाता के रूप में - लाया गया था, वे चूँकि स्पष्ट हो गए हैं इसीलिए अब उसे जीवन से निकल जाना चाहिये था।

डा. सुधा चौधरी
व्याख्याता, दर्शनशास्त्र
राजकीय मीरा कन्या महाविद्यालय,
उदयपुर (राज.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्य मानव के व्यावहारिक स्वरूप की दार्शनिक विवेचना

अतीन्द्रिय सत्ताएँ रहस्यात्मक हैं। प्राचीन काल से मानव इस रहस्य को बूझने की कोशिश करता रहा है। भारतीय संस्कृति की मान्यतानुसार अतीन्द्रिय-सत्ताएँ मानव-जीवन का आधार ही नहीं वरन् उद्देश्य भी हैं, विश्वास पर आधारित इनकी सत्ता को केन्द्र मानकर जीवन के अन्य व्यापार संपन्न होते हैं। आप्त प्रमाणों के ज्ञान के आधार पर इनकी अनुभूति के संदर्भ में हम स्थूल रूप से यह कह सकते हैं कि इस विश्व में कुछ प्रतिशत मानव ऐसे होते हैं जो अतीन्द्रिय सत्ताओं का मानव-जीवन पर प्रभाव, आपसी सम्बन्ध, उनके रहस्यादि को जानते थे, जानते हैं और शायद जान जायेंगे। इसी प्रकार इनसे कुछ ज्यादा प्रतिशत मानव ऐसे हैं जो अतीन्द्रिय सत्ताओं की सत्यता जानने हेतु गंभीरतापूर्वक जिज्ञासा व प्रयास करते हैं। किन्तु यह निर्विवाद है कि अधिकांश प्रतिशत मानव अतीन्द्रिय सत्ताओं के संदर्भ में सुनते हैं, विश्वास करते हैं, शंका करते हैं तथा जन्म से मृत्यु-पर्यन्त इसी ऊहापोह अवस्था में रहते हैं, उन्हें कभी अंतर्ज्ञान नहीं होता है। इसी प्रकार के लोगों को हमने सामान्य मानव कहा हैं। सामान्य मानव द्वारा अतीन्द्रिय सत्ताओं की शंका के संदर्भ में कई प्रश्न ऐसे हैं जिन्हें सदैव प्रासंगिक माना जा सकता है ये प्रश्न इस प्रकार हैं कि क्या अतीन्द्रिय सत्ताओं की मान्यता मानव की अटूट अंधश्रद्धा है ? अथवा इसका स्वीकरण मानव की नियति है ? क्या इन्हें स्वीकार कर मानव दुःखादि समस्याओं से मुक्त हो जाता है? या यह यथार्थ परिस्थितियों और दुःखादि समस्याओं से पलायन का माध्यम है ?

यह सर्वविदित है कि अतीन्द्रिय सत्ताओं का ज्ञान या क्षेत्र मानव के इन्द्रियादि सामर्थ्य के अंतर्गत नहीं होता है। अतः जिस प्रकार इनकी सिद्धि-असिद्धि अर्थहीन है उसी प्रकार इन्हें जानने के लिये कोई निश्चित मार्ग या साधन नहीं है। ऊपर लिखे गये प्रश्नों की जाँच के लिये हमें मानव के व्यावहारिक स्वरूप को निर्धारित करने वाले अनिवार्य कारकों, उनकी दिशा, बद्धता, उद्देश्य आदि का विवेचन करना होगा। इसे प्रारूप-१ द्वारा स्पष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया गया है।

प्रारूप के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि मानव के व्यावहारिक स्वरूप में चार मूल घटक या निर्माता हैं -

(अ) चार मूल घटक या निर्माता

१. प्राप्त जैविक शरीर
२. बाह्य साधन या पर्यावरण
३. पारिवारिक-सामाजिक सम्बन्ध
४. व्यक्तिगत सोच, दृष्टिकोण तथा भविष्य चिंतन

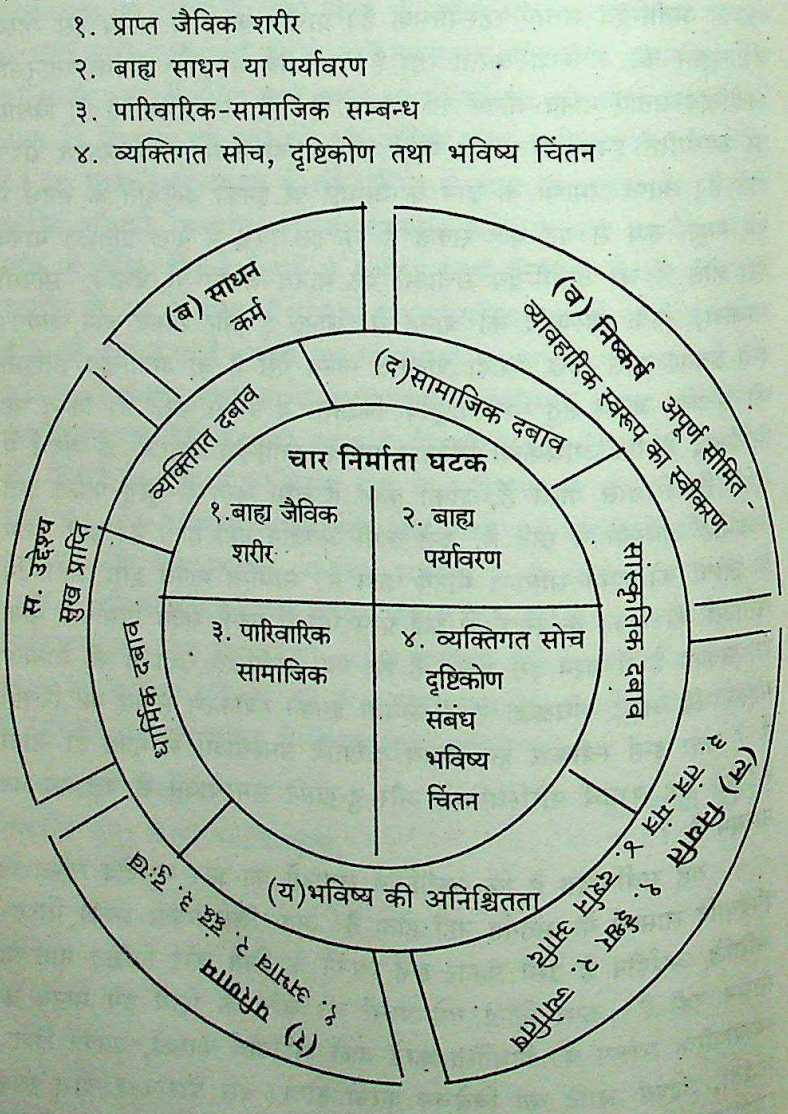

प्रारूप : १ - मानव का व्यावहारिक स्वरूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त चारों घटक मानव के व्यावहारिक स्वरूप के मुख्य अनिवार्य कारक, निर्माता हैं । यद्यपि इन चारों में अविच्छिन्न सम्बन्ध रहता है किन्तु सुविधा हेतु इनका विभाजन किया गया है। ये चारों समय, परिस्थिति व प्रयासों द्वारा परिवर्तनशील होते हैं। इनकी व्याख्या अपेक्षित है। प्रत्येक मानव की बुद्धि का स्तर, विचारशक्ति, कल्पनाशक्ति आदि गुण उसे दूसरों से भिन्न बनाते हैं। जन्म पश्चात् प्राप्त जैविक शरीर में बुद्धि, आनुवंशिकता सर्वप्रमुख हैं। मनोविज्ञानी पियर्सन कहते हैं कि भीतर वंशानुक्रम बाह्य वातावरण की अपेक्षा सात गुने से भी ज्यादा प्रभावी है। प्रख्यात समाजशास्त्री मैकाइवर के अनुसार जीवन का प्रत्येक लक्षण इन दोनों (आंतरिक आनुवंशिकता तथा बाह्य पर्यावरण) की उपज है। मानव क्या कर सकता है? इस चयन में बुद्धि, आनुवंशिकता तथा शरीर सहायक बनते हैं, किन्तु वह क्या कर पाता है इसमें बाह्य पर्यावरण की निर्धारक भूमिका होती है।

मानव विशेष देश, काल, जाति, परिवार आदि में जन्म लेता है, तात्कालिक परिस्थितियाँ व बाह्य साधन उसके जीवन में कार्यक्षेत्र के चयन में सहायता करते हैं। उसके परिवार की आर्थिक अवस्था तथा अन्य उपलब्ध संसाधन मृत्युपर्यन्त उसके कर्म को संचालित व नियमित करते रहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान ने यह सिद्ध भी किया है कि बच्चा वयस्क आयु में उन्हीं मानसिक प्रवृत्तियों तथा चरित्र को अभिव्यक्त करता है, जो वह परिवार से प्राप्त करता है। इसी प्रकार यदि जैविक विरासत से मानव का स्थूल रूप उजागर होता है तो सामाजिक विरासत उसके व्यवहार, अनुभव, अभिवृत्तियों का निर्माण करती है। परिवारिक तथा सामाजिक सम्बन्धों से मानव की आनुभविक शक्ति निर्मित होती है अतः ये सम्बन्ध मानव के व्यावहारिक स्वरूप के महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

प्रत्येक मानव पर हर बाह्य घटना का प्रभाव भिन्न-भिन्न पडता है तथा उन घटनाओं के संदर्भ में प्रत्येक मानव की प्रतिक्रिया भी अलग-अलग होती है। इसका कारण मानव की व्यक्तिगत सोच, उसका स्वयं का दृष्टिकोण होता है। इसी सोच व दृष्टिकोण से मानव व्यावहारिक जीवन में संघर्ष, दुख, समस्याओं का सामना करते हुये भविष्य पर ध्यान केन्द्रित करता है। समाजशास्त्री किम्बाल यंग ने लिखा है कि भविष्य के लिये योजना बनाना हमारे समाज में परिपक्व व्यक्ति का लक्षण है। सही योजना व्यावहारिक उद्देश्य तथा अर्थ को परिभाषित करती है तथा वस्तु या घटना की मूल्यवत्ता या मूल्यहीनता के मापदण्डों का निर्धारण करती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस व्यावहारिक स्वरूप के चारों निर्माता घटकों की विवेचना से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मानव गुण, कर्म, सोच, शरीर, बुद्धि तथ्यों के रूप में सीमित स्वरूपवान् है तथा इस सीमित स्वरूप से वह न तो बच सकता है, न ही इसमें किन्हीं अतिरिक्त शक्तियों का स्थायी विकास कर सकता है।

(ब) - (स) : साधन तथा उद्देश्य -

मानव के व्यावहारिक स्वरूप में कोई शक्ति या माध्यम है तो वह कर्म है। कर्म साधन के रूप में स्वरूपगत है । हम यह कह सकते हैं कि कर्म मानव के जीवन से जुडी ऐसी बाध्यता है जिसे वह खत्म नहीं कर सकता है क्योंकि स्वरूपतः इसका व्यक्तिकरण अनिवार्य है, यह स्वरूपगत प्रतिबद्धता है। यह भी निसंदिग्ध है कि कर्मरूपी साधन द्वारा प्रत्येक मानव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सुख प्राप्त करना चाहता है। यही सामान्य मानव के जीवन का उद्देश्य भी है। दूसरे शब्दों में मानव का भोगपरक स्वभाव होता है तथा इस सुखभोग पूर्ति में कर्म माध्यम या सहायक है। मानवीय जीवन के सारे प्रयासों की धुरी उसकी इच्छायें हैं जिनकी अनुकूलता सुखदायी तथा प्रतिकूलता दुःखदायी होती है।

(द) - (य) : दबाव तथा भविष्य की अनिश्चितता -

सामान्यतः मानव अपने कर्मों द्वारा सुख प्राप्त करना चाहता है किन्तु उसके जीवन में कई प्रकार के दबाव व दुःख भी उत्पन्न होते हैं जिससे मानव का व्यवहार तथा उसके कर्मों की दिशा प्रभावित होती है। ये दबाव प्रत्येक मानव में एक ही प्रकार के नहीं होते हैं। इन्हें मुख्यतः चार प्रकार से विभाजित किया गया है किन्तु इनके अनेक प्रकार हो सकते हैं।

१. व्यक्तिगत दबाव - दूसरों से व्यवहारगत विरोध, दृष्टिकोण, विभिन्नता आदि से यह दबाव उत्पन्न होता है।

२. सामाजिक दबाव - सामाजिक नियमों, कर्तव्यों के पालन, पारिवारिक जिम्मेदारियाँ जैसे आर्थिक स्थिति, बच्चों के पालन-पोषण, बीमारियाँ जैसे दबाव आदि।

३. धार्मिक दबाव - धार्मिक मान्यताओं के प्रति व्यक्तिगत विरोध, दूसरे के जाति, धर्म के प्रति भावात्मक सहयोग आदि दबाव इसके अन्तर्गत आते हैं।

४. सांस्कृतिक दबाव - अन्य संस्कृतियों के प्रभाववश अपने देश की संस्कृति की विशेषताओं, मूल्यों आदि के संदर्भ में उत्पन्न द्वंद्व से उपजे दबाव सांस्कृतिक दबाव हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन दबावों या तनाव के साथ-साथ सर्वाधिक प्रभावपूर्ण तथ्य मानव जीवन में भविष्य की अनिश्चितता है। मानव सदैव इन दबावों या तनावों के रहते अनुकूल स्थिति साधने का प्रयास करता है, किन्तु कभी-कभी अनेक प्रयासों के बावजूद असफलता हाथ लगती है तो कभी-कभी स्वतः सफलता प्राप्त हो जाती है। यह मानव के जीवन में भविष्य की अनिश्चितता का रूप है जो प्राप्ति, अप्राप्ति, लाभ, हानि, सुख, दुःख आदि संघर्ष व परिणामों के मध्य में निरन्तर प्रवाहमान है तथा इससे मानव का व्यावहारिक उद्देश्य प्रभावित होता रहता है।

इस प्रकार यह व्यावहारिक मानव का सामान्य जीवन-चक्र है वह कुछ अनिवार्य निर्माता घटकों तथा कुछ अनिवार्य दबावों के रहते हुये सुख प्राप्ति तथा दुःख के बचने का प्रयास करते रहता है। इस सामान्य जीवन-चक्र में परिवर्तन के मूल तीन कारण हैं जो मानव को इस सामान्य व्यावहारिक जीवन से परे सोचने पर बाध्य करते हैं।

(व) परिणाम -

१. अभाव - भोक्ता-भोग सम्बन्ध में अभाव से इच्छाओं का जन्म होता है। इच्छाएँ अनन्त होती हैं, लेकिन शारीरिक व मानसिक सामर्थ्य तथा बाह्य अनुकूलता सीमित होने के कारण अभाव हमेशा बना रहता है। इससे असंतुष्टता उत्पन्न होती है।

२. मानव की सभी इच्छाएँ पूरी नहीं हो सकती हैं तथा मानव इनकी पूर्ति हेतु किए जाने वाले कर्म से बच नहीं सकता है। इससे द्वंद्व का निर्माण होता है। यह द्वंद्व मानव को इस चिंतन हेतु बाध्य करता है कि क्या उसके जीवन का उद्देश्य मात्र भोग हेतु संघर्ष करना है ? तथा यह भोग जो उसे अपने कर्मों से प्राप्तव्य है, क्या वह स्थायी है ? आदि।

३. दुःख - इस जगत् में सकारत्मक तथा नकारात्मक प्रत्यय समान, सत्य रूप में उपस्थित होते हैं। यदि प्रेम, सफलता, शुभ आदि सत्य है तो घृणा, असफलता, अशुभ आदि भी सत्य है। किन्तु मानव सदैव अनुकूल व्यवस्था चाहता है जिसके निर्माण न होने पर उसे दुःख होता है तथा यह दुःख उसे भाग्य या अतीन्द्रिय सत्ताओं जैसे किसी अन्य जीवन अर्थ के लिये प्रेरित करता है।

(ल) - (व) : नियति तथा निष्कर्ष -

यहाँ नियति से तात्पर्य भाग्य न होकर 'नियत' शब्द से उत्पन्न अर्थ से है अर्थात् व्यावहारिक मानव के सामान्य जीवन-चक्र में जब अभाव, द्वंद्व, दुःख स्थायी या ज्यादा काल तक विद्यमान् रहते हैं तब नियत रूप से वह अन्य जीवन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिंतन हेतु बाध्य होता है। यह मानव के जीवन का विरोधाभासी रूप है वह अपने सुखों को स्थायी करना चाहता है। उसमें शाश्वतता की अदम्य अभीप्सा है। उसमें पूर्ण होने की इच्छा है किन्तु उसका स्वरूप, उसके सारे साधन व प्रयास उसे अपूर्ण सिद्ध करते हैं। यही नहीं, उसके अभावों, द्वंद्वों, दुःखों की निरंतरता व उनके निराकरण के परिणाम भी अस्थायी होते हैं तब इस स्वाभाविक, परिवर्तनशील, संघर्षमय, अपूर्ण, सीमित व्यावहारिक जीवन की सत्यता स्वीकार न कर पाने की छटपटाहट के कारण मानव कोई पूर्ण बौद्धिक आश्रय की मानसिक आवश्यकता को तलाश करता है तब वह अतीन्द्रिय सत्ताओं, ज्योतिष्य, तंत्र-मंत्र, दर्शन आदि के द्वारा जीवन के नये अर्थों को समझने की कोशिश करता है वह इन्हें जानकर जीवन को पूर्ण करना चाहता है। यह नियति है। मानव के सीमित-स्वरूप से उत्पन्न दुःख व जिज्ञासा उसे इस दिशा में खींचकर ले जाते हैं तथा वह ईश्वर, भाग्य, आत्मा आदि को अपने जीवन का नियंत्रणकर्ता मान लेता है तथा अपनी समस्याओं और दुःखों का निदान इनमें ढूँढने लगता है। किन्तु जैसा हमने प्रारंभ में ही स्पष्ट कर दिया है कि इन्द्रियों से परे की सत्ताओं की अनुभूति या ज्ञान के सूत्र मानव के पास नहीं है इसलिए यह अन्तर्ज्ञान कब, किस प्रकार, किस माध्यम से होगा उसे निश्चित नहीं किया जा सकता है। अतएव सामान्य मानव न तो अपनी समस्याओं और दुःखों का समाधान अपने व्यावहारिक स्वरूप से चाहता है और न ही इन्हें अतीन्द्रिय सत्ताओं आदि द्वारा सुलझा पाता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि अतीन्द्रिय सत्ताओं पर आश्रित रहना अनिवार्य नहीं है। यह सामान्य मानव की ससीमता को संतुष्ट करने का साधन मात्र है। इससे सामान्य मानव के व्यावहारिक जीवन की समस्याएँ या दुःख खत्म नहीं हो पाते हैं। मानव का अस्तित्व जब तक रहता है दुःख व समस्याएँ भिन्न-भिन्न रूप में परिवर्तित होकर उपस्थित होती रहती हैं। अतः व्यावहारिक जीवन के यथार्थ स्थिति – अपूर्णता को स्वीकार कर उसमें सामंजस्य आदि स्थापित करने तथा इसी में समस्याओं के समाधान ढूँढने से दुःखादि सहन करने की क्षमता उत्पन्न होती है। यदि मानव इस सीमित, अपूर्ण स्वरूप की सच्चाई को स्वीकार कर ले तो शायद अतीन्द्रिय सत्ताओं के रहस्य स्वयमेव स्पष्ट हो सकते हैं।

सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र
शासकीय छत्तीसगढ महाविद्यालय,
रायपुर (छत्तीसगढ)

डा. हरनामसिंह अलेरजा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचर्चा में

– १ –

'परामर्श' (मार्च-अप्रैल-मई २००१) के अकं में अपने संपादकीय में जो विचार व्यक्त किये हैं, मुझे लगता है कि उसे दर्शन के पाठकों, लेखकों प्राध्यापकों ने गंभीरता से लेना चाहिये। आपने एक दुखती रग पर अंगुली रखते हुए लिखा है कि 'दूसरों के विचारों की संपन्नता में सहभागी होकर ही अपने विचारों के स्तर को बढाया जा सकता है।' दुर्भाग्य की बात है कि 'परामर्श' में छपे संपादकीय व लेखों पर कोई प्रतिक्रिया पढने को नहीं मिलती। इसका एक कारण तो समझ में आता है कि भिन्न भिन्न क्षेत्रों में रूचि रखने वाले लेखकों के लेखों पर उन-उन क्षेत्रों में रुचि न रखने वाले लेखकों की प्रतिक्रियाएँ नहीं आ सकतीं। लेकिन समान विषयों में रूचि रखने वाले लेखकों ने तो कम से कम अपनी प्रतिक्रियाएँ लिख भेजनी चाहिये। लेकिन ऐसा हो नहीं रहा है जो कि एक खेदजनक बात है।

खैर, इसी अंक में श्री कालीचरण पाण्डेय का लेख 'विटगेन्स्टाइनः व्यक्तित्व व कृतित्व' पढकर लगा कि उन्होंने उक्त लेख आनन फानन में लिख डाला है। उनके लेख का उद्देश्य विटगेन्स्टाइन की कृतियों में उनके जीवन का प्रभाव बताया है जिसमें वे असफल रहे हैं सिवाय एक उदाहरण के कि विटगेन्स्टाइन के अनुसार दर्शन पर चुटकुलों या प्रश्नों से भरी पुस्तक लिखी जा सकती है और इसके लिये उन्होंने 'फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस', विभाग २५०, से एक सटीक उदाहरण भी दिया है '... कोई कुत्ता क्यों दर्द का बहाना नहीं कर सकता ? क्या वह अत्यन्त ईमानदार है ?' (परामर्श, पृ.११) लेकिन विटगीनस्टीन का जीवन तो दर्शन पर चुटकुलों व प्रश्नों भरी शैली में पुस्तक लिखी जा सकने के एक साधारण से विचार तक तो सीमित नहीं है और न तो विश्वविद्यालयों में अध्यापन की नौकरी और दार्शनिक पत्रिकाओं में लेख लिखने के प्रति तिरस्कार की भावना रखने तक ही।

विटगीनस्टीन एक फक्कड किन्तु तुनकमिजाज संत से रहे हैं। तमाम संपत्ति त्याग कर उन्होंने दार्शनिक समस्याओं के अंतिम समाधान की खोज का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीहड मार्ग चुना। मैत्री सम्बन्धों में वफादार रहने और वफादारी की अपेक्षा करनेवाले वे अत्यन्त संवेदनशील व्यक्ति रहे हैं। मैत्री सम्बन्धों में तनिक भी खोट भी भनक पाते ही वे उखडकर सम्बन्ध तक तोड देते थे। लेकिन साथ ही साथ वे अत्यन्त अहंकारी और नम्रता से शून्य भी थे। रसेल व मूर जैसे गुरुओं ने उन्हें आगे लाया। उनकी प्रशंसा में इतना तक कह डाला कि वे (विटगेन्स्टाइन) दार्शनिक समस्याओं को समझने व सुलझाने में हमसे अधिक सक्षम थे। यही प्रशंसा उनके दिमाग में घुस गई थी फलस्वरूप अपने बुजुर्ग गुरुओं के प्रति भी वे धृष्टतापूर्ण बर्ताव तक कर डालते थे। वे अपने चाटुकार चेलों से घिरे रहना पसंद करते थे प्रतिभा रखने वाले सहकर्मियों आगे आने देते थे (A. J. Ayer : Part of My Life,132, Oxford University Press,1977) अेयर बताते हैं कि विटगेन्स्टाइन कैसे अपने विद्यार्थियों को धाक में रखते थे और उन्हें स्वयं की प्रशंसा भरे लेख पत्रिकाओं में लिखते के लिये प्रेरित करते थे (वही p. 304-5) नार्मन मैल्कम, एन्सकोम्बे, जॉर्ज पिचर, डेविड पियर्स, मैक्सब्लैक इत्यादियों ने विटगेन्स्टाइन के जीवन काल में तो कभी 'ट्रैक्टेटस' पर एक लेख भी नहीं लिखा क्योंकि वे जानते थे कि विटगेन्स्टाइन उन्हें मूर्ख कहने से नहीं चुकेंगे चाहे लेख कितना ही सशक्त क्यों न हो। लेकिन उनकी मृत्यु के बाद इन चेलों ने पैगम्बर बनने की लालच में विटगेन्स्टाइन को खुदा कहना शुरू कर दिया और जिस रसेल के कारण ('ट्रैक्टेटस' का परिचय लिखकर उन्होंने उक्त ग्रंथ को समझने की कुंजी दी थी) वे विटगेन्स्टाइन को समझ सके थे उन्हीं रसेल जैसे महान् उदारवादी दार्शनिक को विटगेन्स्टाइन से कम मौलिक व प्रतिभाशाली चिंतक घोषित करना शुरू कर उनका बेहद बढाचढाकर मूल्यांकन किया। स्वयं विटगेन्स्टाइन की बौद्धिक बेईमानी तब उजागर हो जाती है जब वे 'ट्रैक्टेटस' में व्यक्त सरल नाम व सरल प्रतिज्ञप्ति और सरल विषय व आण्विक तथ्य का उदाहरण देना आवश्यक नहीं समझते थे क्योंकि वह अनुभवगत व गौण महत्त्व का कार्य है जबकि वे तो तर्कतः 'सरल' की अवधारणा तक पहुँचे थे और इस अवधारणा की युक्तियुक्तता से पूर्णता संतुष्ट थे। (लेकिन जब उन्होंने अपने इस विचार को त्यागकर 'फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस' लिखा तो सरल नाम 'यह' को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर उसकी अनर्गलता का खंडन किया (फि. इ. विभाग, ३८) जबकि 'यह' सरल नाम रसेल ने अपने ग्रंथ 'फिलोसफी ऑफ लॉजिकल एटमिज्म' में दिया था। उपरोक्त सारी चारित्रिक व बौद्धिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषताओं की छाप उनके प्रमुख ग्रंथों यथा 'ट्रैक्टेटस' व 'फि. इ.' पर पडी है, ऐसा कहना कुछ ठीक नहीं होगा। विटगेन्स्टाइन के व्यक्तित्व और कृतित्व में मेल होने या न होने का प्रश्न उठाना ही गलत है।

श्री पाण्डेय लिखते हैं कि 'विटगेन्स्टाइन के अनुसार वह जिसके बारे में कुछ कहा जा सकत है (सेइंग) और वह जिसके बारे में कुछ भी कहा नहीं जा सकता है बल्कि जिसे केवल दर्शाया जा सकता है (शोइंग) के बीच अन्तर करना ही ट्रैक्टेटस का उद्देश्य है। शोइंग के अन्तर्गत धर्म व नीतिशास्त्र आते हैं इसलिये ये ऐसे विषय हैं जिनके बारे में कुछ कहना अयुक्तियुक्त अपलाप होता है।' (परामर्श, पृ.९)

श्री पाण्डेय सेइंग व शोइंग का भेद किस प्रश्न के हल के लिये विटगेन्स्टाइन ने दिया था, इसे ठीक से नहीं बता पाये हैं। और तो और सेइंग व शोइंग का भेद विटगेन्स्टाइन ने नीतिशास्त्र व धर्मशास्त्र पर लागू नहीं किया (यहाँ यह भी बताना आवश्यक है कि उन्होंने नीतिशास्त्र व धर्मशास्त्र को एक नहीं माना अपितु नीतिशास्त्र व सौंदर्यशास्त्र को एक माना) बल्कि द्वितीय-स्तरीय भाषा (Second-order language) के विकल्प के रूप में किया है। '... In the world everything is as it is and happens as it does happen. In it there is no value – and if there were, it would be of no value (Tractatus, 6.41) 'It is clear that ethics cannot be expressed. Ethics is transcendental. (Ethics and aesthetics are one) (वही, ६.४२१) उन्होंने transcendental का अर्थ केवल वस्तुनिष्ठ न होना लिया है कि अगम्य, पारलौकिकता लिया है। वे तर्कशास्त्र को भी transcendental कहते हैं, 'Logic is not a theory but a reflection of the world. Logic is transcendental. (वही, ६.१३) वस्तुतः कथन करने (सेइंग) व दर्शाने (शोइंग) का भेद उन्होंने तार्किक आकार पर लागू किया है। उनके अनुसार सरल प्रतिज्ञप्ति (elementary proposition) आण्विक तथ्या (atomic fact) का कथन करती है क्योंकि दोनों में तार्किक आकार (Logieal form) की समानता होती है। किन्तु तार्किक आकार पर कोई कथन नहीं किया जा सकता वरन उसे केवल दर्शाया ही जा सकता है। 'What can be shown connot be said.' (वही 4.1213) 'Propositions cannot represent the logical form : this mirrors itself in the propositions.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

That which mirrors itself in the propositions. That which mirrors itself expresses itself in language, we cannot express by language. The propositions show the logical form of reality. They exhibit it. (वही, ६.१२१)

तार्किक आकार की समानता पर कोई कथन करना ही अर्थहीन हो जाता है क्योंकि अर्थ व सत्यता के जो निकष ट्रैक्टेटस में दिये गये हैं उनके आधार पर तार्किक आकार विषयक अभिव्यक्ति अर्थहीन हो जाती है। वे निकष हैं कि सरल प्रतिज्ञप्ति विशेषनामों का संयोजन होती है और आण्विक तथ्य सरल विषयों (simple objects) का संगठन होता है। विशेषनाम सरल विषयों को निर्देशित करते हैं और विषय विशेषनाम का अर्थ होते हैं तथा आण्विक तथ्य की उपस्थिति या अनुपस्थिति सरल प्रतिज्ञप्ति को सत्य या असत्य बनाती है। स्पष्ट है कि इन निकषों के आधार पर तार्किक आकार विषयक कथन सत्य-असत्य तो दूर, अर्थपूर्ण भी नहीं रह जाते। यही कारण है कि विटगेन्स्टाइन ने ट्रैक्टेटस के कथनों को भी अर्थहीन माना है। 'My propositions are elucidatory in this way : he who understands me finally recognizes them as senseless. ...He must surmount these propositions; then he sees the world rightly. (वही. ६.५४) अतः स्पष्ट हो जाता है कि सेइंग व शोइंग का भेद नीतिशास्त्र के कथनों पर लागू नहीं होता क्योंकि नीतिशास्त्रीय कथन वर्णनात्मक न होकर अवर्णनात्मक होते हैं लेकिन अर्थहीन नहीं होते। हाँ ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म विषयक धर्मशास्त्रीय कथन ट्रैक्टेटस के निकष के अनुसार निश्चय ही अर्थहीन होते हैं।

श्री पाण्डेय कहते हैं कि 'उत्तरवर्ती विटगेन्टाइन अर्थात् विटगेन्स्टाइन ने १९२९ के बाद जो कुछ लिखा, पर किस हद तक बाह्य विचारों का प्रभाव पडा, कहना मुश्किल है। उत्तरवर्ती विटगेन्स्टाइन के विचार पूर्णता मौलिक हैं। ...नॉर्मन मैल्कम के अनुसार ''ट्रैक्टेटस''के लेखक ने फ्रेगे और रसेल से सीखा। परन्तु ''फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस'' के लेखक का कोई पूर्ववर्ती नहीं था।' (परामर्श, पृ. ८-९)

लेकिन यह मिथ्या मान्यता है जिसे विटगेन्स्टाइन के चेलों ने खूब प्रचारित किया। आखिर फि. इ. के मौलिक विचार कौन से हैं ? मोटे तौर पर कहा जाता है कि फि.इ. में प्रमुखता से दर्शन का स्वरूप व उद्देश्य निर्धारित करना, भाषा की अर्थवत्ता को दैनंदिन जीवन के संदर्भों में निर्धारित कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दार्शनिक समस्याओं का निमूर्लन करना और मनस्-दर्शन की विस्तार से चर्चा करना रहा है।

वस्तुतः विटगेन्स्टाइन के दर्शन विषयक विचारों से दर्शन की 'निरर्थक' समस्याओं का सचमुच निर्मूलन होता है या अन्य रूपों में वही समस्याएँ पुनः उभरकर सामने आती हैं, यह विवाद का विषय हो सकता है लेकिन दर्शन को निरर्थक व गुजरे जमाने की विचारप्रणाली बतानेवाले विटगेन्स्टाइन पहले विचारक नहीं हैं। कार्ल मार्क्स ने भी यही विचार व्यक्त किये थे। लेकिन दार्शनिक समस्याएँ हैं कि मिटने का नाम नहीं ले रही हैं और उनपर चिंतन अभी भी जारी है।

उसी तरह फि.. इ. का भाषा-दर्शन भी एकदम मौलिक नहीं है। रसेल ने भी शब्द का अेकान्तिक रूप से (in isolation) निर्धारित नहीं होना स्वीकार किया था। उन्होंने भी भाषा के अनेक कार्य माने थे व एकशब्दीय वाक्य की वास्तविकता को माना था तथा भाषा को संदर्भों में ही अर्थ प्राप्त होता है इसे विटगेन्स्टाइन के फि.इ. के पहले ही व्यक्त किया था यद्यपि आरंभ में उन्होंने वर्णन-सिद्धान्त में शब्दों/विशेष-नामों को अर्थ अलग अलग प्राप्त होता है कहा था व केवल निश्चित वर्णनों (definite descriptions) को ही संदर्भों से अर्थ प्राप्त होना माना था। 'In chapter IV of the "Principles" it is said that "every word occurring in a sentence must have some meaning"... This way of understanding language turned out to be mistakan... the word, of course, being not gibberish, but one which has an intelligible use is not always true if taken as applying to the word in isolation.' (Bertrand Russell; The Principles of Mathematies, pp. VIII-IX, Second edition 1937, reprinted, 1997) अन्य ग्रंथ में लिखते हैं कि 'Words are used in many ways : in narrative, in request, in command, in imaginative fiction, and so on. ... (word) by itself, can express a whole proposition; you can exclaim "Fire", but it would be pointless to exclaim "than".' (B. Russell, An Inquiry into Meaning and Truth, p. 26, George Allan and Unwin Ltd. 1940, reprinted 1980) अतः स्पष्ट है कि फि. इ. के भाषा दर्शन की भी एक परंपरा रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब मनस्-दर्शन के सम्बन्ध में भी फि. इ. की यही विशेषता मानी गई है कि उसमें आंतरिक निजी मानसिक क्रियाओं व घटनाओं का पहली बार खंडन किया गया है। लेकिन सचाई यह है कि रसेल का वर्णन-सिद्धान्त जैसे विटगेन्स्टाइन के ट्रैक्टेटस की आधारशिला रहा है वैसे ही उनका ग्रंथ 'Analysis of Mind' भी फि. इ. के मनस्-दर्शन का पूर्वगामी ग्रंथ रहा है। रसेल के अनुसार 'According to him (Meinong) there are three elements involved in the thought of an object. These three elements he calls the act, the content and the object. ...The first criticism I have to make is that the act seems unnecessary and fictitious. ...Empirically I cannot discover anything corresponding to the supposed act... This is simply on the ground that what Meinong calls the act in thinking is not empirically discoverable, or logically deducible from what we observe.' (Bertrand Russell, Anaysis of Mind, pp. 16-17, Allan and Unwin Ltd. London, 1921, Ninth Impression 1968) विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि 'We talk of processes and states and leave their nature undecided' (Wittganstein, PI, see. 308) मार्के की बात यह है कि रसेल ने जैसे अपने ग्रंथ में 'मानसिकता' के स्पष्टीकरण के लिये वाटसन के व्यवहारवाद की सहायता लेने की आत्मस्वीकृति दी है वही विटगेन्स्टाइन ने फि. इ. में व्यवहारवाद का सहारा लेकर भी व्यवहारवाद से प्रभावित होते का खंडन किया है। (Wittganstein, PI, see. 307)

अतः यह कहना सही नहीं है कि विटगेन्स्टाइन के जीवन का प्रभाव उनके ग्रंथों में देखने को मिलता है या उनका दूसरा ग्रंथ फि. इ. इतना मौलिक है कि उसकी कोई पूर्व-परंपरा नहीं रही। विटगेन्स्टाइन के दोनों ग्रंथों के विस्तृत प्रतिपादन में रसेल के ग्रंथों से भले ही अन्तर रहा हो लेकिन उनके दोनों ग्रंथों के पूर्ववर्ती विचारक रसेल ही थे ।

२, श्रद्धानंद पेठ
नागपुर ४४० ०१०

डा. सुरेश कुमार थोरात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) डॉ. आनंद मिश्रजीका ''अद्वैत वेदांत में साक्षी'' इस विषयपर एक अत्यंत प्रभावी प्रतिपादन जुलाई २००१ के अंक में (पृ. ६५-८२) पढा। मुझे उनकी प्रखर अन्वीक्षिकी की सूझ में कुछ प्रकाश मिला। उन के संस्कृतज्ञ होने के बावजूद इतना सुथरा बोधगम्य लिखने के लिए मैं उन्हें सर्वप्रथम बधाई दूँगा।

(२) उन के बौद्धों, नैयायिकों और मीमांसकों के 'ज्ञान' और उस 'ज्ञान के ज्ञान' में अनवस्था अवश्यंभावी है। (मिश्र पृ. ६८, आखिरी पंक्ति), तथा अद्वैत, बौद्धों के 'क्षणिकवादी विज्ञान' द्वारा स्मृति इत्यादि का सही व्याख्या में असफल मानता है। तदनुसार डॉ. मिश्र अद्वैत के साक्षी को सिद्ध मानते हैं। वे लिखते हैं : ''ज्ञान और ज्ञाता में तादात्म्य है। जो द्रष्टा है वह नित्य, कूटस्थ, चेतन है'' (पृ. ७२ मध्य)..... ''आत्मा ज्ञानस्वरूप है।'' लेकिन जैसे सूर्य के प्रकाश को ज्ञानवाहक माना जाता है वह स्वयं ज्ञान विषयों से निर्लिप्त है। ऐसा साक्षी और विषयी का संबंध है।

(३) यहाँ डॉ. मिश्र ने लंबी चर्चा सांख्य के प्रत्ययों बुद्धि, वृत्ति, अहंकार, अन्तःकरण के अनुरूप क्रमशः की है। (पृ. ७४-७५) कैसे साक्षी स्वयंसिद्ध, स्वप्रकाश, स्वयंज्योति से आलोकित होते हैं, इस बात की भी चर्चा की है। वे कहते हैं : ''वैसे बुद्धि में बोध या स्फुरण प्रतीत होने पर भी वस्तुतः वह आत्मा का ही स्वरूप है। (पृ. ७५ ऊपर)

(४) पुनः ''साक्षी चैतन्य असंग होने के बावजूद अन्तःकरण से संबंधित रहता है।'' फिर ''अज्ञात को भासित करती हुई अपनी ज्योति में प्रकाशित होती है तो यही चेतना साक्षी चेतना कहलाती है। इस संदर्भ से परे तो विशुद्ध आत्मा या ब्रह्म है।'' (पृ. ७९)

(५) मिश्रजी कहते हैं, ''साक्षी अविद्यावृत्ति से सुषुप्ति में इन दोनों को ग्रहण करता है।'' (पृ. ७८ मध्य)

अंत में मेरी शंका, जिज्ञासा लेखक से यह है कि 'साक्षी' के 'अविद्या' और 'अंतःकरण' के 'कूटस्थ-साक्षी' के संबंध क्या तादात्म के हैं ? या समवाय के? या विवर्त के ? क्या साक्षी 'आत्मा' और 'ब्रह्म' के प्रत्यय पर्यायवाची समानार्थक न होकर भिन्न हैं ? या केवल व्याख्या के लिए अद्वैती ऐसी परिच्छिन्न चर्चा करते हैं ?

फ्लैट ३८-ए, स्वस्तिक विहार, **डा. धर्मेन्द्र गोयल**
पंचकूला, हरियाणा - १३४१०९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रंथसमीक्षा

– १ –

परिव्राजकाचार्य परमहंस श्रीमत् स्वामी निगमानंद सरस्वती देव, हिंदी रूपांतर प्रभाकर महान्ति, **योगीगुरू अथवा योग और साधना पद्धति**, दिल्ली सारस्वत संघ, सी-44, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली 110016, 1999, पृ. २१३, मूल्य रु. ५०/-

भारतीय परंपरा ज्ञान, योग, भक्ति आदि में अत्यंत संपन्न है। लेकिन आज इन का अभ्यास तथा आचरण दूभर हो गया है । हमारे प्राचीन ग्रंथ हमारे लिए मात्र शब्द रह चुके हैं। उन का अर्थ सही रूप में बतानेवाले ज्ञानी महात्मा बहुत कम दिखाई देते हैं। ऐसे में अगर कोई अनुभव एवं साधना से अधिकारी बने ज्ञानी एवं योगी महात्मा से इस विषय में ज्ञान पाए तो वह भाग्य की बात होगी। प्रस्तुत पुस्तक इस भाग्य का उदाहरण है। योग तथा ज्ञान की परंपरा में सर्वोच्च अनुभूति प्राप्त श्री स्वामी निगमानंद सरस्वती देव जी ने योगमार्ग के रहस्यों का उद्घाटन करनेवाला यह अनूठा ग्रंथ हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

योग की साधना, अनुभव एवं उपलब्धि बताने वाले बहुत सारे संस्कृत ग्रंथ उपलब्ध हैं। उन के अनुवाद भी किये हैं। फिर भी उन्हें पढकर योगमार्ग का कोई भी रहस्य हमें ज्ञात नहीं होता है। इस कमी को वही दूर कर सकता है जो इस मार्ग की अनुभूति में सराबोर हो। पातंजल सूत्र पढने से योग का अर्थ निरोध है यह बोध होता है, लेकिन 'मन की लय अवस्था योग कहलाती है' (पृ. २१) इस रहस्य का उद्घाटन इस ग्रंथ में हमें मिलता है। चार भागों में विभाजित एवं कुल ७७ अध्यायों में विस्तारित इस ग्रंथ में योग, साधना, मंत्र तथा स्वर इन चतुर्विध अंगों को सूक्ष्मता से समझाया है। हंस, प्रणव तथा कुलकुण्डलिनी तत्त्व बताकर ग्रंथकार ने नवचक्रों का सरल विवेचन किया है। योग के रहस्य जटिल होने के कारण गुप्त नहीं हैं, अपितु उन का पावित्र्य संरक्षित करने के लिए इस विद्या को संरक्षित रखा जाता है (पृ. ६६) इस बात को भी यहाँ अच्छी तरह से स्पष्ट किया है। योग से प्राप्त सामर्थ्य को दुरूपयोग से बचाने के लिए इस बात का आयोजन है। योग के साधना अंग का विवेचन करते हुए ग्रंथकार अवधूत गीता, अन्यमनस्क गीता, मणिरत्नमाला, मनुसंहिता, गोरक्ष संहिता, स्कन्द पुराण, भगवद्गीता, हठयोगप्रदीपिका, योगतारावली, योगस्वरोदय जैसे अनेकों महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का अध्ययन एवं निचोड हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। इस साधना से आत्मज्योति, इष्ट देवता, देवलोक तथा आत्मप्रतिबिंब के दर्शन करने की विधि भी सरलता से स्पष्ट की गई है। योग में मंत्रशास्त्र का विशेष महत्त्व है । ये दोनों विषय अत्यंत विस्तृत एवं जटिल हैं। लेकिन ग्रंथकार ने इन विषयों को बहुत सीधे ढंग से स्पष्ट करते हुए मंत्रशास्त्र के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मौलिक सिद्धांतों का आचरण की दृष्टि से विवेचन किया है। ये उपाय साधक के लिए अत्यंत लाभदायी हैं। स्वरशास्त्र का भी संक्षेप में विवेचन दिया है जिस का उपयोग करते हुए कोई भी साधक अपने शारीरस्वास्थ्य की रक्षा कर सकता है।

इस तरह प्रस्तुत ग्रंथ, केवल ज्ञान का मानक ही न रहकर साधनोपयोगी आचार सुलभ संहिता बन गया है। विवेचन की शैली अत्यंत सरल एवं सुबोध होने के कारण, यह ग्रंथ विद्वत्तापूर्ण होने के बावजूद भी, सामान्य साधक के लिए सुगम्य बना है। मूल बांगला से अनुवादित यह रचना पढते हुए कहीं भी ऐसा नहीं प्रतीत होने देती कि हम कोई अनुवाद पढ रहे हैं। हिंदी भाषा की सहजता इस ग्रंथ में पूर्ण रूप से पायी जाती है। इस तरह के ग्रंथ ज्ञान एवं साधना, दोनों दृष्टियों से अत्यंत उपयोगी होते हैं। आशा है जिज्ञासु पाठकगण इस ग्रंथ से आत्मोन्नति का लाभ उठाएँ।

सुभाषचंद्र भेलके

– २ –

सेठ, श्यामकिशोर और मिश्र, नीलिमा, **ज्ञान-दर्शन**, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, २०००, पृ. ३१९, मूल्य रु. ८०/-

संज्ञानप्राप्त मनुष्य प्राणी का जीवन एक निरंतर अनुवभधारा है जिस में ज्ञान-प्रक्रिया का बहुत बडा अंश होता है। इसी ज्ञान के आधार पर मनुष्य निर्णय ले सकता है तथा कर्म भी करता है। विश्व की किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ उसका संबंध प्रस्थापित होने में ज्ञान की अहम भूमिका होती है। मनुष्य के जितने भी दुःख हैं, बंधन हैं या अन्य कोई समस्याएँ हैं उन सब का हल ज्ञान में ही मिलता है। मनुष्य के सभी व्यवहारों की आधारभूमि ज्ञान ही है। ज्ञान का विचार दर्शनशास्त्र में सबसे महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। दर्शन की सभी परंपराओं में ज्ञान के बारे में गहन विचार होता आया है। हरेक परंपरा के ज्ञान के क्षेत्र में अपने-अपने सिद्धान्त हैं। इन का सभी अंगों से अध्ययन करने की जिम्मेदारी दर्शनशास्त्र ने अपने ऊपर ली है। ज्ञानमीमांसा दर्शनशास्त्र का आधारभूत अंग है। इसी विषय में प्रस्तुत पुस्तक लिखी गई है। इस पुस्तक में ज्ञानमीमांसा का विचार पाश्चिमात्य परंपरा में किये विवेचन के आधार पर किया है।

इस पुस्तक के कुल मिलाकर १० अध्याय हैं और अंत में एक परिशिष्ट दिया है। दार्शनिक चिंतन में ज्ञान के संबंध में अनेक पहलुओं से विचार किया जाता है। ज्ञान के बिना दर्शनशास्त्र में कोई भी व्यवहार संभव नहीं है। सद्वस्तु को पाने का मार्ग भी ज्ञान ही है। जीवन एवं सत् के ज्ञान के प्रणालीकरण को कुछ विद्वान् दर्शन मानते आये हैं इस बात को दर्शाते हुए लेखक हर्बट स्पेन्सर, विल्हेम वुण्डट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे दार्शनिकों की भूमिका का संदर्भ देते हैं (पृ.१५)। दार्शनिक चिंतन में ज्ञान का स्थान इस तरह प्रथम अध्याय में स्पष्ट करते हुए इस विषय में चर्चित मुख्य समस्याओं का जिक्र करने के बाद ज्ञान की परिभाषा और स्वरूप को अगले अध्याय में विस्तार से प्रस्तुत किया है। लेहररकृत 'जानना' शब्द के अर्थ बताकर ज्ञान के आशय को स्पष्ट करने के लिए प्लेटो के सिद्धान्तों से आरंभ किया है। गेटियर की समस्या का स्पष्ट एवं सरल विवेचन करते हुए ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट किया है। निष्कर्ष आता कि 'ज्ञान अपरिभाषेय है' (पृ. ३९)। फिर भी ज्ञान के प्रकार तथा स्रोत इन के बारे में बहुत कुछ कहा जा सकता है। तृतीय अध्याय में कांट के दर्शन के अनुसार किया ज्ञान का विचार ज्ञान के स्वरूप को अधिक स्पष्ट एवं सरल बनाता है। शायद इसी विवेचन से समाप्त यह अध्याय पाठक के मन में कुछ अधिक अपेक्षाएँ निर्माण करता है। लेकिन लेखक ने आगे चलकर ज्ञान के स्रोत स्पष्ट करते हुए अनुभववादी परंपरा को विस्तार से विवेचित किया है। इस के बाद स्वाभाविकरूप से आती है समस्या ज्ञाता-ज्ञेय-संबंध को समझ लेने की। यह एक जटिल समस्या है जिस पर अन्यान्य दार्शनिकों ने अपने सिद्धान्त स्वतंत्ररूप से बनाये हैं। इन में प्रमुख प्रत्ययवाद एवं वस्तुवाद हैं और उन के विविध रूप भी विकसित हुए हैं। इस विषय का लेखक काफी विस्तार से विवेचन करते हैं। इस के बाद आते हैं सत्यता और सामान्य जैसे विषय जो ज्ञानमीमांसा को अधिक गहन एवं व्यापक बनाते हैं। इन विषयों में उपयुक्त विविध सिद्धान्तों का बहुत अच्छा विवेचन पढने को मिलता है। इस के साथ ही लेखक ज्ञानविषयक अन्य समस्याओं को भी जोड लेते हैं, जैसे कि आगमन की समस्या, वैयक्तिक अनन्यता और अन्य मन। इस निमित्त पाश्चिमात्य परंपरा में विकसित कुछ विशेष सिद्धांत उपस्थित किये गये हैं। इस ज्ञान की सीमा को भी यहाँ दार्शनिक ढंग से प्रस्तुत करते हुए संशयवाद के विरोध में ज्ञान की समर्थनीयता प्रस्थापित की गई है। परिशिष्ट में दर्शन का मूल्य आँकते हुए लेखक दर्शन के बहुस्पर्शी आयाम को स्पष्ट करते हैं। इस से दर्शन की व्यापकता एवं सार्वजनिनता स्पष्ट होती है।

प्रस्तुत पुस्तक ज्ञानमीमांसा पर लिखी एक महत्त्वपूर्ण एवं उपयुक्त पुस्तक है। यह अभ्यासपूर्ण एवं प्रामाणिकरूप से लिखी है। दर्शन के एक गहन विषय को लेकर भी भाषा एवं प्रस्तुतीकरण की शैली में सुबोधता एवं सुगमता कायम टिकी है। अंत में दी गयी ग्रंथसूची अध्ययनकर्ता को बहुत उपयोगी रहेगी। यह पुस्तक दर्शन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण एवं स्वागतार्ह प्रयास है जिस से दर्शन के अध्येताओं को बडा लाभ होगा। ऐसी पुस्तकों से हिंदी भाषा का साहित्य समृद्ध होता रहेगा। अतः पुस्तक के लेखकद्वय अभिनंदन योग्य हैं।

सुभाषचंद्र भेलके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Entered in Database

Signature with Date

10/5/05

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri